॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

विंशं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना
निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकारयन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि } संवत् १९७७ वि० सन १९२० ई० { मूल्यम् ७।)

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा॑ कृणु दे॒वेषु॑ प्रियं राज॑सु मा कृणु ।
प्रियं सर्व॑स्य॒ पश्य॑त उ॒त शू॒द्र उ॒तार्ये॑ ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

विंशं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकारयन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि } संवत् १९७७ वि० सन् १९२० ई० { मूल्यम् ७।)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

भाष्य पूरा होगया, मन्त्र सूची और पद सूची छप रही है ॥

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है" ॥

आनन्दसमाचार ।

१—अथर्ववेदभाष्यम् —जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका था। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में न था। और संस्कृत में भी श्री सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपा से अथर्ववेद का भाष्य भी नागरी भाषा (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाणों सहित, प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने संवत् १९६९ वि० में आरंभ करके संवत् १९७७ वि० में श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त और पंजाब प्रान्त तथा विद्वान् ग्राहक महाशयों की गुण ग्राहकता से पूरा कर लिया।

२—भाष्य का क्रम इस प्रकार। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

३—इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर उपस्थित है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें, छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २० सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची	पद सूची	योग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)	२।=)	३।)	७।)			४२)

भाष्य सब छप गया, मन्त्र सूची छप रही है, पद सूची छपने में है। पुराने ग्राहक जिनके पास सब काण्ड नहीं पहुंचे, और नये ग्राहक भाष्य शीघ्र मंगावें पुस्तक थोड़े रहे हैं, ऐसे बड़े ग्रन्थ का फिर छपना कठिन है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—कांगड़ी गुरुकुल में व्याख्यान दिया था। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

२० अकतूबर १९२०।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

सूचना—सूची १ और २ अथर्ववेद भाष्य काण्ड २० के आरम्भ में लगालें ॥

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	इन्द्र त्वा वृषभं	इन्द्र आदि	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
२	मरुतः पोत्रात्	मरुत आदि	विद्वान् लोग	गायत्री आदि
३	आ याहि सुषुमा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री
४	आ नो याहि	इन्द्र	महौषधियां	गायत्री आदि
५	अयमु त्वा विचर्षणे	इन्द्र	सोम रस सेवन	गायत्री आदि
६	इन्द्र त्वा वृषभं	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
७	उद्घ धेदभि श्रुता	इन्द्र	सेनापति	गायत्री आदि
८	एवा पाहि प्रत्नथा	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
९	तं वो दस्ममृतीषहं	इन्द्र	ईश्वर उपासना	बृहती आदि
१०	उदु त्ये मधुमत्तमा	इन्द्र	ईश्वर उपासना	बृहती आदि
११	इन्द्रः पूर्भिदा	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप् आदि
[illegible]	उदु ब्रह्माण्यैरत	इन्द्र	सेनापति कर्तव्य	पङ्क्तिः आदि
१३	इन्द्रश्च सोमं	इन्द्र आदि	राजा और विद्वान्	त्रिष्टुप् आदि
१४	वयमु त्वामपूर्व्य	इन्द्र	राजा और प्रजा	उष्णिक् आदि
१५	प्र मंहिष्ठाय बृहते	इन्द्र	सभाध्यक्ष	जगती आदि
१६	उदप्रुतो न वयो	बृहस्पति	विद्वान् लोग	त्रिष्टुप् आदि
१७	अच्छा म इन्द्रं	इन्द्र आदि	राजा और प्रजा	जगती आदि
१८	वयमु त्वा तदि	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
१९	वार्त्रहत्याय शवसे	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
२०	शुष्मिन्तमं न ऊतये	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
२१	न्यू३ षु वाचं प्र	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	जगती आदि
२२	अभि त्वा वृषभा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
२३	आ तू न इन्द्र	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
२४	उप नः सुतमा	इन्द्र	विद्वान् लोग	गायत्री आदि
२५	अश्वावति प्रथमो	इन्द्र	विद्वान् लोग	जगती आदि
२६	योगे योगे तव	इन्द्र	सेनाध्यक्ष आदि	गायत्री आदि
२७	यदिन्द्राहं यथा	इन्द्र	राजा के लक्षण	गायत्री आदि
२८	व्य१न्तरिक्षमति	इन्द्र	राजा के लक्षण	गायत्री आदि
२९	त्वं हि स्तोमवर्धन	इन्द्र	राजा के धर्म	गायत्री आदि
३०	प्र ते महे विदथे	इन्द्र	बल पराक्रम	जगती आदि

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद भाष्य काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३१	ता वज्रिणां मन्दिनं	इन्द्र	पुरुषार्थ	जगती आदि
३२	आ रोदसी हर्य	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३३	अप्सु धूतस्य हरिवः	इन्द्र	राजा के धर्म	त्रिष्टुप आदि
३४	यो जात एव प्रथमो	इन्द्र	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् आदि
३५	अस्मा इदु प्र तवसे	इन्द्र	सभापति	त्रिष्टुप् आदि
३६	य एक इद्. धव्य	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	पङ्क्ति आदि
३७	यस्तिग्मश्रृङ्गो	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप् आदि
३८	आ याहि सुषुमा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
३९	इन्द्रं वो विश्वतस्परि	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	गायत्री आदि
४०	इन्द्रेण सं हि दृक्षसे	मरुत आदि	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
४१	इन्द्रो दधीचो अस्थ	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	गायत्री
४२	वाचमष्टापदीमहं	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री
४३	भिन्धि विश्वा अप	इन्द्र	राजा के धर्म्म	गायत्री
४४	प्र सम्राजं चर्षणी	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
४५	अयमु ते समतसि	इन्द्र	सभापति कर्तव्य	गायत्री आदि
४६	प्रणेतारं वस्यो	इन्द्र	सेनापति लक्षण	गायत्री
४७	तमिन्द्रं वाजयामसि	इन्द्र	राजा प्रजा आदि	गायत्री आदि
४८	अभि त्वा वर्चसा	इन्द्र आदि	परमात्मा और जीवात्मा	गायत्री आदि
४९	यच्छक्रा वाचमा	इन्द्र	ईश्वर उपासना	गायत्री आदि
५०	कन्नव्यो अतसीनां	इन्द्र	परमेश्वर महिमा	अनुष्टुप् आदि
५१	अभि प्र वः सुराध	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	बृहती आदि
५२	वयं घ त्वा सुतावन्त	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	बृहती
५३	क ईं वेद सुते	इन्द्र	सेनापति	बृहती
५४	विश्वाः पृतना	इन्द्र	राजा और प्रजा	जगती आदि
५५	तमिन्द्रं जोहवीमि	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	जगती आदि
५६	इन्द्रो मदाय वावृधे	इन्द्र	सभापति लक्षण	पङ्क्तिः आदि
५७	सुरूपकृत्नुमूतये	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
५८	श्रायन्त इव सूर्यं	इन्द्र आदि	ईश्वर विषय	बृहती आदि
५९	उदुत्ये मधुमत्तमा	इन्द्र	ईश्वर, राजा, प्रजा	बृहती आदि
६०	एवा ह्यसि वीरयु	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
६१	तं ते मदं गृणीमसि	इन्द्र	परमेश्वर गुण	उष्णिक् आदि
६२	वयमु त्वामपूर्व्य	इन्द्र	राजा, प्रजा आदि	उष्णिक् आदि
६३	इमा नु कं भुवना	इन्द्र आदि	राजा, प्रजा आदि	पङ्क्ति आदि

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
६४	[illegible]	इन्द्र	परमात्मा के गुण	उष्णिक् आदि
६५	एतो न्विन्द्रं स्तवाम	इन्द्र	परमेश्वर गुण	गायत्री आदि
६६	स्तुहीन्द्रं व्यश्ववद्	इन्द्र	ऐश्वर्यवान् पुरुष	उष्णिक् आदि
६७	वनोति हि सुन्वन्	इन्द्र आदि	मनुष्य कर्तव्य	अष्टि आदि
६८	सुरूपकृत्नुमूतये	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
६९	स घा नो योग	इन्द्र आदि	पराक्रमी मनुष्य	गायत्री आदि
७०	वीलु चिदारुज	मरुत आदि	राजा और प्रजा आदि	गायत्री आदि
७१	महाँ इन्द्रः परश्च	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
७२	विश्वेषु हि त्वा	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	अष्टि आदि
७३	तुभ्येदिमा सवना	इन्द्र	सेनापति लक्षण	अनुष्टुप् आदि
७४	यच्चिद्धि सत्य सोम	इन्द्र	राजा और प्रजा	पङ्क्ति आदि
७५	वि त्वा ततस्रे मिथुना	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	अष्टि आदि
७६	वने न वा यो न्यधा	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
७७	आ सत्यो यातु मघवाँ	इन्द्र	राजा के धर्म्म	त्रिष्टुप् आदि
७८	तद्वो गाय सुते	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री
७९	इन्द्र क्रतुं न आ भर	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती आदि
८०	इन्द्र ज्येष्ठं न आ	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती आदि
८१	यद्द्याव इन्द्र ते	इन्द्र	परमात्मा के गुण	बृहती आदि
८२	यदिन्द्र यावतस्त्व	इन्द्र	राजपुरुष और प्रजा	बृहती आदि
८३	इन्द्र त्रिधातु शरणं	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती आदि
८४	इन्द्रा याहि चित्र	इन्द्र	सभापति कर्तव्य	गायत्री आदि
८५	मा चिदन्यद्, वि शंसत	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
८६	ब्रह्मणा ते ब्रह्म युजा	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	त्रिष्टुप्
८७	अध्वर्यवोऽरुणं	इन्द्र आदि	पुरुषार्थी लक्षण	त्रिष्टुप् आदि
८८	यस्तस्तम्भ सहसा	बृहस्पति	विद्वानों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
८९	अस्तेव सु प्रतरं	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
९०	यो अद्रिभित् प्रथमजा	बृहस्पति	राजा के लक्षण	त्रिष्टुप्
९१	इमां धियं सप्त	बृहस्पति	परमात्मा के गुण	त्रिष्टुप्
९२	अभि प्र गोपतिं	इन्द्र	राजा प्रजा आदि	गायत्री आदि
९३	उत् त्वा मन्दन्तु	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	गायत्री आदि
९४	आयात्विन्द्रः स्वपति	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप् आदि
९५	त्रिकद्रुकेषु महिषो	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	अष्टि आदि
९६	तीव्रस्याभिवयसो	इन्द्र आदि	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
९७	वयमेनमिदा ह्यो	इन्द्र	वीर लक्षण	बृहती आदि
९८	त्वामिद्धि हवामहे	इन्द्र	राजा के धर्म	अनुष्टुप् आदि
९९	अभि त्वा पूर्वपीतय	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१००	अधा हीन्द्र गिर्वण	इन्द्र	राजा और प्रजा	उष्णिक् आदि
१०१	अग्निं दूतं वृणीमहे	अग्नि	भौतिक अग्नि	गायत्री आदि
१०२	ईळेन्यो नमस्य	अग्नि	परमेश्वर गुण	गायत्री आदि
१०३	अग्निमीळिष्वावसे	अग्नि	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१०४	इमा उ त्वा पुरुवसो	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१०५	त्वमिन्द्र प्रतूर्ति	इन्द्र	परमेश्वर गुण	अनुष्टुप् आदि
१०६	तव त्यदिन्द्रियं बृहत्	इन्द्र	परमेश्वर गुण	उष्णिक् आदि
१०७	समस्य मन्यवे	इन्द्र आदि	परमेश्वर गुण	गायत्री आदि
१०८	त्वं न इन्द्रा भरँ	इन्द्र	परमेश्वर प्रार्थना	उष्णिक् आदि
१०९	स्वादोरित्था	इन्द्र	सभापति आदि	पथ्या पङ्क्ति
११०	इन्द्राय मद्वने	इन्द्र	विद्वान् के कर्तव्य	गायत्री
१११	यत् सोममिन्द्र	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	उष्णिक्
११२	यदद्य कच्च वृत्रह	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री
११३	उभयं शृणवच्च न	इन्द्र	राजा के धर्म	बृहती
११४	अभ्रातृव्यो अना	इन्द्र	परमेश्वर गुण	उष्णिक् आदि
११५	अहमिद्धि पितु	इन्द्र	परमेश्वर गुण	गायत्री
११६	मा भूम निष्ट्या	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती
११७	पिबा सोममिन्द्र	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	पङ्क्ति आदि
११८	शग्ध्यू ३ षु शचीपत	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	बृहती आदि
११९	अस्तावि मन्म	इन्द्र	परमेश्वर स्तुति	बृहती आदि
१२०	यदिन्द्र प्रागपा	इन्द्र	परमेश्वर गुण	अनुष्टुप् आदि
१२१	अभि त्वा शूर नोनु	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१२२	रेवतीर्नः सधमाद	इन्द्र	सभापति लक्षण	गायत्री
१२३	तत् सूर्यस्य देवत्वं	सूर्य	सूर्य का काम	त्रिष्टुप्
१२४	कया नश्चित्र आ भुव	इन्द्र आदि	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
१२५	अपेन्द्र प्राचो मघव	इन्द्र आदि	राजा के धर्म	त्रिष्टुप्
१२६	वि हि सोतोरसृक्षत	इन्द्र	गृहस्थ कर्तव्य	पङ्क्ति
१२७	इदं जना उप श्रुत	प्रजापति, इन्द्र	राजा के धर्म	बृहती आदि
१२८	यः सभेयो विदथ्यः	प्रजापति, इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	अनुष्टुप्
१२९	एता अश्वा आप्लवन्ते	प्रजापति	मनुष्य के प्रयत्न	गायत्री आदि

१-सूक्त विवरण अथर्ववेद काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१३०	को अर्य बहुलि	प्रजापति	मनुष्य के पुरुषार्थ	पङ्क्ति आदि
१३१	आमिनोनिति मघते	प्रजापति	ऐश्वर्य प्राप्ति	गायत्री आदि
१३२	आदलाबुकमेककम	प्रजापति	परमात्मा के गुण	गायत्री आदि
१३३	विततौ किरणौ द्वौ	कुमारी	स्त्रियों के कर्तव्य	अनुष्टुप्
१३४	इहेत्थ प्रागपाग	प्रजापति	बुद्धि बढ़ाना	पङ्क्ति
१३५	भुगित्यभिगतः	प्रजापति, इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
१३६	यदस्या अंहुभेद्यः	प्रजापति	राजा और प्राजा	अनुष्टुप् आदि
१३७	यद्ध प्राचीरजगन्ता	अलक्ष्मीघ्न आदि	राजा और प्रजा	अनुष्टुप् आदि
१३८	महाँ इन्द्रो य ओजसा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री
१३९	आ नूनमश्विना	अश्विनौ	गुरु जन	बृहती आदि
१४०	यन्नासत्या भुरण्य	अश्विनौ	दिन राति	बृहती आदि
१४१	यातं छर्दिष्पा उत नः	अश्विनौ	दिन राति	गायत्री आदि
१४२	अभुत्स्यु प्र देव्या	अश्विनौ	दिन राति	अनुष्टुप् आदि
१४३	तं वां रथं वयम	अश्विनौ	राजा और मन्त्री	त्रिष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड२०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
१	इन्द्र त्वा	१ । १	२० । ६ । १	३ । ४० । १		
२	मरुतो यस्य	१ । २		१ । ८६ । १	८ । ३१	
३	उक्षान्नाय	१ । ३	३ । २१ । ६	८ । ४३ । ११		
४	मरुतः पोत्रात्	२ । १		१ । १५ । २		
५–७	आ याहि	३ । १–३	२० । ३८ । १–३; ४७ । ७-९	८ । १७ । १-३		उ० १ । १ । ६; म० १ पू० २ । १० । ७७
८–१०	आ नो याहि	४ । १-३		८ । १७ । ४–६		
११–१७	अयमु त्वा	५ । १–७		८ । १७ । ६–१३		५–७; उ० १ । २ । ५ म० ५, पू० २ । ७ । ५
१८–२६	इन्द्र त्वा वृष	६ । १–९	म० १, २० । १ । १	३ । ४० । १-९		
२७	इन्द्र क्रतुविदं	६ । २	२० । ७ । ४			
२८	गिर्वणः पाहि	६ । ६				पू० ३ । १ । २
२९	अर्वावतोन	६ । ८	२० । २० । ४; ५७ । ८			
३०–३२	उद्घेदभि	७ । १–३		८ । ९३ । १-३		म० १; पू० २ । ४ । १
३३	इन्द्र क्रतुविदं	७ । ४	२० । ६ । २			म० १-३; उ० ६ । ३ । ४
३४	एवा पाहि प्रत्न	८ । १		६ । १७ । ३ ।		

२ अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
८०-९१	उद् प्रुतो न वयो	१६ । १-१२		१० । ६८ । १-१२		
९२-१०२	अच्छा म इन्द्रं मतयः	१७ । १-११		१० । ४३ । १-११		
१०३	गोभिष्टरेमामतिं	१७ । १०	७ । ५० । ७; म० १०-११; २० । ८९ । १०-११; २० । ९४ । १०, ११			
१०४	बृहस्पतिर्नः परि	१७ । ११	७ । ५१ । १			
१०५	बृहस्पते युव	१७ । १२	२० । ८७ । ७	७ । ९७ । १०		
१०६-१०८	वयमु त्वा	१८ । १-३		८ । २ । १६-१८		उ० १ । २ । ३ ८० १; पू० २ । ८ । ६
१०९-१११	वयमिन्द्र त्वा	१८ । ४-६		७ । ३१ । ४-६		स० ४; पू० २ । ८ । ८
११२-११८	वार्त्रहत्याय	१९ । १-७		३ । ३७ । १-७	अ० ७; ३८ । ६८	
११९-१२२	शुष्मिन्तमं न	२० । १-४	म० १-७-२० । ५७ । ६-१०	३ । ३७ । ८-११		
१२३	अर्वावतो न आग	२० । ४	२० । ६ । ८			
१२४-२६	[illegible]	२० । ५-७		२ । ४१ । १०-१२		स० ५; पू० ३ । १ । ७
१२७-३७	[illegible] वाचं महे	२१ । १-११		१ । ५३ । १-११		
१३८-४०	अभि त्वा शूर	२२ । १-३		८ । ४५ । २६-२८		उ० १ । २ । ७ ८० १; उ० २ । ७ । [illegible]

१४१-४३	अभि प्र गोपतिं	३२ । ४-६	२० । ६२ । १-३	८ । ६९ । ४-६		उ० ७ । १ । १ म० १, पू० २ । ८ । ४
१४४-५२	आ तू न इन्द्र	३३ । १-९		३ । ४१ । १-९		
१५३-६१	उप नः सुतमा	३४ । १-९		३ । ४२ । १-९		
१६२-६७	अश्वावति प्रथमो	३५ । १-६		१ । ८३ । १-६		
१६८	प्रोग्रां पीतिं	३५ । ७	२० । ३३ । २	१० । १०४ । ३		
१६९	योगे योगे	३६ । १	१९ । २४ । ७			
१७०-७१	आ घा गमद्यदि	३६ । २३		१ । ३० । ८-९		उ० १ । २ । ११
१७२-७४	युञ्जन्ति ब्रध्न	३६ । ४-६	२०.४७ । १० १२	१ । ६ । १-३	म०४,५;२३।५,६	उ० ६ । ३ । १४
१७५	केतुं कृण्वन्न	३६ । ६			२९ । ३७	
१७६-८१	यदिन्द्राहं यथा	३७ । १-६		८ । १४ । १-६		म०१-३;उ०२ । ९ । ९ म० १;पू०२।३।७
१८२	यज्ञ इन्द्रमवर्धं	३७ । ५				पू०२ । ३ । ७ । उ० ८ । १ । ९
१८३-८६	व्यन्तरिक्षमतिर	३८ । १-४	२० । ३९ । २ ५	८ । १४ । ७-१०		म० १, २; उ० ८ । १ । ९
१८७-९१	त्वं हि स्तोम	३९ । १-५		८ । १४ । ११-१५		
१९२	अपां फेनेन नमु	३९ । ३			१९ । ७१	पू०३ । २ । ८
१९३-९७	प्र ते महे विद	३० । १-५		१० । ९६ । १-५		
१९८-०२	ता वज्रिणं	३१ । १-५		१० । ९६ । ६-१०		
२०३-०५	आ रोदसी	३२ । १-३		१० । ९६ । ११-१३		
२०६-०८	अप्सु धूतस्य	३२ । १-३		१० । १०४ । २-४		
२०९	प्रोग्रा पीतिं वृष्ण	३३ । २	२० । २५ । ७			
२१०-२४	यो जात एव	३४ । १ ११; १३ १५; १८		२ । १२ । १-१५		
२२५-४०	अस्मा इदु प्र	३५ । १-१६		१ । ६१ । १-१६		

२ अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, आदि
२४१-५१	य एक इद्धव्य	३६ । १-११		६ । २२ । १-११		
२५२-६२	यस्तिग्मश्रृङ्गो	३७ । १-११		७ । १९ । १-११		
२६३-६५	आ याहि सुषुमा	३८ । १-३	२०।३।१-३;४७।७-९			
२६६-६८	इन्द्रमिद् गाथि	३८ । ४-६	२० । ४७ । ४-६; ९	१ । ७ । १-३		उ० २ । १ । ८; म० ४:पू०३ । १ । ५
२६९	इन्द्रं वो विश्वत	३९ । १	२० । ७० । १६	१ । ७ । १०		उ० ८ । १ । २
२७०-७३	व्य१न्तरिक्षम	३९ । २-५	२० । २८ । १-४			
२७४-७५	इन्द्रेण सं हि दृक्षसे	४० । १-२	२० । ७० । ३-४	१ । ६ । ७-८		म० १; उ० २ । २ । ७
२७६	आदह स्वधाम	४० । ३	२० । ६९ । १२	१ । ६ । ४		उ० २ । २ । ७
२७७-७९	इन्द्रो दधीचो	४१ । १-३		१ । ८४ । १३-१५		उ०३।१।८;म०१पू०२।६।५म०३ पू०२।६।३
२८०-८२	वाचमष्टापदी	४२ । १-३		८ । ७६ । १२, ११, १०		उ०३ । २ । ९
२८३-८५	भिन्धि विश्वा	४३ । १-३		८ । ४५ । ४०-४२		उ०४।१।८म०१;पू०२।४।१०;म०२,पू३।२।३
२८६-८८	प्र सम्राजं	४४ । १-३		८ । १६ । १-४		म०१;पू०२ । ५ । १०
२८९-९१	अयमु ते समत	४५ । १-३		१ । ३० । ४६		उ०७ । ३ । १५ म०१;पू०२ । ९ । ९
२९२-९४	प्रणेतारं वस्यो	४६ । १-३		८ । १६ । १०-१२		
२९५-९७	तमिन्द्रं वाज	४७ । १-३	२०।१३७।१२-१४	८ । ९३ । ७-९		उ० ५ । १ । १० म० १। पू० २। ३।५
२९८-३००	इन्द्रमिद् गाथिनो	४७ । ४-६	२०।३८ । ४-६; ७०।			

			७-९			
३०१-०३	आ याहि सुषु	४७। ७ ९	२०।३।१-३;३८। १-३			
३०४-०६	युञ्जन्ति ब्रध्न	४७।१०-१२	२०।२६।४-६;६९। ९-११			
३०७-१५	उदुत्यं जातवेद	४७।१३-२१	१३। २। १६-२४			
३१६-१८	आयं गौः	४८। ४-६	६। ३१। १-३			
३१९-२२	तं वो दस्म	४९। ४-७	२०। ९। १-४			
३२३-२४	कन्नव्यो अत	५०। १-२		८। ३। १३-१४		
३२५-२६	अभि प्र वः सु	५१। १-२		८। ४९। १-२		उ० २। १। १३,म० १-पू० ३। ५।३
३२७-२८	प्र सु श्रुतं	५१। ३-४		८। ५०। १-२		
३२९-३१	वयं घ त्वा	५२। १-३	२०।५७।१४-१६	८। ३२। १-३		उ० २। २। १२ म० १ पू० ३। ७। ९
३३२-३४	क ईं वेद सुते	५३। १-३	२०।५७।११-१३	८। ३३। ७-९		उ० ८। २। १५ म० १ पू० ४। १।५
३३५-३७	विश्वाः पृतना	५४। १-३		८। ९७। १०-१२		उ० ३। १। १४ म० १ पू० ४। ९।१
३३८-४०	तमिन्द्रं जोहवीमि	५५। १-३		८। ९७। १३, १-२		म० १ पू० ५। ८।४ म० २ पू०३।७।२
३४१-४६	इन्द्रो मदाय	५६। १-६		१। ८१। १-३,७-९		म० १-३ उ० ३।२।१४ म०१ पू०५।३।३
३४७-४९	सुरूपकृत्नु	५७। १-३	२०। ६८। १-३	१। ४। १-३		
३५०-५६	शुष्मिन्तमं न	५७। ४-१०	२०। २०। १-७			
३५७-५९	क ईं वेद सुते	५७।११-१३	२०। ५३। १-३			
३६०-६२	वयं घ त्वा	५७।१४-१६	२०। ५२। १-३			
३६३-६४	आयन्त इव,	५८। १-२		८। ९९। ३-४	३३। ४१	उ० ५। २। १४ म० १पू० १। ८। ५
३६५-६६	बण्महाँ असि	५८। ३-४	म०३:१३।२।२९	८। १०१। ११-१२	३३। ३९, ४०	उ० ९। १। ९

२ अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
३६७-६८	उद्‌ित्ये मधु	५९ । १-२	२० । १० । १-२			
३६९-७०	उद्‌िन्वस्य	५९ । ३-४		७ । ३२ । १२-१३		
३७१-७३	एवा ह्यसि वी	६० । १-३		८ । ९२ । २८-३०		उ० २ । १ । १८ म० १पू०१ । ४ । १०
३७४-७६	एवा ह्यस्य	६० । ४-६	२० । ७१ । ४-६	१ । ८ । ८-१०		
३७७-७९	तं ते मदं	६१ । १-३		८ । १५ । ४-६		उ० २ । २ । १८ म० १ पू० ३ । ४ । १०
३८०-८२	तस्वभि प्र गायत	६१ । ४-६	२० । ६२ । ८-१०	८ । १५ । १-३		म० १पू० ४ । १० । ३
३८३-८६	वयमु त्वाम	६२ । १-४	२० । १४ । १-४			
३८७-८९	इन्द्राय साम	६२ । ५-७		८ । ९८ । १-३		ब० ३ । २ । २२ म० ५ पू० ४ । १०८
३९०-९२	तम्वभि प्रगा	६२ । ८-१०	२० । ६१ । ४-६			
३९३-९५	इमा नु कं भुव	६३ । १-३	२० । १२४ । ४-६	१० । १५७ । १-५	२५ । ४६	उ० ४ । २ । २३
३९६-९८	य एक इद्धवि	६३ । ४-६		१ । ८४ । ७-९		उ० ५ । २ । २२म०९पू० ४ । १० । ९
३९९-०१	य इन्द्र सोम	६३ । ७-९		८ । १२ । १-३		म० ७ पू० ५ । १ । ४
४०२-०४	एन्द्र नो गधि	६४ । १-३		८ । ९८ । ४-६		उ० ५ । १ । १९म० १ पू० ५ । १ । ३
४०५-०७	एतु मद्वोम	६४ । ४-६		८ । २४ । १६-१८		उ०८ । २ । १० म०४ पू० ४ । १० । ५
४०८-१०	एतो न्विन्द्रं	६५ । १-३		८ । २४ । १९-२१		म० १ पू० ४ । १० । ७
४११-१३	स्तुहीन्द्रं व्य	६६ । १-३		८ । २४ । २२-२४		
४१४	वनोति हि सु	६७ । १		१ । १३३ । ७		

४१५	श्रो षु वो अस्म	६७ । २		१ । १३६ । ८		
४१६	अग्निं होतारं	६७ । ३		१ । १२७ । १	१५ । ४७	पू० ५ । ८ । ६ उ० ६ । १ । १८
४१७-१६	यज्ञैः संमिश्लाः	६७ । ४-६		२ ३६ ।, ४, ५		
४२०-२२	सुरूपकृत्नु	६८ । १-३	२० । ५७ । १-३			
४२३-२६	परेहि विग्र	६८ । ४-१०		१ । ४ । ४-१०		
४३०-३१	आ त्वेतानि	६८ । ११-१२		१ । ५ । १-२		
४३२-३६	त्वा घा ोा योग	६६ । १-८		१ । ५ । ३-१०		उ० १ । २ । १० म० १ पू० २ । ७ । १०
४४०-४२	युञ्जन्ति ब्रध्न	६६ । ६-११	२० । २६ ४-६			म० १ उ० १ । २ । १०
			" ४७ । १० । १२			
४४३	आदह स्वधामनु	६६ । १२	२० । ४० । ३			
४४४-४६	वीलु चिदारु	७० । १-६		१ । ६ ५-१०		म० १ उ० २ । २ । ७
४५०-५१	इन्द्रेण सं हि	७० । ३-४	२० । ४० । १-२			
४५२-५४	इन्द्रमिद् गाथि	७० । ७-६	२० । ३८ । ४-६;			
			४७ । ४-६			
४५५-६१	इन्द्र वाजेषु	७० । १०-१६		१ । ७ । ४-१०		म० १० पू० ६ । ११ । ४ उ० २ । १ । ८
४६२	इन्द्रं वयं महा	७० । ११				पू० २ । ४ । ६
४६३	स नो वृषन्	७० । १२				उ० ८ । १ । २
४६४	वृषा यूथेव	७० । १४				उ० ८ । १ । २
४६५	इन्द्रं वो विश्व	७० । १६	२० । ३६ । १			
४६६-६६	इन्द्रं सानसिं	७० । १७-२०		१ । ८ । १-४		म० १७ पू० २ । ४ । ५
४७०-७५	महाँ इन्द्रः परश्च	७१ । १-६		२ । ८ । ५-१०		म० १ पू० २ । ८ । २
४७६-७८	एवा ह्यस्य सू	७१ । ४-६	२० । ६० । ४-६			

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्व वेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्व वेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
४७९-८८	इन्द्रेहि मत्स्य	७१ । ७-१६		१ । ९ । १-१०	म० ७; ३३ । २८	म० ७पू० २ । ६ । ६
४८९-९१	विश्वेषु हि त्वा	७२ । १-३		१ । १३ । २, ३, ६		
४९२	नि त्वा ततस्रे	७२ । २	२० । ७५ । १			
४९३-९४	तुभ्येदिमा सवना	७३ । १-२		७ । २२ । ७-८		
४९५	प्र वो महे महि	७३ । ३		७ । ३१ । १०		
४९६-९८	यदा वज्रं हिर	७३ । ४-७		१० । २३ । ३-५		
४९९-०५	यच्चिद्धि सत्य	७४ । १-७		१ । २९ । १-७		
५०६-०८	वि त्वा ततस्रे	७५ । १-३	म०१ ; २० । ७२।२	१ । १३१ । ३-५		
५०९-१६	वने न वायो	७६ । १-८		१० । २९ । १-८		
५१७-२४	आ सत्यो यातु	७७ । १-८		४ । १६ । १-८		
५२५-२७	तद्वो गाय	७८ । १-३		६ । ४५ । २२-२४		उ० ८ । २ । ४ म० १ पू० २ । ३ । १
५२८	इन्द्र क्रतुं न आ	७९ । १	१८ । ३ । ६७			
६५२	मा नो अज्ञाता	७९ । २		७ । ३२ । २७		उ० ६ । ३ । ६
५३०-३१	इन्द्रं ज्येष्ठं	८० । १-२		६ । ४६ । ५-६		म० १ पू० ८ । १० । १
५३२-३३	यद् द्याव इन्द्र	८१ । १-२	२०।९२ । २०-२१	८ । ७० । ५-६		उ० ७ । २ । ११ । म० १ पू० । ६ । ८
५३४-३५	यदिन्द्र यावत	८२ । १-२		७ । ३२ । १८-१९		उ० ६ । २ । ६ म० १ पू० ४ । २ । ८
५३६-३७	इन्द्र त्रिधातु	८३ । १-२		६ । ४६ । ९-१०		म० १ पू० ३ । ८ । ४

५३८-४०	इन्द्र याहि	८४ । १-३		१ । ६ । ४-६	२० । ८७-८६	उ० ४ । २ । ५
५४१-४४	मा चिदन्यद्द वि	८५ । १ ४		८ । १ । १-४		म० १-२ उ० ६।१ । ५ म० १ पू० ३।५।१०
५४५	प्रह्मणा ते ब्रह्म	८६ । १		३ । ३५ । ४		
५४६-५२	अध्वर्यवो ऽरुणं	८७ । १-७		७ । ९८ । १ ७		
५५३	बृहस्पते युव	८७ । ७	२० । १७ । १२			
५५४-५६	यस्तस्तम्भ	८८ । १-६		४ । ५० । १-६		
५६०-७०	अस्तेव सु प्रतर	८९ । १-११		१० । ४२ । १-११		
५७१-७२	उत प्रहामति	८९ । ९-१०	७ । ५० । ६-७			
५७३ ७४	गोभिष्टरेमा	८९ । १०-११	२०।१७।१०-११: ९४।१०-११			
५७५	बृहस्पतिर्नः परि	८९ । ११	७ । ५१ । १			
५७६-७८	योअद्रिभित् प्र	९० । १-३		६ । ७३ । १-३		
५७९-८०	इमां धियं सप्त	९१ । १ १२		१० । ६७ । १-१२		
५८१-०५	अभि प्र गोपतिं	९२ । १-१५	१-३;२०।२२ । ४-६	८ । ६९ । ४-१८		
५०६	अर्चत प्रार्चत	९२ । ५				पू० ४ । ८ । ३
५०७-१२	यो राजा चर्ष	९२ । १६-२१	म०१६-१७;२० । १०५ । ४-५	८ । ७० । १-६		म० १६-१७ । उ० ३ । १ । १५
						म० १६ । पू० ३ । ९ । १
६१३-१४	नकिष्टं कर्मणा	९२ । १८-१९	२० । ८१ । १-२			उ० ४ । २ । ८; म० १८ पू० ३ । ६ । १
६१५-१६	यद्द द्याव इन्द्र	९२ । २० २१				
६१७-१९	उत् त्वा मन्दन्तु	९३ । १-३		८ । ६४ । १-३		उ० ६ । १ । ३ म० १ पू० ३ । १ । १
६२०-२४	ईङ्खयन्ती	९३ । ४-८		१० । १५३ । १-५		म० ४ पू० २ । ९ । १
६२५-३५	आ या विन्द्रः	९४ । १-११		१० । ४४ । १-११		

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड२०) सूक्त,मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद,मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक,उत्तरार्चिक आदि
६३६-३७	गोभिष्टरेमा	९४। १०-११	२० । १७ । १०-११; ८६ । १०-११			
६३८	त्रिकद्रुकेषु	९५ । १		२ । २२ । १		पू० ५ । ८ । १; उ० ६ । ३ । २०
६३९-४१	प्रोष्वस्मै पुरो	९५ । २-४		१० । १३३ । १-३		उ० ९ । १ । १४
६४२-४६	तीव्रस्याभि	९६ । १-५		१० । १६० । १-५		
६४७-५०	मुञ्चामि त्वा	९६ । ६-९	३ । ११ । १-४			
६५१	आहार्षमविदं	९६ । १०	८ । १ । २०			
६५२-५७	ब्रह्मणाग्निः	९६ । ११-१६		१० । १६२ । १-६		
६५८-६४	अक्षीभ्यां ते	९६ । १७-२३	२ । ३३ । १-७			
६६५	अपेहि मनस	९६ । २४		१० । १६४ । १		
६६६-६८	वयमेनमिदा	९७ । १-३		८ । ६६ । ७-९		उ० ८ । २ । १३ म०१ पू०३ । ८ । १०
६६९-७०	त्वामिद्धि हवा	९८ । १-२		६ । ४६ । १-२	२७ । ३७-३८	उ०२ । १ । १२; म०१ पू०३ । ५ । २
६७१-७२	अभि त्वा पूर्व	९९ । १-२		८ । ३ । ७-८		उ० ७ । ३ । १ म० १ पू० ३ । ६ । ४
६७३-७५	अधा हीन्द्र	१०० । १-३		८ । ९८ । ७-९		उ० १ । १ । २३ म०१ पू० ५ । २ । ८
६७६-७८	अग्निं दूतं वृ	१०१ । १-३		१ । १२ । १-३		उ० २ । १ । ६ म०१ पू० १ । १ । ३
६७९-८१	ईळेन्यो नमस्य	१०२ । १-३		३ । २७ । १३-१५		उ० ७ । २ । २
६८२	अग्निमीळिष्वा	१०३ । १		८ । ७१ । १४		पू० १ । ५ । ६

६८३-८४	अग्न आ हाह्य	१०३ । २-३		८ । ६ । १-२		उ० ७ । २ । ७
६८५-८६	इमा उ त्वा पु	१०४ । १-२		८ । ३ । ३-४	३३ । ८१-८३	उ० ७ । ३ । १८ । म०१ पू०३ । ६ । ८
६८७-८८	आ नो विश्वासु	१०४ । ३-४		८ । ९० । १२		उ० ७ १ । २ म० १ पू० ३ । ८ । ७
६८९-९१	त्वमिन्द्र प्रतूर्ति	१०५ । १-३		८ । ९९ । ५-७	म१-२;३३ । ९६-९७	उ० ८ । १ । ८ म० १ पू० ४ । २ । ९
६९२	इत ऊती वो	१०५ । ३				पू० ३ । १० । १
६९३-९४	यो राजा चर्ष	१०५ । ४-५	२० । ९२ । १६-१७			
६९५-९७	तव त्यदिन्द्रियं	१०६ । १-३		८ । १५ । ७-९		उ० ८ । १ । ११
६९८-७००	समस्य मन्यवे	१०७ । १-३		८ । ६ । ४६		उ० ८ । १ । १३; म१ पू० २ । ५ । ३
७०१-७०९	तदिदास भुवनेषु	१०७ । ४-१२	५ । २ । १-९			
७१०-११	चित्रं देवानां	१०७।१३-१४	१३ । २ । ३४-३५			
७१२	सूर्यो देवीमुषसं	१०७ । १५		१ । ११५ । २		
७१३-१५	त्वं न इन्द्र भरँ	१०८ । १-३		८ । ९८ । १०-१२		उ० ४ । २ । १३; म० १ पू०२ । २ । ७
७१६-१८	स्वादोरित्था वि	१०९ । १-३		१ । ८४ । १०-१२		उ० ३ । २ । १५;म०१ पू० ५ । ३ । १
७१९-२१	इन्द्राय मद्वने	११० । १-३		८ । ९२ । १९-२१		उ० १ । २ । ४; म०१ पू० २ । ७ । ४
७२२-२४	यत् सोममिन्द्र	१११ । १-३		८ । १२ । १६-१८		पू० ७ । १० । ४
७२५-२७	यद्द्य कच्च वृ	११२ । १-३		८ । ९३ । ४-६	म० १;३३।३५	म० १ पू० २ । ४ । २
७२८	ये सोमासः परा	११२ । ३				उ० ४ । २ । ११
७२९-३०	उभयं शृणवच्च	११३ । १-२		८ । ६१ । १-२		उ०५ । १ । १४;म०१ पू ३ । १० । ८
७३१-३२	अभ्रातृव्या अना	११४ । १-२		८ । २१ । १३-१४		उ० ६ । २ । ४; म०१ पू० ५ । २ । १
७३३-३५	अहमिद्धि पितु	११५ । १-३		८ । ६ । १०-१२		उ० ७ । १ । ५; म० पू २ । ६ । ८
७३६-३७	मा भूम निष्ट्या	११६ । १-२		८ । १ । १३-१४		

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड. सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
७३८-४०	पिबा सोममिन्द्र	११७ । १-३		७ । २२ । १-३		उ० ३ । १ । १३ म० १ पू० ५।६ । ८
७४१-४२	अध्व्यू ३ षु	११८।१-२		८ । ६१ । ५-६		उ० ७ । ३ । ३ म१पू० ३ । ७ । १
७४३-४४	इन्द्रमिद्दु देवता	११८।३-४		८ । ३ । ५-६		उ० ७ । ३ । ८; म०३ पू० ३ । ६ । ७
७४५	अस्तावि मन्म	११९ । १		८ । ५२ । ९		उ० ८ । २ । ७
७४६	तुरण्यवो मधु	११९ । २		८ । ५ १ । १०		उ० ७ । ३ । १९
७४७-४८	यदिन्द्र प्रागपा	१२०।१-२		८ । ४ । १-२		उ० ५ । १ । १३ म० १ पू० ३ । ९ । ७
७४९-५०	अभि त्वा शूर नो	१२१।१-२		७ । ३२ । २२-२३	२७ । ३५-३६	उ० १ । १ । ११; म०१ पू० ३ । ३ । ५
७५१-५३	रेवतीर्नः सधमा	१२२।१-३		१ । ३० । १३-१५		उ०४ । ३ । १४ म० १ पू०२ । ६ । ८
७५४-५५	तत् सूर्यस्य दे	१२३।१-२		१ । ११ ५ । ४-५		
७५६-५८	कया नश्चित्र	१२४।१-३		४ । ३१ । १-३	२७ । ३९-४१; ३६ । ४-६	उ० १ । १ । १२; म० १ पू०२ । ८ । ५
७५९-६१	इमा नु कं भुवना	१२४।४-६	२० । ६३ । १-३	१० । १११३ । १-७		
७६२-६८	अपेन्द्र प्राचो	१२५ । १-७				
७६९	कुविदङ्ग यव	१२५ । २			१० । ३२; १९। ६; २३ । ३८	
७७०-७१	युवं सुरामम	१२५ । ४-५			१० । ३३-३४; २० । ७६-७७	

७७२-७३	इन्द्रा सुत्रामा	१२५ । ६-७	७ । ६१-६२			
७७४-९६	वि हि सोतारसृ	१२६।१-२३		१० । ८६ । १-२३		
७९७	यदृस्या अंहुमे	१३६ । ४			२३ । २८	
७९८	यद् देवासो ललाम	१३६ । ४			२३ । २९	
७९९	यद्व प्राचीरज	१३७ । १		१० । १५५ । ४		
८००	कपृन्नरः कपृथ	१३७ । २		१० । १०१ । १२		
८०१	दधिक्राव्णो अका	१३७ । ३		४ । ३९ । ६	२३ । ३२	पू० ४ । ७ । ७
८०२-०४	सुतासो मधुमत्त	१३७ । ४-६		९ । १०१ । ४-६		उ० २ । २ । । १५ म०४ पू० ६ । ६ । ३
८०५-०९	अव द्रप्सो अंशु	१३७।७-११		८ । ९६ । १३-१७		म०७पू०४।४। १ म० १० पू० ४ । ४।४
८१०-१२	तमिन्द्रं वाजयाम	१३७ १२-१४	२० । ४७ । १-३			
८१३-१५	महाँ इन्द्रो य ओजसा	१३८ । १-३		८ । ६ । १-३	म० १;७ । ४०	उ० ५ । २ । १०
८१६-२०	आ नूनमश्विना	१३९ । १-५		८ । ९ । १-५		
८२१-२५	यन्नासत्या सुर	१४० । १-५		८ । ९ । ६-१०		
८२६-३०	यातं छर्दिष्पा	१४१ । १-५		८ । ९ । ११-१५		
८३१-३६	अभुत्स्यु प्र दे	१४२ । १-६		८ । ९ । १६-२१		
८३७-४३	तं वां रथं वयम	१४३।१-७		४ । ४४ । १-७		
८४४	इहेह यद् वां	१४३ । ७		४ । ४३ । ७		
८४५	मधुमतीरोषधी	१४३ । ८		४ । ५७ । ३		
८४६	पनाय्यं तदश्विना	१४३ । ९		८ । ५७ । ३		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

विंशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १—३ ॥ १ इन्द्रः ; २ मरुतः ; ३ अग्निर्देवता ॥ १, २ गायत्री ; ३ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे ।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥

इन्द्रं । त्वा । वृषभम् । वयम् । सुते । सोमे । हवामहे ॥
सः । पाहि । मध्वः । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (वृषभम्) बलिष्ठ (त्वा) तुझ को (सुते) सिद्ध किये हुये (सोमे) ऐश्वर्य वा ओषधियों के समूह में (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं । (सः) सो तू

१—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वा) त्वाम् (वृषभम्) बलिष्ठम् (वयम्) प्रजाजनाः (सुते) निष्पन्ने । सिद्धे (सोमे) ऐश्वर्ये ओषधिगणे वा (हवामहे) आह्वयामः (सः) स त्वम् (पाहि) रक्षां कुरु (मध्वः) मधुरगुण

(मद्वः) मधुर गुण से युक्त (अन्धसः) अन्न को (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजाजन सत्कार के साथ ऐश्वर्य देकर धर्मात्मा राजा से अपनी रक्षा करावें, जैसे सद्वैद्य उत्तम ओषधियों से रोगी को अच्छा करता है ।१

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—३ । ४० । १ और आगे है—अथ० २० । सूक्त ६ । म० १ ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ २ ॥

मरुतः । यस्य । हि । क्षये । पाथ । दिवः । वि-महसः ॥
सः । सु-गोपातमः । जनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विमहसः) हे विविध पूजनीय (मरुतः) शूर विद्वानो ! (यस्य) जिस [राजा] के (क्षये) ऐश्वर्य में (दिवः) उत्तम व्यवहारों की (पाथ) तुम रक्षा करते हो, (सः हि) वही (सुगोपातमः) अच्छे प्रकार पृथिवी का अत्यन्त पालने वाला (जनः) पुरुष है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण बुद्धिमान् राजा का सहाय करके परस्पर ऐश्वर्य बढ़ावें, जिससे वह सर्वथा प्रजा की रक्षा कर सके ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ८६ । १ और यजु० ८ । ३१ ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे ।
स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ ३ ॥

उक्ष-अन्नाय । वशा-अन्नाय । सोम-पृष्ठाय । वेधसे ॥
स्तोमैः । विधेम । अग्नये ॥ ३ ॥

युक्तस्य (अन्धसः) अन्नस्य-निघ० २ । ७ ॥

२—(मरुतः) हे शूरविद्वांसः (यस्य) राज्ञः (हि) खलु (क्षये) क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्ये च-अच् । ऐश्वर्ये (पाथ) सांहितिको दीर्घः । रक्षथ (दिवः) दिव्यव्यवहारान् (विमहसः) हे विविधपूजनीयाः (सः) स राजा (सुगोपातमः) अतिशयेन सुष्ठु पृथिवीरक्षकः (जनः) पुरुषः ॥

भाषार्थ—(उक्षान्नाय) प्रबलों के अन्न दाता (वशान्नाय) वशी भूत [निर्बल प्रजाओं] के अन्न दाता, (सोमपृष्ठाय) ऐश्वर्य के सींचने वाले (वेधसे) बुद्धिमान् (अग्नये) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] की (स्तोमैः) स्तुति योग्य कर्मों से (विधेम) हम पूजा करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार राजा अपने पराक्रम और धर्म नीति से प्रजा का उपकार करे, वैसे ही प्रजागण योग्य रीति से राजा की सेवा करते रहें ॥३॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ४३ । ११ और कुछ भेद से पहिले आचुका है—अ० ३ । २१ । ६ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—४ ॥ १ मरुतः ; २ अग्निः ; ३ ब्रह्मा ; ४ द्रविणोदा देवता ॥ १, २ आर्ची गायत्री ; ३ साम्नी पङ्क्तिः ; ४ आर्च्युष्णिक् ॥

विदुषां व्यवहारोपदेशः—विद्वानों के व्यवहार का उपदेश ॥

मुरुतः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥ १ ॥

मुरुतः । पोत्रात् । सु-स्तुभः । सु-अर्कात् । ऋतुना । सोमम् । पिबतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) शूर विद्वान् लोग (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (पोत्रात्) पवित्र व्यवहार से (ऋतुना) ऋतु के

३—(उक्षान्नाय) अ० ३ । २१ । ६ । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । उक्ष सेचने वृद्धौ च—कनिन् । उक्षा महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उक्षभ्यो महद्भ्यः प्रबलेभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । प्रबलानां भोजनदात्रे (वशान्नाय) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । वश स्पृहायाम् , अप्, टाप् । वशाभ्यो वशीभूताभ्यः प्रजाभ्योऽन्नं यस्यात् तस्मै । निर्बलप्रजानां भोजनदात्रे (सोमपृष्ठाय) पृषु सेचने—थक् । ऐश्वर्यस्य सेचकाय वर्धकाय (वेधसे) मेधाविने—निघ० ३ । १५ (स्तोमैः) स्तुत्यकर्मभिः (विधेम) परिचरेम (अग्नये) अग्निवत्तेजस्विने राज्ञे ॥

१—(मरुतः) शूरविद्वांसः (पोत्रात्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । पूञ् शोधने—ष्ट्रन् । पवित्रव्यवहारात् (सुष्टुभः) स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४, क्विप् । बहुस्तुतियोग्यात् (स्वर्कात्) बहुपूजनीयात् (ऋतुना) ऋतुना

अनुसार (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम व्यवहारों से उत्तम ओषधि आदि का सेवन करके सदा सुख बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है- १ । १५ । २ ॥

अ॒ग्निराग्नी॑ध्रात् सु॒ष्टुभ॑: स्व॒र्कादृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥ २ ॥

अ॒ग्निः । आग्नी॑ध्रात् । सु॒-स्तुभ॑: । सु॒-अ॒र्कात् । ऋ॒तुना॑ । सोम॑म् । पि॒ब॒तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (आग्नीध्रात्) अग्नि की प्रकाश विद्या को आश्रय में रखने वाले व्यवहार से (ऋतुना) ऋतु के साथ (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम अग्नि विद्या के उपयोग से सदा सुख सामग्री बढ़ावे ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा ब्राह्म॑णात् सु॒ष्टुभ॑: स्व॒र्कादृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥ ३ ॥

इन्द्र॑: । ब्र॒ह्मा । ब्राह्म॑णात् । सु॒-स्तुभ॑: । सु॒-अ॒र्कात् । ऋ॒तुना॑ । सोम॑म् । पि॒ब॒तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदज्ञाता पुरुष] (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (ब्राह्मणात्)

सह । ऋतुमनुसृत्येत्यर्थः (सोमम्) सदोषधिरसम् (पिबतु) बहुवचनस्यैकवचनम् । पिबन्तु ॥

२—(अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (आग्नीध्रात्) अग्नि+इन्धी दीप्तौ-क्विप्, नलोपः । अग्नीधः शरणे रञ् भं च । वा० पा० ४ । ३ । १२० । अग्नीध्-रञ्, भत्वाच्च जश्त्वाभावः । अग्नीत् अग्निदीपनं यस्य शरणे आश्रये तस्मात् । अग्निप्रकाशविद्याशरणयुक्तव्यवहारात् । शिष्टं पूर्ववत् ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (ब्रह्मा) वेदज्ञाता पुरुषः (ब्राह्मणात्)

ब्राह्मण [वेदोक्त ज्ञान] से (ऋतुना) ऋतु के अनुसार (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदज्ञानी पुरुष वेदज्ञान से सदा सुख प्राप्त करे ॥ ३ ॥

देवो द्रविणोदाः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥४

देवः । द्रविणः-दाः । पोत्रात् । सु-स्तुभः । सु-अर्कात् । ऋतुना । सोमम् । पिबतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवः) विद्वान् (द्रविणोदाः) धन वा बल का दाता पुरुष, (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (पोत्रात्) पवित्र व्यवहार से (ऋतुना) ऋतु के अनुसार (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सुपात्रों को योग्य दान देकर सुख को प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥ आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ १ ॥

वेदोक्तज्ञानात् । शिष्टं पूर्ववत् ॥

४—(देवः) विद्वान् (द्रविणोदाः) द्रविणशब्दस्य सकार उपजनः, ददातेरसुनि बाहुलकादाकारलोपः । द्रविणोदाः कस्माद्धनं द्रविणमुच्यते यदेन-दभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति तस्य दाता द्रविणोदाः—निरु० ८ । १ । धनस्य बलस्य वा दाता । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (आ याहि) तू आ, (हि) क्योंकि (ते) तेरे लिये (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (सुषुम) हम ने सिद्ध किया है, (इमम्) इस [रस] को (पिब) पी, (मम) मेरे (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदः) बैठ ॥ १ ॥

भावार्थ—लोग विद्वान् सद्वैद्य के सिद्ध किये हुये महौषधियों के रस से राजा को स्वस्थ बलवान् रख कर राजसिंहासन पर सुशोभित करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है-८ । १७ । १—३ । और सामवेद-उ० १ । १ । तृच ६; मन्त्र १ सामवेद-पू० २ । १० । ७ तथा आगे है—अ० २० । ३८ । १—३ और ४७ । ७—६ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

आ । त्वा । ब्रह्म-युजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥ उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ब्रह्मयुजा) धन के लिये जोड़े गये, (केशिना) सुन्दर केश [कन्धे आदि के बालों] वाले (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (त्वा) तुझ को (आ) सब ओर (वहताम्) ले चलें । (नः) हमारे (ब्रह्माणि)

१—(आ याहि) आगच्छ (सुषुम) षुञ् अभिषवे—लिट्, छान्दसं रूपम्, सांहितिको दीर्घः । वयमभिषुतवन्तः । निष्पादितवन्तः (हि) यस्मात् कारणात् (ते) तुभ्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सोमम्) सदोषधिरसम् (पिब) पानं कुरु (इमम्) रसम् (इदम्) आस्तीर्णम् (बर्हिः) प्रवृद्धासनम् (आ सदः) लेटि, अडागमे, इतश्च लोपे च कृते रूपम् । निषीद ॥

२—(आ) समन्तात् (त्वा) त्वाम् (ब्रह्मयुजा) ब्रह्म धननाम—निघ० २ । १० । ब्रह्मणे धनाय युज्यमानौ (हरी) रथस्य हारकावश्वाविव बलपराक्रमौ (वहताम्) प्रापयताम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (केशिना) प्रशस्तकेशयुक्तौ स्कन्धादिचिक्कणबालोपेतौ (उप) पूजायाम् (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि

वेदज्ञानों को (उप) आदर से (शृणु) तू सुन ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बलवान् घोड़े रथ को ठिकाने पर पहुंचाते हैं, वैसे ही राजा वेदोक्त मार्ग पर चल कर अपने बल और पराक्रम से राज्य भार उठाकर प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—दयानन्दभाष्य यजु० ८। ३४, ३५ और अथ० २० । २६ । २ ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।

सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोम-पाम् । इन्द्र । सोमिनः ॥ सुत-वन्तः । हवामहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक (त्वा) तुझ को (युजा) मित्रता के साथ (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले, (सोमिनः) ऐश्वर्य वाले, (सुतवन्तः) उत्तम पुत्रादि [सन्तानों] वाले (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राजा के सुप्रबन्ध से प्रजागण ज्ञानवान्, धनवान् और सुशिक्षित सन्तान वाले होवें, उसको मित्र जान कर सदा स्मरण करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—३॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

महौषधिरसपानोपदेशः—महौषधियों के रसपान का उपदेश ॥

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप ।

(नः) अस्माकम् (शृणु) आकर्णय ॥

३—(ब्रह्माणः) वेदज्ञातारः (त्वा) त्वाम् (वयम्) प्रजागणाः (युजा) सम्पदादिक्विप् । संयोगेन । मित्रभावेन (सोमपाम्) ऐश्वर्यरक्षकम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ८ । ३४ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सोमिनः) ऐश्वर्यवन्तः (सुतवन्तः) सुशिक्षितसन्तानयुक्ताः (हवामहे) आह्वयामः ॥

पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥ १ ॥

आ । नः । याहि । सुत-वतः । अस्माकम् । सु-स्तुतीः । उप ॥ पिब । सु । शिप्रिन् । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र राजन्!] (अस्माकम्) हमारी (सुष्टुतीः) सुन्दर स्तुतियों को (उप=उपेत्य) प्राप्त होकर (सुतवतः) उत्तम पुत्र आदि [सन्तानों] वाले (नः) हम लोगों को (आ याहि) आकर प्राप्त हो । (सुशिप्रिन्) हे दृढ़ जावड़े वाले! (अन्धसः) इस अन्न रस का (सु) भले प्रकार (पिब) पान कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुन्दर महौषधियों के रस के सेवन से हृष्ट पुष्ट होवें ॥ १ ॥

*यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १७ । ४—६ ॥

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु ।

गृभाय जिह्वया मधु ॥ २ ॥

आ । ते । सिञ्चामि । कुक्ष्योः । अनु । गात्रा । वि । धावतु ॥ गृभाय । जिह्वया । मधु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (ते) तेरी (कुक्ष्योः) दोनों कोखों में (मधु) मधुर पान को (आ) भली भांति (सिञ्चामि) मैं सींचता हूं, वह (गात्रा अनु)

१—(आ) आगत्य (नः) अस्मान् (याहि) प्राप्नुहि (सुतवतः) उत्तमसन्तानयुक्तान् (अस्माकम्) (सुष्टुतीः) शोभनाः स्तुतीः (उप) उपेत्य (पिब) पानं कुरु (सु) सुष्ठु (शिप्रिन्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शिञ् निशाने छेदने—रक् पुक् च, यद्वा सृप्लृ गतौ—रक्, सृशब्दस्य शिभावः । शिप्रे हनू नासिके वा—निरु० ६ । १७ ॥ हे दृढहनूयुक्त (अन्धसः) अन्नरसस्य ॥

२—(आ) समन्तात् (ते) तव (सिञ्चामि) अवनयामि । पूरयामि (कुक्ष्योः)-सव्यदक्षिणपार्श्वयोः (अनु) प्रति (गात्रा) अङ्गानि (वि) विविधम्।

[तेरे] अङ्गों में (वि धावतु) दौड़ने लगे, [इन को] (जिह्वया) जीभ से (गृभाय) ग्रहण कर ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य रुधिरसंचारक ओषधियों का सेवन कराके मनुष्यों को पुष्ट रक्खें ॥ २ ॥

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान् तन्वे३ तव ।
सोमः शमस्तु ते हृदे ॥ ३ ॥

स्वादुः । ते । अस्तु । सम्-सुदे । मधु-मान् । तन्वे । तव ॥
सोमः । शम् । अस्तु । ते । हृदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सोमः) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (ते) तेरे (संसुदे) स्वीकार करने के लिये (स्वादुः) स्वादु [रोचक] और (तव) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (मधुमान्) मधुर रस वाला (अस्तु) होवे और (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्तिकारक (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसी उत्तम ओषधियों का रस सेवन करें जो खाने में स्वादिष्ट हों, शरीर को पुष्ट और हृदय को शान्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५ ॥

मन्त्राः १—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ६ गायत्री; ३—५, ७ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

सोमसेवनोपदेशः—सोम रस के सेवन का उपदेश ॥

सर्वत्र (धावतु) प्रवहतु (गृभाय) श्नः शायजादेशः, हस्य भः । गृहाण (जिह्वया) रसनया (मधु) मधुरपानम् ॥

३—(स्वादुः) रोचकः (ते) तव (अस्तु) (संसुदे) षूद आश्रुति-हत्योः—क्विप्, छान्दसो ह्रस्वः, आश्रुतिरङ्गीकारः । सम्यक् स्वीकरणाय (मधु-मान्) माधुर्योपेतः (तन्वे) शरीराय (तव) (सोमः) सदौषधिरसः (तन्वे) शरीराय (शम्) सुखकरः (अस्तु) (ते) तव (हृदे) हृदयाय ॥

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः ।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥ १ ॥
अयम् । ऊं इति । त्वा । वि-चर्षणे । जनीः-इव । अभि ।
सम्-वृतः ॥ प्र । सोमः । इन्द्र । सर्पतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विचर्षणे) हे दूरदर्शी (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अयम् उ) यही (अभि) सब प्रकार (संवृतः) यथाविधि स्वीकार किया हुआ (सोमः) सोम [महौषधियों का रस], (जनीः इव) कुलस्त्रियों के समान, (त्वा) तुझको (प्र) अच्छे प्रकार (सर्पतु) प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे कुलस्त्रियां अपने सन्तान आदि का हित करती हैं, वैसे ही सद्वैद्यों का सिद्ध किया हुआ महौषधियों का रस सुखदायक होता है ॥१॥

मन्त्र १—७ ऋग्वेद में हैं—८ । १७ । ६—१३ ॥

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥
तुवि-ग्रीवः । वपा-उदरः । सु-बाहुः । अन्धसः । मदे ॥
इन्द्रः । वृत्राणि । जिघ्नते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तुविग्रीवः) दृढ़ गले वाला, (वपोदरः) चर्बी से युक्त पेट वाला, (सुबाहुः) बलवान् भुजाओं वाला (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य

१—(अयम्) (उ) एव (त्वा) त्वाम् (विचर्षणे) कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । वि + कृष विलेखने—अनि, कस्य चः । विचर्षणिः पश्यतिकर्मा—निघ० ३ । ११ । हे विविधं द्रष्टः । दूरदर्शिन् (जनीः) जनयः । कुलस्त्रियः (इव) यथा (अभि) अभितः । सर्वप्रकारेण (संवृतः) सम्यक् स्वीकृतः (प्र) प्रकर्षेण (सोमः) महौषधिरसः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (सर्पतु) प्राप्नोतु ॥

२—(तुविग्रीवः) दृढकण्ठः (वपोदरः) वपा वसा मेद उदरे यस्य सः (सुबाहुः) प्रभूतबलभुजः (अन्धसः) अन्नरसस्य (मदे) हर्षे (इन्द्रः) परमै०

वाला पुरुष] (अन्धसः) अन्न रस के (मदे) आनन्द में (वृत्राणि) बैरियों को (जिघ्नते) मारे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ओषधियों के यथावत् सेवन से पुष्ट और बलवान् होकर शत्रुओं का नाश करे ॥ २ ॥

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥

इन्द्र । प्र । इहि । पुरः । त्वम् । विश्वस्य । ईशानः । ओजसा ॥ वृत्राणि । वृत्र-हन् । जहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन् !] (ओजसा) अपने बल से (विश्वस्य) सब का (ईशानः) स्वामी (त्वम्) तू (पुरः) सामने से (प्र इहि) आगे बढ़ । (वृत्रहन्) हे बैरियों के नाश करने वाले ! (वृत्राणि) बैरियों को (जहि) नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य महाबली होकर आगे बढ़ता हुआ सब विघ्नों को मिटावे ॥ ३ ॥

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।
यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥

दीर्घः । ते । अस्तु । अङ्कुशः । येन । वसु । प्र-यच्छसि । यजमानाय । सुन्वते ॥ ४ ॥

श्वर्यवान् पुरुषः (वृत्राणि) शत्रून् (जिघ्नते) हन्तेर्लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । अडागमः,शपः श्लुः । बहुलं छन्दसि । पा० ७। ४। ७८। अभ्यासस्य इत्वम् । हन्यात् । मारयेत् ॥

३—(इन्द्र) (प्र) प्रकर्षेण (इहि) गच्छ (पुरः) अग्रतः (त्वम्) (विश्वस्य) सर्वस्य (ईशानः) स्वामी (ओजसा) स्वबलेन (वृत्राणि) शत्रून् (वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक (जहि) नाशय ॥

पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥ १ ॥

आ । नः । याहि । सुत-वतः । अस्माकम् । सु-स्तुतीः ।

उप ॥ पिब । सु । शिप्रिन् । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र राजन्!] (अस्माकम्) हमारी (सुष्टुतीः) सुन्दर स्तुतियों को (उप=उपेत्य) प्राप्त होकर (सुतवतः) उत्तम पुत्र आदि [सन्तानों] वाले (नः) हम लोगों को (आ याहि) आकर प्राप्त हो । (सुशिप्रिन्) हे दृढ़ जावड़े वाले ! (अन्धसः) इस अन्न रस का (सु) भले प्रकार (पिब) पान कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुन्दर महौषधियों के रस के सेवन से हृष्ट पुष्ट होवें ॥ १ ॥

"यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १७ । ४—६ ॥

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु ।

गृभाय जिह्वया मधु ॥ २ ॥

आ । ते । सिञ्चामि । कुक्ष्योः । अनु । गात्रा । वि ।

धावतु ॥ गृभाय । जिह्वया । मधु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !](ते) तेरी (कुक्ष्योः) दोनों कोखों में (मधु) मधुर पान को (आ) भली भांति (सिञ्चामि) मैं सींचता हूं, वह (गात्रा अनु)

१—(आ) आगत्य (नः) अस्मान् (याहि) प्राप्नुहि (सुतवतः) उत्तमसन्तानयुक्तान् (अस्माकम्) (सुष्टुतीः) शोभनाः स्तुतीः (उप) उपेत्य (पिब) पानं कुरु (सु) सुष्ठु (शिप्रिन्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शिञ् निशाने छेदने—रक् पुक् च, यद्वा सृप्लृ गतौ—रक्, सृशब्दस्य शिभावः । शिप्रे हनू नासिके वा—निरु० ६ । १७।। हे दृढहनूयुक्त (अन्धसः) अन्नरसस्य ॥

२—(आ) समन्तात् (ते) तव (सिञ्चामि) अवनयामि । पूरयामि (कुक्ष्योः)-मध्यदक्षिणपार्श्वयोः (अनु) प्रति (गात्रा) अङ्गानि (वि) विविधम्।

[तेरे] अङ्गों में (वि धावतु) दौड़ने लगे, [इन को] (जिह्वया) जीभ से (गृभाय) ग्रहण कर ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य रुधिरसंचारक ओषधियों का सेवन कराके मनुष्यों को पुष्ट रक्खें ॥ २ ॥

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान् तन्वे३ तव ।

सोमः शमस्तु ते हृदे ॥ ३ ॥

स्वादुः । ते । अस्तु । सम्-सुदे । मधु-मान् । तन्वे । तव ॥

सोमः । शम् । अस्तु । ते । हृदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सोमः) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (ते) तेरे (संसुदे) स्वीकार करने के लिये (स्वादुः) स्वादु [रोचक] और (तव) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (मधुमान्) मधुर रस वाला (अस्तु) होवे और (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्तिकारक (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसी उत्तम ओषधियों का रस सेवन करें जो खाने में स्वादिष्ट हो, शरीर को पुष्ट और हृदय को शान्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५ ॥

मन्त्राः १—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ६ गायत्री; ३—५, ७ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

सोमसेवनोपदेशः—सोम रस के सेवन का उपदेश ॥

सर्वत्र (धावतु) प्रवहतु (गृभाय) श्नः शायजादेशः, हस्य भः । गृहाण (जिह्वया) रसनया (मधु) मधुरपानम् ॥

३—(स्वादुः) रोचकः (ते) तव (अस्तु) (संसुदे) षूद आश्रुति-हत्योः—क्विप्, छान्दसो ह्रस्वः, आश्रुनिरङ्गीकारः । सम्यक् स्वीकरणाय (मधु-मान्) माधुर्योपेतः (तन्वे) शरीराय (तव) (सोमः) सदौषधिरसः (तन्वे) शरीराय (शम्) सुखकरः (अस्तु) (ते) तव (हृदे) हृदयाय ॥

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः ।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥ १ ॥

अयम् । ऊं इति । त्वा । वि-चर्षणे । जनीः-इव । अभि ।
सम्-वृतः ॥ प्र । सोमः । इन्द्र । सर्पतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विचर्षणे) हे दूरदर्शी (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अयम् उ) यही (अभि) सब प्रकार (संवृतः) यथाविधि स्वीकार किया हुआ (सोमः) सोम [महौषधियों का रस], (जनीः इव) कुलस्त्रियों के समान, (त्वा) तुझको (प्र) अच्छे प्रकार (सर्पतु) प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे कुलस्त्रियां अपने सन्तान आदि का हित करती हैं, वैसे ही सद्वैद्यों का सिद्ध किया हुआ महौषधियों का रस सुखदायक होता है ॥१॥

मन्त्र १—७ ऋग्वेद में हैं—८ । १७ । ६—१३ ॥

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥

तुवि-ग्रीवः । वपा-उदरः । सु-बाहुः । अन्धसः । मदे ॥
इन्द्रः । वृत्राणि । जिघ्नते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तुविग्रीवः) दृढ़ गले वाला, (वपोदरः) चर्बी से युक्त पेट वाला, (सुबाहुः) बलवान् भुजाओं वाला (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य

१—(अयम्) (उ) एव (त्वा) त्वाम् (विचर्षणे) कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । वि + कृष विलेखने—अनि, कस्य चः । विचर्षणिः पश्यतिकर्मा—निघ० ३ । ११ । हे विविधं द्रष्टः । दूरदर्शिन् (जनीः) जनयः । कुलस्त्रियः (इव) यथा (अभि) अभितः । सर्वप्रकारेण (संवृतः) सम्यक् स्वीकृतः (प्र) प्रकर्षेण (सोमः) महौषधिरसः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (सर्पतु) प्राप्नोतु ॥

२—(तुविग्रीवः) दृढकण्ठः (वपोदरः) वपा वसा मेद उदरे यस्य सः (सुबाहुः) प्रभूतबलभुजः (अन्धसः) अन्नरसस्य (मदे) हर्षे (इन्द्रः) परमै-

वाला पुरुष] (अन्धसः) अन्न रस के (मदे) आनन्द में (वृत्राणि) बैरियों को (जिघ्नते) मारे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ओषधियों के यथावत् सेवन से पुष्ट और बलवान् होकर शत्रुओं का नाश करे ॥ २ ॥

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥

इन्द्र । प्र । इहि । पुरः । त्वम् । विश्वस्य । ईशानः । ओजसा ॥ वृत्राणि । वृत्र-हन् । जहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन् !] (ओजसा) अपने बल से (विश्वस्य) सब का (ईशानः) स्वामी (त्वम्) तू (पुरः) सामने से (प्र इहि) आगे बढ़ । (वृत्रहन्) हे बैरियों के नाश करने वाले ! (वृत्राणि) बैरियों को (जहि) नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य महाबली होकर आगे बढ़ता हुआ सब विघ्नों को मिटावे ॥ ३ ॥

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।
यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥

दीर्घः । ते । अस्तु । अङ्कुशः । येन । वसु । प्र-यच्छसि । यजमानाय । सुन्वते ॥ ४ ॥

श्वर्यवान् पुरुषः (वृत्राणि) शत्रून् (जिघ्नते) हन्तेर्लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । अडागमः, शपः श्लुः । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७८ । अभ्यासस्य इत्वम् । हन्यात् । मारयेत् ॥

३—(इन्द्र) (प्र) प्रकर्षेण (इहि) गच्छ (पुरः) अग्रतः (त्वम्) (विश्वस्य) सर्वस्य (ईशानः) स्वामी (ओजसा) स्वबलेन (वृत्राणि) शत्रून् (वृत्रहन) हे शत्रुनाशक (जहि) नाशय ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (ते) तेरा (अङ्कुशः) अङ्कुश [दण्डसाधन] (दीर्घः) लम्बा (अस्तु) होवे, (येन) जिस के कारण से (सुन्वते) तत्त्व रस निचोड़ने वाले (यजमानाय) यजमान [दाता पुरुष] को (वसु) धन (प्रयच्छसि) तू देता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों के दण्ड देने में निष्पक्ष और प्रचण्ड होकर सज्जनों का मान बढ़ावे ॥ ४ ॥

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥

अयम् । ते । इन्द्र । सोमः । नि-पूतः । अधि । बर्हिषि ॥
आ । इहि । ईम् । अस्य । द्रव । पिब ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन् !] (ते) तेरे लिये (अयम्) यह (निपूतः) छाना हुआ (सोमः) सोम [महौषधियों का रस] (बर्हिषि अधि) बढ़िया आसन के ऊपर [है] । (आ इहि) तू आ, (ईम्) अब (द्रव) दौड़ और (अस्य) इस का (पिब) पान कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—उत्तम सोम रस उत्तम आसन पर बैठ कर रुचि से पीना चाहिये ॥ ५ ॥

यह मन्त्र सामवेद में है—पू० २। ७। ५ और मन्त्र ५–७ सामवेद में हैं—उ० १। २। तृच ५ ॥

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।
आखण्डल प्र हूयसे ॥ ६ ॥

४—(दीर्घः) आयतः । विस्तृतः (ते) तव (अस्तु) (अङ्कुशः) वक्राग्रो लौहास्त्रभेदः । दण्डसाधनम् (येन) कारणेन (वसु) धनम् (प्रयच्छसि) ददासि (यजमानाय) दानिने पुरुषाय (सुन्वते) तत्त्वरसं निष्पादयते ॥

५—(अयम्) (ते) तुभ्यम् (इन्द्र) (सोमः) सदौषधिरसः (निपूतः) नितरां शोधितः (अधि) उपरि (बर्हिषि) प्रवृद्धासने (एहि) आगच्छ (ईम्) इदानीम् (अस्य) सोमस्य (द्रव) त्वरया आगच्छ (पिब) पानं कुरु ॥

शाचिगो इति शाचि-गो । शाचि-पूजन । अयम् । रणाय । ते । सुतः ॥ आखण्डल । प्र । हूयसे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शाचिगो) हे स्पष्ट वाणियों वाले ! (शाचिपूजन) हे प्रसिद्ध सत्कार वाले ! (अयम्) यह [सोमरस] (ते) तेरे लिये (रणाय) रण जीतने को (सुतः) सिद्ध किया गया है । (आखण्डल) हे [शत्रुओं के] खण्ड खण्ड करने वाले ! (प्र हूयसे) तू आवाहन किया जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्यवक्ता, सत्य कीर्ति वाले पुरुष का सत्कार उत्तम पदार्थों से करें ॥ ६ ॥

यस्ते शृङ्गवृषो नपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः ।
न्यस्मिन् दध्र आ मनः ॥ ७ ॥

यः । ते । शृङ्ग-वृषः । नपात् । प्रनपादिति प्र-नपात् । कुण्ड-पाय्यः ॥ नि । अस्मिन् । दध्रे । आ । मनः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शृङ्गवृषः) हे तेज की वृष्टि करने वाले [शूर पुरुष] के (नपात्) न गिराने वाले [राजन् !] (ते) तेरा (यः) जो (प्रणपात्) अतिशय करके न गिराने वाला (कुण्डपाय्यः) रक्षा करने वाले [सोमरस]

६—(शाचिगो) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । शच व्यक्तायां वाचि-इञ् । गौरिति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । शाचयः स्पष्टा गावो यस्य स शाचिगुः । हे स्पष्टवाक् (शाचिपूजन) हे प्रख्यातसत्कार (अयम्) सोमरसः (रणाय) रणं युद्धं जेतुम् (ते) तुभ्यम् (सुतः) संस्कृतः (आखण्डल) मङ्गेरलच् । उ० ५ । ७० । आङ्+खडि भेदने-अलच् । हे शत्रूणां सर्वथा खण्डयितः (प्र) प्रकर्षेण (हूयसे) आहूतोऽसि ॥

७—(यः) (ते) तव (शृङ्गवृषः) शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, नुडागमः + वृषु सेचने-क्विप् । शृङ्गाणि ज्वलतो नाम–निघ० १ । १७ । शृङ्गस्य तेजसो वर्षकस्य शूरस्य (नपात्) हे न पातयितः । रक्षक (शृङ्गवृषो नपात्) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे । पा० २ । १ । २ । इतिषष्ठ्यन्तस्य शृङ्गवृट्शब्दस्य पराङ्गवद् भावेनामन्त्रितानुप्रवेशात् समुदायस्याष्टमिकं रूर्वानुदात्तत्वम् (प्रणपात्) प्रकर्षेण न पातयिता रक्षिता (कुण्ड-

पीने का व्यवहार है। (अस्मिन्) उस में (मनः) मन को (नि) निरन्तर (आ दधे) मैं धारण करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो राजा शूर वीर लोगों का उत्साह देने वाला और सोम यज्ञ करके अन्न आदि से प्रजा की रक्षा करे, विद्वान् जन उस राजा के उत्तम कामों से प्रसन्न होवें ॥ ७॥

सूक्तम् ६ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—४, ६—६ गायत्री ; ५ निचृद् गायत्री ॥
राजप्रजाविषयोपदेशः राजा और प्रजा के विषय का उपदेश ॥

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे ।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥

इन्द्रं । त्वा । वृषभम् । वयम् । सुते । सोमे । हवामहे ॥
सः । पाहि । मध्वः । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (वृषभम्) बलिष्ठ (त्वा) तुझ को (सुते) सिद्ध किये हुये (सोमे) सोम [ऐश्वर्य वा ओषधियों के समूह] में (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं। (सः) सो तू (मध्वः) मधुरगुण से युक्त (अन्धसः) अन्न की (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजाजन सत्कार के साथ ऐश्वर्य देकर धर्मात्मा राजा से अपनी रक्षा करावें, जैसे सद्वैद्य उत्तम ओषधियों से रोगी को अच्छा करता है ॥ १ ॥

पाय्यः) कुडि रक्षणे-अच् । क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ । पा० ३ । १ । १३० । कुण्ड + पा पाने—यत्, युगागमः । कुण्डो रक्षकः सोमः पातव्यो यस्मिन् स व्यवहारः । क्रतुः कर्मनाम-निघ० २ । १ (नि) नितराम् (अस्मिन्) कुण्ड-पाय्ये व्यवहारे (आ दधे) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । इति रुडागमः । अहमादधे । समन्ताद् दधामि धारयामि ॥

१-अयं मन्त्रो व्याख्यातः-अ० २० । १ । १ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० २० । १ । १ । यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ४० । १—६ ॥

इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ २ ॥

इन्द्र । क्रतु-विदम् । सुतम् । सोमम् । हर्य । पुरु-स्तुत ॥
पिब । आ । वृषस्व । ततृपिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुरुष्टुत) हे बहुतों से बड़ाई किये गये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (क्रतुविदम्) बुद्धि के प्राप्त कराने वाले, (ततृपिम्) तृप्त करने वाले, (सुतम्) सिद्ध किये हुये (सोमम्) सोम [महौषधियों के रस] की (हर्य) इच्छा कर, (पिब) पी (आ) और (वृषस्व) बलवान् हो॥२॥

भावार्थ—राजा बल और बुद्धि बढ़ाने वाले खान पान के भोजन से तृप्त होकर स्वस्थ रहे ॥ २ ॥

यह मन्त्र आगे है—अ० २० । ७ । ४ ॥

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः ।
तिर स्तवान विश्पते ॥ ३ ॥

इन्द्र । प्र । नः । धित-वानम् । यज्ञम् । विश्वेभिः । देवेभिः ॥
तिर । स्तवान । विश्पते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्तवान) हे बड़ाई किये गये ! (विश्पते) हे प्रजापालक !

२—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (क्रतुविदम्) प्रज्ञाप्रापकम् (सुतम्) संस्कृतम् (सोमम्) महौषधिरसम् (हर्य) कामयस्व (पुरुष्टुत) हे बहुभिः प्रशंसित (पिब) (आ) समुच्चये (वृषस्व) बलिष्ठो भव (ततृपिम्) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । तृप प्रीणने—किन्, तोहितिको दीर्घः । तर्पकम् । प्रीणयितारम् ॥

२—(इन्द्र) (प्र तिर) वर्धय (नः) अस्मभ्यम् (धितवानम्) धि

(इन्द्र) हे इन्द्र! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (विश्वेभिः) सब (देवेभिः) विद्वानों के साथ (नः) हमारे लिये (धिनवानम्) सेवनीय धन धारण कराने वाले (यज्ञम्) यज्ञ [विद्वानों के सत्कार, सत्संग और दान] को (प्र तिर) बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजापालक राजा विद्वानों के साथ विद्या आदि श्रेष्ठ कर्मों की उन्नति कर के प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते ।

क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥ ४ ॥

इन्द्र । सोमाः । सुताः । इमे । तव । प्र । यन्ति । सत्-पते ॥

क्षयम् । चन्द्रासः । इन्दवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सत्पते) हे सत्पुरुषों के पालन करने वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजन्] (इमे) यह (चन्द्रासः) आनन्द कारक, (इन्दवः) गीले [रसीले], (सुताः) सिद्ध किये हुये (सोमाः) सोम [महौषधियों के रस] (तव) तेरे (क्षयम्) रहने के स्थान को (प्र यन्ति) पहुंचते हैं ४

भावार्थ—राजा विद्वानों द्वारा उत्तम उपयोगी पदार्थों का संग्रह करके प्रजा को पाले ॥ ४ ॥

धृतौ-क्त + धन सेवने—घञ् । धितो धृतो वानः सेवनीयं धनं यस्मात् तम् (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (विश्वेभिः) सर्वैः (देवेभिः) विद्वद्भिः(स्तवान) ष्टुञ् स्तुतौ—शानच् , छान्दसं रूपम् , कर्मणि कर्तृ प्रत्ययः। हे स्तूयमान (विश्पते) हे प्रजापालक ॥

४—(इन्द्र) (सोमाः) महौषधिरसाः (सुताः) संस्कृताः (इमे) (तव) (प्र) प्रकर्षेण (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सत्पते) सतां सत्पुरुषाणां पालक (क्षयम्) निवासस्थानम् (चन्द्रासः) चदि आह्लादने दीप्तौ च—रक् , असुगागमः । आह्लादकाः (इन्दवः) उन्देरिच्चादेः । उ० १ । १२ । उन्दी क्लेदने—उप्रत्ययः, उकारस्य इकारः । क्लिन्नाः । सजलाः । रसात्मकाः ॥

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् ।
तव द्युक्षास इन्दवः ॥ ५ ॥
दधिष्व । जठरे । सुतम् । सोमम् । इन्द्र । वरेण्यम् ॥
तव । द्युक्षासः । इन्दवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजन्] (वरेण्यम्) अङ्गीकार करने योग्य (सुतम्) सिद्ध किये हुये (सोमम्) सोम [अन्न आदि महौषधियों के रस] को (जठरे) पेट में (दधिष्व) धर, (द्युक्षासः) व्यवहार में रहने वाले (इन्दवः) रसीले पदार्थ (तव) तेरे [ही हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा आदि श्रेष्ठ जन उत्तम पदार्थों के सेवन से बल और बुद्धि बढ़ावें ॥ ५ ॥

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद् यशः ॥ ६ ॥
गिर्वणः । पाहि । नः । सुतम् । मधोः । धाराभिः । अज्यसे ॥
इन्द्र । त्वा-दातम् । इत् । यशः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गिर्वणः) हे वाणियों से सेवने योग्य ! (नः) हमारे (सुतम्) ऐश्वर्य की (पाहि) रक्षा कर, (मधोः) मधुर रस की (धाराभिः) धाराओं करके (अज्यसे) तू प्राप्त किया जाता है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य

५—(दधिष्व) दधातेर्लोट्, सांहितिको दीर्घः । धत्स्व । धरस्व (जठरे) उदरे (सुतम्) संस्कृतम् (सोमम्) अन्नादिमहौषधिरसम् (इन्द्र) (वरेण्यम्) अ० ७ । १४ । ४ । वृञ् वरणे-एण्य । स्वीकरणीयम् (तव) तवैव (द्युक्षासः) दिव् + क्षि निवासगत्योः-डप्रत्ययः, असुगागमः । दिवि व्यवहारे निवासशीलाः (इन्दवः) म० ४ । सजलाः । रसात्मकाः पदार्थाः ॥

६—(गिर्वणः) गॄ शब्दे—क्विप् + वन संभक्तौ-असुन् । गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति—निरु० ६ । १४ । हे गीर्भिर्वाणीभिः सेवनीय (पाहि) रक्ष (नः) अस्माकम् (सुतम्) षु ऐश्वर्ये-क । ऐश्वर्यम् (मधोः) मधुररसस्य (धाराभिः) प्रवाहैः (अज्यसे) प्राप्यसे (इन्द्र) (त्वादातम्) त्वा + ददातेः

वाले राजन्] (त्वादातम्) तेरा दिया हुआ [वा शोधा हुआ] (इत्) ही (यशः) [हमारा] यश है ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रजागण धर्मात्मा राजा का यथा योग्य धनादि से सत्कार करके अपना ऐश्वर्य और यश बढ़ावें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—पू० ३ । १ । २ ॥

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता ।

पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥ ७ ॥

अभि । द्युम्नानि । वनिनः । इन्द्रम् । सचन्ते । अक्षिता ॥

पीत्वी । सोमस्य । ववृधे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वनिनः) सेवक लोग (अक्षिता) न घटने वाले (द्युम्नानि) धनों [वा यशों] को (अभि=अभिलक्ष्य) देखकर (इन्द्रम्) [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] से (सचन्ते) मिलते हैं । वह (सोमस्य) सोम [अन्न आदि महौषधियों का रस] (पीत्वी) पीकर (ववृधे) बढ़ा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो पराक्रमी धर्मात्मा राजा अक्षय धन और कीर्ति प्राप्त करता है, प्रजागण उससे प्रीति करते हैं ॥ ७ ॥

क्त, छान्दसं रूपम्, यद्वा दैप् शोधने-क्त । त्वादातम्=त्वया दातव्यम्—निरु० ४ । ४ । त्वया दत्तं शोधितं विशदीकृतं वा (इत्) एव (यशः) अस्माकं कीर्तिः ॥

७—(अभि) अभिलक्ष्य (द्युम्नानि) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । द्युत दीप्तौ-नप्रत्ययः, तकारस्य मकारः । द्युम्न धननाम-निघ० २ । १० । द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा—निरु० ५ । ५ । धनानि । यशांसि (वनिनः) वन संभक्तौ-अच् । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । वन—इनि । संभजमानाः । सेवकाः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (सचन्ते) षच समवाये । संगच्छन्ते (अक्षिता) अक्षीणानि (पीत्वी) स्नात्व्यादयश्च । पा० ७ । १ । ४९ । इति त्वीभावः । पीत्वा । पानं कृत्वा (सोमस्य) अन्नादिमहौषधिरसस्य (ववृधे) प्रवृद्धो बभूव ॥

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन् ।
इमा जुषस्व नो गिरः ॥ ८ ॥
अर्वा-वतः । नः । आ । गहि । परा-वतः । च । वृत्र-हन् ॥
इमाः । जुषस्व । नः । गिरः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे धन के पाने वाले ! (अर्वावतः) समीप देश से (च) और (परावतः) दूर देश से (नः) हम में (आ गहि) आ । और (नः) हमारी (इमाः) इन (गिरः) वाणियों का (जुषस्व) सेवन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा धनवान् होकर समीप और दूर से प्रजा की पुकार सुनकर सदा रक्षा करे ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से आगे है—अ० २० । २० । ४ और ५७ । ८ ॥

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे ।
इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ९ ॥
यत् । अन्तरा । परा-वतम् । अर्वा-वतम् । च । हूयसे ॥
इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) जब कि (परावतम्) दूर देश (च) और (अर्वावतम्) समीप देश के (अन्तरा) बीच में (हूयसे) तू पुकारा जाता है, (ततः) इस लिये (इह) यहां पर

८—(अर्वावतः) अर्वाचीनात् । समीपदेशात् (नः) अस्मान् (आ गहि) आगच्छ (परावतः) दूरदेशात् (च) समुच्चये (वृत्रहन्) वृत्रं धननाम-निघ० २ । १० । हन हिंसागत्योः—क्विप् । यो वृत्रं धनं हन्ति प्राप्नोति स वृत्रहा तत्सम्बुद्धौ । (इमाः) उच्चार्यमाणाः (जुषस्व) सेवस्व (नः) अस्माकम् (गिरः) वाचः ॥

९—(यत्) यदा (अन्तरा) मध्ये । अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया (परावतम्) दूरदेशम् (अर्वावतम्) समीपदेशम् (च) (हूयसे) आहूतो भवसि (इन्द्र) (इह) अत्र (ततः) तस्मात् कारणात् (आ

(आ गहि) तू आ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो न्यायी राजा योग्य अधिकारियों द्वारा सब स्थान में प्रजा को पाले, सब लोग उस से प्रीति करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ७ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ; ४ गायत्री ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

उद्घेदुभि श्रुतामंघं वृषुभं नर्यापसम् ।

अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥

उत् । घु । इत् । अभि । श्रुत-मंघम् । वृषुभम् । नर्य-अपसम् ॥

अस्तारम् । एषि । सूर्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [सर्वव्यापक वा सर्वप्रेरक परमेश्वर] (श्रुतमघम्) विख्यात धन वाले, (वृषभम्) बलवान्, (नर्यापसम्) मनुष्यों के हितकारी कर्म वाले, (अस्तारम् अभि) शत्रुओं के गिराने वाले पुरुष को (इत्) ही (घ) निश्चय करके (उद् एषि) तू उदय होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमपिता जगदीश्वर पुरुषार्थी सर्वहितकारी शूर पुरुष का सदा सहाय करता है ॥ १ ॥

गहि) आगच्छ ॥

१—(उद् एषि) ऊर्ध्वं गच्छसि (घ) अवश्यम् (इत्) एव (अभि) प्रति (श्रुतमघम्) प्रख्यातधनयुक्तम् (वृषभम्) बलवन्तम् (नर्यापसम्) अपः कर्मनाम—निघ० २ । १ । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति नर-यत् । नरेभ्यो हितकर्माणम् (अस्तारम्) असु क्षेपणे—तृन् । रधादिभ्यश्च । पा० ७ । २ । ४५ । इति इड्विकल्पः । शत्रूणां निरसितारम् । क्षेप्तारम् (सूर्य) सृ गतौ यद्वा षू प्रेरणे यद्वा, सु+ईर गतौ—क्यप् । सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा—निरु० १२ । १४ । हे सर्वव्यापक सर्वप्रेरक वा परमेश्वर ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं–८। ९३ [सायणभाष्य ८२]। १–३। मन्त्र१ साम० पू० २। ४। १, मन्त्र १–३ साम० उ० ६। ३। तृच ४॥

नव यो नवतिं पुरो बिभेद बाह्वोजसा।
अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥

नव। यः। नवतिम्। पुरः। बिभेद। बाहु-ओजसा॥
अहिम्। च। वृत्र-हा। अवधीत्॥ २॥

स न इन्द्रः शिवः सखाश्ववद् गोमद् यवमत्॥
उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥

सः। नः। इन्द्रः। शिवः। सखा। अश्व-वत्। गो-मत्। यव-मत्॥ उरुधारा-इव। दोहते॥ ३॥

भावार्थ—(यः) जिस (वृत्रहा) शत्रुनाशक [सेनापति] ने (बाह्वोजसा) अपने बाहु बल से (नव नवतिम्)नौ नब्बे [९+९० = ९९ अथवा ९× ९० = ८१०, अर्थात् असंख्य] (पुरः) दुर्गों को (बिभेद) तोड़ा है (च) और (अहिम्)सर्प [सर्प समान हिंसक शत्रु] को (अवधीत्) मारा॥ २॥

(सः) वह (शिवः) सुखदायक (सखा) मित्र (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (उरुधारा इव) बहुत दूध वाली [गौ] के समान (नः) हमारे लिये (अश्ववत्) उत्तम घोड़ों वाला, (गोमत्) उत्तम गौओं

२—(यः) इन्द्रः (नव नवतिम्) नव च नवतिं च, यद्वा नवगुणितां नवतिं दशोत्तराणि अष्टाशतानि एतत् संख्याकाः। असंख्याः(पुरः)दुर्गाणि (बिभेद) भिन्नवान् (बाह्वोजसा) भुजबलेन (अहिम्) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च। उ० ४। १३८। आङ्+हन हिंसागत्योः–इण् स च डित्। आहन्तरं सर्पमिव हिंसकं शत्रुम् (च) (वृत्रहा) शत्रुहन्ता (अवधीत्) हतवान्॥

३—(सः) पूर्वोक्तः (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (शिवः) सुखप्रदः (सखा) मित्रभूतः (अश्ववत्) उत्तमाश्वैर्युक्तम् (गोमत्) उत्तमगोभिरुपेतम् (यवमत्) उत्तमान्नयुक्तं धनम् (उरुधारा) प्रभूतक्षीरधारा–

वाला और (यवमत्) उत्तम अन्न वाला [धन] (दोहते) दुहे [पूर्ण करे] ॥३॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति अनेक अधर्मी दुष्टों को नाश करे, वही प्रजा को धनवान् करता है ॥ २, ३ ॥

मन्त्र २ का मिलान करो—ऋक्० १ । ८४ ।१३ ॥

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ ४ ॥

इन्द्रं । क्रतु-विदम् । सुतम् । सोमम् । हर्य । पुरु-स्तुत ॥
पिब । आ । वृषस्व । ततृपिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुष्टुत) हे बहुतों से बड़ाई किये गये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (क्रतुविदम्) बुद्धि प्राप्त कराने वाले, (ततृपिम्) तृप्त कराने वाले, (सुतम्) सिद्ध किये हुये (सोमम्) सोम [महौषधियों के रस] की (हर्य) इच्छा कर, (पिब) पी (आ) और (वृषस्व) बलवान् हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—सेनापति बल और बुद्धि बढ़ाने वाले खान पान के भोजन से तृप्त रह कर स्वस्थ रहे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० २० । ६ । २ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ निचृत् त्रिष्टुप् ॥
मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः ।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥१

एव । पाहि । प्रत्न-था । मन्दतु । त्वा । श्रुधि । ब्रह्म ।

युक्ता गाः (इव) यथा (दोहते) लेटि, अडागमः । पूरयेत् ॥

४—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । ६ । २ ॥

वुवृधस्व । उत । गीः-भिः ॥ आविः । सूर्यम् । कृणुहि । पीपिहि । इषः । जहि । शत्रून् । अभि । गाः । इन्द्र । तृन्धि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (प्रत्नथा) पहिले के समान (एव) ही [हमारी] (पाहि) रक्षा कर, [1](ब्रह्म) ईश्वर वा वेद (त्वा) तुझे (मन्दतु) हर्षित करे, [उसे] (श्रुधि) सुन (उत) और (गीर्भिः) वेद वाणियों से (ववृधस्व) बढ़। (सूर्यम्) सूर्य [सूर्य समान विद्या प्रकाश] को (आविः कृणु) प्रकट कर, (इषः) अन्नों को (पीपिहि) प्राप्त हो, (शत्रून्) शत्रुओं को (जहि) मार और [उसकी] (गाः) वाणियों को (अभि) सर्वथा (तृन्धि) मिटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और वेद में श्रद्धा कर के विद्या और पुरुषार्थ द्वारा अन्न आदि से परिपूर्ण होकर शत्रुओं का नाश कर उनकी कुमर्यादाओं को हटावे ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—६ । १७ । ३ ॥

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय ।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः ॥ २ ॥

अर्वाङ् । आ । इहि । सोम-कामम् । त्वा । आहुः । अयम् ।

१—(एव) अवधारणे (पाहि) रक्ष, अस्मान् (प्रत्नथा) प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि । पा० ५ । ३ । १११ । इवार्थे थाल्प्रत्ययः । पूर्वं यथा (मन्दतु) आमोदयतु । हर्षयतु (त्वा) त्वाम् (श्रुधि) शृणु (ब्रह्म) परमेश्वरो वेदो वा (ववृधस्व) शपः श्लुः । वर्धस्व (उत) अपि च (गीर्भिः) वेदवाणीभिः (आविः) प्राकट्ये (सूर्यम्) सूर्यवद् विद्याप्रकाशम् (कृणुहि) कुरु (पीपिहि) पि गतौ—शपः श्लुः । तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घश्च । प्राप्नुहि (इषः) अन्नानि (जहि) नाशय (शत्रून्) (अभि) सर्वथा (गाः) शत्रूणां वाचः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (तृन्धि) उतृदिर् हिंसानादरयोः । हिन्धि । नाशय ॥

सुतः । तस्य॑ । पि॒ब॒ । मदा॑य ॥ उ॒रु॒-व्यचाः॑ । ज॒ठरे॑ । आ । वृ॒ष॒स्व॒ । पि॒ता-इ॑व । नः॒ । शृ॒णु॒हि॒ । हू॒यमा॑नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे सभाध्यक्ष !] (अर्वाङ्) सामने (आ इहि) आ, (त्वा) तुझ को (सोमकामम्) ऐश्वर्य चाहने वाला (आहुः) वे कहते हैं, (अयम्) यह (सुतः) सिद्ध किया हुआ [सोमरस] है, (मदाय) हर्ष के लिये (तस्य) उस का (पिब) पान कर। (उरुव्यचाः) बड़े सत्कार वाला तू (जठरे) अपने पेट में [उसे] (आ वृषस्व) सींच ले, (पिता इव) पिता के समान (हूयमानः) पुकारा गया तू (नः) हमारी [बात] (शृणुहि) सुन ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण सभापति आदि महापुरुषों को पिता के समान उत्तम पदार्थों और हित वचनों से प्रसन्न रक्खें और प्रधान पुरुष भी प्रजाजनों को पुत्र के समान पालें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १०४ । ६ ॥

आपू॑र्णो अस्य क॒लशः॒ स्वाहा॒ सेक्ते॑व॒ कोशं॑ सिसिचे॒ पिब॑ध्यै । समु॑ प्रि॒या आव॑वृत्र॒न् मदा॑य प्रदक्षि॒णिद॒भि सोमा॑स॒ इन्द्र॑म् ॥ ३ ॥

आ-पू॑र्णः । अ॒स्य॒ । क॒लशः॑ । स्वाहा॑ । सेक्ता॑-इव । कोश॑म् । सि॒सि॒चे॒ । पिब॑ध्यै ॥ सम् । ऊं॒ इति॑ । प्रि॒याः । आ । अ॒व॒-वृ॒त्र॒न् । मदा॑य । प्र-द॒क्षि॒णित् । अ॒भि । सोमा॑सः । इन्द्र॑म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [महा पुरुष] का (कलशः) कलस (आपूर्णः)

२—(अर्वाङ्) अभिमुखः (आ इहि) आगच्छ (सोमकामम्) ऐश्वर्यं कामयमानम् (त्वा) त्वाम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (अयम्) (सुतः) निष्पादितः सोमरसः (तस्य) (पिब) पानं कुरु (मदाय) हर्षाय (उरुव्यचा) उरु+वि+अञ्चु गतिपूजनयोः—असुन् । उरु बहुविधं व्यचो विज्ञानं पूजनं सत्करणं वा यस्य सः (जठरे) उदरे (आ) समन्तात् (वृषस्व) सिञ्चस्व (पिता) (इव) यथा (नः) अस्माकं वार्ताम् (शृणुहि) शृणु (हूयमानः) कृताह्वानः ॥

३—(आपूर्णः) समन्तात् पूरितः (अस्य) इन्द्रस्य (कलशः) कुम्भः

मुंहामुंह भरा है, (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ (सेक्ता इव) भरने वाले के समान मैंने (कोशम्) वर्तन को (पिबध्यै) पीने के लिये (सिसिचे) भरा है। (प्रियाः) पियारे (प्रदक्षिणित्) दाहिनी ओर को प्राप्त होने वाले (सोमासः) सोम [महौषधियों के रस] (मदाय) हर्ष के लिये (इन्द्रम् अभि) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले प्रधान] को (उ) ही (सम्) यथाविधि (आ) सब ओर (अववृत्रन्) वर्तमान हुये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य उत्तम उत्तम अन्न आदि ओषधियों के रस से आदर करके प्रधान पुरुष को हृष्ट पुष्ट रक्खें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है ३ । ३२ । १५ ॥

सूक्तम् ९ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्याबृहती; २, ४ सतः पङ्क्तिः, ३ निचृद्-बृहती छन्दः ।

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

तं वो दुस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।

अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ १ ॥

तम् । वः । दुस्मम् । ऋति-सहम् । वसोः । मन्दानम् । अन्धसः ॥ अभि । वत्सम् । न । स्वसरेषु । धेनवः । इन्द्रम् । गीः-भिः । नवामहे ॥ १ ॥

(स्वाहा) सुवाण्या (सेक्ता) पूरकः (इव) यथा (कोशम्) पात्रम् (सिसिचे) षिच क्षरणे—लिट् । अहं सिक्तवानस्मि (पिबध्यै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । पा पाने—शध्यैन्, शित्वात् पिबादेशः, नित्वादाद्युदात्तः । पानं कर्तुम् (सम्) सम्यक् (उ) अवधारणे (प्रियाः) कमनीयाः (आ) समन्तात् (अववृत्रन्) वृतु वर्तने—लङ्, परस्मैपदम्, शपः श्लुः, रुडागमः । वर्तमाना अभवन् (मदाय) हर्षाय (प्रदक्षिणित्) प्रदक्षिण + इण् गतौ—क्विप् । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति जसः सुः । प्रदक्षिणेतः । दक्षिणपार्श्वं गन्तारः (अभि) प्रति (सोमासः) महौषधिरसाः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यन्तं प्रधानम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (दस्मम्) दर्शनीय, (ऋतीषहम्) शत्रुओं के हराने वाले, (वसोः) धन से और (अन्धसः) अन्न से (मन्दानम्) आनन्द देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (नवामहे) हम सराहते हैं, (न) जैसे (धेनवः) गौयें (स्वसरेषु) घरों में [वर्तमान] (वत्सम्) बछड़े को [हिङ्कारती हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अनेक धन और अन्न आदि देकर हमें तृप्त करता है, उसे ऐसी प्रीति से हम स्मरण करें, जैसे गौयें दोहने के समय घर में बन्धे छोटे बच्चों को पुकारती हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ८८ [सायणभाष्य ७७] । १,२, साम० उ० १ । १ । १३, मन्त्र १ यजु० २६ । ११ और साम० पू० ३ । ५ । ४ और मन्त्र १—४ आगे हैं—अ० २० । ४९ । ४—७ ॥

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥

द्युक्षम् । सु-दानुम् । तविषीभिः । आ-वृतम् । गिरिम् । न । पुरु-भोजसम् ॥ क्षु-मन्तम् । वाजम् । शतिनम् । सहस्रिणम् । मक्षु । गो-मन्तम् । ईमहे ॥ २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (वः) युष्मदर्थम् (दस्मम्) इषियुधीन्धिदसि० । उ० १ । १४५ । दस दर्शनसंदंशनयोः—मक् । दर्शनीयम् (ऋतीषहम्) सांहितिको दीर्घः । ऋतयो बाधकाः शत्रवः, तेषामभिभवितारम् (वसोः) वसुनः । धनात् (मन्दानम्) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ९० । मदि स्तुतिमोदमदादिषु—आनच् । आमोदयितारम् (अन्धसः) अन्नात् (अभि) सर्वतः (वत्सम्) शिशुम् (न) इव (स्वसरेषु) स्व—सृ गतौ—पचाद्यच् । स्वेन आत्मना सरन्ति गच्छन्ति यत्र । स्वसराणि गृहनाम—निघ० ३ । ४ । गृहेषु । गोष्ठेषु (धेनवः) गावः (गीर्भिः) वाणीभिः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (नवामहे) णु स्तुतौ—लट् । स्तुमः ॥

भाषार्थ—(द्युक्षम्) व्यवहारों में गति वाले, (सुदानुम्) बड़े दानी, (तविषीभिः) सेनाओं से (आवृतम्) भरपूर (गिरिम् न) मेघ के समान (पुरुभोजसम्) बहुत पालन करने वाले, (क्षुमन्तम्) अन्न वाले, (वाजम्) बल वाले, (शतिनम्) सैकड़ों उत्तम पदार्थों वाले (सहस्रिणम्) सहस्रों श्रेष्ठ गुण वाले, (गोमन्तम्) उत्तम गौओं वाले [शूर पुरुष] को (मक्षु) शीघ्र [इन्द्र परमात्मा से] (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना कर के प्रयत्न करें कि वे अपने सन्तानों, अधिकारियों और प्रजाजनों सहित शूरवीर होकर व्यवहार कुशल होवें ॥ २ ॥

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ३ ॥

तत् । त्वा । यामि । सु-वीर्यम् । तत् । ब्रह्म । पूर्व-चित्तये ॥

येन । यति-भ्यः । भृगवे । धने । हिते । येन । प्रस्कण्वम् ॥

आविथ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वा) तुझ से (तत्) वह (सुवीर्यम्)

२—(द्युक्षम्) दिवु व्यवहारे—डिवि + क्षि निवासगत्योः—डप्रत्ययः । द्युषु व्यवहारेषु गन्तारम् (सुदानुम्) महादानिनम् (तविषीभिः) तु वृद्धौ पूर्तौ च—टिषन्, ङीप् । तविषी बलनाम—निघ० २ । ९ । बलैः । सेनाभिः (आवृतम्) आच्छादितम् । प्रपूर्णम् (गिरिम्) गिरिर्मेघनाम—निघ० १ । १० । मेघम् (न) इव (पुरुभोजसम्) बहुपालकम् (क्षुमन्तम्) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । टु क्षु शब्दे, क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्ये च—कुप्रत्ययः स च डित् । क्षु अन्ननाम—निघ० २ । ७ । अन्नवन्तम् (वाजम्) अर्श आद्यच् । वाजवन्तम् । बलवन्तम् (शतिनम्) असंख्यश्रेष्ठपदार्थयुक्तम् (सहस्रिणम्) तपः-सहस्राभ्यां विनीनी । पा० ५ । २ । १०२ । सहस्र—इनि । असंख्य-श्रेष्ठगुणोपेतम् (मक्षु) शीघ्रम् (गोमन्तम्) प्रशस्तगोभिर्युक्तम् (ईमहे) याचामहे—निघ० ३ । १९ ॥

३—(तत्) तादृक् (त्वा) त्वाम् (यामि) अथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामीति—निरु० २ । १ । याचामि । याचे (सुवीर्यम्) महद्वीरत्वम्

बढ़ा वीरत्व और (तत्) वह (ब्रह्म) बढ़ता हुआ अन्न (पूर्वचित्तये) पहिले ज्ञान के लिए (यामि) मैं मांगता हूं। (येन) जिस [वीरत्व और अन्न] से (धने हिते) धन के स्थापित होने पर (यतिभ्यः) यतियों [यत्नशीलों] के लिये (भृगवे=भृगुम्) परिपक्व ज्ञानी को और (येन) जिस से (प्रस्कण्वम्) बड़े बुद्धिमान् पुरुष को (आविथ) तू ने बचाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमात्मा की उपासना कर के पुरुषार्थ के साथ प्रथम श्रेणी के पराक्रमी, अन्नवान् और धनी होना चाहिये, जिसके अनुकरण से प्रयत्नशील पुरुष सुरक्षित रहें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—८ । ३ । ९, १० ॥

येना॑ समु॒द्रमसृ॑जो म॒हीर॒पस्तदि॑न्द्र॒ वृष्णि॑ ते॒ शवः॑ ।
स॒द्यः सो अ॑स्य महि॒मा न सं॒नशे॒ यं क्षो॒णीर॑नुचक्र॒दे ॥ ४ ॥

येन॑ । स॒मु॒द्रम् । असृ॑जः । म॒हीः । अ॒पः । तत् । इ॒न्द्र॒ । वृष्णि॑ । ते॒ । शवः॑ ॥ स॒द्यः । सः । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मा । न । स॒म्-नशे॑ । यम् । क्षो॒णीः । अ॒नु॒-च॒क्र॒दे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [बल] से (समुद्रम्) समुद्र में (महीः) शक्तिशाली (अपः) जलों को (असृजः) तू ने उत्पन्न किया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (तत्) वह (ते) तेरा (वृष्णि) परा-

---

(तत्) (ब्रह्म) प्रवृद्धम् अन्नम्—निघ० २ । ७ (पूर्वचित्तये) चिती संज्ञाने-क्तिन् प्रथमज्ञानाय (येन) सुवीर्येण ब्रह्मणा च (यतिभ्यः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । यती प्रयत्ने-इन् । प्रयत्नशीलेभ्यः (भृगवे) प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १ । २८ । भ्रस्ज पाके-कु । द्वितीयार्थे चतुर्थी । भृगुम् । परिपक्व-ज्ञानिनम् (धने) (हिते) स्थापिते (येन) (प्रस्कण्वम्) प्रकृष्टश्चासौ कण्वो मेधावी च तं यथा दयानन्दभाष्ये, ऋ० १ । ४४ । ६ (आविथ) अव रक्षणे-लिट् । त्वं ररक्षिथ ॥

४—(येन) शवसा । बलेन (समुद्रम्) जलौघम् (असृजः) त्वं सृष्टवान् (महीः) महतीः । शक्तिशालिनीः (अपः) जलानि (तत्) तादृक् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (वृष्णि) पराक्रमयुक्तम् (ते) तव (शवः) बलम्

क्रम युक्त (शवः) बल है। (सद्यः) अब भी (अस्य) उस [परमात्मा] की (सः) वह (महिमा) महिमा [हम से] (न) नहीं (संनशे) पाने योग्य है, (यम्) जिस [परमात्मा] को (क्षोणीः) लोकों ने (अनुचक्रदे) निरन्तर पुकारा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने मेघ मण्डल में और पृथिवी पर जल आदि पदार्थ और सब लोकों को उत्पन्न कर के अपने वश में रक्खा है, उसकी महिमा की सीमा को सृष्टि में कोई भी नहीं पा सकता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥
ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥ १ ॥

उत् । ऊं इति । त्ये । मधुमत्-तमाः । गिरः । स्तोमासः । ईरते ॥ सत्राजितः । धन-साः । अक्षित-ऊतयः । वाज-यन्तः । रथाः-इव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अतिमधुर (स्तोमासः) स्तोत्र (उ) और (गिरः) वाणियां (उत् ईरते) ऊंची जाती हैं। (इव) जैसे

(सद्यः) इदानीमपि (सः) (अस्य) इन्द्रस्य । परमेश्वरस्य (महिमा) महत्त्वम् (न) निषेधे (संनशे) नशत्, व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । नश व्याप्तौ—केन् प्रत्ययः । सम्यक् प्रापणीयः (यम्) इन्द्रम् (क्षोणीः) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । टुक्षु शब्दे—नि, ङीष् । क्षोणी पृथिवीनाम—निघ० १ । १ । क्षोण्यः । पृथिव्यः । लोकाः (अनुचक्रदे) निरन्तरं क्रन्दन्ति स्म ॥

१—(उत्) ऊर्ध्वम् (उ) चार्थे (त्ये) ते (मधुमत्तमाः) अतिशयेन मधुराः (गिरः) वाण्यः (स्तोमासः) स्तोत्राणि (ईरते) गच्छन्ति (सत्राजितः) सत्रा सत्यनाम—निघ० ३ । १० । सत्रा सत्येन जेतारः (धनसाः) जनसनखन-

(सत्राजितः) सत्य से जीतने वाले, (धनसाः) धन देने वाले, (अक्षितोतयः) अक्षय रक्षा करने वाले, (वाजयन्तः) बल प्रकट करते हुये (रथाः) रथ [आगे बढ़ते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे शूर वीरों के रथ रण क्षेत्र में विजय पाने के लिये उमंग से चलते हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों और दुष्टों को वश में करने के लिये परमात्मा की स्तुति को बड़े आनन्द से किया करें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ३ । १५, १६, साम ० उ ० ६ । १ । ६ और आगे हैं—अ ० २ ० । ५४ । १, २ तथा म ० १ साम० पू ० ३ । ६ । ४ में भी है ॥

कण्वा॑ इव॒ भृग॑वः॒ सूर्या॑ इव॒ विश्व॒मिद् धी॒तमा॑नशुः ।
इन्द्रं॒ स्तोमे॑भिर्म॒हय॑न्त आ॒यवः॑ प्रि॒यमे॑धासो अस्वरन् ॥ २ ॥

कण्वाः॑-इव । भृग॑वः । सूर्याः॑-इव । विश्व॑म् । इत् । धी॒तम् । आ॒न॒शुः॒ ॥ इन्द्र॑म् । स्तोमे॑भिः । म॒हय॑न्तः । आ॒यवः॑ । प्रि॒य-मे॑धासः । अ॒स्व॒र॒न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कण्वाः इव) बुद्धिमानों के समान और (सूर्याःइव) सूर्यों के समान [तेजस्वी], (भृगवः) परिपक्व ज्ञान वाले, (महयन्तः) पूजते हुये, (प्रियमेधासः) यज्ञ को प्रिय जानने वाले (आयवः) मनुष्यों ने (विश्वम्) व्यापक, (धीतम्) ध्यान किये गये (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (इत्)

क्रमगमो विट् । पा ० ३ । २ । ६७ । षण संभक्तौ—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा ० ६ ।४। ४१ । इत्यात्वम् । धनानां संभक्तारः । धनप्रदाः (अक्षितोतयः) अक्षीणरक्षणाः (वाजयन्त) वाज—क्यच् , शतृ । वाजं बलमिच्छन्तः (रथाः) युद्धयानानि (इव) यथा ॥

२—(कण्वाः) मेधाविनः (इव) यथा (भृगवः) सू० ६ । ३ । परिपक्वज्ञानिनः (सूर्याः) प्रकाशमानाः सूर्यलोकाः (इव) यथा (विश्वम्) व्यापकम् (इत्) एव (धीतम्) ध्यातम् (आनशुः) प्रापुः (इन्द्रम्) परमात्मानम् (स्तोमेभिः) स्तोत्रैः (महयन्तः) पूजयन्तः (आयवः) मनुष्याः—निघ ० २ । ३ (प्रियमेधासः) मिधृ मेधृ संगमे हिंसामेधयोश्च-अच्, असुक् च । मेधो यज्ञ-

ही (स्तोमेभिः) स्तोत्रों से (आनशुः) पाया है और (अस्वरन्) उच्चारा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य बुद्धिमानों और सूर्यों के समान प्रतापी होकर परमात्मा के गुणों को गाते हुये आत्मोन्नति करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ११ त्रिष्टुप्; ३, ६, ६ विराडार्षी त्रिष्टुप् ४, ५, ७, १० निचृत् त्रिष्टुप्; ८ भूरिक् पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः— राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद् रोदसी उभे ॥१॥

इन्द्रः । पूः-भित् । आ । अतिरत् । दासम् । अर्कैः । विदत्-वसुः । दयमानः । वि । शत्रून् ॥ ब्रह्म-जूतः । तन्वा । ववृधानः । भूरि-दात्रः । आ । अपृणत् । रोदसी इति । उभे इति॥१

भाषार्थ—(विदद्वसुः) ज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषों से युक्त (पूर्भित्) [शत्रुओं के] गढ़ों को तोड़ने वाले, (शत्रून्) वैरियों को (वि) विविध प्रकार (दयमानः) मारते हुये (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] ने (अर्कैः) पूजनीय विचारों से (दासम्) दास [सेवक] को (आ अतिरत्) बढ़ाया है ।

नाम—निघ० ३ । १७ । मेधा यज्ञाः प्रिया येषां ते (अस्वरन्) शब्दम् अकुर्वन् । उच्चारितवन्तः ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (पूर्भित्) शत्रूणां पुरां दुर्गाणां भेत्ता (आ अतिरत्) प्रावर्धयत् (दासम्) दासृ दाने—घञ् । सेवकम् (अर्कैः) अर्चनीयैर्मन्त्रैर्विचारैः (विदद्वसुः) विद ज्ञाने शतृ । विदन्तो जानन्तो वसवः श्रेष्ठपुरुषा यस्य सः (दयमानः) दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु—शानच् । विदद्वसुर्दयमानो विशत्रूनिति हिंसाकर्मा—निरु० ४ । १७ । हिंसन् । नाशयन् (वि) विविधम् (शत्रून्) (ब्रह्मजूतः) ब्रह्मभिर्महाविद्वद्भिः प्रेरितः । (तन्वा)

(ब्रह्मजूतः) ब्रह्माओं [महाविद्वानों] से प्रेरणा किये गये, (तन्वा) उपकार शक्ति से (वावृधानः) बढ़ते हुये, (भूरिदात्रः) बहुत से अस्त्र शस्त्र वाले [शूर] ने (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और भूमि को (आ) भले प्रकार (अपृणात्) तृप्त किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस राजा की सभा में विद्वान् लोग सम्मति दाता होते हैं, वह राजा शत्रुओं का नाश और प्रजा का पालन कर के विज्ञान द्वारा पृथिवी और आकाश को वश में करके संसार को सुखी करता है ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ३४ । १—११ ॥

मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा॥२॥

मखस्य । ते । तविषस्य । प्र । जूतिम् । इयर्मि । वाचम् । अमृताय । भूषन्॥ इन्द्र । क्षितीनाम् । असि । मानुषीणाम् । विशाम् । दैवीनाम् । उत । पूर्व-यावा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अमृताय) अविनाशी सुख के लिये (वाचम्) अपनी वाणी को (भूषन्) शोभित करता हुआ मैं (ते) तेरे (तविषस्य) बड़े (मखस्य) यज्ञ के (जूतिम्) वेग को (प्र इयर्मि) प्राप्त होता हूं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] तू (क्षितीनाम्) भूमियों का (उत) और (मानुषीणाम्)

उपकृत्या (वावृधानः) वर्धमानः (भूरिदात्रः) दादिभ्यश्छन्दसि। उ० ४। १७०। दाप् लवने—त्रन्। भूरीणि बहूनि दात्राणिच्छेदनसाधनानि शस्त्रास्त्राणि यस्य सः। प्रभूतायुधः (आ) समन्तात् (अपृणत्) पृण प्रीणने—लङ्। तर्पितवान् (रोदसी)द्यावापृथिव्यौ। आकाशभूमी (उभे) द्वे ॥

२—(मखस्य) यज्ञस्य—निघ० ३। १७ (ते) तव (तविषस्य) महतः निघ० ३। ३ (प्र) प्रकर्षेण (जूतिम्) वेगम् (इयर्मि) प्राप्नोमि (वाचम्) स्ववाणीम् (अमृताय) अविनाशिने सुखाय (भूषन्) अलंकुर्वन् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (क्षितीनाम्) पृथिवीनाम्-निघ० १ । १ (असि) (मानुषीणाम्)

मनुष्य सम्बन्धी (दैवीनाम्) उत्तम गुण वाली (विशाम्) प्रजाओं का (पूर्वयावा) अग्रगामी (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजाजनों को चाहिये कि धर्मज्ञ राजा की आज्ञा का पालन करते रहें, कि जिस से वह सब खेती आदि पदार्थों और मनुष्यों की रक्षा कर सके ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ वृ॒त्रम॑वृणो॒च्छर्ध॑नीतिः॒ प्र मा॒यिना॑मिमिना॒द्वर्प॑णीतिः ।
अह॒न्व्यं॑समु॒शध॒ग्वने॑ष्वा॒विर्धेना॑ अकृणोद्रा॒म्याणा॑म् ॥३॥

इन्द्रः॑ । वृ॒त्रम् । अ॒वृ॒णो॒त् । शर्ध॑-नीतिः । प्र । मा॒यिना॑म् । अ॒मि॒ना॒त् । वर्प॑-नीतिः ॥ अह॑न् । वि-अं॑सम् । उ॒शध॑क् । वने॑षु । आ॒विः । धेना॑ः । अ॒कृ॒णो॒त् । रा॒म्याणा॑म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शर्धनीतिः) सेना के नायक (इन्द्रः) इन्द्र [प्रतापी राजा] ने (वृत्रम्) शत्रु को (अवृणोत्) घेर लिया, (मायिनाम्) कपटी लोगों का (वर्पनीतिः) कपटी नेता (प्र अमिनात्) अत्यन्त घबराया। (उशधक्) हिंसकों के जलाने वाले ने (वनेषु) बनों में [छिपे] (व्यंसम्) विविध पीड़ा देने वाले को (अहन्) मारा, और (राम्याणाम्) आनन्द देने वाले

मनुष्यसम्बन्धिनीनाम् (विशाम्) प्रजानाम् (दैवीनाम्) दिव्यगुणयुक्तानाम् (उत) अपि च (पूर्वयावा) या गतिप्रापणयोः—वनिप् । अग्रगामी ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (वृत्रम्) शत्रुम् (अवृणोत्) आच्छादितवान् (शर्धनीतिः) शर्धतिरुत्साहार्थः—घञ्+णीञ् प्रापणे—क्तिच् । शर्धो-बलनाम—निघ० २ । ९ । बलस्य सैन्यस्य नायकः (प्र) प्रकर्षेण (मायिनाम्) कपटिनाम् (अमिनात्) मीञ् हिंसायाम्—लङ् । कर्तृप्रयोगः कर्मण्यर्थे । हिंसितो दुःखितोऽभूत् (वर्पनीतिः) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । वृञ् आच्छादने—पप्रत्ययः+णीञ् प्रापणे—क्तिच् । वर्प आवरकः कपटी नीतिर्नेता (अहन्) अवधीत् (व्यंसम्) अमेः सन् । उ० ५ । २१ । अम पीडने—सन् । विविधपीडकम् (उशधक्) उष वधे—क+दह दाहे—क्विप्, षस्य शः । हिंसकानां दाहकः (वनेषु) जङ्गलेषु (आविः) प्राकट्ये (धेनाः) वाचः (अकृणोत्) कृवि हिंसाकरणयोः—लङ् । अकरोत् (राम्याणाम्) रमु क्रीडायाम्—ण्यत् । पा०

पुरुषों की (धेनाः) वाणियों को (आविः अकृणोत्) प्रकट किया ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब शूर सेनापति दुष्टों को मारकर प्रजा को सुखी करता है, सब लोग आनन्द मनाते हुये विविध प्रकार उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—३३ । २६ ॥

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः । प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ ४ ॥

इन्द्रः । स्वः-साः । जनयन् । अहानि । जिगाय । उशिक्-भिः । पृतनाः । अभिष्टिः ॥ प्र । अरोचयत् । मनवे । केतुम् । अह्नाम् । अविन्दत् । ज्योतिः । बृहते । रणाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अहानि) दिनों [दिनों के कर्मों] को (जनयन्) प्रकट करते हुये, (स्वर्षाः) सुख देने हारे (अभिष्टिः) सब ओर मेल करने वाले, (इन्द्रः) इन्द्र [तेजस्वी सेनापति] ने (उशिग्भिः) प्रीति युक्त बुद्धिमानों के साथ (पृतनाः) सङ्ग्रामों को (जिगाय) जीता है । उसने (मनवे) मनन करने वाले मनुष्य के लिये (अह्नाम्) दिनों के (केतुम्) ज्ञान को (प्र अरोचयत्) प्रकाशित कर दिया है और (बृहते) बड़े (रणाय) रण के जीतने के लिये (ज्योतिः) तेज (अविन्दत्) पाया है ॥ ४ ॥

---

३ । १ । १२४ । रमु क्रीडायाम्, ण्यर्थाद् ण्यत् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति कर्तृप्रत्ययः । रमयन्ति आनन्दयन्ति तेषाम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ३३ । २६ । रमयितॄणां रामाणाम् आनन्दयितॄणां पुरुषाणाम् ॥

४—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (स्वर्षाः) अ० ५ । २ । ८। स्वः+ षणु दाने—विट्, आत्वं षत्वं च । सुखस्य दाता (जनयन्) प्रकटयन् (अहानि) दिनानि । दिनकर्माणि (जिगाय) जि जये—लिट् । जितवान् (उशिग्भिः) वशेः कित् । उ० २ । ७१ । वश कान्तौ—इजिप्रत्ययः । उशिजो मेधाविनाम-निघ० ३ । १५ । कामयमानैर्मेधाविभिः (पृतनाः) सङ्ग्रामान्-निघ० २।१७ (अभिष्टिः) यज संगतिकरणे—क्तिन् । अभितःसंगतिकर्ता (प्र) प्रकर्षेण (अरोचयत्) अदी- पयत् (मनवे) मननशीलाय मनुष्याय (केतुम्) प्रज्ञाम् (अह्नाम्) दिनानाम् (अविन्दत्) अलभत (ज्योतिः) तेजः (बृहते) महते (रणाय) रणं सङ्ग्रामं जेतुम् ॥

भावार्थ—शूर सेनापति दुष्टों की बुराई और शिष्टों की भलाई जताकर शत्रुओं का नाश करे और न्याय की पताका फैलाकर प्रजा को कष्ट से छुड़ावे ॥ ४ ॥

इन्द्रस्तुजो बुर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि ।
अचैतयद् धियं इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥५॥

इन्द्रः । तुजः । बुर्हणाः । आ । विवेश । नृ-वत् । दधानः । नर्या । पुरूणि ॥ अचैतयत् । धियः । इमाः । जरित्रे । प्र । इमम् । वर्णम् । अतिरत् । शुक्रम् । आसाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(नृवत्) नरों [नेताओं के समान] (पुरूणि) बहुत से (नर्या) नरों के योग्य कर्मों को (दधानः) धारण करते हुये (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] ने (बर्हणाः) बढ़ती हुयी (तुजः) सताने वाली सेनाओं में (आ विवेश) प्रवेश किया । (इमाः) इन (धियः) बुद्धियों को (जरित्रे) स्तुति करने वाले के लिये (अचेतयत्) चेताया, और (आसाम्) इन [प्रजाओं] के बीच (इमम्) इस (शुक्रम्) शुद्ध (वर्णम्) स्वीकार करने योग्य यश को (प्र अतिरत्) बढ़ाया ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति आगे बढ़ती हुयी शत्रु सेना में घुसकर सङ्ग्राम जीतता है, वही संसार में कीर्ति पाता है ॥ ५ ॥

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥ ६ ॥

५—(इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (तुजः) तुज हिंसायाम्-क्विप् । हिंसिकाः शत्रुसेनाः (बर्हणाः) बृहि वृद्धौ—युच् । वर्धमानाः (आ विवेश) प्रविष्टवान् (नृवत्) नेतृवत् (दधानः) धारयन् (नर्या) तत्र साधुः । पा० ४। ४। ९८ । नर—यत् । नरयोग्यानि कर्माणि (पुरूणि) बहूनि (अचेतयत्) अज्ञापयत् (धियः) ध्यै चिन्तायाम्—क्विप् । प्रज्ञाः (जरित्रे) स्तोत्रे (इमम्) (वर्णम्) स्वीकरणीयं यशः (प्र अतिरत्) प्रावर्धयत् (शुक्रम्) शुद्धम् (आसाम्) प्रजानां मध्ये ॥

म॒हः । म॒हानि॑ । प॒न॒य॒न्ति॒ । अ॒स्य॒ । इन्द्र॑स्य । कर्म॑ । सु-कृ॑ता । पु॒रूणि॑ ॥ वृ॒जने॑न । वृ॒जि॒नान् । सम् । पि॒पे॒ष॒ । मा॒याभिः॑ । दस्यू॑न् । अ॒भिभू॑ति-ओजाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(महः) महान् लोग (अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] के (सुकृता) धर्म से किये हुये (पुरूणि) बहुत से (महानि) महान् [पूजनीय] (कर्म) कर्मों को (पनयन्ति) सराहते हैं । (अभिभूत्योजाः) हरा देने वाले बल से युक्त [शूर] ने (वृजिनान्) पापी (दस्यून्) साहसी चोरों को (वृजनेन) बल के साथ (मायाभिः) बुद्धियों से (सं पिपेष) पीस डाला ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रतापी धर्मात्मा राजा की कीर्ति को बड़े बड़े लोग गाते हों, वह राजा अपनी कीर्ति स्थिर रखने के लिये दुराचारियों का नाश कर के प्रजा को सुखी रक्खे ॥ ६ ॥

यु॒धेन्द्रो॑ म॒ह्ना वरि॑वश्चकार दे॒वेभ्यः॒ सत्प॑तिश्चर्षणि॒प्राः ।
वि॒वस्व॑तः॒ सद॑ने अस्य॒ तानि॒ विप्रा॑ उ॒क्थेभिः॑ क॒वयो॑ गृणन्ति ॥ ७ ॥

यु॒धा । इन्द्रः॑ । म॒ह्ना । वरि॑वः । च॒कार॒ । दे॒वेभ्यः॑ । सत्-प॑तिः । च॒र्ष॒णि॒-प्राः ॥ वि॒वस्व॑तः । सद॑ने । अ॒स्य॒ । तानि॑ ।

६—(महः) मह पूजायाम्—क्विप् । महान्तः पुरुषाः (महानि) मह पूजायाम्—अच् । महान्ति (पनयन्ति) छान्दसो ह्रस्वः । पनायन्ति । स्तुवन्ति (अस्य) प्रसिद्धस्य (इन्द्रस्य) महातेजस्विनः पुरुषस्य (कर्म) कर्माणि (सुकृता) धर्मेण सम्पादितानि (पुरूणि) बहूनि (वृजनेन) कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । वृजी वर्जने—क्यु । बलेन—निघ० २ । ६ (वृजिनान्) वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । वृजी वर्जने—इनच् । वृजिन—अर्श आद्यच् । वृजनं पापं तद्वतः । पापिनः पुरुषान् (सं पिपेष) पिष्लृ संचूर्णने—लिट् । सम्यक् चूर्णीचकार (मायाभिः) प्रज्ञाभिः—निघ० ३ । ६ (दस्यून्) साहसिकान् । उत्कोचकान् । चोरान् (अभिभूत्योजाः) अभिभूति पराजयकरमोजो बलं यस्य सः ॥

विप्राः । उक्थेभिः । कवयः । गृणन्ति ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सत्पतिः) सत् पुरुषों के पालने वाले, (चर्षणिप्राः) मनुष्यों के मनोरथ पूरण करने वाले (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] ने (युधा) युद्ध के साथ (मह्ना) अपनी महिमा से (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (वरिवः) सेवनीय धन (चकार) किया है। (विवस्वतः) (विविध निवासों वाले [धनी मनुष्य] के (सदने) घर में (अस्य) इस [पुरुष] के (तानि) उन [कर्मों] को (विप्राः) बुद्धिमान् (कवयः) ज्ञानी पुरुष (उक्थेभिः) अपने वचनों से (गृणन्ति) सराहते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परोपकारी होकर बड़े कष्ट उठाकर सत्पुरुषों का पालन करते हैं, वे ही संसार में बड़े गिने जाते और कीर्तिमान् होते हैं ॥ ७ ॥

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्वरपश्च देवीः ।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥८॥

सत्रा-सहम् । वरेण्यम् । सहः-दाम् । ससु-वांसम् । स्वः । अपः । च । देवीः ॥ ससान । यः । पृथिवीम् । द्याम् । उत । इमाम् । इन्द्रम् । मदन्ति । अनु । धी-रणासः ॥ ८ ॥

७—(युधा) युद्धेन (इन्द्रः) महातेजस्वी पुरुषः (मह्ना) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । मह पूजायाम्—नप्रत्ययः । महिम्ना (वरिवः) वृञ्वरणे यङ्लुकि, असुन् । ऋतश्च । पा० ७ । ४ ९२ । अभ्यासस्य रिगागमः, टिलोपः । वरिवो धननाम—निघ० २ । १० । वरणीयं धनम् (चकार) उत्पादयामास (देवेभ्यः) विदुषामर्थम् (सत्पतिः) सतां पालकः (चर्षणिप्राः) प्रा पूरणे—विच् । मनुष्याणां मनोरथपूरकः (विवस्वतः) वि+वस निवासे—क्विप्, मतुप् । विवस्वन्तो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । बहुनिवासयुक्तस्य धनिनः पुरुषस्य (सदने) गृहे (अस्य) इन्द्रस्य (तानि) प्रसिद्धानि कर्माणि (विप्राः) मेधाविनः (उक्थेभिः) स्ववचनैः (कवयः) विद्वांसः (गृणन्ति) स्तुवन्ति ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [वीर] ने (इमाम्) इस (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) आकाश को (ससान) सेवा है, [उस] (सत्रासाहम्) सत्यों के सहने वाले, (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य, (सहोदाम्) बल के देने वाले, (स्वः) सुख (च) और (देवीः) उत्तम (अपः) प्राणों के (ससवांसम्) दान करने वाले, (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] के (अनु) पीछे (धीरणासः) उत्तम बुद्धियों के लिये युद्ध करने वाले लोग (मदन्ति) सुख पाते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् पुरुष पृथिवी और आकाश के पदार्थों से विद्या द्वारा उपयोग लेता है, उसी सत्यवादी र के पीछे चलकर सब सत्यकर्मी वीर लोग आनन्द पाते हैं ॥ ८ ॥

स॒सानात्याँ॑ उ॒त सूर्यं॑ स॒सानेन्द्रः॑ ससान पुरु॒भोज॑सं॒ गाम् ।
हि॒र॒ण्ययं॑मु॒त भोगं॑ ससान ह॒त्वी दस्यू॑न् प्रार्यं॒ वर्ण॑मावत् ॥९॥

स॒सान॑ । अत्या॑न् । उ॒त । सूर्य॑म् । स॒सा॒न॒ । इन्द्रः॑ । स॒सा॒न॒ । पु॒रु॒-भोज॑सम् । गाम् ॥ हि॒र॒ण्यय॑म् । उ॒त । भोग॑म् । स॒सा॒न॒ । ह॒त्वी । दस्यू॑न् । प्र । आर्य॑म् । वर्ण॑म् । आ॒व॒त् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] ने (अत्यान्) घोड़ों को

८—(सत्रासाहम्) यः सत्रा सत्यानि सहते तम् (वरेण्यम्) स्वीकरणीयम् (सहोदाम्) बलस्य दातारम् (ससवांसम्) षणु दाने—क्वसु । दत्तवन्तम् (स्वः) सुखम् (अपः) प्राणान् (च) (देवीः) दिव्याः (ससान) षण सम्भक्तौ—लिट् । सेवितवान् । उपयुक्तवान् (यः) इन्द्रः (पृथिवीम्) भूमिम् । भूमिस्थपदार्थानित्यर्थः (द्याम) आकाशम । आकाशस्थपदार्थानित्यर्थः (उत) अपि च (इमाम्) दृश्यमानाम (इन्द्रम) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (मदन्ति) हृष्यन्ति (अनु) अनुसृत्य (धीरणासः) धीः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । रणः संग्रामनाम—निघ० २ । १७ । असुगागमः । धीभ्यः प्रशस्तप्रज्ञाभ्यो रणः सङ्ग्रामो येषां ते ॥

९—(ससान) म० ८ । सेवितवान् । उपयुक्तवान् (अत्यान्) अतन्याद-

(ससान) सेवा है (उत) और (सूर्यम्) सूर्य [समान प्रतापी वीर] को (ससान) सेवा है, (पुरुभोजसम्) बहुत पालन करने वाली (गाम्) पृथिवी [वा गौ] को (ससान) सेवा है। (हिरण्ययम्) सुवर्ण (उत) और (भोगम्) भोग [उत्तम पदार्थों के उपयोग] को (ससान) सेवा है, (दस्यून्) साहसी चोरों को (हत्वी) मारकर (वर्ण्यम्) स्वीकार करने योग्य (आर्यम्) आर्य [श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुष] की (प्र आवत्) रक्षा की है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम घोड़ों, श्रेष्ठ वीर पुरुषों, राज्य, सुवर्ण आदि धन, और अन्न आदि भोगों के रखने में समर्थ होता है, वही दुष्टों का नाश कर शिष्टों की रक्षा करता है ॥ ९ ॥

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम् ।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद् दमिताभिक्रतूनाम् ॥१०॥

इन्द्रः । ओषधीः । असनोत् । अहानि । वनस्पतीन् । असनोत् । अन्तरिक्षम् ॥ बिभेद । वलम् । नुनुदे । वि-वाचः । अथ । अभवत् । दमिता । अभि-क्रतूनाम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] ने (अहानि) दिनों को और (ओषधीः) ओषधियों [सोम अन्न आदि] को (असनोत्) सेवा है, (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [पीपल आदि] और (अन्तरिक्षम्) आकाश

यश्च । उ० ४ । ११२ । अत सातत्यगमने—यक् । अत्योऽश्वनाम—निघ० १ । १४ । अश्वान् (उत) अपि च (सूर्यम्) सूर्यमिव प्रतापिनं वीरम् (ससान) (इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुषः (ससान) (पुरुभोजसम्) बहुपालयित्रीम् (गाम्) भूमिं धेनुं वा (हिरण्ययम्) सुवर्णादिधनम् (उत) (भोगम्) उत्तमपदार्थोपयोगम् (हत्वी) स्नात्व्यादयश्च । पा० ७ । १ । ४९ । इति ईकारः । हत्वा (दस्यून्) साहसिकान् । चोरान् (प्र) प्रकर्षेण (आर्यम्) श्रेष्ठं धार्मिकम् (वर्ण्यम्) वरणीयम् (आवत्) अव रक्षणे—लङ् । अरक्षत् ॥

१०—(इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुषः (ओषधीः) सोमान्नादिपदार्थान् (असनोत्) षण संभक्तौ—लङ् । सेवितवान् (अहानि) दिनानि (वनस्पतीन्) पिप्पलादिवृक्षान् (असनोत्) सेवितवान् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (बिभेद)

को (असनोत्) सेवा है। उसने (वलम्) घेरने वाले शत्रु को (बिभेद) छिन्न भिन्न किया और (विवाचः) विरुद्ध बोलने वालों को (नुनुदे) निकाल दिया (अथ) फिर (अभिक्रतूनाम्) विरुद्ध कर्म वालों [अभिमानी दुष्टों] का (दमिता) दमन करने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सदा समय पर ध्यान रखकर पृथिवी और आकाश के पदार्थों को उपयोगी करके विरोधी दुष्टों को निकाल देवे ॥१०

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥११

शुनम् । हुवेम । मघ-वानम् । इन्द्रम् । अस्मिन् । भरे । नृ-तमम् । वाज-सातौ ॥ शृण्वन्तम् । उग्रम् । ऊतये । समत्-सु । घ्नन्तम् । वृत्राणि । सम्-जितम् । धनानाम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शुनम्) सुख देने वाले (मघवानम्) बड़े धनी, (अस्मिन्) इस (भरे) युद्ध के बीच (वाजसातौ) अन्न के पाने में (नृतमम्) बड़े नेता, (शृण्वन्तम्) सुनने वाले, (उग्रम्) तेजस्वी, (समत्सु) संग्रामों में (वृत्राणि) शत्रुओं को (घ्नन्तम्) मारने वाले, (धनानाम्) धनों के (संजितम्) जीत लेने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी जन] को (ऊतये) रक्षा के लिये (हुवेम)

भिन्नवान् (वलम्) वल संवरणे-अच्। आवरकं दैत्यम् (नुनुदे) णुद प्रेरणे—लिट्। निराचकार (विवाचः) विरुद्धवाग्युक्तान् (अथ) अपि च (अभवत्) (दमिता) दमु उपशमे—तृच्। नियन्ता (अभिक्रतूनाम्) अभि आभिमुख्येन क्रतवः कर्माणि येषां तेषाम्। विरुद्धकर्मणाम्। अभिमानिनां दुष्टानाम् ॥

११—(शुनम्) सुखप्रदम् (हुवेम) आह्वयेम (मघवानम्) महाधनिनम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (अस्मिन्) वर्तमाने (भरे) संग्रामे—निघ० २।१७ (नृतमम्) अतिशयेन नेतारम् (वाजसातौ) अन्नस्य लाभे (शृण्वन्तम्) श्रोतारम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (ऊतये) अवनाय। रक्षणाय (समत्सु) सम्+अद भक्षणे, यद्वा, सम्+मदी हर्षे-क्विप्। समदः समदो वात्तेः सम्मदो वा मदतेः—निरु० ६।१७। संग्रामेषु—निघ० २।१७ (घ्नन्तम्) नाशयन्तम् (वृत्राणि)

हम बुलावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रजागण न्यायकारी, प्रतापी, शत्रुनाशक, शूर राजा का सदा आदर करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में है—उ० ४ । ४ । ७ । और बिना भेद ऋग्वेद में चौदह [१४] बार है—म० ३ । सू० ३०, ३१, ३२, ३४, ३५, ३६, ३८, ३६, ४३, ४८, ४६, ५०, म० १०। सू० ८६, १०४ के अन्त में ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ६ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; २, ३ विराट् त्रिष्टुप्; ४ स्वराडार्षी पङ्क्तिः; ५ निचृत् त्रिष्टुप् ७ त्रिष्टुप् ॥

सेनापतिकर्तव्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

उदु ब्रह्मांण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवंतो वचांसि॥१॥

उत् । ऊं इति । ब्रह्मांणि । ऐरत । श्रवस्या । इन्द्रंम् । सऽमर्ये । महय । वसिष्ठ ॥ आ । यः । विश्वानि । शवंसा । ततान । उपऽश्रोता । मे । ईवंतः । वचांसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(श्रवस्या) यश के लिये हितकारी (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों को (उ) ही (उत् ऐरत) उन [विद्वानों] ने उच्चारण किया है, (वसिष्ठ) हे अतिश्रेष्ठ ! (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (समर्ये) युद्ध में (महय) पूज । (यः) जिस (उपश्रोता) आदर से सुनने वाले [शूर] ने

शत्रून् (संजितम्) सम्यग् जेतारम् (धनानाम्) सुवर्णादीनाम् ॥

१—(उत् ऐरत) ईर गतौ—लङ् । ते विद्वांस उदीरितवन्तः । उच्चारितवन्तः (उ) एव (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (श्रवस्या) श्रवस्—यत् । श्रवो-धनम्—निघ० २ । १० । श्रवसे यशसे हितानि (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनापतिम् (समर्ये) मर्यो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । सह शब्दस्य सभावः । समर्ये संग्रामनाम - निघ० २ । १७ । मर्यैर्मनुष्यैः सह वर्तमाने युद्धे (महय) पूजय (वसिष्ठ) वसु—इष्ठन् । हे अतिशयेन वसो श्रेष्ठ (आ) समन्तात् (यः)

(ईवतः) उद्योगी (मे) मेरे (विश्वानि) सब (वचांसि) वचनों को (शवसा) बल के साथ (आ) अच्छे प्रकार (ततान) फैलाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उपदेश करें कि सब श्रेष्ठ पुरुष शूरवीर धर्मात्मा जन का सत्कार करें, जिस से वह उद्योगी पुरुषों की शिक्षा को संसार में फैलावे ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में हैं—७ । २३ । १—६ ॥

अयामि घोषं इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि ।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान् ॥२॥

अयामि । घोषः । इन्द्र । देव-जामिः । इरज्यन्त । यत् । शुरुधः । वि-वाचि ॥ नहि । स्वम् । आयुः । चिकिते । जनेषु । तानि । इत् । अंहांसि । अति । पर्षि । अस्मान् ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी वीर] (देवजामिः) विद्वानों को प्राप्त होने वाला (घोषः) शब्द (अयामि) ऊंचा किया गया है, (यत्) जिस [शब्द] को (शुरुधः) शीघ्र रोकने वाले पुरुष (विवाचि) विविध वाणियों से युक्त व्यवहार [वा संग्राम] में (इरज्यन्त) सेवते हैं। (स्वम्) अपने (आयुः) जीवन काल को (जनेषु) मनुष्यों में (नहि) किसी ने नहीं

इन्द्रः सेनापतिः (विश्वानि) सर्वाणि (शवसा) बलेन (ततान) विस्तारयामास (उपश्रोता) आदरेण श्रवणकर्ता (मे) मम (ईवतः) ईङ् गतौ—क्विप्, ईर्गतिः—मतुप् । गतियुक्तस्य । उद्योगिनः पुरुषस्य (वचांसि) वचनानि ॥

२—(अयामि) यमु उपरमे कर्मणि लुङ् । उद्यतः । उच्चैर्गतः (घोषः) शब्दः (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् वीर (देवजामिः) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५। जमु अदने गतौ च—इञ् । जमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । यो देवान् विदुषः पुरुषान् जमति प्राप्नोति सः (इरज्यन्त) लटि रूपम् । इरज्यतिः परिचरण—कर्मा—निघ० ३ । ५ । इरज्यन्ति । सेवन्ते (यत्) यं घोषम् (शुरुधः) शु गतौ—डु + रुधिर् आवरणे—क्विप् । शवतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४, परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः—निरु० ६ । १ । शीघ्ररोधनशीलाः (विवाचि) विवाक् संग्रामनाम—निघ० २ । १७ । विविधवाणीयुक्ते व्यवहारे संग्रामे वा (नहि) न कोऽपि (स्वम्) स्वकीयम्

(चिकिते) आना है, (तानि) उन (अंहांसि) पापों को (इत्) ही (अति) लांघ कर (अस्मान्) हमें (पर्षि) पाल ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद वचनों को भली भांति मानता हुआ और मृत्यु को सदा अपने पास जानता हुआ पापों को छोड़ धर्म करने में शीघ्रता करता रहे ॥ २ ॥

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ३॥

युजे । रथम् । गो-एषणम् । हरि-भ्याम् । उप । ब्रह्माणि । जुजुषाणम् । अस्थुः ॥ वि । बाधिष्ट । स्यः । रोदसी इति । महि-त्वा । इन्द्रः । वृत्राणि । अप्रति । जघन्वान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गवेषणम्) भूमि प्राप्त कराने हारे (रथम्) रथ को (हरिभ्याम्) दो घोड़ों से (युजे=युयुजे) उस [सेनापति] ने जोता, (जुजुषाणम्) उस हर्ष करते हुये को (ब्रह्माणि) अनेक धन (उप अस्थुः) उपस्थित हुये। (स्यः) उस (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] ने (वृत्राणि) शत्रुदलों को (अप्रति) बिना रोक (जघन्वान्) मार डाल कर (महित्वा) अपने महत्त्व से (रोदसी) दोनों आकाश और भूमि को (वि) विविध प्रकार (बाधिष्ट) बिलोया [मथा] है ॥ ३ ॥

(आयुः) जीवनकालम् (चिकिते) कित ज्ञाने—लिट् । ज्ञातवान् (जनेषु) मनुष्येषु (तानि) प्रसिद्धानि (इत्) एव (अंहांसि) पापानि (अति) अतीत्य उल्लङ्घ्य (पर्षि) पॄ पालनपूरणयोः—लेट् । पालय (अस्मान्)॥

३—(युजे) युजिर् योगे—लिट् । स युयुजे । योजितवान् (रथम्) यानम् (गवेषणम्) गां भूमिं प्रापकम् (हरिभ्याम्) शत्रुनाशनप्रजापालनरूपाभ्यां तुरङ्गाभ्याम् (उप अस्थुः) उपतिष्ठन्ते सेवन्ते स्म (ब्रह्माणि) धनानि (जुजुषाणम्) जुष तर्के, जुषी प्रीतिसेवनयोः—कानच् । हृष्यन्तं सेनापतिम् (वि) विविधम् (बाधिष्ट) अबाधिष्ट । विलोडितवान् (स्यः) सः (रोदसी) आकाशभूमी (महित्वा) महत्त्वेन (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापतिः (वृत्राणि) शत्रुसैन्यानि (अप्रति) यथा भवति तथा । प्रातिकूल्यस्य विघ्नस्य राहित्येन (जघन्वान्) हन हिंसागत्योः—क्वसु । नाशितवान् ॥

भावार्थ—जो राजा दो घोड़ों के समान वर्तमान शत्रु के नाश और प्रजा के पालनरूप गुणों से राज्य को चलाता है, वह निर्विघ्न होकर भूमि और आकाश के पदार्थों से उपकार लेता है ॥ ३ ॥

आपश्चित् पिप्यु स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र । याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ ४ ॥

आपः । चित् । पिप्युः । स्तर्यः । न । गावः । नक्षन् । ऋतम् । जरितारः । ते । इन्द्र ॥ याहि । वायुः । न । नि-युतः । नः । अच्छ । त्वम् । हि । धीभिः । दयसे । वि । वाजान् ॥४॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी सेनापति] (स्तर्यः) फैले हुये (आपः चित्) जलों के समान और (गावः न) किरणों के समान (ते) तेरे (जरितारः) स्तुति करने वाले (पिप्युः) बढ़े हैं, और (ऋतम्) सत्य को (नक्षन्) प्राप्त हुये हैं। (वायुः न) पवन के समान (नियुतः) वेग आदि गुणों को, (त्वम्) तू (अच्छ) अच्छे प्रकार से (नः) हमें (याहि) प्राप्त हो, (हि) क्योंकि (धीभिः) अपनी बुद्धियों वा कर्मों से (वाजान्) विज्ञानियों पर (वि) विविध प्रकार (दयसे) तू दया करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पुरुष फैलते हुये जल और किरणों के समान बढ़कर

४—(आपः) जलानि (चित्) उपमार्थे—निरु० १ । ४ । (पिप्युः) ओप्यायी वृद्धौ—लिट् । अभिवृद्धा बभूवुः (स्तर्यः) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । स्तृञ् आच्छादने-ईप्रत्ययः । विस्तारशीलाः (न) इव—निरु० १। ४। (गावः) किरणाः (नक्षन्) णक्ष गतौ—लङ्, अडभावः । प्राप्तवन्तः (ऋतम्) सत्यम् (जरितारः) स्तोतारः (ते) तव (इन्द्र) महाप्रतापिन् सेनापते (याहि) प्राप्नुहि (वायुः) पवनः (न) इव (नियुतः) नि+यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्विप् । नियुतो वायोरादिष्टोपयोजनानि—निघ० १ । १५ । वेगादिगुणान् (नः) अस्मान् (अच्छ) सुष्ठु (त्वम्) (हि) यतः (धीभिः) प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा (दयसे) दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु । दयां करोषि (वि) विविधम् (वाजान्) विज्ञानवतः ॥

उपकारी होवें, महासेनापति वायु के समान शीघ्रता करके उन उपकारी सज्जनों को सन्तुष्ट करे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—३३ ।१८ ॥

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ॥ ५ ॥

ते । त्वा । मदाः । इन्द्र । मादयन्तु । शुष्मिणम् । तुवि-राधसम् । जरित्रे ॥ एकः । देव-त्रा । दयसे । हि । मर्तान् । अस्मिन् । शूर । सवने । मादयस्व ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी सेनापति] (ते) वे (मदाः) आनन्द करते हुये वीर (शुष्मिणम्) महाबली और (तुविराधसम्) बड़े धनी (त्वा) तुझ को (जरित्रे) स्तुति करने वाले के लिये (मादयन्तु) हर्षित करें। (देवत्रा) विद्वानों में (एकः हि) अकेला ही तू (मर्तान्) मनुष्यों पर (दयसे) दया करता है, (शूर) हे शूर ! (अस्मिन्) इस (सवने) प्रेरणा में [सब को] (मादयस्व) आनन्दित कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब सैन्यदल अपने पराक्रमों से मुख्य सेनापति को प्रसन्न करें और वह सेनापति भी उन सबों पर पूर्ण दया करे, जिस से शत्रुओं का नाश और प्रजा की रक्षा होवे ॥ ५ ॥

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः । स नः स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥६॥

एव । इत् । इन्द्रम् । वृषणम् । वज्र-बाहुम् । वसिष्ठासः ।

५—(ते) प्रसिद्धाः (त्वा) त्वाम् (मदाः) आनन्दयुक्ताः सुभटाः—दयानन्दभाष्ये, ऋ० ७ । २३ । ५ (इन्द्र) (मादयन्तु) हर्षयन्तु (शुष्मिणम्) बलिष्ठम् (तुविराधसम्) बहुधनयुक्तम् (जरित्रे) स्तोत्रे (एकः) अद्वितीयः (देवत्रा) विद्वत्सु (दयसे) म० ४ । दयां करोषि (हि) एव (मर्तान्) मनुष्यान् (अस्मिन्) वर्तमाने (शूर) निर्भय (सवने) प्रेरणे (मादयस्व) आनन्दयस्व सर्वानिति शेषः ॥

अभि । अर्चन्ति । अर्कैः ॥ सः । नः । स्तुतः । वीर-वत् । धातु । गो-मत् । यूयम् ॥ पात । स्वस्ति-भिः । सदा । नः ॥६॥

भाषार्थ—(एव इत्) इस प्रकार से ही (वसिष्ठासः) अत्यन्त वसु [श्रेष्ठ विद्वान् लोग] (वृषणम्) बलवान्, (वज्रबाहुम्) वज्र [शस्त्र अस्त्रों] को भुजा पर रखने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (अर्कैः) पूजनीय विचारों से (अभि अर्चन्ति) यथावत् पूजते हैं। (स्तुतः) स्तुति किया गया (सः) वह (नः) हमारे लिये (वीरवत्) वीरों से युक्त (गोमत्) उत्तम गौओं वाले [राज्य] को (धातु) धारण करे, [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों से (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विजयी सेनापति को सदा प्रसन्न रक्खें और ऐसा प्रबन्ध होवे कि सब लोग शस्त्र अस्त्र विद्या में निपुण होकर राज्य की रक्षा करें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—२० । ५४ । और चौथा पाद आगे है—अथ० २० । १७ । १२; ३७। ११; ८७ । ७ ॥

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा। युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यंदिने सवने मत्सदिन्द्रः॥७

ऋजीषी । वज्री । वृषभः । तुराषाट् । शुष्मी । राजा । वृत्र-हा । सोम-पावा ॥ युक्त्वा । हरि-भ्याम् । उप । यासत् । अर्वाङ् । माध्यंदिने । सवने । मत्सत् । इन्द्रः ॥ ७ ॥

६—(एव) एवम् (इत्) अपि (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनापतिम् (वृषणम्) बलवन्तम् (वज्रबाहुम्) शस्त्रास्त्रपाणिम् (वसिष्ठासः) वसु—इष्ठन्, असुक्। अतिशयेन वसवः श्रेष्ठविद्वांसः (अभि) सर्वतः (अर्चन्ति) सत्कुर्वन्ति (अर्कैः) सुविचारैः (सः) (नः) अस्मान् (स्तुतः) प्रशंसितः (वीरवत्) वीरैर्युक्तम् (धातु) दधातु (गोमत्) प्रशस्तधेनुभिर्युक्तं राज्यम् (यूयम्) (पात) रक्षत (स्वस्तिभिः) सुखैः (सदा) (नः) अस्मान् ॥

भाषार्थ—(ऋजीषी) महाधनी, (वज्री) वज्र धारी [शस्त्र अस्त्रों वाला], (वृषभः) बलवान्, (तुराषाट्) हिंसक शत्रुओं का हराने वाला, (शुष्मी) बलवान् सेना वाला, (राजा) राजा, (वृत्रहा) बैरियों का मारने वाला, (सोमपावा) सोम [महौषधियों के रस] का पीने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (हरिभ्याम्) दो घोड़ों से [रथ को] (युक्त्वा) जोत कर (अर्वाङ्) सामने (उप यासत्) आवे और (माध्यन्दिने) मध्याह्न में (सवने) यज्ञ के बीच (मत्सत्) आनन्द पावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा महाधनी, प्रतापी, शस्त्रअस्त्रधारी होकर शत्रुओं का नाश कर के प्रजा की रक्षा करे और दोपहर दिन के समान लोगों में आनन्द का प्रकाश करे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । ४० । ४ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—४ ॥ १ इन्द्राबृहस्पती देवते; २ मरुतो देवताः; ३, ४ अग्निर्देवता ॥ १ भुरिक् त्रिष्टुप्; २ जगती; ३ निचृज् जगती; ४ त्रिष्टुप् ॥

राजविद्वद्गुणोपदेशः—राजा और विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्र॑श्च॒ सोमं॑ पिबतं बृहस्पते॒ऽस्मिन् य॒ज्ञे म॑न्दसा॒ना वृ॑षण्वसू। आ वां॑ विश॒न्त्विन्द॑वः स्वा॒भुवो॒ऽस्मे र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छतम् १

इन्द्रः॑ । च॒ । सोम॑म् । पि॒ब॒त॒म् । बृ॒ह॒स्प॒ते॒ । अ॒स्मिन् । य॒ज्ञे ।

७—(ऋजीषी) अर्जेर्ऋज च । उ० ४ । २८ । अर्ज अर्जने—ईषन्, कित्, ऋजादेशश्च । ऋजीषं धनमस्यास्तीति—इनि । महाधनी (वज्री) शस्त्रास्त्रभृत् (वृषभः) बलिष्ठः (तुराषाट्) तुर हिंसायाम्—क+षह अभिभवे—ण्वि, अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । तुराणां हिंसकशत्रूणामभिभविता (शुष्मी) शुष्मं बलिष्ठं सैन्यं विद्यते यस्य सः (राजा) शासकः (वृत्रहा) शत्रुहन्ता (सोमपावा) श्रेष्ठौषधिरसस्य पानकर्ता (युक्त्वा) योजयित्वा (हरिभ्याम्) अश्वाभ्याम् (उप यासत्) आगच्छेत् (अर्वाङ्) अभिमुखः (माध्यन्दिने) मध्याह्ने (सवने) यज्ञमध्ये (मत्सत्) आनन्देत् (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापतिः ॥

मन्दसाना । वृषण्-वसू इति वृषण्-वसू ॥ आ । वाम् । विशन्तु । इन्दवः । सु-आभुवः । अस्मे इति । रयिम् । सर्व-वीरम् । नि । यच्छतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (मन्दसानौ) आनन्द देने वाले, (वृषणवसू) बलवान् वीरों को निवास कराने वाले तुम दोनों (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों के रस] को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ [राज्यपालन व्यवहार] में (पिबतम्) पीओ । (स्वाभुवः) अच्छे प्रकार सब ओर होने वाले (इन्दवः) ऐश्वर्य (वाम्) तुम दोनों में (आ विशन्तु) प्रवेश करें, (अस्मे) हम को (सर्ववीरम्) सब को वीर बनाने वाला (रयिम्) धन (नि) नियम पूर्वक (यच्छतम्) तुम दोनों दो ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग और राजा राज्य के पालन और प्रजा के धनवान् बनाने में आनन्द पावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—४ । ५० । १० ॥

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः। सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥२॥

आ । वः । वहन्तु । सप्तयः । रघु-स्यदः । रघु-पत्वानः । प्र जिगात । बाहु-भिः ॥ सीदत । आ । बर्हिः । उरु । वः ।

१—(इन्द्रः) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (च) (सोमम्) सदोषधिरसम् (पिबतम्) (बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक विद्वन् (अस्मिन्) (यज्ञे) पूजनीये राज्यपालनव्यवहारे (मन्दसानौ) अ० १४ । २ । ६ । मदि आमोदस्तुतिदीप्त्यादिषु—असानच् आमोदयितारौ (वृषण्वसू) यौ वृष्णो बलवतः वीरान् वासयतस्तौ (वाम्) युवाम् (आविशन्तु) प्रविशन्तु । प्राप्नुवन्तु (इन्दवः) ऐश्वर्याणि (स्वाभुवः) सुष्ठु सर्वतो भवन्तः (अस्मे) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीरा यस्मात्तम् (नि) नियमेन (यच्छतम्) दत्तम् ॥

सदः । कृतम् । मादयध्वम् । मरुतः । मध्वः । अन्धसः ॥२॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे विद्वान् शूरो ! (वः) तुम को (रघुष्यदः) शीघ्रगामी (सप्तयः) घोड़े (आ) सब ओर (वहन्तु) ले चलें, (रघुपत्वानः) शीघ्रगामी तुम (बाहुभिः) भुजाओं [हस्तक्रियाओं] से (प्र जिगात) आगे बढ़ो। और (उरु) चौड़े (बर्हिः) आकाश में (आ सीदत) आओ जाओ, (वः) तुम्हारे लिये (सदः) स्थान (कृतम्) बनाया गया है, (मध्वः) मधुर (अन्धसः) अन्न से (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग क्रियाकुशल होकर शिल्पविद्या से यान विमान आदि द्वारा जल थल और आकाश में जाना आना करके अन्न आदि उत्तम पदार्थों की प्राप्ति से सब को प्रसन्न करें। मरुत् लोगों के विषय में—अथ० १। २०। १ देखो ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है— १। ८५। ६॥

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥३॥

इमम् । स्तोमम् । अर्हते । जात-वेदसे । रथम्-इव । सम् । महेम । मनीषया ॥ भद्रा । हि । नः । प्र-मतिः । अस्य ।

२—(आ) समन्तात् (वः) युष्मान् (वहन्तु) नयन्तु (सप्तयः) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। षप समवाये-तिप्रत्ययः, यद्वा सृप्लृ गतौ—तिप्रत्यये गुणे च रेफलोपः। सप्तेः सरणस्य-निरु० ६। ३। अश्वाः—निघ० १। १४ (रघुष्यदः) रघि गतौ-उप्रत्ययो नकारलोपश्च + स्यन्दू प्रस्रवणे—क्विप्। रघु शीघ्रं स्यन्दमाना वेगेन गच्छन्तः (रघुपत्वानः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। रघु + पत्लृ गतौ—वनिप्। रघु शीघ्रं पतन्तो गच्छन्तो यूयम् (प्र) प्रकर्षेण (जिगात) गा स्तुतौ जुहोत्यादिकः। जिगातीति गतिकर्मा—निघ० २। १४। गच्छत (बाहुभिः) भुजैः। हस्तक्रियाभिः (आसीदत) गमनागमनं कुरुत (बर्हिः) अन्तरिक्षम्-निघ० १। ३ (उरु) विस्तीर्णम् (वः) युष्मभ्यम् (सदः) स्थानम् (कृतम्) रचितम् (मादयध्वम्) तर्पयत सर्वान् (मरुतः) अ० १। २०। १। हे विद्वांसः शूराः (मध्वः) मधुरात् (अन्धसः) अन्नात् ॥

सम्-सदि । अग्ने । सख्ये । मा । रिषाम । वयम् । तव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अर्हते) योग्य, (जातवेदसे) उत्पन्न पदार्थों के जानने हारे [पुरुष] के लिये (इमम्) इस (स्तोमम्) गुणकीर्तन को (रथम् इव) रथ के समान (मनीषया) बुद्धि से (सम्) यथावत् (महेम) हम बढ़ावें। (हि) क्योंकि (अस्य) इस [विद्वान्] की (प्रमतिः) उत्तम समझ (संसदि) सभा के बीच (नः) हमारे लिये (भद्रा) कल्याण करने वाली है। (अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी विद्वान्] (ते) तेरी (सख्ये) मित्रता में (वयम्) हम (मा रिषाम) न दुखी होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बने हुये यान विमान आदि की चाल और योग्यता से उपकार लेकर मनुष्य गुण गाते हैं, वैसे ही लोग विज्ञान के आविष्कार करने वाले विद्वान् के गुणों से उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ६४ । १ और सामवेद पू० १ । ७ । ४ तथा उ० ४ । १ । ७ ॥

एभिरग्ने सुरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः ।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥ ४ ॥

आ । एभिः । अग्ने । सु-रथम् । याहि । अर्वाङ् । नाना-रथम् । वा । वि-भवः । हि । अश्वाः ॥ पत्नी-वतः । त्रिंशतम् । त्रीन् । च । देवान् । अनु-स्वधम् । आ । वह । मादयस्व ॥ ४ ॥

३—(इमम्) प्रत्यक्षम् (स्तोमम्) गुणकीर्तनम् (अर्हते) योग्याय (जातवेदसे) जातानामुत्पन्नानां वेदित्रे (रथम्) रमणसाधनंविमानादियानम् (इव) यथा (सम्) सम्यक् (महेम) पूजयेम । सत्कुर्याम (मनीषया) प्रज्ञया (भद्रा) कल्याणकारिणी (हि) यतः (नः) अस्मभ्यम् (प्रमतिः) प्रकृष्टा बुद्धिः (अस्य) विदुषः पुरुषस्य (संसदि) परिषदि । सभायाम् (अग्ने) हे तेजस्विन् विद्वन् (सख्ये) मित्रभावे (मा रिषाम) हिंसिता मा भूम (वयम्) (तव) ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि! [तेजस्वी विद्वान्] (एभिः) इन [घोड़ों] से (सरथम्)एक से रथों वाले (वा) और (नानारथम्) नाना प्रकार के रथों वाले [मार्ग] को (अर्वाङ्) सामने होकर (आ याहि) आ, (हि) क्योंकि [तेरे] (अश्वाः) घोड़े (विभवः) प्रबल हैं। और (पत्नीवतः) पालनशक्तियों [सूक्ष्म अवस्थाओं] से युक्त (त्रिंशतम्) तीस (च) और (त्रीन्) तीन [तेतीस अर्थात् आठ वसु आदि] (देवान्) दिव्य पदार्थों को (अनुष्वधम्) अन्न के लिये (आ) यथावत् (वह) प्राप्त हो, और [सब को] (मादयस्व) हर्षित कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेतीस देवता वा दिव्य पदार्थ यह हैं—अग्नि पृथिवी आदि आठ वसु, प्राण, अपान आदि ग्यारह रुद्र, चैत्र आदि बारह आदित्य वा महीने, एक इन्द्र वा बिजुली, एक प्रजापति वा यज्ञ—देखो अथर्ववेद—६। १३६। १। भाव यह है कि विज्ञानी शिल्पी पुरुष इन तेतीस दिव्य पदार्थों के बाहिरी आकार और भीतरी सूक्ष्म शक्तियों को भली भांति समझ कर अद्भुत यान विमान आदि बनाकर संसार को सुख पहुंचावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—३। ६। ६ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

४—(आ याहि) आगच्छ (एभिः) अश्वैः (अग्ने) हे तेजस्विन् विद्वन् (सरथम्) समानस्यच्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु । पा० ६। ३। ८४। समानस्य सभावः। समानाः सदृशा रथा यस्मिंस्तं मार्गम् (अर्वाङ्) अभिमुखः (नानारथम्) बहुविधा रथा यस्मिंस्तं मार्गम् (वा) समुच्चये (विभवः) प्रभवः। प्रबलाः (हि) यतः (अश्वाः) तुरङ्गाः (पत्नीवतः) पालनशक्तिभिः सूक्ष्मावस्थाभिर्युक्तान् (त्रिंशतम्) (त्रीन्) (च) (देवान्) अ० ६। १३६। १। अष्टवस्वादीन् दिव्यपदार्थान् (अनुष्वधम्) स्वधेत्यन्ननाम—निघ० २। ७। स्वधाम् अन्नम् अनुलक्ष्य (आ) ,यथावत् (वह) प्राप्नुहि (मादयस्व) आनन्दय सर्वान् ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्ष्युष्णिक्; २ भुरिगार्षी बृहती; ३ ककुबुष्णिक्; ४ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः— राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

वयम् । ऊं इति । त्वाम् । अपूर्व्य । स्थूरम् । न । कत् । चित् । भरन्तः । अवस्यवः ॥ वाजे । चित्रम् । हवामहे ॥१॥

भाषार्थ—(अपूर्व्य) हे अनुपम ! [राजन्] (कत् चित्) कुछ भी (स्थूरम्) स्थिर (न) नहीं (भरन्तः) रक्खे हुये, (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले (वयम्) हम (वाजे) संग्राम के बीच (चित्रम्) विचित्र स्वभाव वाले (त्वाम्) तुझ को (उ) ही (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जब दुष्ट चोर डाकू लोग अत्यन्त सतावें, प्रजागण वीर राजा की शरण ले कर रक्षा करें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । २१ । १, ८ । मन्त्र १ सामवेद में है—पू० ५ । २ । १० तथा मन्त्र १, २ उ० १ । १ । २२ और मन्त्र १—४ आगे हैं—अथ० २० । ६२ । १—४ ॥

१—(वयम्) प्रजाः (उ) अवधारणे (त्वाम्) (अपूर्व्य) स्वार्थे यत् । नास्ति पूर्वः श्रेष्ठो यस्मात् सः, अपूर्वः, अपूर्व्यः । हे अनुपम (स्थूरम्) स्थः किच्च । उ० ५ । ४ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—ऊरन्, कित् । स्थिरम् (न) निषेधे (कच्चित्) किमपि (भरन्तः) धरन्तः (अवस्यवः) अवस—क्यच्, उ । रक्षाकामाः (वाजे) संग्रामे—निघ० २ । १७ (चित्रम्) अद्भुतस्वभावम् (हवामहे) आह्वयामः ॥

उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॒क्राम॒ यो धृ॒षत् ।
त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥ २ ॥

उप॑ । त्वा॒ । कर्म॑न् । ऊ॒तये॑ । सः । नः॒ । युवा॑ । उ॒ग्रः । च॒क्राम॑ । यः । धृ॒षत् ॥ त्वाम् । इत् । हि । अ॒वि॒तार॑म् । व॒वृ॒महे॑ । सखा॑यः । इ॒न्द्र॒ । सा॒न॒सिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कर्मन्) कर्म के बीच (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (सः) उस (यः) जिस (युवा) स्वभाव से बलवान्, (उग्रः) तेजस्वी और (धृषत्) निर्भय पुरुष ने (चक्राम) पैर बढ़ाया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (अवितारम्) उस रक्षक और (सानसिम्) दानी (त्वा) तुझ को, (त्वाम्) तुझ को (हि) ही (इत्) अवश्य (सखायः) हम मित्र लोग (उप) आदर से (ववृमहे) चुनते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रजा रक्षण में बड़ा पराक्रमी हो, प्रजागण सब लोगों में से उसी को राजा बनावें ॥ २ ॥

यो न॑ इ॒दमि॑दं पु॒रा प्र वस्य॑ आनि॒नाय॒ तमु॑ व स्तुषे ।
सखा॑य॒ इन्द्र॑मू॒तये॑ ॥ ३ ॥

यः । नः॒ । इ॒दम्-इ॑दम् । पु॒रा । प्र । वस्यः॑ । आ॒-नि॒नाय॑ । तम् । ऊं॒ इति॑ । वः॒ । स्तु॒षे॒ ॥ सखा॑यः । इन्द्र॑म् । ऊ॒तये॑ ॥ ३ ॥

२- (उप) आदरेण (त्वा) त्वाम् (कर्मन्) कर्मणि । व्यवहारे (ऊतये) रक्षायै (सः) (नः) अस्माकम् (युवा) निसर्गबलवान् (उग्रः) प्रचण्डः (चक्राम) क्रमु पादविक्षेपे—लिट् । अग्रे जगाम (यः) (धृषत्) संश्चत्-तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । ञि धृषा प्रागल्भ्ये—अतिप्रत्ययः । प्रगल्भः । निर्भयः (त्वाम्) (इत्) एव (हि) (अवितारम्) रक्षकम् (ववृमहे) वृणीमहे । स्वीकुर्मः (सखायः) मित्रभूता वयम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (सानसिम्) सानसिवर्णसिपर्णसि० । उ० ४ । १०७ । षणु दाने—असि, उपधावृद्धिः । दातारम् ॥

भाषार्थ—(यः) जो [पराक्रमी] (नः) हमारे लिये (इदमिदम्) इस-इस (वस्यः) उत्तम वस्तु को (पुरा) पहिले (प्र) अच्छे प्रकार (आनिनाय) लाया है, (तम् उ) उस ही (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] को, (सखायः) हे मित्रो ! (वः) तुम्हारी (ऊतये) रक्षा के लिये (स्तुषे) मैं सराहता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पहिले से ही धीर वीर होवे, लोग उस की बड़ाई करके गुण ग्रहण करें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—८ । २१ । ६, १० । मन्त्र ३ सामवेद में है—उ० ५ । २ । २ ॥

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥४॥
हरि-अश्वम् । सत्-पतिम् । चर्षणि-सहम् । सः । हि । स्म । यः । अमन्दत ॥ आ । तु । नः । सः । वयति । गव्यम् । अश्व्यम् । स्तोतृ-भ्यः । मघ-वा । शतम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (हि) ही (स्म) अवश्य [मनुष्य है], (यः) जिस ने (हर्यश्वम्) ले चलने वाले घोड़ों से युक्त, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक, (चर्षणीसहम्) मनुष्यों को नियम में रखने वाले [राजा] को

३—(यः) पराक्रमी (नः) अस्मभ्यम् (इदमिदम्) बहुनिर्दिष्टम् (पुरा) अग्रे (प्र) प्रकर्षेण (वस्यः) वसु—ईयसुन् , ईकारलोपः । वसीयः प्रशस्तं वस्तु (आनिनाय) आनीतवान् (तम्) (उ) अवधारणे (वः) युष्माकम् (स्तुषे) लडर्थे लेडुत्तमैकवचने । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । स्तुवे । स्तौमि (सखायः) हे सुहृदः (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं वीरम् (ऊतये) रक्षायै ॥

४—(हर्यश्वम्) हरयो हरणशीला अश्वा यस्य तम् । शीघ्रगामितुरङ्गवन्तम् (सत्पतिम्) सतां कर्मश्रेष्ठानां पालकम् (चर्षणीसहम्) चर्षणीनां मनुष्याणां सोढारम् अभिभवितारं नियन्तारम् (सः) हि) (स्म) अवश्यम् (यः) पुरुषः (अमन्दत) मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—लङ् ।

(अमन्दत) प्रसन्न किया है। (सः) वह (मघवा) महाधनी (तु) तो (नः) हम (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों को (शतम्) सौ [बहुत] (गव्यम्) गौओं का समूह और (अश्व्यम्) घोड़ों का समूह (आ वयति) लाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण आज्ञा मानकर शूर धर्मात्मा राजा को प्रसन्न रक्खें, जिस से वह उत्तम प्रबन्ध के साथ प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ जगती; ३, ६ निचृज्जगती; ५ भुरिगार्षी त्रिष्टुप् ॥

सभाध्यक्षगुणोपदेशः—सभाध्यक्ष के गुणों का उपदेश ॥

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सुत्यशुष्माय तवसे मुतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥१

प्र । मंहिष्ठाय । बृहते । बृहत्-रये । सत्य-शुष्माय । तवसे । मतिम् । भरे ॥ अपाम्-इव । प्रवणे । यस्य । दुः-धरम् । राधः । विश्व-आयु । शवसे । अप-वृतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मंहिष्ठाय) अत्यन्त दानी, (बृहते) महागुणी, (बृहद्रये) महाधनी, (सत्यशुष्माय) सच्चे बलवान् [सभाध्यक्ष] के लिये (तवसे) बल पाने को (मतिम्) बुद्धि (प्र) उत्तम रीति से (भरे) मैं

आमोदितवान्। तर्पितवान् (आ वयति) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु—लट्, छान्दसः शप्। आगमयति। प्रापयति (तु) अवधारणे। नियोगे (नः) अस्मभ्यम् (सः) (गव्यम्) गोसमूहम् (अश्व्यम्) अश्वसमूहम् (स्तोतृभ्यः) (मघवा) महाधनी (शतम्) बहु ॥

१—(प्र) प्रकर्षेण (मंहिष्ठाय) मंहतेर्दानकर्मा—निघ० ३। २०। महि वृद्धौ दाने च—तृच्, मंहितृ—इष्ठन्, तृलोपः। दातृतमाय (बृहते) गुणैर्महते (बृहद्रये) रैशब्दस्य ऐकारस्य एकारः। प्रभूतधनाय (सत्यशुष्माय) अवितथबलाय (तवसे) अ० ४। २२। ३। बलप्राप्तये (मतिम्) बुद्धिम् (भरे)

धारण करता हूं। (प्रवणे) ढालू स्थान में (अपाम् इव) जलों के [प्रवाह के] समान, (यस्य) जिस [सभाध्यक्ष] का (दुर्धरम्) बेरोक, (विश्वायु) सब को जीवन देने वाला (राधः) धन (शवसे) बल के लिये (अपावृतम्) फैला हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो सभाध्यक्ष सुपात्रों को दान देकर प्रजा को सुशिक्षित बलवान् बनाता है, उसके उपकारों की महिमा ऐसी सुखदायक होती है, जैसे जल ढालू स्थानों में बह कर खेती आदि बढ़ाकर आनन्द देता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१ । ५७ । १—६ ॥

अधं ते विश्वमनुं हासदिष्टय आपो निम्नेव सवंना हविष्मंतः।
यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययंः२

अधं । ते । विश्वम् । अनुं । ह । असत् । इष्टयें । आपंः । निम्ना-इ'व । सवंना । हविष्मंतः ॥ यत् । पर्वते । न । सम्-अशीत । हर्यतः । इन्द्रंस्य । वज्रंः । श्नथिता । हिरण्ययंः॥२॥

भाषार्थ—(अध) फिर (विश्वम्) सब जगत् (हविष्मतः) दान योग्य पदार्थों वाले (ते) तेरे (सवना अनु) ऐश्वर्यों के पीछे (इष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये (ह) निश्चय करके (असत्) होवे, (आपः) जल (निम्ना-इव) जैसे नीचे स्थानों के [पीछे बह चलते हैं]। (यत्) जब (इन्द्रस्य) इन्द्र [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले सभाध्यक्ष] का (हर्यतः) कमनीय, (श्नथिता) चूर चूर

अहं धरे (अपाम्) जलानां प्रवाहः (इव) यथा (प्रवणे) अवनतदेशे (यस्य) सभाध्यक्षस्य (दुर्धरम्) दुःखेन धरणीयं निवारणीयम् (राधः) धनम् (विश्वायु) विश्वस्मै सर्वस्मै आयुर्जीवन यस्मात् तत् (शवसे) बललाभाय (अपावृतम्) छान्दसो दीर्घः । अपगतावरणं व्यावृतं वर्तते ॥

२—(अध) अथ । अनन्तरम् (विश्वम्) सर्वं जगत् (अनु) अनुसृत्य (ह) निश्चयेन (असत्) भवेत् (इष्टये) अभीष्टसिद्धये (आपः) जलानि (निम्ना) निम्नानि स्थलानि अनुसृत्य (इव) यथा (सवना) ऐश्वर्याणि (हविष्मतः) हवींषि दानयोग्यानि वस्तूनि यस्य (यत्) यदा (पर्वते) शैले (न) यथा (समशीत) शीङ् स्वप्ने—लङ् । गुणाभावः । अशेत । सम्यग् वर्तमानोऽभूत् (हर्यतः) कमनीयः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः सभाध्यक्षस्य (वज्रः)

करने वाला, (हिरण्ययः) तेजोमय (वज्रः) वज्र [हथियारों का झुण्ड] (पर्वते न) जैसे पहाड़ पर, (सम्—अशीत) वर्तमान हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे जल ऊंचे स्थान से नीचे स्थान में फैलकर संसार का उपकार करता है, वैसे ही राजा धन का संग्रह करके प्रजा पालन करे, और शत्रुओं के मारने में ऐसा दृढ़ उपाय करे, जैसे पहाड़ काटने के लिये दृढ़ हथियार आवश्यक होते हैं ॥ २ ॥

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे । यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ॥ ३ ॥

अस्मै । भीमाय । नमसा । सम् । अध्वरे । उषः । न । शुभ्रे । आ । भर । पनीयसे ॥ यस्य । धाम । श्रवसे । नाम । इन्द्रियम् । ज्योतिः । अकारि । हरितः । न । अयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शुभ्रे) हे चमकीली (उषः) उषा ! [प्रभात वेला के समान सुखदायक पुरुष] (न) अब (अस्मै) इस (भीमाय) भीम [भयङ्कर], (पनीयसे) अत्यन्त व्यवहार कुशल [सभाध्यक्ष] के लिये (अध्वरे) हिंसा रहित कर्म में (नमसा) सत्कार के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (आ भर) भरपूर हो। (यस्य) जिस [सभाध्यक्ष] का (धाम) धाम [न्यायालय आदि

आयुधसमूहः (श्नथिता) श्नथ हिंसायाम्—तृन , नित्वादाद्युदात्तः । हिंसिता । संपेष्टा (हिरण्ययः) तेजोमयः ॥

३—(अस्मै) प्रसिद्धाय (भीमाय) भयङ्कराय (नमसा) सत्कारेण (सम्) सम्यक् (अध्वरे) हिंसारहिते कर्मणि (उषः) पादादित्वाद् निघाताभावः । हे प्रभातवेले (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ (शुभ्रे) स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । शुभ दीप्तौ—रक् टाप् । हे दीप्यमाने (आ) समन्तात् (भर) धृतः पूरितो भव (पनीयसे) पन व्यवहारे स्तुतौ च—तृच्, ईयसुन्, तृलोपः । अत्यन्तव्यवहारकुशलाय सभाध्यक्षाय (यस्य) सभाध्यक्षस्य (धाम) न्या-

स्थान], (नाम) नाम [यश], (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य और (ज्योतिः) प्रताप (अवसे) अन्न के लिये (अकारि) बनाया गया है, (हरितः न) जैसे दिशायें (अयसे) चलने के लिये [बनी] हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रातःकाल में अन्धकार के नाश से आनन्द होता है, वैसे ही मनुष्य योग्य सभाध्यक्ष के सत्कार करने में सुखी होवें, और वह भी अपना सर्वस्व प्रजा को सुख देने में सब ओर लगावे ॥ ३ ॥

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो । नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥ ४ ॥

इमे । ते । इन्द्र । ते । वयम् । पुरु-स्तुत । ये । त्वा । आ-रभ्य । चरामसि । प्रभुवसो इति प्रभु-वसो ॥ नहि । त्वत् । अन्यः । गिर्वणः । गिरः । सघत् । क्षोणीः-इव । प्रति । नः । हर्य । तत् । वचः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुष्टुत) हे बहुत स्तुति किये गये ! (प्रभुवसो) हे अधिक धन वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (इमे) यह लोग और (ते) वे लोग (वयम्) हम सब (ते) तेरे हैं, (ये) जो हम (त्वा आरभ्य) तेरा सहारा लेकर (चरामसि) विचरते हैं। (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवने

यालयादि स्थानम् (अवसे) अन्नलाभाय (नाम) यशः (इन्द्रियम्) इन्द्रियं धननाम—निघ० २ । १० । इन्द्रलिङ्गम् । ऐश्वर्यम् (ज्योतिः) प्रतापः (अकारि) कृतम् (हरितः) हरितो दिङ्नाम—निघ० १ । ६ । दिशः (न) इव (अयसे) अय गतौ—असुन् । गमनाय ॥

४—(इमे) समीपवर्तिनः (ते) तव (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् राजन् (ते) दूरवर्तिनः पुरुषाः (वयम्) सर्वे (पुरुष्टुत) हे बहुप्रकारं स्तुत (ये) (त्वा) त्वाम् (आरभ्य) आश्रित्य (चरामसि) विचरामः (प्रभुवसो) हे प्रभूतधन (नहि) निषेधे (त्वत्) तव सकाशात् (अन्यः) भिन्नपुरुषः

योग्य ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरा पुरुष (गिरः) [हमारी] वाणियों को (नहि) नहीं (सघत्) सह सकता, (क्षोणीरिव) पृथिवियों के समान तू (नः) हमारे (तत्) उस (वचः) वचन में (प्रति) निश्चय करके (हर्य) प्रीति कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों के बीच अद्वितीय पराक्रमी धर्मज्ञ राजा निकटवर्ती और दूरवर्ती प्रजा की पुकार सुनकर रक्षा करे, जैसे पृथिवी सब उत्पन्न मात्र की रक्षा करती है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—पू० ४ । ६ । ३ ॥

भूरि त इन्द्र वीर्य१ं तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ।५।

भूरि । ते । इन्द्र । वीर्यम् । तव । स्मसि । अस्य । स्तोतुः । मघ-वन् । कामम् । आ । पृण ॥ अनु । ते । द्यौः । बृहती । वीर्यम् । ममे । इयम् । च । ते । पृथिवी । नेमे । ओजसे ॥५।

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (ते) तेरा (वीर्यम्) पराक्रम (भूरि) बहुत है, हम (ते) तेरे [प्रजा] (स्मसि) हैं, (मघवन्) हे महाधनी ! (अस्य) इस (स्तोतुः) स्तुति करने वाले की (कामम्) कामना को (आ) सब ओर से (पृण) तृप्त कर। (ते) तेरे (वीर्यम् अनु) पराक्रम के पीछे (बृहती) बड़ा (द्यौः) आकाश (ममे) नापा

(गिर्वणः) गॄ शब्दे—क्विप्+सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४ । १८९ । वन संभक्तौ—असुन्। गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति—निरु० ६ । १४ । हे गीर्भिः स्तुतिभिर्वननीय सेवनीय (गिरः) वाणीः (सघत्) सहेर्लेटि, अडागमः, हस्य घः। सहेत। स्वीकुर्यात् (क्षोणीः) पृथिव्यः (इव) यथा (प्रति) निश्चयेन (नः) अस्माकम् (हर्य) कामयस्व (तत्) (वचः) वचनम् ॥

५—(भूरि) बहु (ते) तव (इन्द्र) हे प्रतापिन् राजन् (वीर्यम्) पराक्रमः (ते) तव (स्मसि) वयं प्रजाः स्मः (अस्य) (स्तोतुः) गुणप्रकाशकस्य (मघवन्) हे बहुधन (कामम्) अभिलाषम् (पृण) पृण प्रीणने। तर्पय (अनु) अनुसृत्य (ते) तव (द्यौः) आकाशः (बृहती) महती (वीर्यम्) पराक्रमम् (ममे) माङ् माने शब्दे च—लिट्। परिमिता बभूव (इयम्)

गया है, (च) और (ते) तेरे (ओजसे) बल के लिये (इयम्) यह (पृथिवी) पृथिवी (नेमे) झुकी है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो विज्ञानी राजा प्रजा को प्रसन्न रखकर विद्वानों का उचित सत्कार करता है, वह वायु विमान आदि से आकाश को, तथा स्थल और जल यान आदि से पृथिवी को वश में कर के राज्य की उन्नति करता है॥५॥

त्वं तमिन्द्र पर्वतं मुहामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वुशश्चकर्तिथ। अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः सुत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः॥६॥

त्वम् । तम् । इन्द्र । पर्वतम् । महाम् । उरुम् । वज्रेण ॥ वज्रिन् । पर्व-शः । चकर्तिथ ॥ अव । असृजः । नि-वृताः । सर्तवै । अपः । सत्रा । विश्वम् । दधिषे । केवलम् । सहः ॥६॥

भाषार्थ—(वज्रिन्) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (त्वम्) तू ने (तम्) उस (महाम्) बड़े, (उरुम्) चौड़े (पर्वतम्) पहाड़ को (वज्रेण) वज्र [हथियारों के झुण्ड] से (पर्वशः) टुकड़े टुकड़े करके (चकर्तिथ) काट डाला है। और (निवृतः) रोके हुये (अपः) जलों को (सर्तवै) बहने के लिये (अव असृजः) छोड़ दिया है, (सत्रा) सत्य रूप से (विश्वम्) सम्पूर्ण, (केवलम्) असाधारण (सहः) बल को (दधिषे) तू ने धारण किया है ॥ ६ ॥

दृश्यमाना (च) (ते) तव (पृथिवी) भूमिः (नेमे) णम प्रह्वत्वे—लिट्। प्रह्वी नम्रा बभूव (ओजसे) बलाय ॥

६—(त्वम्) (तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (पर्वतम्) शैलम् (महाम्) नकारतकारयोर्लोपः। महान्तम् (उरुम्) विस्तीर्णम् (वज्रेण) आयुधसमूहेन (वज्रिन्) हे शस्त्रास्त्रधारिन् (पर्वशः) खण्डशः (चकर्तिथ) कृती छेदने—लिट्। छिन्नवानसि (अवासृजः) मुक्तवानसि (निवृताः) निवारिताः। निरुद्धाः (सर्तवै) सरतेः कृत्यार्थे तवैप्रत्ययः। सरणाय। वहनाय (अपः) जलानि (सत्रा) सत्यरूपेण (विश्वम्) सर्वम् (दधिषे) धारितवानसि (केवलम्) असाधारणम् (सहः) बलम् ॥

भावार्थ—जो वीर पराक्रमी राजा पहाड़ों को काटकर वहां पर एकत्र हुये जल को पृथिवी पर लाकर खेती आदि में उपयुक्त करे वह संसार के बीच कीर्तिमान् होवे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—१२ ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ १, ३, ५, ६ निचृत् त्रिष्टुप्; २, ६—८, १०, ११ त्रिष्टुप्; ४ भुरिगार्षी त्रिष्टुप्; १२ विराट् त्रिष्टुप् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः ।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्यर्का अनावन् ॥१॥

उद-प्रुतः । न । वयः । रक्षमाणाः । वावदतः । अभ्रियस्य-इव । घोषाः ॥ गिरि-भ्रजः । न । ऊर्मयः । मदन्तः । बृहस्पतिम् । अभि । अर्काः । अनावन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(उदप्रुतः) जल को प्राप्त हुये, (रक्षमाणाः) अपनी रक्षा करते हुये (वयः न) पक्षियों के समान, (वावदतः) बार बार गरजते हुये (अभ्रियस्य) बादल के (घोषाः इव) शब्दों के समान, (गिरिभ्रजः) पहाड़ों से गिरते हुये, (मदन्तः) तृप्त करते हुये (ऊर्मयः न) जल के प्रवाहों के समान, (अर्काः) पूजनीय पण्डितों ने (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] को (अभि) सब ओर से (अनावन्) सराहा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पक्षीगण जलाशय में पान स्नान करके तृप्त होते, जैसे

१—(उदप्रुतः) प्रुङ् गतौ—क्विप् । उदकं प्राप्ताः (न) यथा (वयः) पक्षिणः (रक्षमाणाः) आत्मानं पालयन्तः (वावदतः) वदेर्यङ्लुकि शतृ । पुनः पुनः शब्दायमानस्य (अभ्रियस्य) स्वार्थे घप्रत्ययः । अभ्रस्य मेघस्य—निघ० १ । १० (इव) यथा (घोषाः) ध्वनयः (गिरिभ्रजः) भ्रशु अधःपतने—क्विप् । शस्य जः । शैलेभ्यः सकाशादधःपतन्तः (न) यथा (ऊर्मयः) जलप्रवाहाः (मदन्तः) तर्पयन्तः (बृहस्पतिम्) बृहत्या वेदवाण्या रक्षकं विद्वांसम् (अभि) सर्वतः (अर्काः) पूजनीयाः पण्डिताः (अनावन्) णु स्तुतौ—लङ्, छान्दसः शप् । अस्तुवन् ॥

बरसते हुये मेघ अपनी गर्जन से प्रसन्न करते हैं, और जैसे पहाड़ों से बहती हुई नदियां अन्न आदि उत्पन्न करती हैं, वैसे ही बुद्धिमान् लोग वेदाभ्यासी पुरुष के गुणों को गाकर, आनन्द बढ़ाते हैं ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ६८ । १—१२ ॥

सं गोभि॑राङ्गिर॒सो नक्ष॑माणो॒ भग॑ इ॒वेद॑र्य॒मणं॑ निनाय । जने॑ मि॒त्रो न दम्प॑ती अनक्ति॒ बृह॑स्पते वा॒जया॒शूँरि॑वा॒जौ ॥ २ ॥

सम् । गोभिः॑ । आ॒ङ्गि॒र॒सः । नक्ष॑माणः । भगः॑-इव । इत् । अ॒र्य॒मण॑म् । नि॒ना॒य ॥ जने॑ । मि॒त्रः । न । दम्प॑ती॒ इति॒ दम्-प॑ती । अ॒न॒क्ति॒ । बृह॑स्पते । वा॒जय॑ । आ॒शून्-इ॑व । आ॒जौ ॥ २

भाषार्थ—(आङ्गिरसः) विज्ञान वाला पुरुष, (भगः इव) ऐश्वर्यवान् के समान (अर्यमणम्) श्रेष्ठों के मान करने वाले जन को (इत्) ही (नक्षमाणः) पाता हुआ (गोभिः) वाणियों से (सम्) यथावत् (निनाय) लाया है । (जने) मनुष्यों में (मित्रः न) मित्र के समान वह (दम्पती) दोनों स्त्री पुरुष को (अनक्ति) शोभायमान करता है, (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [वेद-वाणी के रक्षक] (आजौ) सङ्ग्राम में (आशून् इव) घोड़ों के समान (वाजय) [हमें] वेग वाला कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे विज्ञानी पुरुष विद्वानों को पाकर गृहस्थियों को गुणी बनाते आये हैं, और जैसे संग्राम वा घुड़दौड़ के लिये घोड़े शीघ्रगामी होते हैं,

२—(सम्) सम्यक् (गोभिः) वाग्भिः (आङ्गिरसः) अङ्गिरस्—अण् । अङ्गिरो विज्ञानं यस्यास्तीति स महाविद्वान् (नक्षमाणः) प्राप्नुवन् (भगः) ऐश्वर्यवान् (इव) यथा (इत्) एव (अर्यमणम्) अ० १ । ११ । १ । अर्य+माङ् माने—कनिन् । अर्याणां श्रेष्ठानां मानकर्तारम् (निनाय) आनीतवान् (जने) मनुष्यसमूहे (मित्रः) सुहृत् (न) इव (दम्पती) जायापती (अनक्ति) अञ्जू व्यक्त्यादिषु । शोभायमानौ करोति (बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक (वाजय) वेगयुक्तान् कुरु अस्मान् (आशून्) व्यापकान् अश्वान् (इव) यथा (आजौ) अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । अज गति-क्षेपणयोः—इण् । सङ्ग्रामे—निघ० २ । १७ ॥

वैसे ही मनुष्य विद्वानों के सत्संग से धर्म में शीघ्रकारी होवें ॥ २ ॥

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥३

साधु-अर्याः । अतिथिनीः । इषिराः । स्पार्हाः । सु-वर्णाः । अनवद्य-रूपाः ॥ बृहस्पतिः । पर्वतेभ्यः । वि-तूर्य । निः । गाः । ऊपे । यवम्-इव । स्थिवि-भ्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(साध्वर्याः) साधुओं से पाने योग्य, (अतिथिनीः) अतिथियों को प्राप्त कराने वाली, (इषिराः) वेग वाली, (स्पार्हाः) चाहने योग्य (सुवर्णाः) सुन्दर रीति से स्वीकार योग्य, (अनवद्यरूपाः) अनिन्दित स्वभाव वाली (गाः) वाणियों को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (वितूर्य) शीघ्रता करके (पर्वतेभ्यः) पर्वतों [के समान दृढ़-चित्तों] के लिये, (स्थिविभ्यः) कोठियों [के भरने] के लिये (यवम् इव) जैसे अन्न को, (निः ऊपे) फैलाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उत्तम वेदवाणियों का प्रचार करके सब को ऐसा प्रसन्न करें, जैसे किसान लोग बीज बोकर अधिक अन्न प्राप्त करके आनन्दित होते हैं ॥ ३ ॥

आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥४

आ-प्रुषायन् । मधुना । ऋतस्य । योनिम् । अव-क्षिपन् ।

३—(साध्वर्याः) साधुभिः सज्जनैः प्राप्तव्याः (अतिथिनीः) अतिथि + णीञ् प्रापणे—क्विप् । अतिथीनां प्रापयित्रीः (इषिराः) वेगशीलाः (स्पार्हाः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । स्पृहा—अण् । स्पृहणीयाः । कमनीयाः (सुवर्णाः) सुष्ठु वरणीयाः (अनवद्यरूपाः) अनिन्दितस्वभावाः (बृहस्पतिः) (पर्वतेभ्यः) शैलतुल्यदृढस्वभावानां हिताय (वितूर्य) वि + तुर त्वरणे—ल्यप् । विविधवेगं कृत्वा (निः) निश्चयेन (ऊपे) डुवप बीजसन्ताने-लिट् । विस्तारितवान् (यवम्) अन्नम् (इव) यथा (स्थिविभ्यः) स्थगयः शुकुलाः, तान् भर्तुं पूरयितुम् ॥

अर्कः। उल्काम्-इव। द्योः॥ बृहस्पतिः। उत्ऽधरन्। अश्मनः। गाः। भूम्याः। उद्ना-इव। वि। त्वचम्। बिभेद ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मधुना) ज्ञान के साथ (ऋतस्य) सत्य के (योनिम्) घर [वेद] को (आप्रुषायन्) सब प्रकार सींचते हुये और (द्योः) आकाश से (उल्काम् इव) उल्का [गिरते हुये चमकते तारे] के समान (अवक्षिपन्) फैलाते हुये और (उद्धरन्) ऊंचे धरते हुये, (अर्कः) पूजनीय (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्या के रक्षक महाविद्वान्] ने (अश्मनः) व्यापक [परमात्मा] की (गाः) वाणियों को (वि बिभेद) फैलाया है, (उद्ना इव) जैसे जल से (भूम्याः) भूमि की (त्वचम्) त्वचा को [फैलाते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाविद्वान् पुरुष विचार के साथ वेदविद्या को बढ़ावे और आकाश से गिरते चमकते तारे के समान प्रकाशमान करे और उच्चभाव के साथ उसे विविध प्रकार फैलावे जैसे पृथिवी जल से फैलकर उपकारी होती है ४

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत्। बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥५॥

अप। ज्योतिषा। तमः। अन्तरिक्षात्। उद्नः। शीपालम्-इव। वातः। आजत्॥ बृहस्पतिः। अनु-मृश्य। वलस्य। अभ्रम्-इव। वातः। आ। चक्रे। आ। गाः ॥ ५ ॥

४—(आप्रुषायन्) प्रुष स्नेहनसेचनपूरणेषु—शतृ, विकरणस्य शायजादेशः। सर्वतः सिञ्चन् (मधुना) फलिपाटिनमिमनिजनां०। उ० १। १८। मन ज्ञाने—उप्रत्ययः, नस्य धः। ज्ञानेन (ऋतस्य) सत्यस्य (योनिम्) गृहम्। वेदम् (अवक्षिपन्) विस्तारयन् (अर्कः) पूजनीयः (उल्काम्) रेखाकारे गगनात् पतत्तेजःपुञ्जम् (इव) यथा (द्योः) आकाशात् (बृहस्पतिः) (उद्धरन्) ऊर्ध्वं स्थापयन् (अश्मनः) अशिशकिभ्यां छन्दसि। उ० ४। १४७। अशू व्याप्तौ—मनिन्। व्यापकस्य परमेश्वरस्य (गाः) वाणीः (भूम्याः) पृथिव्याः (उद्ना) उदकेन (इव) यथा (त्वचम्) उपरिदेशम् (वि बिभेद) विस्तारयामास ॥

भाषार्थ—[जैसे सूर्य] (ज्योतिषा) ज्योति के साथ (अन्तरिक्षात्) आकाश से (तमः) अन्धकार को, और (इव) जैसे (वातः) पवन (उद्नः) जल पर से (शीपालम्) सेवार घास को, और (इव) जैसे (वातः) पवन (अभ्रम्) बादल को, [वैसे ही] (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्या के रक्षक महाविद्वान्] ने (अनुमृश्य) बार बार विचारकर (वलस्य) हिंसक असुर को (अप आजत्) निकाल दिया है, (आ) और (गाः) वेदवाणियों को (आ चक्रे) स्वीकार किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार को, और जैसे पवन सेवार, कमल आदि, और मेघ को हटा देता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष दुराचारियों को हटाकर वेद की आज्ञा का पालन करे ॥ ५ ॥

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः ।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥६॥

यदा । वलस्य । पीयतः । जसुम् । भेत् । बृहस्पतिः । अग्नितपःभिः । अर्कैः ॥ दत्भिः । न । जिह्वा । परिविष्टम् । आदत् । आविः । निधीन् । अकृणोत् । उस्रियाणाम् ॥६॥

भाषार्थ—(यदा) जब (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (अग्नितपोभिः) अग्नि समान तेज वाले (अर्कैः)

५—(अप) दूरीकरणे (ज्योतिषा) प्रकाशेन सह (तमः) अन्धकारम् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् सूर्यो यथा (उद्नः) उदकात् (शीपालम्) शीङो धुक्लक्वलञ्वालनः । उ० ४ । ३८ । शीङ् स्वप्ने — वालन्, स च कित्, वस्य पः । शैवालम् । उदके लतारूपमुत्पन्नं तृणविशेषम् । जलनीलीम् (इव) यथा (वातः) पवनः (आजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ् । अगमयत (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्या रक्षक (अनुमृश्य) निरन्तरं विचार्य (वलस्य) द्वितीतार्थे षष्ठी । हिंसकं दैत्यम् (अभ्रम्) मेघम् (इव) (वातः) (आ) समुच्चये (आ चक्रे) स्वीकृतवान् (गाः) वेदवाणीः ॥

६—(यदा) यस्मिन् काले (वलस्य) दुष्टस्य । दैत्यस्य (पीयतः) हिंसकस्य (जसुम्) जसु ताडने हिंसायां च—उप्रत्ययः । आयुधम् (भेत्) अभेत् ।

पूजनीय पण्डितों के साथ (पीयतः) हिंसक (वलस्य) असुर के (जसुम्) हथियार को (भेत्) तोड़ डाला, (न) जैसे (दद्भिः) दांतों से (परिविष्टम्) घेरे हुये [भोजन] को (जिह्वा) जीभ ने (आदत्) खाया हो, और (उस्त्रियाणाम्) निवास करने वाली [प्रजाओं] के (निधीन्) निधियों [सुवर्ण आदि के कोशों] को (आविः अकृणोत्) खोल दिया ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे जीभ दांतों से घेरे हुये अन्न को खाकर सब अङ्गों को पुष्ट करती है, वैसेही विद्वान् पुरुष प्रतापी शूर युद्धपण्डितों के साथ दुष्टों को मारकर प्रजा के धनों को बढ़ाकर राज्य में उन्नति करे ॥ ६ ॥

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत् । आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्त्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥ ७ ॥

बृहस्पतिः । अमत । हि । त्यत् । आसाम् । नाम । स्वरीणाम् । सदने । गुहा । यत् ॥ आण्डाऽइव । भित्त्वा । शकुनस्य । गर्भम् । उत् । उस्त्रियाः । पर्वतस्य । त्मना । आजत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (हि) ही (आसाम्) इन (स्वरीणाम्) शब्द करती हुई [वेदवाणियों] के (त्यत्) उस (नाम) यश को (अमत) जाना है, (यत्) जो (गुहा) हृदय के भीतर (सदने) घर में है । (इव) जैसे (आण्डा) अण्डों को

अभिजत् (बृहस्पतिः) (अग्नितपोभिः) अग्निवत्तेजस्विभिः (अर्कैः) पूजनीयैः पण्डितैःसह (दद्भिः) दन्तशब्दस्य दद्भावः । दन्तैः (न) यथा (जिह्वा) रसना (परिविष्टम्) विषॢ व्याप्तौ—क्त । वेष्टितम् । परिगृहीतं भोजनम् (आदत्) अद भक्षणे—लङ् । अभक्षयत् (आविरकृणोत्) स्पष्टीकृतवान् (निधीन्) सुवर्णादिकोशान् (उस्त्रियाणाम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । वस निवासे-रक्, स्वार्थे घप्रत्ययः, टाप् । निवासशीलानां प्रजानाम् ॥

७—(बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्या रक्षकः (अमत) मनु अवबोधने—लुङ् । ज्ञातवान् (हि) निश्चयेन (त्यत्) प्रसिद्धम् (आसाम्) प्रसिद्धानाम् (नाम) यशः । कीर्तिम् (स्वरीणाम्) अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । स्वृ शब्दोपतापयोः—ईप्रत्ययः । शब्दायमानानां वेदवाणीनाम् (सदने)

(भित्वा) तोड़कर (शकुनस्य) पक्षी के (गर्भम्) बच्चे को, [वैसे ही] उस [महाविद्वान्] ने (उस्रियाः) निवास करने वाली [प्रजाओं] को (पर्वतस्य) पर्वत [समान दृढ़ स्वभाव वाले मनुष्य] के (त्मना) आत्मा से (उत् आजत्) उदय किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ —विद्वान् पुरुष अपने हृदय में प्राप्त वेदवाणियों के गुणों को जानकर संसार में इस प्रकार प्रकट करे, जैसे अण्डों के पककर फूटने पर पक्षियों के बच्चे निकलते हैं ॥ ७ ॥

मन्त्र ७ और ८ का पाठ ऋग्वेद, निरु० १० । १२, तथा अथर्ववेद संहिता गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई, और प० सेवकलाल कृष्णदास बम्बई के पुस्तकों के अनुसार लिया है, वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का पाठ विचारणीय है कि कदापि छपने में मन्त्र का अङ्क [७] चौथे पाद पर लगने के स्थान पर दूसरे पाद पर लग गया है, क्योंकि उस में मन्त्र ७ दो पाद का और मन्त्र ८ छह पाद का छपा है ॥

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्यं ॥८॥

अश्ना । अपि-नद्धम् । मधु । परि । अपश्यत् । मत्स्यम् । न । दीने । उदनि । क्षियन्तम् ॥ निः । तत् । जभार । चमसम् । न । वृक्षात् । बृहस्पतिः । वि-रवेण । वि-कृत्य ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (अश्ना) फैले हुये [अज्ञान] से (अपिनद्धम्) ढके हुये (मधु)

गृहे (गुहा) गुहायाम् । हृदये (यत्) (आण्डा) अण्डानि (भित्वा) विदार्य (शकुनस्य) पक्षिणः (गर्भम्) बालकम् (उत्) ऊर्ध्वम् (उस्रियाः) म० ६ । निवासशीलाः प्रजाः (पर्वतस्य) शैलतुल्यदृढस्वभावस्य पुरुषस्य (त्मना) आत्मना (आजत्) म० ५ । अगमयत् ॥

८—(अश्ना) अश्मना । व्यापकेन अज्ञानेन (अपिनद्धम्) पिहितम् (मधु) म० ४ । ज्ञानम् (परि) सर्वतः (अपश्यत्) अद्राक्षीत् (मत्स्यम्) जल-

ज्ञान को, (दीने) थोड़े (उदनि) जल में (क्षियन्तम्) रहती हुई (मत्स्यम् न) मछली के समान, (परि) सब ओर से (अपश्यत्) देखा, और (वृक्षात्) वृक्ष से (चमसम् न) अन्न के समान, (तत्) उस [ज्ञान] को (विरवेण) विशेष ध्वनि के साथ (विकृत्य) हल चल करके (निः जभार) बाहिर लाया ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष जब संसार में अज्ञान के कारण से ज्ञान के फैलाव में ऐसी रोक देखे जैसे मछली थोड़े जल में नहीं चल फिर सकती है, वह पुरुष विशेष प्रयत्न कर के ज्ञान का विस्तार करे जैसे वृक्ष से अन्न अर्थात फल लेकर उपकार करते हैं ॥ ८ ॥

मन्त्र ७ की टिप्पणी देखो ॥

सोषामविन्दुत् स स्वः१: सो अग्निं सो अर्केण वि बंबाधे तमांसि । बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ९ ॥

सः । उषाम् । अविन्दत् । सः । स्वः१रिति स्वः । सः । अग्निम् । सः । अर्केण । वि । बबाधे । तमांसि ॥ बृहस्पतिः । गो-वपुषः । वलस्य । निः । मज्जानम् । न । पर्वणः । जभार ।९।

भाषार्थ—(सः) उस (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्या के रक्षक महाविद्वान्] ने (उषाम्) उषा [प्रभात वेला के समान प्रकाशवती बुद्धि] को, (सः) उस ने (स्वः) सुख को, (सः) उस ने

जन्तुविशेषम् (न) यथा (दीने) क्षीणे । अल्पे (उदनि) उदके (क्षियन्तम्) निवसन्तम् (निर्जभार) निर्जहार । बहिश्चकार (चमसम्) अन्नम् । फलम् (न) यथा (वृक्षात्) तरुसकाशात् (बृहस्पतिः) महाविद्वान् पुरुषः (विरवेण) विशेषध्वनिना (विकृत्य) विकारं गत्वा ॥

६—(सः) पूर्वोक्तः (उषाम्) उष दाहे—क, टाप् । (प्रभातवेलावत् प्रकाशवतीं बुद्धिम् (अविन्दत्) विद्लृ लाभे—लङ् । अलभत (सः) (स्वः) सुखम् (सः) (अग्निम्) अग्निवत्प्रतापम् (सः) (अर्केण) पूजनीयेन विचा-

(अग्निम्) अग्नि [समान तेज] को (अविन्दत्) पाया है, (सः) उस ने (अर्केण) पूजनीय विचार से (तमांसि) अन्धकारों को (वि बबाधे) हटा दिया है। उस ने (गोवपुषः) वज्र समान दृढ़ शरीर वाले (वलस्य) हिंसक असुर के (पर्वणः) जोड़ से (मज्जानम्) मींग को (न) अब (निः जभार) निकाल डाला है ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष उत्तम बुद्धि प्राप्त करके सुख के साथ तेजस्वी होकर अज्ञान का नाश कर दुष्टों को मिटावे ॥ ६ ॥

हिमेव पुर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद् वलो गाः । अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥ १०॥

हिमा-इव । पुर्णा । मुषिता । वनानि । बृहस्पतिना । अकृपयत् । वलः । गाः ॥ अनन-कृत्यम् । अपुनरिति । चकार । यात् । सूर्यामासा । मिथः । उत्-चरातः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(हिमा इव) जैसे हिम [महाशीत] से (मुषिता) उजाड़े गये (पर्णा) पत्तों को (वनानि) वृक्ष, [वैसेही] (बृहस्पतिना) बृहस्पति [महाविद्वान्] के कारण से (वलः) हिंसक दुष्ट ने (गाः) वेदवाणियों को (अकृपयत्) माना। (अननुकृत्यम्) दूसरों से न करने योग्य, (अपुनः)

रेण (वि) विशेषेण (बबाधे) बाधितवान्। निराचकार (तमांसि) अन्धकारान् (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्याः रक्षकः (गोवपुषः) गौर्वज्रः। वज्रतुल्यदृढशरीरस्य (निः) बहिर्भावे (मज्जानम्) अ० १। ११। ४। अस्थिसारम् (न) संप्रति (पर्वणः) सन्धिप्रदेशात् (जभार) जहार। निनाय ॥

१०—(हिमा) हिमेन। महाशीतेन (इव) यथा (पर्णा) पर्णानि। वृक्षपत्राणि (मुषिता) मुषितानि। नाशितानि (वनानि) वृक्षाः (बृहस्पतिना) महाविदुषः पुरुषस्य कारणेन (अकृपयत्) कृप चिन्तने—लङ्। अचिन्तयत्। कल्पितवान् (वलः) हिंसको दुष्टः (गाः) वेदवाणीः (अननुकृत्यम्) सांहितिको दीर्घः। अननुकरणीयम्। अन्यैःकर्तुम् अशक्यम् (अपुनः) प्रातेररन्। उ० ५। ५६। पन स्तुतौ—अरन्, अस्य उत्वम्। नास्ति पुनः स्तुत्यं

सब से बढ़कर कर्म (चकार) उस [महाविद्वान्] ने किया है, (यात्) जैसे (सूर्यामासा) सूर्य और चन्द्रमा (मिथः) आपस में (उच्चरातः) उत्तमता से चलते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे जाड़े के मारे वृक्ष सूख जाते हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष वेदवाणी के प्रभाव से दुष्टों को मार कर अनुपम कर्म करता हुआ सूर्य और चन्द्रमा के समान सन्मार्ग पर चलता रहे ॥ १० ॥

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः॥११॥

अभि । श्यावम् । न । कृशनेभिः । अश्वम् । नक्षत्रेभिः । पितरः । द्याम् । अपिंशन् ॥ रात्र्याम् । तमः । अदधुः । ज्योतिः । अहन् । बृहस्पतिः । भिनत् । अद्रिम् । विदत् । गाः ॥११॥

भाषार्थ—(कृशनेभिः) सुवर्णों से (न) जैसे (श्यावम्) शीघ्रगामी (अश्वम्) घोड़े को, [वैसे ही] (पितरः) पालने वाले [ईश्वर नियमों] ने (नक्षत्रेभिः) तारों से (द्याम्) आकाश को (अभि) सब ओर से (अपिंशन्) सजाया है। और (रात्र्याम्) रात्रि में (तमः) अन्धकार को और (अहन्) दिन में (ज्योतिः) प्रकाश को (अदधुः) रक्खा है, [उसी प्रकार] (बृहस्पतिः)

यस्मात् तत्। अत्यन्तस्तुत्यं कर्म (चकार) कृतवान् (यात् , छान्दसो दीर्घः। यत्। यथा (सूर्यामासा) माङ् माने असुन्। मस्यते परिमीयते स्वकलावृद्धिहानिभ्यामिति माश्चन्द्रमाः। सूर्याचन्द्रमसौ (मिथः) परस्परम् (उच्चरातः) उत्तमतया चरतः, गच्छतः ॥

११—(अभि) सर्वतः (श्यावम्) अ० ५। ५। ८। श्यैङ् गतौ-वप्रत्ययः। शीघ्रगामिनम् (न) यथा (कृशनेभिः) कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः। उ० २। ८१। कृश तनूकरणे—क्यु। कृशनैः सुवर्णालङ्कारैः—निघ० १। २ (अश्वम्) तुरङ्गम् (नक्षत्रेभिः) तारागणैः (पितरः) पालकाः परमेश्वरनियमाः (द्याम्) आकाशम् (अपिंशन्) पिश अवयवे दीपनायां च—लङ्। अदीपयन्। अलमकुर्वन् (राज्याम्) निशि (तमः) अन्धकारम् (अदधुः) धारितवन्तः (ज्योतिः)

बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (अद्रिम्) पहाड़ [के समान भारी अज्ञान] को (भिनत्) तोड़ डाला और (गाः) वेद वाणियों को (विदत्) प्राप्त कराया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे नक्षत्र, दिन, रात्रि आदि ईश्वर के अटल नियमों पर चलते हैं, विद्वान् जन दृढ़ चित्त से अज्ञान मिटा कर अचल वेदवाणी को फैलावे ॥ ११ ॥

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति। बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥१२॥

इदम्। अकर्म। नमः। अभ्रियाय। यः। पूर्वीः। अनु। आ-नोनवीति॥ बृहस्पतिः। सः। हि। गोभिः। सः। अश्वैः। सः। वीरेभिः। सः। नृ-भिः। नः। वयः। धात्॥१२॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) नमस्कार (अभ्रियाय) गति में रहने वाले [पुरुषार्थी मनुष्य] को (अकर्म) हम ने किया है, (यः) जो [विद्वान्] (पूर्वीः) पहिली [वेदवाणियों] को (अनु) लगातार (आनोनवीत) सब ओर सराहता रहता है। (सः हि) वही (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेद-विद्या का रक्षक महाविद्वान्] (गोभिः) गौओं के साथ, (सः) वही (अश्वैः)

प्रकाशम् (अहन्) अह्नि। दिने (बृहस्पतिः) महाविद्वान् पुरुषः (भिनत्) अभिनत्। विदारितवान् (अद्रिम्) शैलतुल्यदृढाज्ञानम् (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ्। अन्तर्गतण्यर्थः। अविदत्। प्रापितवान् (गाः) वेदवाणीः ॥

१२—(इदम्) (अकर्म) अकार्ष्म। वयं कृतवन्तः (अभ्रियाय) नन्दि-ग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३।१।१३४। अभ्र गतौ—पचाद्यच्। अभ्रं मेघः—निघ० १।१०। समुद्राभ्राद् घः। पा० ४।४।११८। अभ्र—घप्रत्ययो भवार्थे। अभ्रे गतौ भवाय वर्तमानाय। पुरुषार्थिने (यः) विद्वान् (पूर्वीः) आद्या वेदवाणीः (अनु) निरन्तरम् (आनोनवीति) णु स्तुतौ यङ्लुकि। समन्तात् अत्यर्थं नौति स्तौति (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्या रक्षको महा-विद्वान् (सः) (हि) एव (गोभिः) धेनुभिः (सः)(अश्वैः) तुरङ्गैः (सः)

घोड़ों के साथ, (सः) वही (वीरेभिः) वीरों के साथ, (सः) वही (नृभिः) नेता लोगों के साथ (नः) हमें (वयः) अन्न (धात्) देवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—सब लोग उस महाविद्वान् का सदा सत्कार करें जो सदा वेदवाणियों का गुण गाकर मनुष्यों को सम्पत्तियों, वीरों और पराक्रमियों से युक्त करके पुष्कल अन्न प्राप्त करावें ॥ १२ ॥

सूक्तम् १७ ॥

१—१२ ॥ १—११ इन्द्रः ; १२ इन्द्राबृहस्पती देवते ॥ १, ६ निचृज्जगती; २, ११ त्रिष्टुप्; ३, ६ जगती; ४ विराड् जगती; ५, ७, ८ विराडार्षी जगती; १०, १२ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत। परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥ १

अच्छ । मे । इन्द्रम् । मतयः । स्वः-विदः । सध्रीचीः । विश्वाः । उशतीः । अनूषत ॥ परि । स्वजन्ते । जनयः । यथा । पतिम् । मर्यम् । न । शुन्ध्युम् । मघ-वानम् । ऊतये १

भाषार्थ—(स्वर्विदः) सुख पहुंचाने वाली, (सध्रीचीः) आपस में मिली हुयी, (उशतीः) कामना करती हुयी, (विश्वाः) सब (मे) मेरी (मतयः) बुद्धियों ने (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] को (अच्छ) अच्छे प्रकार से (अनूषत) सराहा है और (ऊतये) रक्षा के लिये [ऐसे, उसे]

(वीरेभिः) वीरैः (सः) (नृभिः) नेतृभिः (नः) अस्मभ्यम् (वयः) वि गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, यद्वा वय गतौ असुन् । अन्नम्—निघ० २ । ७ (धात्) दध्यात् ॥

१—(अच्छ) सुष्ठु (मे) मम (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (मतयः) बुद्धयः (स्वर्विदः) सुखस्य लम्भयित्र्यः (सध्रीचीः) अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, ङीप् । सहाञ्चनाः । परस्परं संगताः (विश्वाः) सर्वाः (उशतीः) कामयमानाः (अनूषत) णु स्तुतौ—लुङ् । आत्मनेपदत्वम् उकारस्य दीर्घत्वं च छान्दसम् । अस्तुवन् (परि) सर्वतः (स्वजन्ते) आलिङ्गन्ति । वेष्टन्ते

(परि स्वजन्ते) सब ओर घेरती हैं, (यथा) जैसे (जनयः) पत्नियां (पतिम्) [अपने अपने] पति को, और (न) जैसे (शुन्ध्युम्) शुद्ध आचार वाले, (मघवानम्) महाधनी (मर्यम्) मनुष्य को [लोग घेरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि धर्मात्मा पराक्रमी मनुष्य का आश्रय लेकर रक्षा करें, जैसे स्त्रियां अपने पतियों का, और सब लोग सदाचारी कमाऊ जन का आश्रय लेते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—११ ऋग्वेद में हैं—१० । ४३ । १—११ ॥

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते २

न । घ । त्वद्रिक् । अप । वेति । मे । मनः । त्वे इति । इत् । कामम् । पुरु-हूत । शिश्रय ॥ राजा-इव । दस्म । नि । सदः । अधि । बर्हिषि । अस्मिन् । सु । सोमे । अव-पानम् । अस्तु । ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत प्रकार से बुलाये गये ! (त्वद्रिक्) तेरी ओर गया हुआ (मे) मेरा (मनः) मन (न घ) न कभी (अप वेति) भटकता है, (त्वे) तुझमें (इत्) ही (कामम्) [अपनी] आशा को (शिश्रय) मैंने ठहराया है। (दस्म) हे दर्शनीय ! (राजा इव) राजा के समान (बर्हिषि)

(जनयः) पत्न्यः (यथा) (पतिम्) स्वस्वभर्तारम् (मर्यम्) मनुष्यम् (न) यथा (शुन्ध्युम्) अ० १३ । २ । २४ । शुन्ध विशुद्धौ—युच् । शुद्धाचारवन्तम् (मघवानम्) महाधनिनम् (ऊतये) रक्षणाय ॥

२—(न घ) न कदापि (त्वद्रिक्) युष्मद् + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये । पा० ६ । ३ । ९२। इति सर्वनाम्नः टेः अद्रि इत्यादेशः । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्य अकारस्य लोपः। त्वां गच्छत् (अप वेति) अपगच्छति (मे) मम (मनः) चित्तम् (त्वे) शे इत्यादेशः। त्वयि (इत्) एव (कामम्) आशाम् (पुरुहूत) हे बहुविधाहूत (शिश्रय) श्रिञ् सेवायाम्—लिट् । अहमाश्रितवान् स्थापितवानस्मि (राजा) (इव)

उत्तम आसन पर (अधि) अधिकार पूर्वक (नि षदः) तू बैठ, और (अस्मिन्) इस (सोमे) ऐश्वर्य में (ते) तेरा (अवपानम्) निश्चित रक्षा कर्म (सु) सुन्दर रीति से (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण पूर्ण राजभक्ति से उचित उपहार देकर धर्मात्मा राजा को प्रसन्न रक्खें ॥ २ ॥

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्वं ईशते ।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः ॥३॥

विषु-वृत् । इन्द्रः । अमतेः । उत । क्षुधः । सः । इत् । रायः । मघ-वा । वस्वः । ईशते ॥ तस्य । इत् । इमे । प्रवणे । सप्त । सिन्धवः । वयः । वर्धन्ति । वृषभस्य । शुष्मिणः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] (अमतेः) कंगाल का (उत) और (क्षुधः) भूख का (विषुवृत्) सर्वथा हटाने वाला है, (सः इत्) वही (मघवा) महाधनी (रायः) धनका और (वस्वः) वस्तु का (ईशते) स्वामी है। (तस्य इत्) उसी हा (वृषभस्य) श्रेष्ठ (शुष्मिणः) महाबली के (प्रवणे) सेवनीय लंबे राज्य में (इमे) यह (सप्त सिन्धवः) बहते हुये सात

(दस्म) इषियुधीन्धिदसि० । उ० ४ । १४५ । दसु उपक्षये, यद्वा, दस दसि दर्शनसन्दशनयोः—मक् । हे दर्शनीय (नि षदः) लेटि रूपम् । निषीद (अधि) अधिकारपूर्वकम् (बर्हिषि) उत्तमासने (अस्मिन्) (सु) सुष्ठु (सोमे) ऐश्वर्ये (अवपानम्) निश्चितरक्षणम् (अस्तु) (ते) तव ॥

३—(विषुवृत्) विषु+वृतु वर्तने—क्विप् । सर्वथा निवर्तयिता (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (अमतेः) अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । अम पीडने—अति । दारिद्र्यस्य (क्षुधः) बुभुक्षायाः (सः) (इत्) एव (रायः) धनस्य (मघवा) महाधनी (वस्वः) वसुनः । वस्तुनः (ईशते) छान्दसः शप् । ईष्टे । ईश्वरो भवति (तस्य) (इत्) (इमे) प्रत्यक्षाः (प्रवणे) वन सम्भक्तौ—अच् । सेवनीये । आयते दीर्घे राज्ये (सप्त) सप्तसंख्याकानि शीर्षण्यानि छिद्राणि । कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—अथर्व० १० । २ । ६ (सिन्धवः) स्यन्दमानानि

समुद्ररूपछेद [हमारे दो कान दो नथने, दो आंखें और एक मुख अथर्व० १०। २। ६] (वयः) अन्न को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—धार्मिक प्रतापी, धनी राजा की सुनीति से प्रजागण जितेन्द्रिय होकर विद्यावृद्धि करके धनवान् और अन्नवान् होवें ॥ ३ ॥

वयो॒ न वृ॒क्षं सु॑पला॒शमास॑द॒न्त्सोमा॑स॒ इन्द्रं॑ म॒न्दिन॑श्चमू॒षदः॑ ।
प्रैषा॒मनी॑कं॒ शव॑सा॒ दवि॑द्युतद्वि॒दत्स्व१॒र्मन॑वे॒ ज्योति॒राये॑म् ॥४

वयः॑ । न । वृ॒क्षम् । सु॒-प॒ला॒शम् । आ । अ॒स॒द॒न् । सोमा॑सः । इन्द्र॑म् । म॒न्दिन॑ः । च॒मू॒-सद॑ः ॥ प्र । ए॒षा॒म् । अनी॑कम् । शव॑सा । दवि॑द्युतत् । वि॒दत् । स्व॑ः । मन॑वे । ज्योति॑ः । आर्य॑म् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वयः न) जैसे पक्षी गण (सुपलाशम्) सुन्दर पत्तों वाले (वृक्षम्) वृक्ष को, [वैसे ही] (मन्दिनः) आनन्द देने वाले, (चमूषदः) सेनाओं में ठहरने वाले (सोमासः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (आ असदन्) आकर प्राप्त हुये हैं। (शवसा) बल के साथ (एषाम्) इन [ऐश्वर्यवानों] के (दविद्युतत्) अत्यन्त चमकते हुये (अनीकम्) सेनादल ने (मनवे) मनुष्य के लिये (आर्यम्) उत्तम (स्वः)

समुद्ररूपाणि च्छिद्राणि (वयः) अन्नम् (वर्धन्ति) वर्धयन्ति (वृषभस्य) श्रेष्ठस्य (शुष्मिणः) महाबलवतः ॥

४—(वयः) पक्षिणः (न) यथा (वृक्षम्) (सुपलाशम्) सुपल्लवितम् (आ) आगत्य (असदन्) प्राप्नुवन् (सोमासः) ऐश्वर्यवन्तः पुरुषाः (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं राजानम् (मन्दिनः) प्रजोरिनिः। पा० ३।२।१५६। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—इनि प्रत्ययो बाहुलकात्। आनन्दयितारः (चमूषदः) चमूषु सेनासु सीदन्ति तिष्ठन्ति ये ते (प्र) प्रकर्षेण (एषाम्) ऐश्वर्यवताम् (अनीकम्) अन प्राणने—ईकन्। सैन्यम् (शवसा) बलेन (दविद्युतत्) दाधर्तिदर्धर्ति०। पा० ७।४।६५। द्युत दीप्तौ—यङ्लुकि शतरि रूपसिद्धिः। भृशं दीप्यमानम् (विदत्) अविदत्। अलभत (स्वः) सुखम (मनवे) मनुष्याय

सुख और (ज्योतिः) तेज को (प्र) अच्छे प्रकार (विदत्) पाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सुन्दर फल पुष्प और छाया वाले वृक्ष पर पक्षी आकर रहते हैं, वैसे ही तीक्ष्ण हथियार वाले धीर वीर लोग महाप्रतापी राजा का आश्रय लेकर प्रजा को सुख देते और प्रकाश का मार्ग खोलते हैं ॥ ४ ॥

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् । न तत् ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन् नोत नूतनः ॥ ५ ॥

कृतम् । न । श्व-घ्नी । वि । चिनोति । देवने । सम्-वर्गम् । यत् । मघ-वा । सूर्यम् । जयत् ॥ न । तत् । ते । अन्यः । अनु । वीर्यम् । शकत् । न । पुराणः । मघ-वन् । न । उत । नूतनः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (श्वघ्नी) धन नाश करने वाला जुआरी (कृतम्) जीते धनको (देवने) जुये में (वि चिनोति) बटोर लेता है, [वैसे ही] (यत्) जब (मघवा) महाधनी [राजा] (सूर्यम्सूर्यस्य) प्रेरणा करने वाले [प्रधान] के (संवर्गम्) रोकने वाले [शत्रु] को (जयत्) जीतता है, (तत्) तब (मघवन्) हे महाधनी ! [राजन्] (अन्यः) कोई दूसरा (ते) तेरे (वीर्यम्) वीरपन को (न) नहीं (अनु शकत्) पा सकता है, (न) न

(ज्योतिः) तेजः (आर्यम्) श्रेष्ठम् ॥

५—(कृतम्) द्यूते प्राप्तं धनम् (न) यथा (श्वघ्नी) स्व+हन हिंसागत्योः—घञर्थे कप्रत्ययः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इनिप्रत्ययः, सकारस्य शः । श्वघ्नी कितवो भवति स्वं पुनराश्रितं भवति—निरु० ५ । २२ । स्वस्य धनस्य नाशकः । कितवः । द्यूतकारकः (वि चिनोति) विविधं संगृह्णाति (देवने) द्यूते (संवर्गम्) वृजी वर्जने—घञ्, कुत्वम् । संवर्जयितारम् (यत्) यदा (मघवा) महाधनी (सूर्यम्) षष्ठ्यर्थे द्वितीया । सूर्यस्य । प्रेरकप्रधानस्य (जयत्) जयति (न) निषेधे (तत्) तदा (ते) तव (अन्यः) इतरः (वीर्यम्) वीरत्वम् (अनु शकत्) अनुकर्त्तुं शक्नोति (न) निषेधे (पुराणः) प्राचीनः

तौ (पुराणः) कोई प्राचीन (उत) और (न) न (नूतनः) कोई नवीन जन ॥५॥

भावार्थ—वीर राजा अनुपम पराक्रम के साथ संग्राम में शत्रुओं को को जीत कर प्रजा का पलन करे ॥ ५ ॥

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥६॥

विशम्-विशम् । मघ-वा । परि । अशायत । जनानाम् । धेनाः । अव-चाकशत् । वृषा ॥ यस्य । अह । शक्रः । सवनेषु । रण्यति । सः । तीव्रैः । सोमैः । सहते । पृतन्यतः ॥६॥

भाषार्थ—(मघवा) महाधनी, (वृषा) बलवान् [सेनापति] (जनानाम्) मनुष्यों की (धेनाः) वाणियों को (अवचाकशत्) ध्यान से देखता हुआ (विशंविशम्) मनुष्य मनुष्य को (परि अशायत) पहुंचा है । (शक्रः) शक्तिमान् [सेनापति] (यस्य अह) जिसके ही (सवनेषु) यज्ञों के बीच (रण्यति) पहुंचता है, (सः) वह [मनुष्य] (तीव्रैः) पौष्टिक (सोमैः) सोमों [ऐश्वर्यों वा महौषधियों के रसों] से (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वाले [शत्रुओं] को (सहते) हराता है ॥ ६ ॥

भावार्थ-चतुर सेनापति समस्त प्रजा की पुकार सुनकर ऐसे ऐसे उत्तम उपाय करे जिससे प्रजागण ऐश्वर्यवान् और बलवान् होकर शत्रुओं को जीतें ६

(मघवन्) हे महाधनिन् (न) निषेधे (उत) अपि च (नूतनः) आधुनिकः ॥

६—(विशंविशम्) मनुष्यं मनुष्यम् (मघवा) महाधनो सेनापतिः (परि अशायत) शीङ् शयने णिचि—लङ् । प्राप्तवान् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (धेनाः) वाणीः—निघ० १ । ११ (अवचाकशत्) अ० ६ । ८० । १ । अव + काशृ दीप्तौ यङ्लुकि शतृ । भृशं पश्यन्—निघ० ३ । ११ (वृषा) महाबली (यस्य) पुरुषस्य (अह) एव (शक्रः) शक्तिमान् (सवनेषु) यज्ञेषु (रण्यति) रण गतौ शब्दे च दिवादिः । गच्छति । प्राप्नोति (सः) मनुष्यः (तीव्रैः) तीव स्थौल्ये-रक् । स्थूलैः । पौष्टिकैः (सोमैः) ऐश्वर्यैः । सदौषधिरसैः (सहते) अभिभवति (पृतन्यतः) पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् ॥

आपो न सिन्धुमभि यत् सुमक्षरुन्त्सोमास इन्द्रं कुल्या इव ह्रदम् । वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

आपः । न । सिन्धुम् । अभि । यत् । सम्-अक्षरन् । सोमासः । इन्द्रम् । कुल्याः-इव । ह्रदम् ॥ वर्धन्ति । विप्राः । महः । अस्य । सदने । यवम् । न । वृष्टिः । दिव्येन । दानुना ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (आपः) नदियां (सिन्धुम् अभि) समुद्र की ओर (इव) जैसे (कुल्याः) नाले (ह्रदम्) झील को [मिल कर बह जाते हैं], वैसे ही (यत्) जब (सोमासः) सोम [ऐश्वर्य] (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] को (समक्षरन्) मिल कर बह आये हैं, [तब] (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (अस्य) इस [शूर] की (महः) बड़ाई को (सदने) समाज के बीच (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, (न) जैसे (यवम्) अन्न को (वृष्टिः) बरसा (दिव्येन) दिव्य आकाश से आये (दानुना) जलदान से [बढ़ाती है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो महाप्रतापी राजा सब प्रकार से ऐश्वर्यवान् हो, विद्वान् लोग उसके गुणों की प्रशंसा कर के उन्नति करें ॥ ७ ॥

वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः । स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

वृषा । न । क्रुद्धः । पतयत् । रजः-सु । आ । यः । अर्य-पत्नीः ।

---

७ (आपः) जलवत्यो नद्यः (न) यथा (सिन्धुम्) समुद्रम् (अभि) प्रति (यत्) यदा (समक्षरन्) मिलित्वा वहन्ति स्म (सोमासः) ऐश्वर्याणि (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं पुरुषम् (कुल्याः) अल्पाः सरितः (इव) (ह्रदम्) जलाशयम् (वर्धति) वर्धयन्ति (विप्राः) मेधाविनः (महः) मह पूजायाम्—असुन् । महत्त्वम् (अस्य) शूरस्य (सदने) समाजे (यवम्) अन्नम् (न) यथा (वृष्टिः) जलवर्षणम् (दिव्येन) दिवि आकाशे भवेन (दानुना) दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । ददातेः—नु । जलदानेन ॥

अकृणोत् । इमाः । अपः ॥ सः । सुन्वते । मघ-वा । जीर-दानवे। अविन्दत् । ज्योतिः । मनवे । हविष्मते ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(क्रुद्धः) क्रुद्ध (वृषा न) बैल के समान, (यः) जो [सेनापति] (रजःसु) देशों में (आ पतयत्) झपट पड़ता है, और [जिस ने] (इमाः) इन (अपः) प्रजाओं को (अर्यपत्नीः) स्वामी से रक्षित (अकृणोत्) किया है। (सः) उस (मघवा) महाधनी [सेनापति] ने (सुन्वते) तत्त्व निचोड़ने वाले, (जीरदानवे) शीघ्रदानी और (हविष्मते) ग्राह्य पदार्थों वाले, (मनवे) मननशील पुरुष के लिये (ज्योतिः) प्रकाश को (अविन्दत्) पाया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—पराक्रमी सेनापति शत्रुओं को यथावत् दण्ड देकर प्रजा की रक्षा करे और राजभक्तों को यथोचित ऊंचा करके प्रतापी बनावे ॥ ८ ॥

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् । वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

उत् । जायताम् । परशुः । ज्योतिषा । सह । भूयाः । ऋतस्य । सु-दुघा । पुराण-वत् ॥ वि । रोचताम् । अरुषः । भानुना । शुचिः । स्वः । न । शुक्रम् । शुशुचीत । सत्-पतिः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(परशुः) फरसा [कुल्हाड़ा] (ज्योतिषा सह) प्रकाश के

८—(वृषा) बलीवर्दः (न) यथा (क्रुद्धः) कुपितः (पतयत्) पतयति पतति शीघ्रं धावति (रजःसु) देशेषु (आ) समन्तात् (यः) सेनापतिः (अर्यपत्नीः) अर्येण स्वामिना पालिताः (अकृणोत्) अकरोत् (इमाः) दृश्यमानाः (अपः) प्राप्ताः प्रजाः (सः) (सुन्वते) तत्त्वस्य निष्पादयित्रे (मघवा) महाधनी (जीरदानवे) अ० ७ । १८ । २ । शीघ्रदानिने (अविन्दत्) अलभत (ज्योतिः) प्रकाशम् (मनवे) मननवते पुरुषाय (हविष्मते) ग्राह्यपदार्थयुक्ताय ॥

९—(उत्) ऊर्ध्वम् (जायताम्) प्रादुर्भवतु (परशुः) कुठारः । वज्रः

साथ (उत् जायताम्) ऊंचा होवे, (ऋतस्य) सत्य की (सुदुघा) अच्छे प्रकार पूर्ण करने हारी [वेदवाणी] (पुराणवत्) पहिले के समान (भूयाः) वर्तमान होवे। (अरुषः) गतिमान्, (शुचिः) शुद्धाचारी, (सत्पतिः) सत्पुरुषों का रक्षक पुरुष (भानुना) अपने प्रकाश से (वि) विविध प्रकार (रोचताम्) प्रिय होवे, और (शुक्रम्) निर्मल (स्वः न) सूर्य के समान (शुशुचीत) चमकता रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब शूर सेनापति अपने उज्ज्वल तीक्ष्ण हथियारों से शत्रुओं को मारकर सत्य की स्थापना करता है, तब वह अपने उपकारों से सूर्य समान प्रतापी होकर सब को प्रिय लगता है ॥ ६ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुःऽएवाम् । यवेन । क्षुधम् । पुरुऽहूत । विश्वाम् ॥ वयम् । राजऽभिः । प्रथमाः । धनानि । अस्माकेन । वृजनेन । जयेम ॥ १० ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये ! [राजन्] (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गति वाली (अमतिम्) कुमति [वा कङ्गाली] को और (यवेन) अन्न से (विश्वाम्) सब (क्षुधम्) भूख को (तरेम) हम हटावें। (वयम्) हम (राजभिः) राजाओं के साथ (प्रथमाः) प्रथम श्रेणी

(ज्योतिषा) प्रकाशेन (सह) ((भूयाः) प्रथमस्य मध्यमपुरुषः। भूयात् (ऋतस्य) सत्यस्य (सुदुघा) दुह प्रपूरणे—कप्, टाप्, हस्य घः। सुष्ठु पूरयित्री वेदवाणी (पुराणवत्) पूर्वं यथा (वि) विविधम् (रोचताम्) रोचकः प्रियो भवतु (अरुषः) अ० ३। ३। २। पॄनहिकलिभ्य उषच्। उ० ४। ७५। ऋ गति-प्रापणयोः—उषच्। गतिशीलः (भानुना) स्वप्रकाशेन (शुचिः) शुद्धाचारी (स्वः) आदित्यः (न) यथा (शुक्रम्) शुक्लम्। निर्मलम् (शुशुचीत) शुच शोके—लिङि शपः श्लुः। दीप्यताम् (सत्पतिः) सत्पुरुषाणां पालकः॥

१०—अयं मन्त्रो भेदेन गतः—ऋ० ७। ५०। ७ (गोभिः) विद्याभिः (तरेम) अभिभवेम (अमतिम्) म० ३। दुर्बुद्धिम्। दारिद्र्यम् (यवेन) अन्नेन (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (विश्वाम्) सर्वाम् (वयम्) (राजभिः)

वाले होकर (धनानि) अनेक धनों को (अस्माकेन) अपने (वृजनेन) बल से (जयेम) जीतें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके विद्याओं द्वारा कुमति और निर्धनता हटाकर भोजन पदार्थ प्राप्त करें और अपने भुजबल से महाधनी होकर राजाओं के साथ प्रथम श्रेणी वाले होवें ॥ १० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऊपर आचुका है— अ० ७ । ५० । ७ । और मन्त्र १०,११ आगे हैं—२० । ८६ । १०,११ तथा २० । ६४ । १०,११ ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः । इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्-तरस्मात् । अधरात् । अघ-योः ॥ इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखि-भ्यः । वरिवः । कृणोतु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े शूरों का रक्षक सेनापति] (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से (उत्तरस्मात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतने वाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरिवः) सेवनीय धन (कृणोतु) करे, (सखा) [जैसे] मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥ ११

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर दुष्टों से प्रजा की सदा रक्षा करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—अ० ७ । ५१ । १, मन्त्र १० की भी टिप्पणी देखो ॥

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।

नृपैः (प्रथमाः) मुख्याः (धनानि) (अस्माकेन) अ० ४ । ३३ । ३ । आस्माकेन । आत्मीयेन (वृजनेन) बलेन (जयेम) जयेन प्राप्नुयाम ॥

११—(वरिवः) अ० २० । ११ । ७ । बहुवरणीयं धनम् । अन्यत् पूर्ववत्—अ० ७ । ५१ । १ ॥

धत्तं र॒यिं स्तु॑व॒ते की॒रये॑ चिद्यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥१२॥
बृह॑स्पते । यु॒वम् । इन्द्रः॑ । च॒ । वस्वः॑ । दि॒व्यस्य॑ । ई॒शा॒थे॒ इ॒ति॑ । उ॒त । पार्थि॑वस्य ॥ ध॒त्तम् । र॒यिम् । स्तु॒व॒ते । की॒रये॑ । चि॒त् । यू॒यम् । पा॒त॒ । स्व॒स्ति-भिः॑ । सदा॑ । नः॒ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य) आकाश के (उत) और (पार्थिवस्य) पृथिवी के (वस्वः) धन के (ईशाथे) स्वामी हो । (स्तुवते) स्तुति करते हुये (कीरये) विद्वान् को (रयिम्) धन (चित्) अवश्य (धत्तम्) तुम दोनों दो, [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों के साथ (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो । १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् मन्त्री और पराक्रमी राजा और सब शूर पुरुष आकाशस्थ वायु वृष्टि आदि, और पृथिवीस्थ अन्न सुवर्ण आदि का सुप्रबन्ध करके प्रजा की रक्षा करें ॥१२ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ९७ । १० और आगे है अथ० २० । ८७ । ७ और चौथा पाद ऊपर आचुका है—२० । १२ । ६ और आगे है–२० । ३७ । ११ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

१२—(बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक विद्वन् (युवम्) युवाम् (इन्द्रः) हे महाप्रतापिन् राजन् (च) (वस्वः) वसुनः । धनस्य (दिव्यस्य) दिवि आकाशे भवस्य (ईशाथे) स्वामिनौ भवथः (उत) अपिच (पार्थिवस्य) पृथिव्यां भवस्य (धत्तम्) दत्तम् (रयिम्) धनम् (स्तुवते) स्तोत्रं कुर्वते (कीरये) कॄगॄशॄपॄ० । उ० ४ । १४३ । कॄ क्षेपे–इप्रत्ययः, दीर्घश्छान्दसः, यद्वा कील बन्धने-इन्, लस्य रः । कीरिः स्तोतृनाम-निघ० ३ । १६ । किरति वाचा प्रेरयति स किरिः तस्मै विदुषे (चित्) अवश्यम् । अन्यद् गतम्—अ० २० । १२ । ६ ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ [सूक्तानि १८-२१ प्रथमः पर्यायः] ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—३ गायत्री; ४, ५ आर्च्युष्णिक्; ६ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।

कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १ ॥

वयम् । ऊं इति । त्वा । तदित्-अर्थाः । इन्द्र । त्वा-यन्तः ।

सखायः ॥ कण्वाः । उक्थेभिः । जरन्ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन्] (तदिदर्थाः) उस तुझ से प्रयोजन रखने वाले [तेरे ही भक्त],(त्वायन्तः] तुझे चाहते हुये, (सखायः) मित्र, (कण्वाः) बुद्धिमान् लोग (वयम्) हम (त्वा) तुझको (उ) ही (उक्थेभिः) अपने वचनों से (जरन्ते = जरामहे) सराहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण धर्मात्मा राजा से कृतज्ञ होकर गुणों का ग्रहण करें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३ ऋग्वेद में हैं-८ । २ । १६-१८ और सामवेद में हैं-उ० १ । २ । तृच ३, तथा मन्त्र १ सामवेद में है-पू० २ । ७ । ३ ॥

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ ।

तवेदु स्तोमं चिकेत ॥ २ ॥

न । घ । ईम् । अन्यत् । आ । पपन । वज्रिन् । अपसः ।

नविष्टौ ॥ तव । इत् । ऊं इति । स्तोमम् । चिकेत ॥ २ ॥

१—(वयम्) प्रजागणाः (उ) एव (त्वा) त्वाम् (तदिदर्थाः) स त्वमेव अर्थः प्रयोजन येषां तादृशाः । तवैव भक्ताः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वायन्तः) त्वामात्मन इच्छन्तः (सखायः) सखिभूताः (कण्वाः) मेधाविनः (उक्थेभिः) कथनीयवचनैः (जरन्ते) उत्तमस्य प्रथमपुरुषः । जरामहे । स्तुमः ॥

भाषार्थ—(वज्रिन्) हे वज्रधारी राजन् ! (नविष्टौ) स्तुति की इच्छा में (अपसः) [तेरे] कर्म से (अन्यत्) दूसरे [कर्म] को (न घ ईम्) कभी भी नहीं (आ पपन) मैं ने सराहा है । (तव इत् उ) तेरे ही (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार को (चिकेत) मैं ने जाना है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण स्तुति योग्य उपकारी कामों में प्रतापी धर्मात्मा राजा से सहायता लेते रहें ॥ २ ॥

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ३ ॥

इच्छन्ति । देवाः । सुन्वन्तम् । न । स्वप्नाय । स्पृहयन्ति ॥
यन्ति । प्र-मादम् । अतन्द्राः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (सुन्वन्तम्) तत्त्व को निचोड़ने वाले को (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) निद्रा को (न) नहीं (स्पृहयन्ति) चाहते हैं, और (अतन्द्राः) निरालसी होकर (प्रमादम्) भूल वाले को (यन्ति) दण्ड देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी विद्वान् पुरुष कर्म कुशल चौकसे लोगों से प्रसन्न रहें और ढिल्लर निकम्मों को दण्ड देवें ॥ ३ ॥

२—(न) निषेधे (घ) अवश्यम् (ईम्) एव (अन्यत्) भिन्नम् (आ) समन्तात् (पपन) पन स्तुतौ—णलि लिटि रूपम् । स्तुतवानस्मि (वज्रिन्) हे वज्रधारिन् (अपसः) कर्मणः सकाशात् (नविष्टौ) णु स्तुतौ—अप् + इष इच्छायाम्—क्तिन् । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । नवस्य स्तुतेः इष्टौ इच्छायाम् (तव) (इत्) एव (उ) अवधारणे (स्तोमम्) स्तुत्यं व्यवहारम् (चिकेत) कित ज्ञाने—लिट् । अहं ज्ञातवानस्मि ॥

३—(इच्छन्ति) कामयन्ते (देवाः) विद्वांसः (सुन्वन्तम्) तत्त्वस्य निष्पादकम् (न) निषेधे (स्वप्नाय) स्पृहेरीप्सितः । पा० १ । ४ । ३६ । इति कर्मणि चतुर्थी । स्वप्नम् । आलस्यम् (स्पृहयन्ति) इच्छन्ति (यन्ति) यम नियमने, अदादित्वं बहुवचनस्यैकवचनत्वं च छान्दसम् । यमयन्ति । नियमयन्ति । दण्डयन्ति (प्रमादम्) अर्श आद्यच् । प्रमादिनम् । अनवधानत्वम् (अतन्द्राः) अनलसाः ॥

वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् ।
विद्धी त्वं१ स्य नो वसो ॥ ४ ॥

वयम् । इन्द्र । त्वा-यवः । अभि । प्र । नोनुमः । वृषन् ॥
विद्धि । तु । अस्य । नः । वसो इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे महाबली ! (इन्द्र) इन्द्र [महाप्रतापी राजन्] (त्वायवः) तुझे चाहते हुये (वयम्) हम (अभि) सब ओर को (प्र) अच्छे प्रकार (नोनुमः) सराहते हैं । (वसो) हे बसाने वाले ! (नः) हमारे (अस्य) इस [कर्म] का (तु) शीघ्र (विद्धि) ज्ञान कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण धर्मात्मा राजा से प्रीति करें, वैसेही राजा भी धार्मिक प्रजा को चाहे ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—७ । ३१ । ४—६ और मन्त्र ४ सामवेद में है— पू० २ । ४ । ८ ॥

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे ।
त्वे अपि क्रतुर्मम ॥ ५ ॥

मा । नः । निदे । च । वक्तवे । अर्यः । रन्धीः । अराव्णे ॥
त्वे इति । अपि । क्रतुः । मम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अर्यः) स्वामी तू (नः) हमको (निदे)

४—(वयम्) (इन्द्र) (त्वायवः) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । युष्मत्+या प्रापणे-कुप्रत्ययः । यद्वा । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । युष्मत्-क्यच्, उप्रत्ययः । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । पा० ७ । २ । ९८ । मपर्यन्तस्य त्वादेश । त्वदित्यत्र तलोपः, अकारदीर्घत्वं च छान्दसम् । त्वां प्राप्ताः । त्वां कामयमानाः (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (नोनुमः) णु स्तुतौ—यङ्लुक् । भृशं स्तुमः (वृषन्) हे बलवन् (विद्धि) ज्ञानं कुरु (तु) शीघ्रम् (अस्य) कर्मणः (नः) अस्माकम् (वसो) हे वासयितः ॥

५—(मा) निषेधे (नः) अस्मान् (निदे) निन्दकाय (च) (वक्तवे) सितनिगमि० । उ० १ । ६९ । वच परिभाषणे—तुन् । परुषभाषिणे । वक्तवा-

निन्दक के, (च) और (वक्तवे) वकवादी (अराव्णे) अदानी पुरुष के (मा रन्धीः) वश में मत कर। (त्वे) तुझ में (अपि) ही (मम) मेरी (क्रतुः) बुद्धि है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा में श्रेष्ठ कर्मों का प्रचार करे और गुणों में दोष लगाने वाले निन्दकों को हटावे ॥ ५ ॥

त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् ।

त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥ ६ ॥

त्वम् । वर्म । असि । स-प्रथः । पुरः-योधः । च । वृत्र-हन् ॥

त्वया । प्रति । ब्रुवे । युजा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे दुष्टनाशक ! (त्वम्) तू (सप्रथः) चौड़े (वर्म) कवच [के समान] (च) और (पुरोयुधः) सामने से युद्ध करने वाला (असि) है। (त्वया युजा) तुझ मिलनसार के साथ [बैरियों को] (प्रति ब्रुवे) मैं ललकारता हूं ॥ ६॥

भावार्थ—धर्मात्मा वीर राजा के साथ होकर प्रजागण शत्रुओं को मारें६॥

सूक्तम् १९ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३, ७ निचृद् गायत्री; २, ४—६ गायत्री ॥

राजप्रजागुणोपदेशः—राजा और प्रजा के गुणों का उपदेश ॥

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च । इन्द्र त्वा वर्तयामसि॥१॥

वार्त्र-हत्याय । शवसे । पृतना-सह्याय । च ॥ इन्द्र । त्वा । आ । वर्तयामसि ॥ १ ॥

दिने (अर्यः) स्वामी त्वम् (मा रन्धीः) रध हिंसापाकयोः—लुङ्। रधिजभोरचि। पा० ७।१।६१। इति नुमागमः। रध्यतिर्वशगमनेऽपि—निरु० १०। ४०। मा नाशय। मा वशीकुरु (अराव्णे) रा दाने—वनिप्। अदानिने (त्वे) त्वयि (अपि) एव (क्रतुः) प्रज्ञा (मम) ॥

६—(त्वम्) (वर्म) कवचमिव (असि) (सप्रथः) सविस्तारम् (पुरोयुधः) अग्रतो योद्धा (च) (वृत्रहन्) हे दुष्टनाशक (त्वया) (प्रति ब्रुवे) प्रत्यक्षं प्रतिकूलं वा कथयामि भर्त्सयामि (युजा) संगन्त्रा। मित्रेण ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले सेनापति] (वार्त्रहत्याय) बैरियों के मारने वाले (च) और (पृतनाषाह्याय) सङ्ग्राम में हराने वाले (शवसे) बल के लिये (त्वा) तुझ को (आ वर्तयामसि) हम अपनी ओर घुमाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति सेनाजनों को उत्साही करके शत्रुओं को जीते ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ३७ । १—७ और मन्त्र १ यजुर्वेद में है—१८ । ६८ ॥

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो ।
इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥ २ ॥

अर्वाचीनम् । सु । ते । मनः । उत । चक्षुः । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ इन्द्र । कृण्वन्तु । वाघतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवान् राजन्] (वाघतः) निबाहने वाले बुद्धिमान् लोग (ते) तेरे (मनः) मन (उत) और (चक्षुः) नेत्र को (अर्वाचीनम्) हमारी ओर आने वाला (सु) आदर के साथ (कृण्वन्तु) करें ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् लोग चतुर पुरुषार्थी राजा को प्रजा पालन आदि शुभ गुणों में प्रवृत्त करते रहें ॥ २ ॥

१—(वार्त्रहत्याय) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इत्यण् । शत्रुहनननिमित्ताय (शवसे) बलाय (पृतनाषाह्याय) शकिसहोश्च । पा० ३ । १ । ९९ । षह अभिभवे—यत्, षत्वं दीर्घत्वं च । सङ्ग्रामे पराभवसमर्थाय (च) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (त्वा) त्वाम् (आ वर्तयामसि) आवर्तयामः । अभिमुखं कुर्मः ॥

२—(अर्वाचीनम्) अस्मदभिमुखीगतम् (सु) पूजायाम् (ते) तव (मनः) चित्तम् (उत) अपि च (चक्षुः) नेत्रम् (शतक्रतो) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम ३ । ९ । हे बहुकर्मन् । हे बहुप्रज्ञ (इन्द्र) (कृण्वन्तु) कुर्वन्तु (वाघतः) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । वह प्रापणे—अतिप्रत्ययः, उपधावृद्धिर्हस्य घः । निर्वाहकाः । मेधाविनः—निघ० ३ । १५ ॥

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे ।
इन्द्राभिमातिषाह्ये ॥ ३ ॥
नामानि । ते । शतक्रतो इति शत-क्रतो । विश्वाभिः । गीः-भिः । ईमहे ॥ इन्द्र । अभिमाति-सह्ये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवाले राजन्] (ते) तेरे (नामानि) नामों को (विश्वाभिः) सम्पूर्ण (गीर्भिः) स्तुतियों के साथ (अभिमातिषाह्ये) अभिमानी शत्रुओं के हराने में (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा अपने गुणों से नरपति अर्थात् मनुष्यों का पालने वाला, और भूपाल अर्थात् भूमि की रक्षा करने वाला इत्यादि नामों वाला होवे, वही शत्रुओं पर विजय पाता है ॥ ३ ॥

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि ।
इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥ ४ ॥
पुरु-स्तुतस्य । धाम-भिः । शतेन । महयामसि ॥
इन्द्रस्य । चर्षणि-धृतः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शतेन) असंख्य (धामभिः) प्रभावों से (पुरुष्टुतस्य) बहुतों करके बड़ाई किये गये और (चर्षणिधृतः) मनुष्यों के पोषण करने वाले (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (महयामसि) हम सत्कार करते हैं ॥ ४ ॥

३—(नामानि) नरपतिभूपालादिसंज्ञाः (ते) तव (शतक्रतो) बहुकर्मन् ! बहुप्रज्ञ (विश्वाभिः) सर्वाभिः (गीर्भिः) स्तुतयो गिरो गृणातेः—निरु० १ । १० । स्तुतिभिः (ईमहे) याचामहे (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (अभिमातिषाह्ये) अभिमातीनाम् , अभिमानिनां शत्रूणां सह्ये सहने पराजये ॥

४—(पुरुष्टुतस्य) बहुभिः स्तुतस्य (धामभिः) धारणसामर्थ्यैः । प्रभावैः (शतेन) असंख्यैः (महयामसि) पूजनं सत्कारं कुर्मः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो राज्ञः (चर्षणिधृतः) चर्षणीनां मनुष्याणां धारकस्य पोषकस्य ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा परस्पर उन्नति करके सुख बढ़ावें ॥ ४ ॥

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे । भरेषु वाजसातये ॥ ५ ॥

इन्द्रम् । वृत्राय । हन्तवे । पुरु-हूतम् । उप । ब्रुवे ॥ भरेषु । वाज-सातये ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूतम्) बहुतों से पुकारे गये (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले राजा] को (वृत्राय हन्तवे) शत्रु के मारने के लिये (भरेषु) संग्रामों में (वाजसातये) धनों के पाने को (उप) समीप में (ब्रुवे) मैं कहता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सङ्ग्राम प्रवृत्त होने पर सब योधा लोग और सेनाध्यक्ष पुरुष प्रयत्न करें कि शत्रुओं को हराकर सब प्रकार विजय होवे ॥ ५ ॥

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो ।
इन्द्र वृत्राय हन्तवे ॥ ६ ॥

वाजेषु । ससहिः । भव । त्वाम् । ईमहे । शतक्रतो इति शतक्रतो ॥ इन्द्र । वृत्राय । हन्तवे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] तू (वाजेषु) सङ्ग्रामों में (ससहिः) विजयी (भव) हो, (त्वा) तुझ से (वृत्राय हन्तवे) शत्रु को मारने के लिये (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब योधाजन प्रधान सेनापति की आज्ञा से अपने अपने पद पर स्थिर रहकर शत्रुओं को जीतें ॥ ६ ॥

५—(इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं राजानम् (वृत्राय) वृत्रं शत्रुम् (हन्तवे) तवेन् प्रत्ययः । हन्तुम् (पुरुहूतम्) बहुभिराहूतम् (उप) समीपे (ब्रुवे) कथयामि (भरेषु) सङ्ग्रामेषु (वाजसातये) धनानां लाभाय ॥

६—(वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (ससहिः) षह अभिभवे-किप्रत्ययः । अभिभविता । विजयी (भव) (त्वाम्) (ईमहे) प्रार्थयामहे (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् । बहुप्रज्ञ (इन्द्र) (वृत्राय) शत्रुम् (हन्तवे) म० ५ । हन्तुम् ॥

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च ।
इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ॥ ७ ॥

द्युम्नेषु । पृतनाज्ये । पृत्सुतूर्षु । श्रवः-सु । च ॥ इन्द्र । साक्ष्व । अभि-मातिषु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (पृतनाज्ये) सेनाओं के चलने स्थान रणक्षेत्र में (पृत्सुतूर्षु) सेनाओं में मारने वाले शूरों के बीच, (द्युम्नेषु) चमकने वाले धनों के बीच (च) और (श्रवःसु) कीर्तियों के बीच (अभिमातिषु) अभिमानी बैरियों पर (साक्ष्व) जय पा ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रतापी सेनापति सङ्ग्राम जीतकर शूर योधाओं समेत बहुत साधन और यश प्राप्त करके विजय की घोषणा करे ॥ ७ ॥

सूक्तम् २० ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—३,५, ६ गायत्री ; ४ अनुष्टुप् ; ७ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् ।
इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ १ ॥

शुष्मिन्-तमम् । नः । ऊतये । द्युम्निनम् । पाहि । जागृविम् ॥ इन्द्र । सोमम् । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ १ ॥

७—(द्युम्नेषु) द्योतमानेषु धनेषु (पृतनाज्ये) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । पृतना+अज गतिक्षेपणयोः—यक्प्रत्ययः । पृतनानां सेनानाम्, अजनं गमनं यत्र । रणक्षेत्रे (पृत्सुतूर्षु) तुर हिंसायाम्—क्विप् । मांसपृतनासानूनां मांस्पृत्स्नवो वाच्याः । वा० पा० ६ । १ । ६३ । इति पृतना शब्दस्य पृत्, अलुक् समासः । पृत्सु पृतनासु सेनासु तूर्षु हिंसकेषु शूरेषु (श्रवःसु) कीर्तिषु (च) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (साक्ष्व) षह मर्षणे—लोट्, शपो लुक्, ढत्वकुत्वे, छान्दसो दीर्घः । सहस्व । अभिभव । विजय (अभिमातिषु) अभिमानिषु । शत्रुषु ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (शुष्मिन्तमम्) अत्यन्त बलवान्, (द्युम्निनम्) अत्यन्त धनी वा यशस्वी और (जागृविम्) जागने वाले [चौकस] पुरुष की और (सोमम्) ऐश्वर्य की (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा धर्मात्मा शूर वीरों की और सबके ऐश्वर्य की यथावत् रक्षा करके प्रजा का पालन करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—४ ऋग्वेद में हैं—३ । ३७ । ८—११ और पूरा सूक्त आगे है—अथर्व० २० । ५७ । ४—१० ॥

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि । शतक्रतो इति शत-क्रतो । या । ते । जनेषु । पञ्च-सु ॥ इन्द्र । तानि । ते । आ । वृणे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (या) जो (ते) तेरे (इन्द्रियाणि) इन्द्र [ऐश्वर्यवान्] के चिह्न धनादि (पञ्चसु जनेषु) पञ्च [मुख्य] लोगों में हैं । (ते) तेरे (तानि) उन [चिह्नों] को (आ) सब प्रकार (वृणे) मैं स्वीकार करता हूं ॥२॥

१—(शुष्मिन्तमम्) नाद्घस्य । पा० ८ । २ । १७ । इति नुडागमः । अतिशयेन बलवन्तम् (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षायै (द्युम्निनम्) धनिनम् । यशस्विनम् (पाहि) (जागृविम्) जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् । उ० ४ । ५४ । जागृ निद्राक्षये—क्विन् । जागरूकम् । सावधानम् (इन्द्र) (सोमम्) ऐश्वर्यम् (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् । बहुप्रज्ञ ॥

२—(इन्द्रियाणि) इन्द्रियं धननाम—निघ० २ । १० । इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य लिङ्गानि धनादीनि (शतक्रतो) म० १ (या) यानि (ते) तव (जनेषु) पुरुषेषु (पञ्चसु) पचि व्यक्तीकरणे—कनिन् । प्रधानेषु (इन्द्र) (तानि) लिङ्गानि (ते) तव (आ) समन्तात् (वृणे) स्वीकरोमि ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् धार्मिक राजा बड़े बड़े अधिकारियों का आदर करके प्रजा की रक्षा करे ॥ २ ॥

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् ।

उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥ ३ ॥

अगन् । इन्द्र । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् । दधिष्व । दुस्तरम् ॥

उत् । ते । शुष्मम् । तिरामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (बृहत्) बड़ा (श्रवः) अन्न [हमको] (अगन्) प्राप्त हुआ है, (दुस्तरम्) दुस्तर [अजेय] (द्युम्नम्) चमकने वाले यश को (दधिष्व) तू धारण कर । (ते) तेरे (शुष्मम्) बल को (उत् तिरामसि) हम बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राजा के कारण बहुत अन्न आदि पदार्थ मिलें, प्रजागण उसके बल बढ़ाने में सदा प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।

उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ४ ॥

अर्वा-वतः । नः । आ । गहि । अथो इति । शक्र । पराऽवतः ॥

ऊं इति । लोकः । यः । ते । अद्रि-वः । इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शक्र) हे समर्थ ! (अर्वावतः) समीप से (अथो) और

३—(अगन्) अ० २ । ६ । ३ । गमेर्लुङि छान्दसं रूपम् । अगमत् । प्राप्नोत्—अस्मानिति शेषः (श्रवः) अन्नम् (बृहत्) महत् (द्युम्नम्) धापूवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । द्युत दीप्तौ—नप्रत्ययः, तकारस्य मः । द्युम्नं द्योतते यशो वाऽन्नं वा—निरु० ५ । ५ । द्योतमानं यशः (दधिष्व) धर (दुस्तरम्) दुःखेन तरणीयं जेयम् (ते) तव (शुष्मम्) बलम् (उत् तिरामसि) प्रवर्धयामः ॥

४—(अर्वावतः) समीपात् (नः) अस्मान् (आ गहि) आगच्छ । प्राप्नुहि (अथो) अपि च (शक्र) हे शक्तिमन् (परावतः) दूरात् (उ) चार्थे (लोकः)

(परावतः) दूर से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो, (अद्रिवः) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (उ) और (यः) जो (ते) तेरा (लोकः) स्थान है, (ततः) वहां से (इह) यहां पर (आ गहि) तू आ ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा अधिकारियों द्वारा समीप और दूर से प्रजा की सुधि रक्खे और उन को आप भी जाकर देखा करे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० २० । ६ । ८ ।

इन्द्रो॑ अ॒ङ्ग म॒हद् भ॒यम॒भी षदप॑ चुच्यवत् ।

स हि स्थि॒रो विच॑र्षणिः ॥ ५ ॥

इन्द्रः॑ । अ॒ङ्ग । म॒हत् । भ॒यम् । अ॒भि । सत् । अप॑ । चु॒च्य॒व॒त् ॥

सः । हि । स्थि॒रः । वि-च॑र्षणिः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे विद्वान् ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] ने (महत्) बड़े और (अभि) सब ओर से (सत्) वर्तमान (भयम्) भय को (अप चुच्यवत्) हटा दिया है । (सः हि) वही (स्थिरः) दृढ़ और (विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा दृढ़स्वभाव और सावधान रहकर दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ॥ ५ ॥

मन्त्र ५—७ ऋग्वेद में हैं—२ । ४१ । १०—१२ और मन्त्र ५ सामवेद में हैं—पू० ३ । १ । ७ ॥

स्थानम् (यः) (ते) तव (अद्रिवः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् । उ० ४ । ६५ । अद भक्षणे—क्रिन् । मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । इति रुत्वम् । अद्रिवः=अद्रिवन्, अद्रिरादृणात्येनेनापि वात्तेः स्यात्—निरु० ४ । ४ । अत्ति शत्रून् भक्षयतीति, अद्रिर्वज्रस्तद्वन् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (इह) अत्र (ततः) तस्मात् स्थानात्(आ गहि) आगच्छ ॥

५—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (अङ्ग) सम्बोधने (महत्) अधिकम् (अभि) सर्वतः (सत्) अस भुवि—शतृ । भवत् । वर्तमानम् (अप) दूरे (चुच्यवत्) च्युङ् गतौ—लुङि णिलोपे, उपधाह्रस्वत्वम् , अडभावः । अपसारितवान् (सः) (हि) एव (स्थिरः) दृढः (विचर्षणिः) विशेषेण द्रष्टा—निघ० ३ । ११ ॥

इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ६ ॥

इन्द्रः । च । मृलयाति । नः । न । नः । पश्चात् । अघम् ।
नशत् ॥ भद्रम् । भवाति । नः । पुरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (च) निश्चय करके (नः) हमें (मृलयाति) सुखी करे, (अघम्) पाप (नः) हमको (पश्चात्) पीछे (न) न (नशत्) नाश करे । (भद्रम्) कल्याण (नः) हमारे लिये (पुरस्तात्) आगे (भवाति) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि धर्मात्मा राजा के प्रबन्ध में रहकर पापों से बचकर सुख भोगें ॥ ६ ॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ ७ ॥

इन्द्रः । आशाभ्यः । परि । सर्वाभ्यः । अभयम् । करत् ॥
जेता । शत्रून् । वि-चर्षणिः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (सर्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) आशाओं [गहरी इच्छाओं] के लिये (अभयम्) अभय (परि) सब ओर से (करत्) करे । वह (शत्रून् जेता) शत्रुओं को जीतने वाला और

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (च) अवधारणे (मृलयाति) डस्य लः । मृडयाति सुखयेत् (नः) अस्मान् (न) निषेधे (नः) अस्मान् (पश्चात्) पश्चात् काले (अघम्) पापम् (नशत्) नाशयेत् (भद्रम्) कल्याणम् (भवाति) भूयात् (नः) अस्मभ्यम् (पुरः) पुरस्तात् (अग्रे) ॥

७—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (आशाभ्यः) अभिलाषाणां सिद्धये (परि) सर्वतः (सर्वाभ्यः) (अभयम्) भयराहित्यम् (करत्) कुर्यात् (जेता) न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । पा० २।३। ६९ । इति तृन्नन्तत्वात् षष्ठ्यभावः ।

(विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा अपने न्याययुक्त प्रबन्ध से विघ्नों को हटाकर प्रजा की उन्नति की गहरी इच्छाओं को पूरा करे ॥ ७ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ निचृज्जगती; २ भुरिग् जगती; ४ जगती; ५—७ विराडार्षी जगती; ८ त्रिष्टुप्; ९ आर्षी त्रिष्टुप्; १० भुरिक् त्रिष्टुप्; ११ सतः पङ्क्तिः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

न्यू३॒षु वाचं॒ प्र म॒हे भ॑रामहे॒ गिर॒ इन्द्रा॑य॒ सद॑ने वि॒वस्व॑तः। नू चि॒द्धि रत्नं॑ सस॒तामि॒वावि॑द॒न्न दु॑ष्टु॒तिर्द्र॑विणो॒देषु॑ शस्यते ॥१॥

नि । ऊं॒ इति॑ । सु । वाच॑म् । प्र । म॒हे । भ॒रा॒म॒हे॒ । गिरः॑ । इन्द्रा॑य । सद॑ने । वि॒वस्व॑तः ॥ नु । चि॒त् । हि । रत्न॑म् । स॒स॒ताम्-इ॑व । अवि॑दत् । न । दुः-स्तु॒तिः । द्र॒वि॒णः-दे॑षु । श॒स्य॒ते॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(महे) पूजनीय (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिये (सु) सुन्दर लक्षण वाली (वाचम्) वाणी और (गिरः) स्तुतियों को (विवस्वतः) विविध निवास वाले [धनी पुरुष] के (सदने) घर पर (नि उ) निश्चय करके ही (प्र भरामहे) हम धारण करते हैं । (हि) क्योंकि (ससताम्)

विजयन् (शत्रून्) (विचर्षणिः) म० ५ । विशेषद्रष्टा ॥

१—(नि) निश्चयेन (उ) एव (सु) शोभनाम् (वाचम्) वाणीम् (प्र) प्रकर्षेण (महे) महते । पूजनीयाय (भरामहे) धरामहे (गिरः) स्तुतीः निरु० १ । १० (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (सदने) गृहे (विवस्वतः) अ० २० । ११ । ७ । बहुनिवासयुक्तस्य धनिनः पुरुषस्य (नु) शीघ्रम् (चित्) निश्चयेन (हि) यस्मात् कारणात् (रत्नम्) रमणीयं सुवर्णादिधनम् (ससताम्) स्वपतां पुरुषाणाम् (इव) अवधारणे (अविदत्) अलभत स चोरादिकः

सोते हुये मनुष्यों के (इव) ही (रत्नम्) रत्न [रमणीय धन] को (नु) शीघ्र (चित्) निश्चय करके (अविदत्) उस[चोर आदि]ने ले लिया है,(द्रविणोदेषु) धन देनेवाले पुरुषों में (दुष्टुतिः) दुष्ट स्तुति (न शस्यते) श्रेष्ठ नहीं होती है ॥१॥

भावार्थ—धर्मात्मा लोगों की स्तुति बड़े लोगों में होती है, आलसी निकम्मों के धन को चोर आदि ले जाते हैं, विद्वानों को श्रेष्ठों की बड़ाई ही सदा करनी चाहिये ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त ऋग्वेद में है—१ । ५३ । १—११ ॥

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः । शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि ॥ २ ॥

दुरः । अश्वस्य । दुरः । इन्द्र । गोः । असि । दुरः । यवस्य । वसुनः । इनः । पतिः ॥ शिक्षा-नरः । प्र-दिवः । अकाम-कर्शनः । सखा । सखि-भ्यः । तम् । इदम् । गृणीमसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] तू (अश्वस्य) घोड़े का (दुरः) देने वाला, (गोः) गौ [वा भूमि] का (दुरः) देनेवाला, (यवस्य) अन्न का (दुरः) देनेवाला, (वसुनः) धन का (इनः) स्वामी और (पतिः) रक्षक, (प्रदिवः) उत्तम व्यवहार को (शिक्षानरः) शिक्षा पहुंचाने वाला,

---

(न) निषेधे (दुष्टुतिः) दुः स्तुतिः । दुष्टा स्तुतिः । असमीचीना प्रशंसा (द्रविणोदेषु) अ० २० । २ । ४ । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । द्रु गतौ—इनन्+ददातेः—कप्रत्ययः, पूर्वपदस्य सकार उपजनः । द्रविणं धननाम-निघ० २ । १० । धनदातृषु (शस्यते) प्रशस्ता भवति ॥

२—(दुरः) मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । ड दाञ् दाने—उरच्, कित्वादाकारलोपः । दाता (अश्वस्य) तुरङ्गस्य (दुरः) (गोः) गवादिपशोः पृथिव्या वा (असि) (दुरः) (यवस्य) अन्नस्य (वसुनः) धनस्य (इनः) इणसिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् । उ० ३ । २ । इण गतौ–नक्प्रत्ययः । इन ईश्वरनाम—निघ० २ । २२ । स्वामी (पतिः) रक्षकः (शिक्षानरः) नॄ नये-अच् । शिक्षाप्रापकः । विद्यादाता (प्रदिवः) दिवु व्यवहारे—क्विप् । प्रकृष्टव्यवहारस्य । प्र दिवः

(अकामकर्शनः) अकामियों [आलसियों] का दुबला करने वाला, और (सखिभ्यः) मित्रों के लिये (सखा) मित्र (असि) है, (तम्) उस तुझ को (इदम्) यह [वचन] (गृणीमसि) हम बोलते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा का कर्तव्य है कि प्रजा को उत्तम शिक्षा द्वारा उद्यमी बनाकर सब प्रकार सुखी रक्खे और आलसी दुष्टों को दण्ड देता रहे ॥ २ ॥

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु ।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुःकामंमूनयीः॥३

शची-वः । इन्द्र । पुरु-कृत् । द्युमत्-तम । तव । इत् । इदम् । अभितः । चेकिते । वसु ॥ अतः । सम्-गृभ्य । अभि-भूते । आ । भर । मा । त्वा-यतः । जरितुः । कामम् । ऊनयीः ॥३

भाषार्थ—(शचीवः) हे उत्तम बुद्धि वाले, (पुरुकृत्) बहुत कर्मों वाले, (द्युमत्तम) अत्यन्त प्रकाश वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (तव इत्) तेरा ही (इदम्) यह (वसु) धन (अभितः) सब ओर से (चेकिते) जाना गया है। (अतः) इस कारण से, (अभिभूते) हे विजयी ! (संगृभ्य) संग्रह करके (आ भर) तू लाकर भर, (त्वायतः) तेरी चाह करते

पुराणनाम-निघ० ३ । २७ (अकामकर्शनः) कृश तनूकरणे—ल्युः । योऽकामान् अलसान् कृशति तनूकरोतीति सः । अलसानां दुर्बलीकर्ता (सखा) सुहृत् (सखिभ्यः) सुहृदामर्थम् (तम्) तादृशं त्वाम् (इदम्) वचनम् (गृणीमसि) गॄ शब्दे। उच्चारयामः ॥

३—(शचीवः) शची-मतुप् । छन्दसीरः । पा० ८ । २ । १५ । मतुपो मस्य वः । मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । इति रुत्वम् । शची कर्मनाम-निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ९ । हे प्रशस्तप्रज्ञावन् (इन्द्र) परमैश्वर्य-वन् राजन् (पुरुकृत) पुरूणां बहूनां कर्मणां कर्तः (द्युमत्तम) अतिशयेन प्रकाश-युक्त (तव) (इदम्) उपस्थितम् (अभि) सर्वतः (चेकिते) कित ज्ञाने—लिट् । ज्ञातं वर्तते (वसु) धनम् (अतः) अस्मात् कारणात् (संगृभ्य) संगृह्य (अभिभूते) हे अभिभवितः ! विजयिन् (आ) आनीय (भर) धर (मा) निषेधे

हुये (जरितुः) स्तुति करने वाले की (कामम्) आशा को (मा ऊनयीः) मत घटा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा राज्य के सब पदार्थों पर दृष्टि रखकर और उनका सुप्रयोग करके प्रजा की इष्ट सिद्धि करता है, वही प्रशंसनीय होता है ॥ ३ ॥

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना । इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥ ४ ॥

एभिः । द्यु-भिः । सु-मनाः । एभिः । इन्दु-भिः । नि-रुन्धानः । अमतिम् । गोभिः । अश्विना ॥ इन्द्रेण । दस्युम् । दरयन्तः । इन्दु-भिः । युत-द्वेषसः । सम् । इषा । रभेमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एभिः) इन (द्युभिः) तेजों से और (एभिः) इन (इन्दुभिः) ऐश्वर्यों से (सुमनाः) प्रसन्न मन वाला , और (गोभिः) गौओं से और (अश्विना) घोड़ों से (अमतिम्) दरिद्रता को (निरुन्धानः) रोकने वाला, वह है। (इन्द्रेण) उस इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के साथ (इन्दुभिः) ऐश्वर्यों के द्वारा (दस्युम्) डाकू को (दरयन्तः) दूर डालने वाले और (युतद्वेषसः) द्वेष से अलग रहने वाले हम (इषा) अन्न के साथ (सं रभेमहि)

(त्वायतः) त्वां कामयमानस्य (जरितुः) स्तोतुः (कामम्) अभिलाषम् (ऊनयीः) ऊन परिहाणे—लुङ्। ऊनयेः ॥

४–(एभिः) प्रत्यक्षैः (द्युभिः) तेजोभिः (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (एभिः) (इन्दुभिः) ऐश्वर्यैः (निरुन्धानः) रुधिर् आवरणे—शानच् । निवर्तयन् (अमतिम्) पीडकम् । दारिद्र्यम् (गोभिः) धेनुभिः (अश्विना) अश्व–इनि । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । तृतीयाबहुवचनस्य आकारः । अश्वो मार्गव्याप्तिर्यस्यास्तीति अश्वी, यद्वा स्वार्थे इनिः । अश्वैः । तुरङ्गैः (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता राज्ञा (दस्युम्) बलात्कारेण परस्वहर्तारम् (दरयन्तः) विदारयन्तः । नाशयन्तः (इन्दुभिः) ऐश्वर्यैर्द्वारा (युतद्वेषसः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्त । युतानि पृथग्भूतानि द्वेषांसि शत्रुकर्माणि येषां ते (इषा) अन्नेन (सं रभेमहि) सं-

संयुक्त होवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेजस्वी, परम ऐश्वर्यवान्, न्यायकारी राजा की सुनीति से दुराचारियों का नाश होकर प्रजा के धन धान्य की बढ़ती होती है ॥ ४ ॥

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः। सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥५

सम् । इन्द्र । राया । सम् । इषा । रभेमहि । सम् । वाजेभिः। पुरु-चन्द्रैः । अभिद्यु-भिः ॥ सम् । देव्या । प्र-मत्या । वीर-शुष्मया । गो-अग्रया । अश्व-वत्या । रभेमहि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा वा परमात्मा] हम (राया) सम्पत्ति से (सम्) संयुक्त, (इषा) अन्न से (सम्) संयुक्त, और (पुरुश्चन्द्रैः) बहुत सुवर्ण आदि वाले तथा (अभिद्युभिः) सब ओर से व्यवहार वाले (वाजेभिः) विज्ञानों [वा बलों] से (सं रभेमहि) संयुक्त होवें । और (देव्या) दिव्य गुण वाली, (वीरशुष्मया) वीरों को बल देने वाली, (गोअग्रया) श्रेष्ठ गौओं वा देशों वाली और (अश्ववत्या) वेग युक्त घोड़ों वाली (प्रमत्या) उत्तम बुद्धि से (सं रभेमहि) हम संयुक्त होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति और न्यायी राजा की सुनीति से अनेक प्रकार विज्ञानी और बलवान् होकर श्रेष्ठ बुद्धि के साथ उन्नति करते रहें ॥ ५ ॥

रब्धाः संगता भवेम ॥

५—(सम्) सम्भूय (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् परमात्मन् वा (राया) सम्पत्त्या (इषा) अन्नेन (सं रभेमहि) संगता भवेम (सम्) (वाजेभिः) विज्ञानैः । बलैः (पुरुश्चन्द्रैः) चन्द्रं हिरण्यनाम-निघ०१। २ । बहुसुवर्णादियुक्तैः (अभिद्युभिः) सर्वतो व्यवहारोपेतैः (सम्) (देव्या) दिव्यगुणवत्या (प्रमत्या) प्रकृष्टबुद्ध्या (वीरशुष्मया) वीरेभ्यः शुष्मं बलं यस्याः सकाशात् तया (गोअग्रया) सर्वत्र विभाषा गोः । पा० ६ । १ । १२२ । इति प्रकृतिभावः । गावो धेनवः पृथिवीदेशा वाऽग्रा श्रेष्ठा यस्यां तया (अश्ववत्या) वेगयुक्ततुरङ्गवत्या (सं रभेमहि) ॥

ते त्वा मदा॑ अमदन् तानि॒ वृष्ण्या॒ ते सोमा॑सो वृत्र॒हत्ये॑षु सत्पते । यत् का॒रवे॒ दश॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ब॒र्हिष्म॑ते॒ नि स॒हस्रा॑णि ब॒र्हयः॑ ॥ ६ ॥

ते । त्वा॒ । मदाः॑ । अ॒म॒द॒न् । तानि॑ । वृष्ण्या॑ । ते । सोमा॑सः । वृ॒त्र॒-हत्ये॑षु । स॒त्-प॒ते॒ ॥ यत् । का॒रवे॑ । दश॑ । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्र॒ति । ब॒र्हिष्म॑ते । नि । स॒हस्रा॑णि । ब॒र्हयः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सत्पते) हे सत्पुरुषों के रक्षक ! [सेनापति] (ते) उन (मदाः) आनन्द देने वाले शूरों ने, (तानि) उन (वृष्ण्या) वीरों के योग्य कर्मों ने और (ते) उन (सोमासः) ऐश्वर्यों ने (वृत्रहत्येषु) बैरियों के मारने वाले संग्रामों में (त्वा) तुझ को (अमदन्) प्रसन्न किया है, (यत्) जब (बर्हिष्मते) विज्ञानी (कारवे) कर्म कर्ता के लिये (दश सहस्राणि) दस सहस्र [असंख्य] (वृत्राणि) शत्रुदलों को (अप्रति) बिना रोक (नि बर्हयः) तू ने मार डाला है ॥ ६ ॥

भावार्थ—धार्मिक राजा सज्जनों की रक्षा के लिये दुष्टों का नाश करके आनन्द के साथ वैभव बढ़ावे । ६ ॥

यु॒धा यु॒धमुप॒ घेदे॑षि धृष्णु॒या पु॒रा पुरं॒ समि॒दं हं॒स्योज॑सा । नम्या॒ यदि॑न्द्र॒ सख्या॑ परा॒वति॑ निब॒र्हयो॒ नमु॑चिं॒ नाम॑ मा॒यिन॑म् ॥७

६—(ते) प्रसिद्धाः (त्वा) त्वाम् (मदाः) आनन्दयितारः शूराः (अमदन्) हर्षितवन्तः (तानि) प्रसिद्धानि (वृष्ण्या) वृषन्–यत् । शेर्लोपः । वृष्णः इन्द्रस्य वीरस्य योग्यानि कर्माणि (ते) प्रसिद्धाः (सोमासः) ऐश्वर्याणि (वृत्रहत्येषु) वृत्राणां शत्रूणां हत्या हननं येषु तेषु संग्रामेषु (सत्पते) हे सत्पुरुषाणां रक्षक (यत्)यदा (कारवे) कृवापा० । उ० १। १। करोतेः—उण् । कर्मकर्त्रे (दश सहस्राणि) असंख्यातानि (वृत्राणि) शत्रुसैन्यानि (अप्रति) अ०१०।१२।३। यथा तथा, प्रातिकूल्यस्य विघ्नस्य राहित्येन (बर्हिष्मते) विज्ञानवते (नि बर्हयः) बर्ह प्राधान्ये हिंसायां च-लङ्, अडभावश्छान्दसः । निबर्हयतिर्बधकर्मा--निघ० २ । १६ । नितरामबधीः ॥

युधा । युधम् । उप । घ । इत् । एषि । धृष्णु-या । पुरा । पुरम् । सम् । इदम् । हंसि । ओजसा ॥ नम्या । यत् । इन्द्र । सख्या । परा-वति । नि-बर्हयः । नमुचिम् । नाम । मायिनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (युधा) एक युद्ध से (युधम्) दूसरे युद्ध को (घ) निश्चय करके (इत्) अवश्य (धृष्णुया) निर्भयता से (उप एषि) तू चला चलता है, और (इदम्) अब (पुरा) एक गढ़ के साथ (पुरम्) दूसरे गढ़ को (ओजसा) बल से (सं हंसि) तू नष्ट कर देता है। (यत्) क्योंकि (नम्या) नम्र [आज्ञाकारी] (सख्या) मित्र के साथ (परावति) दूर देश में (नमुचिम्) न छुटने योग्य [दण्डनीय] (नाम) प्रसिद्ध (मायिनम्) छली पुरुष को (निबर्हयः) तू ने मार डाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा विनीति आज्ञाकारी मित्रों के साथ कपटी शत्रुओं को और उनके दुर्गों को नाश करके सुख से राज्य करे ॥ ७ ॥

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ८

७—(युधा) युद्धेन (युधम्) युद्धम् (उप) समीपे (घ) निश्चयेन (इत्) एव (एषि) गच्छसि । प्राप्नोषि (धृष्णुया) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३। २ । १४०। इति ञि धृषा प्रागल्भ्ये-क्नु। सुपां सुलुक्० । पा०७ ।१ । ३९ । विभक्तेर्याजादेशः । धृष्णुना । धर्षकेण प्रगल्भेन कर्मणा (पुरा) शत्रुदुर्गेण (पुरम्) शत्रुदुर्गम् (सम्) सम्यक् (इदम्) इदानीम् (हंसि) नाशयसि (ओजसा) बलेन (नम्या) णम प्रह्वत्वे—यत्, विभक्तेराकारः । नम्येन । नम्रेण । विनीतेन (यत्) यदा (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (सख्या) मित्रेण (परावति) दूरदेशे (निबर्हयः) म० ६ । नितरां नाशितवानसि (नमुचिम्) भुजेः किच्च । उ०४।१४२। मुच्लृ मोचने—इप्रत्ययः कित् । न भ्राण्नपान्नवेदाना० ।पा०६।३।७५। इति नञः प्रकृतिभावः । अमोचनीयम् । दण्डनीयम् (नाम) प्रसिद्धम् (मायिनम्) छलिनम् ॥

त्वम् । करञ्जम् । उत । पर्णयम् । वधीः । तेजिष्ठया । अतिथि-ग्वस्य । वर्तनी ॥ त्वम् । शता । वङ्गृदस्य । अभिनत् । पुरः । अननु-दः । परि-सूताः । ऋजिश्वना ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (त्वम्) तू ने (करञ्जम्) हिंसक (उत) और (पर्णयम्) पालन वस्तुओं को लेने वाले [चोर] को (अतिथिग्वस्य) अतिथियों को प्राप्त होने वाले पुरुष के (तेजिष्ठया) अत्यन्त तेजस्वी (वर्तनी) मार्ग से (वधीः) मारा है। (त्वम्) तू ने (वङ्गृदस्य) मार्ग तोड़ने वाले (अननुदः) अनुकूल न वर्तने वाले दुष्ट के (ऋजिश्वना) सरलस्वभाव पुरुषों के बढ़ाने वाले [आप] करके (परिषूताः) घेरे हुये (शता) सैकड़ों (पुरः) दुर्गों को (अभिनत्) तोड़ा है ॥ ८ ॥

८—(त्वम्) (करञ्जम्) कॄ हिंसने—अञ्जन् औणादिक, प्रत्ययः। कृणाति हिनस्तीति करञ्जस्तम्। हिंसकम् (उत) अपि च (पर्णयम्) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। पॄ पालनपूरणयोः—नप्रत्ययः+या प्रापणे—कप्रत्ययः। पर्णानां पालनवस्तूनां यातारं ग्रहीतारं चोरम् (वधीः) हन्तेर्लुङि वधादेशोऽडभावश्च। अवधीः। हतवानसि (तेजिष्ठया) तेजस्विन्—इष्ठन्। विन्मतोर्लुक्। पा० ५।३।६५। इति विनो लुक्। अतिशयेन तेजस्विन्या (अतिथिग्वस्य) अतिथि+गमेः—औणादिको ड्वप्रत्ययः। अतिथीनां विदुषां पुरुषाणां प्रापकस्य (वर्तनी) वृतु वर्तने—ल्युट्, ङीप्। सुपां सुलुक्०। पा०७। १।३९। इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः। वर्तन्या पथा (त्वम्) (शता) शतानि (वङ्गृदस्य) दिवेर्ऋ। उ० २।९९। वगि गतौ—ऋप्रत्ययः+दो अवखण्डने—कप्रत्ययः। यो वङ्गॄन् मार्गान् द्यति खण्डयतीति तस्य। सन्मार्गभेदकस्य (अभिनत्) भिदिर् विदारणे—लङ् सिपि। इतश्च। पा० ३। ४। १००। इकारलोपः। हल्ङ्याब्भ्यो०। पा० ६। १। ६८। इति सकारलोपः। दश्च। पा०८। २। ७५। इति रुत्वदकारयोर्विकल्पः। अभिनः। त्वं भिन्नवानसि (पुरः) शत्रुदुर्गान् (अननुदः) अननु+ददातेः—क्विप्। योऽनुकूलं न ददाति तस्य (परिषूताः) षू प्रेरणे—क्त। परिवेष्टिताः (ऋजिश्वना) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। ऋज आर्जवे—इन्, स च कित्। श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १।१५९। टु ओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन्। ऋजीनां सरलस्वभावानां वर्धकेन त्वया ॥

भावार्थ—परोपकारी विद्वान् अतिथियों का सत्कार करने वाला राजा धार्मिक रीति से उपद्रवी दुष्टों का नाश करता रहे ॥ ८ ॥

त्वमे॒तां ज॑नरा॒ज्ञो द्विर्द॑शाब॒न्धुना॑ सु॒श्रव॑सोपज॒ग्मुषः॑ । ष॒ष्टिं स॒हस्रा॑ नव॒तिं नव॑ श्रु॒तो नि च॒क्रेण॒ रथ्या॑ दु॒ष्पदा॑वृणक् ॥ ९ ॥

त्वम् । ए॒तान् । ज॒न॒-रा॒ज्ञः॑ । द्विः । दश॑ । अ॒ब॒न्धुना॑ । सु॒-श्रव॑सा । उ॒प॒-ज॒ग्मुषः॑ ॥ ष॒ष्टिम् । स॒हस्रा॑ । न॒व॒तिम् । नव॑ । श्रु॒तः । नि । च॒क्रेण॑ । रथ्या॑ । दुः॒-पदा॑ । अ॒वृ॒ण॒क् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अबन्धुना) बन्धुहीन और (सुश्रवसा) बड़ी कीर्ति वाले पुरुष के साथ, (श्रुतः) विख्यात (त्वम्) तू ने (एतान्) इन (द्विःदश) दो बार दश [बीस] (जनराज्ञः) नीच लोगों के राजाओं को और (षष्टिम् सहस्रा) साठ सहस्र (नव नवतिम्) नौ नब्बे [९ + ९० = ९९ अथवा ९ × ९० = ८१० अर्थात् ६००,९९ अथवा ६०,८१०] (उपजग्मुषः) [उनके] साथियों को (दुष्पदा) न पकड़ने योग्य [अति शीघ्रगामी] (रथ्या) रथ के पहिये के समान (चक्रेण) चक्र [हथियार विशेष] से (नि अवृणक्) उलट पलट कर दिया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्रतापी बलवान् राजा शरणागत अनाथों और धार्मिक प्रसिद्ध पुरुषों की रक्षा करके बीसियों प्रधान शत्रुओं और उनकी सहस्रों

९—(त्वम्) (एतान्) उपस्थितान् (जनराज्ञः) जनानां पामराणां शासकान् (द्विर्दश) द्विगुणितान् दश । विंशतिसंख्याकान् (सुश्रवसा) बहुकीर्तिमता (उपजग्मुषः) गमेर्लिटः क्वसुः । उपगतान् । सहचरान् (षष्टिम्) (सहस्रा) सहस्राणि (नवतिम् नव) नवोत्तरनवतिसंख्याकान् , यद्वा नवगुणित-नवतिसंख्याकान् (श्रुतः) प्रख्यातः (नि) नीचैः (चक्रेण) आयुधविशेषेण (रथ्या) रथाद् यत् । पा० ४ । ३ । १२१ । रथ—यत् । सुपां सुलुक् ० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्ते राकारः । रथस्येदं चक्रं तेन । रथाङ्गविशेषेण (दुष्पदा) ईषद्दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । दुर्+पद गतौ—खल् । दुष्प्राप्येण । अतिशीघ्रगामिना (अवृणक्) वृजी वर्जने—लङि मध्यमैकवचनम् । अत्र-र्जयः । अनाशयः ॥

सेनाओं को अपने चक्र आदि हथियारों से उखाड़ दे, जैसे वेग चलने वाले रथ के पहियों से भूमि उखड़ जाती है ॥ ॥ ६ ॥

त्वमा॑विथ सु॒श्रव॑सं॒ तवो॒तिभि॒स्तव॒ त्राम॑भिरिन्द्र॒ तूर्व॑याणम् ।
त्वम॑स्मै॒ कुत्स॑मतिथि॒ग्वमा॒युं म॒हे राज्ञे॒ यूने॑ अरन्धनायः ॥१०॥

त्वम् । आ॒वि॒थ॒ । सु॒-श्रव॑सम् । तव॑ । ऊ॒ति-भिः॑ । तव॑ । त्राम॑-भिः । इ॒न्द्र॒ । तूर्व॑याणम् ॥ त्वम् । अ॒स्मै॒ । कुत्स॑म् । अ॒ति॒थि॒-ग्वम् । आ॒युम् । म॒हे । राज्ञे॑ । यूने॑ । अ॒र॒न्ध॒ना॒यः॒ ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवान् सेनापति] (त्वम्) तू ने (सुश्रवसम्) बड़ी कीर्ति वाले, (तूर्वयाणम्) शत्रुओं को मारने वाले शूरों के चलाने वाले वीर को (तव) अपनी (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ और (तव) अपने (त्रामभि,) पालन साधनों के साथ (आविथ) बचाया है। (त्वम्) तू (अस्मै) इस (महे) पूजनीय, (यूने) स्वभाव से बलवान् (राज्ञे) राजा के लिये (कुत्सम्) मिलनसार ऋषि, (अतिथिग्वम्) अतिथियों को प्राप्त होने वाले (आयुम्) चलते हुये मनुष्य को (अरन्धनायः) पूरे धनी के समान आचरण करता रहे ॥ १० ॥

१०—(त्वम्) (आविथ) ररक्षिथ (सुश्रवसम्) बहुकीर्तिमन्तं युद्धपण्डितम् (तव) स्वकीयाभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः (तव) स्वकीयैः (त्रामभिः) त्रैङ् पालने—मनिन्। पालनसाधनैः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (तूर्वयाणम्) तुर्वी हिंसायाम्—अच+या गतौ—ल्युट् । तूर्वाणां शत्रुहिंसकानां शूराणां यानं गमनं यस्मात् तं वीरम् (त्वम्) (अस्मै) युध्यमानाय (कुत्सम्) अ० ४। २६। ५। कुस संश्लेषणे—सप्रत्ययः। सस्य तः। संगतिशीलम् ऋषिम् (अतिथिग्वम्) म० ८। अतिथीनां विदुषां प्रापकम् (आयुम्) छन्दसीणः। उ० १। २। इण् गतौ—उण्। आयवो मनुष्यनाम—निघ० २। ३। गतिशीलं मनुष्यम् (महे) पूजनीयाय (राज्ञे) प्रधानशासकाय (यूने) निसर्गबलवते (अरन्धनायः) अरन्धन—क्यङ्, लिङिरूपम्। अरमलं धनं यस्य स इवाचरेः ॥

भावार्थ—राजपुरुष सेनापति लोग अपने राजा के बचाने के लिये युद्ध पण्डित उपकारी वीरों की सदा रक्षा करते रहें ॥ १० ॥

य उद्दचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम ।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥११॥

ये । उत्-ऋचि । इन्द्र । देव-गोपाः । सखायः । ते । शिव-तमाः । असाम ॥ त्वाम् । स्तोषाम । त्वया । सु-वीराः । द्राघीयः । आयुः । प्र-तरम् । दधानाः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (उद्दचि) उत्तम स्तुति के बीच (देवगोपाः) विद्वानों से रक्षा किये गये (ये) जो हम (ते) तेरे (सखायः) मित्र होकर (शिवतमाः) अत्यन्त आनन्द युक्त (असाम) होवें । (त्वया) तेरे साथ (सुवीराः) बड़े वीरों वाले और (द्राघीयः) अधिक लम्बे और (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ (आयुः) जीवन को (दधानाः) रखते हुये वे हम (त्वाम्) तुझे (स्तोषाम) सराहते रहें ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा आपस में प्रीति करके प्रयत्न करें कि सब मनुष्य पुरुषार्थी वीर होकर सुख के साथ पूर्ण आयु भोगें ॥ ११ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमः पर्यायः ॥

सूक्तम् २२ ॥ [सूक्तानि २२-२५ द्वितीयः पर्यायः ॥]

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४, ५ निचृद् गायत्री; २, ३, ६ गायत्री ॥
राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

११—(ये) वयम् (उद्दचि) अ० ६ । ४८ । १ । उत्तमायां स्तुतौ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (देवगोपाः) विद्वद्भिः पालिताः (सखायः) सुहृदः सन्तः (ते) तव (शिवतमाः) अतिशयेन कल्याणयुक्ताः (असाम) अस भुवि—लोट् । भवाम (त्वाम्) (स्तोषाम) स्तौतेर्लोटि सिबागमश्छान्दसः । वयं स्तवाम (त्वया) (सुवीराः) श्रेष्ठवीरोपेताः (द्राघीयः) दीर्घतरम् (आयुः) जीवनम् (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (दधानाः) धरन्तः ॥

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । वृषभ । सुते । सुतम् । सृजामि । पीतये ॥
तृम्प । वि । अश्नुहि । मदम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृषभ) हे वीर ! (सुते) निचोड़ने पर (सुतम्) निचोड़े हुये [सोम रस] को (पीतये) पीने के लिये (त्वा अभि) तुझे (सृजामि) मैं देता हूं । (तृम्प) तू तृप्त हो और (मदम्) आनन्द को (वि अश्नुहि) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे राजा सद्वैद्यों द्वारा सोम आदि उत्तम ओषधियों के सेवन से प्रसन्न रहे, वैसे ही मनुष्य वेद आदि सत्य शास्त्रों का तत्त्व ग्रहण कर के आनन्द पावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ । ऋग्वेद में हैं—८ । ४५ । २२—२४ तथा सामवेद में हैं—उ० १ । २ तृच ७ तथा मन्त्र १ सामवेद में है—पू० २ । ७ । ७ ॥

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥

मा । त्वा । मूराः । अविष्यवः । मा । उप-हस्वानः । आ ।
दभन् ॥ माकीम् । ब्रह्म-द्विषः । वनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझ को (मा) न तौ (मूराः) मूढ़ (अविष्यवः) हिंसा चाहने वाले और (मा) न (उपहस्वानः) ठट्ठा करने वाले लोग

१—(अभि) प्रति (त्वा) त्वाम् (वृषभ) हे वीर । हे इन्द्र (सुते) अभिषुते । संस्कृते (सुतम्) अभिषुतं संस्कृतं सोमम् (सृजामि) त्यजामि । ददामि (पीतये) पानाय (तृम्प) तृम्प तृप्तौ । तृप्तो भव (वि) विविधम् (अश्नुहि) अशू व्याप्तौ—परस्मैपदम् । अश्नुष्व । प्राप्नुहि (मदम्) हर्षम् ॥

२—(मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (मूराः) मूढाः—निरु० ६ । ८ (अविष्यवः) अ० ११ । २ । २ । अव हिंसायाम्—इसि, क्यच, उप्रत्ययः । परहिंसेच्छवः (मा) निषेधे (उपहस्वानः) उप+हसतेः—वनिप । उपहास-

(आ दभन्) कभी दवावें । तू (ब्रह्मद्विषः) वेद के वैरियों को (माकीम्) मत (वनः) सेवन कर ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् राजा सदा श्रेष्ठ कर्म करे, जिस से कोई दुष्ट उसका उपहास आदि न कर सके ॥ २ ॥

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥

इह । त्वा । गो-परीणसा । महे । मन्दन्तु । राधसे ॥
सरः । गौरः । यथा । पिब ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (त्वा) तुझ को (गोपरीणसा) भूमि की प्राप्ति से (महे) बड़े (राधसे) धन के लिये (मदन्तु) लोग प्रसन्न करें । तू [आनन्द रस को] (पिब) पी, (यथा) जैसे (गौरः) गौर हरिण (सरः) जल [पीता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा राज्य पाकर प्रजा जनों को उन्नति के साथ प्रसन्न करके प्रसन्न होवे, जैसे प्यासा हरिण जल पी कर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥

अभि । प्र । गो-पतिम् । गिरा । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे ॥ सूनुम् । सत्यस्य । सत्-पतिम् ॥ ४ ॥

कर्तारः (आ) समन्तात् (दभन्) दम्भु दम्भे—लुङ् । हिंसन्तु (माकीम्) निषेधे । मा शब्दार्थे (ब्रह्मद्विषः) वेदद्वेष्टॄन् (वनः) वन संभक्तौ—लङ् । भजेथाः ॥

३—(इह) अत्र राज्ये (त्वा) त्वाम् (गोपरीणसा) णस कौटिल्ये गतौ च—क्विप् । नसत इति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । भूमिप्राप्त्या (महे) पूजनीयाय । महते (राधसे) धनाय (सरः) जलम् (गौरः) गौरमृगः (यथा) (पिब) आनन्द रसस्य पानं कुरु ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (गोपतिम्) पृथिवी के पालक, (सत्यस्य) सत्य के (सूनुम्) प्रेरक, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को, (यथा) जैसा (विदे) वह है, (गिरा) स्तुति के साथ (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (अर्च) तू पूज ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे राजा उत्तम गुण वाला हो, वैसे ही मनुष्यों को उसकी यथार्थ बड़ाई करनी चाहिये ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—८ । ६६ [सायणभाष्य ५८] । ४—६ और सामवेद में हैं—उ० ७ । १ । तृच १ और मन्त्र १ सामवेद में है—पू० २ । ८ । ४ । तीनों मन्त्र आगे हैं—अथर्व० २० । ६२ । १—३ ॥

आ हर॑यः ससृज्रिरे॑ऽरु॒षीरधि॑ ब॒र्हिषि॑ ।

यत्रा॒भि सं॒नवा॑महे ॥ ५ ॥

आ । हर॑यः । स॒सृ॒ज्रि॒रे॒ । अ॒रु॒षीः । अधि॑ । ब॒र्हिषि॑ ॥

यत्र॑ । अ॒भि । स॒म्ऽनवा॑महे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हरयः) दुख हरने वाले मनुष्य (अरुषीः) गति शील [उद्योगी] प्रजाओं को (बर्हिषि) बढ़ती के स्थान में (अधि) अधिकार पूर्वक (आ ससृज्रिरे) लाये हैं, (यत्र) जहां पर [तुझ राजा को] (अभि) सब ओर से (संनवामहे) हम मिलकर सराहते हैं ॥ ५ ॥

४—(अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (गोपतिम्) भूपालम् (गिरा) स्तुत्या (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (अर्च) पूजय (विदे) विद सत्तायाम्, लडर्थे लिट्, छान्दसं रूपम् । विविदे । विद्यते स इन्द्रः (सूनुम्) अ० ६ । १ । २ । षू प्रेरणे—नु । प्रेरकम् । प्रचारकम् (सत्यस्य) यथार्थज्ञानस्य (सत्पतिम्) सत्पुरुषाणां रक्षकम् ॥

५—(हरयः) हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । दुःखहर्तारो विद्वांसः (आ ससृज्रिरे) सृज विसर्गे—लिट्, रुडागमः । आ ससृजिरे । आनीतवन्तः (अरुषीः) अ० २० । १७ । ६ । ऋ गतौ—उषच्, ङीष् । गतिशीलाः । उद्योगिनीः प्रजाः (अधि) अधिकारपूर्वकम् (बर्हिषि) बृह वृद्धौ—इसुन् । वृद्धिस्थाने (यत्र) यस्मिन् स्थाने (अभि) सर्वतः (संनवामहे) णु स्तुतौ । राजानं वयं मिलित्वा स्तुमः ॥

भावार्थ—जिस राजा की सुनीति से विद्या द्वारा उन्नति होवे, प्रजा सहित विद्वान् जन उसके गुणों का गान करें ॥ ५ ॥

इन्द्राय गाव॑ आशिरं॑ दुदुह्रे वुज्रिणे मधुं ।

यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ६ ॥

इन्द्राय । गावः । आ-शिरंम् । दुदुह्रे । वुज्रिणे । मधुं ॥

यत् । सीम् । उप-ह्वरे । विदत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणे) वज्रधारी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के लिये (गावः) वेदवाणियों ने (आशिरम्) सेवने वा पकाने योग्य पदार्थ [दूध, दही, घी आदि] को और (मधु) मधुविद्या [यथार्थ ज्ञान] को (दुदुह्रे) भर दिया है। (यत्) जब कि उसने [उन वेदवाणियों] को (उपह्वरे) अपने पास (सीम्)सब प्रकार (विदत्) पाया ॥ ६ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् पुरुष वेदवाणियों से सुशिक्षित होकर दूध आदि भोग्य पदार्थ प्राप्त करके यथार्थ ज्ञान बढ़ावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—९ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—७, ९ गायत्री ; ८ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

६—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते राज्ञे (गावः) वेदवाण्यः (आशिरम्) अपस्पृधेथामानृचु० । पा० ६ । १ । ३६ । आङ्+श्रिञ् सेवायां श्रीञ् पाके वा—क्विप्, धातोः शिर इत्यादेशः । यद्वा । अशेर्नित् । उ० १ । ५२ । आङ्+अश भोजने अशू व्याप्तौ वा—किरन् नित् । आशीराश्रयणाद् वाश्रपणाद् वा, अथेयमितराशीराशास्तेः—निरु० ६ । ८ । आश्रययोग्यं परिपाकयोग्यं वा दुग्धदधिघृतादिपदार्थम् (दुदुह्रे) दुह प्रपूरणे लिटि रुट् । दुदुहिरे । पूरितवत्यः (वज्रिणे) वज्रधारिणे (मधु) मधुविद्याम् । यथार्थज्ञानम् (यत्) यदा (सीम्) अवितॄस्तृ० तु० ३ । १५८ । षिञ् बन्धने—ईप्रत्ययः । सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा सर्वत इति वा—निरु० १ । ७ । सर्वतः (उपह्वरे) उप+ह्वृ कौटिल्ये—अप् । निकटे । शुद्धे (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ् । प्राप्तवान् स इन्द्रस्ता वाणीः ॥

आ तू न इन्द्र मद्र्यग्घुवानः सोमपीतये ।
हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥

आ । तु । नः । इन्द्र । मद्र्यक् । हुवानः । सोम-पीतये ॥
हरि-भ्याम् । याहि । अद्रि-वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपीतये) पदार्थों की रक्षा के लिये (हुवानः) बुलाया गया, (मद्र्यक्) मुझ को प्राप्त होता हुआ तू (हरिभ्याम्) दो घोड़ों [के समान व्यापक बल और पराक्रम] से (नः) हम को (तु) शीघ्र (आ याहि) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा के पदार्थों की रक्षा के लिये बल और पराक्रम के साथ शीघ्र उपाय करे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ४१ । १—६ ॥

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।
अयुञ्जन् प्रातरद्रयः ॥ २ ॥

सत्तः । होता । नः । ऋत्वियः । तिस्तिरे । बर्हिः । आनुषक् ॥
अयुञ्जन् । प्रातः । अद्रयः ॥ २ ॥

१—(आ याहि) आगच्छ (तु) शीघ्रम् (नः) अस्मान् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (मद्र्यक्) ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । अस्मत् + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । पा० ७ । २ । ६८ । अस्मच्छब्दस्यैकवचने मपर्यन्तस्य म इत्यादेशः । विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये ।।पा० ६ । ३ । ६२ । इति टेः अद्रि इत्यादेशः । माम् अञ्चति प्राप्नोति यः सः (हुवानः) हूयमानः (सोमपीतये) अ० १७ । १ । १० । सोमानां पदार्थानां पीती रक्षणं यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन्—दयानन्दभाष्य ऋक्० १ । २१ । ३ (हरिभ्याम्) अश्वसदृशाभ्यां व्यापकाभ्यां बलपराक्रमाभ्याम् (अद्रिवः) अ० १० । २० । ४ । हे वज्रिन् ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (होता) ग्रहण करने वाला, (ऋत्वियः) सब ऋतुओं में प्राप्त होने वाला [राजा] (सत्तः) बैठा है, (बर्हिः) उत्तम आसन (आनुषक्) निरन्तर [यथाविधि] (तिस्तिरे) बिछाया गया है, (अद्रयः) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] (प्रातः) प्रातः काल में (अयुञ्जन्) जुड़ गये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग एकत्र होकर प्रजापालक राजा का उत्तम आसन आदि से सत्कार कर के हित के लिये निवेदन करें ॥ २ ॥

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद ।
वीहि शूर पुरोलाशम् ॥ ३ ॥

इमा । ब्रह्म । ब्रह्म-वाहः । क्रियन्ते । आ । बर्हिः । सीद ॥
वीहि । शूर । पुरोलाशम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मवाहः) हे अन्न पहुंचाने वाले! (इमा) यह (ब्रह्म) वेद ज्ञान (क्रियन्ते) किये जाते हैं, (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सीद) बैठ। (शूर) हे शूर! [दुष्ट नाशक] (पुरोलाशम्) अच्छे बने हुए अन्न का

२—(सत्तः) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्त । निषण्णोऽस्ति (होता) आदाता (नः) अस्माकम् (ऋत्वियः) अ० ३। २०। १। सर्वकालेषु प्राप्तः (तिस्तिरे) स्तृञ् आच्छादने—कर्मणि लिट्। ऋत इद्धातोः। पा० ७। १। १००। इति इत्वम्, द्विर्वचनम्। शर्पूर्वाः खयः। पा० ७। ४। ६१। इति तकारस्य शेषः। लिटस्तझयोरेशिरेच्। पा० ३। ४। ८१। इति एश् इत्यादेशः। आच्छादितं बभूव (बर्हिः) उत्तममासनम् (आनुषक्) अ० ४। ३२। १। निरन्तरम्। यथाविधि (अयुञ्जन्) संगता अभूवन् (प्रातः) प्रातःकाले (अद्रयः) अद्रिर्मेघनाम—निघ० १। १०। मेघा इवोपकारिणः पुरुषाः ॥

३—(इमा) इमानि (ब्रह्म) ब्रह्माणि। वेदज्ञानानि (ब्रह्मवाहः) वसेर्णित्। उ० ४। २१८। वह प्रापणे—असुन् णित्। ब्रह्म अन्ननाम—निघ० २। ७। हे अन्नप्रापक। अन्नदातः (क्रियन्ते) अनुष्ठीयन्ते (बर्हिः) उत्तमासनम् (आसीद) उपविश (वीहि) भक्षय) (शूर) हे दुष्टनाशक (पुरोलाशम्)

(वीहि) भोजन कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण अन्नदाता राजा को उत्तम आसन पर बैठा कर और उत्तम पदार्थ भेट कर के वेद अनुकूल निवेदन करें ॥ ३ ॥

र॒र॒न्धि सव॑नेषु ण ए॒षु स्तोमे॑षु वृत्रहन् ।
उ॒क्थेष्वि॑न्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥

र॒र॒न्धि । सव॑नेषु । न॒: । ए॒षु । स्तोमे॑षु । वृ॒त्र-ह॒न् ॥
उ॒क्थेषु॑ । इ॒न्द्र॒ । गि॒र्व॒ण॒: ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे धन रखने वाले ! (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (एषु) इन (सवनेषु) ऐश्वर्यों में, (स्तोमेषु) बड़ाइयों में और (उक्थेषु) वचनों में) (नः) हमें (ररन्धि) रमा ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा प्रयत्न करे कि सब लोग मन, वचन, कर्म से पुरुषाथ करके सुखी रहें ॥ ४ ॥

म॒तय॑: सोम॒पामु॒रुं रि॒हन्ति॒ शव॑स॒स्पति॑म् ।
इन्द्रं॑ व॒त्सं न मा॒तर॑: ॥ ५ ॥

म॒तय॑: । सो॒म॒-पाम् । उ॒रुम् । रि॒हन्ति॑ । शव॑सः । पति॑म् ॥
इन्द्र॑म् । व॒त्सम् । न । मा॒तर॑: ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मतयः) बुद्धिमान् लोग (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक

अ० ८ । ८ । २२ । सुसंस्कृतमन्नम् ॥

४—(ररन्धि) रमतेर्लोटि शपः श्लुः, हेर्धिः, अन्तर्गतण्यर्थः । रमय (सवनेषु) ऐश्वर्येषु (नः) अस्मान् (एषु) (स्तोमेषु) प्रशंसासु (वृत्रहन्) वृत्रं धन नाम—निघ० २ । १० । हन्तिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । हे धनप्रापक (उक्थेषु) वचनेषु (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (गिर्वणः) अ० २० । १५ । ४ । हे स्तुतिभिः सेवनीय ॥

५—(मतयः) मेधाविनः—निघ० ३ । १५ (सोमपाम्) ऐश्वर्यरक्षकम्

(उरुम्) महान्, (शवसः) बल के (पतिम्) पालने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् राजा] को (रिहन्ति) पियार करते हैं; (न) जैसे (मातरः) मातायें [गौयें] (वत्सम्) बछड़े को ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे गौयें अपने बछड़ों से प्रीति करती हैं, वैसे ही बुद्धिमान् लोग न्यायकारी राजा से प्रीति करें ॥ ५ ॥

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे ।
न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

सः । मन्दस्व । हि । अन्धसः । राधसे । तन्वा । महे ॥
न । स्तोतारम् । निदे । करः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सः) सो तू (हि) ही (तन्वा) अपने शरीर के साथ (महे) बड़े (राधसे) धन के लिये (अन्धसः) अन्न से (मन्दस्व) आनन्द कर, और (स्तोतारम्) स्तुति करने वाले विद्वान् को (निदे) निन्दा के लिये (न) मत (करः) कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—शरीर और आत्मा की उन्नति चाहने वाला पुरुष विद्वानों की निन्दा कभी न करे ॥ ६ ॥

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे ।
उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

वयम् । इन्द्र । त्वा-यवः । हविष्मन्तः । जरामहे ॥
उत । त्वम् । अस्म-युः । वसो इति ॥ ७ ॥

(उरुम्) महान्तम् (रिहन्ति) रिहतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । कामयन्ते (शवसः) बलस्य (पतिम्) पालकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (वत्सम्) गोशिशुम् (न) इव (मातरः) जनन्यो गावः ॥

६—(सः) स त्वम् (मन्दस्व) आनन्द (हि) अवश्यम् (अन्धसः) अन्नात् (राधसे) संसाधकाय धनाय (तन्वा) शरीरेण (महे) महते (न) निषेधे (स्तोतारम्) स्तावकं विद्वांसम् (निदे) णिदि कुत्सायाम्—क्विप्, नुमभावः । निन्दायै (करः) करोतेर्लेटि, अडागमः । कुर्याः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (त्वायवः) तुझे चाहने वाले (उत) और (हविष्मन्तः) देने योग्य वस्तुओं वाले (वयम्) हम [तुझ को] (जरामहे) सराहते हैं। (वसो) हे वसु ! [श्रेष्ठ वा निवास कराने वाले] (त्वम्) तू (अस्मयुः) हमें चाहने वाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा प्रीति कर के उन्नति के साथ सुखी रहें ॥ ७ ॥

मारे अ॒स्मद् वि मु॑मुचो॒ हरि॑प्रिया॒र्वाङ् या॑हि ।
इन्द्र॑ स्वधावो॒ मत्स्वे॒ह ॥ ८ ॥

मा । आ॒रे । अ॒स्मत् । वि । मु॒मु॒चः॒ । हरि॑-प्रिय । अ॒र्वाङ् । या॒हि॒ ॥ इन्द्र॑ । स्व॒धा॒-वः॒ । मत्स्व॑ । इ॒ह ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हरिप्रिय) हे मनुष्यों के प्रिय ! [अपने को] (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (मा वि मुमुचः) कभी न छोड़, (अर्वाङ्) इधर चलता हुआ (याहि) चल। (स्वधावः) हे बहुत अन्न वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (इह) यहां (मत्स्व) आनन्द कर ॥ ८ ॥

७—(वयम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वायवः) सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३ । १ । ८। युष्मद्—क्यच्। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । पा० ७ । २ ९८ । मपर्यन्तस्य त्वादेशः । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः। त्वां कामयमानाः (हविष्मन्तः) दातव्यवस्तूपेताः (जरामहे) स्तुमः—त्वाम् (उत) अपि च (त्वम्) (अस्मयुः) अस्मद्—क्यचि उप्रत्यये दकारलोपश्छान्दसः। अस्मान् कामयमानः (वसो) हे श्रेष्ठ। निवासयितः ॥

८—(मा) निषेधे (आरे) दूरे (अस्मत्) अस्मत्तः (वि) वियुज्य (मुमुचः) मुच्लृ मोक्षणे ण्यन्तस्य छान्दसे लुङि चङि रूपम्, अभ्यासस्य दीर्घाभावः, माङ्योगेऽडभावः। मोचय—आत्मानम् (हरिप्रिय) हरयो मनुष्य—नाम—निघ० २ । ३ । हरीणां मनुष्याणां प्रिय हितकर (अर्वाङ्) अभिमुखं गच्छन् (याहि) गच्छ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (स्वधावः) बह्वन्नवन् (मत्स्व) आनन्द (इह) अत्र ॥

भावार्थ—जहां पर राजा और प्रजा प्रीति के साथ रहते हैं और कोई किसी को नहीं छोड़ते, उस राज्य में अन्न आदि बढ़ते रहते हैं ॥ ८ ॥

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना ।
घृतस्नू बर्हिरासदे ॥ ९ ॥

अर्वाञ्चम् । त्वा । सु-खे । रथे । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥
घृतस्नू इति घृत-स्नू । बर्हिः । आ-सदे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सुखे) सुख देने वाले [सब ओर चलने वाले] (रथे) रथ में (आसदे) बैठने के लिये (केशिना) प्रकाश [अग्नि] वाले और (घृतस्नू) जल को भाप से टपकाने वाले [दो पदार्थ] (अर्वाञ्चम्) नीचे चलते हुये (त्वा) तुझ को (बर्हिः) आकाश में (वहताम्) पहुंचावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् राजा विज्ञानी शिल्पियों द्वारा अग्नि और जल से चलने वाले विमान को पृथिवी से आकाश में और आकाश से पृथिवी पर जाने के लिये बनवावे ॥ ९ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१—९ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४—७ गायत्री; २, ३, ८, ९ निचृद् गायत्री ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम् ।

९—(अर्वाञ्चम्) अधोगच्छन्तम् (त्वा) त्वाम् (सुखे) सुखकरे सर्वदिक्षु गमनशीले (रथे) रमणीये याने विमाने (वहताम्) द्विकर्मकः । प्रापयताम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (केशिना) अ० ९ । १० । २६ । काशृ दीप्तौ—अच् घञ् वा, इनि, काशी सन् केशी । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा—निरु० १२ । २५ । प्रकाशवन्तौ । अग्नियुक्तौ (घृतस्नू) घृतम् उदकनाम—निघ० १ । १२ । ष्णु प्रस्रवणे—क्विप् । घृतस्य जलस्य स्नु वाष्पेण स्रवणं ययोस्तौ पदार्थौ (बर्हिः) अन्तरिक्षं प्रति—निघ० १ । ३ (आसदे) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । सीदतेः केन्प्रत्ययः कृत्यार्थे । आसादनाय । उपवेशनाय ॥

हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ॥ १ ॥

उप । नः । सुतम् । आ । गहि । सोमम् । इन्द्र । गो-आशिरम् ॥ हरि-भ्याम् । यः । ते । अस्म-युः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] (नः) हमारे (सुतम्) सिद्ध किये हुये, (गवाशिरम्) पृथिवी पर फैले हुये (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप) समीप में (आ गहि) सब ओर से प्राप्त हो, (यः) जो (ते) तेरा [ऐश्वर्य] (हरिभ्याम्) दो घोड़ों [के समान व्यापक बल और पराक्रम] से (अस्मयुः) हमें चाहने वाला है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पृथिवी के सब वैभवों को एक दूसरे के लिये उपयोगी बनावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ४२ । १—६ ॥

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतम् ।
कुविन्न्वस्य तृष्णवः ॥ २ ॥

तम् । इन्द्र । मदम् । आ । गहि । बर्हिःस्थाम् । ग्राव-भिः । सुतम् ॥ कुवित् । नु । अस्य । तृष्णवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] तू (ग्रावभिः) पण्डितों करके (सुतम्) सिद्ध किये हुये, (बर्हिष्ठाम्) उत्तम आसन पर

१—(उप) समीपे (नः) अस्माकम् (सुतम्) संस्कृतम् (आ) समन्तात् (गहि) प्राप्नुहि (सोमम्) ऐश्वर्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् विद्वन् (गवाशिरम्) अ० २० । २२ । ६ । अशेर्नित् । उ० १ । ५२ । गो+आङ्+अशू व्याप्तौ—किरन् । पृथिव्यां व्याप्तम् (हरिभ्याम्) । अ० २० । २३ । १ । अश्वसदृशाभ्यां व्यापकाभ्यां बलपराक्रमाभ्याम् (यः) सोमः । ऐश्वर्यम् (ते) तव (अस्मयुः) अ० २० । २३ । ७ । अस्मान् कामयमानः ॥

२—(तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्र) (मदम्) मदी हर्षे—अच् । कल्याणकरं पदार्थम् (आ) समन्तात् (गहि) प्राप्नुहि (बर्हिष्ठाम्) बर्हिस्+ष्ठा गति-

रक्खे हुये (तम्) उस (मदम्) कल्याणकारक पदार्थ को (नु) शीघ्र (आ) सब प्रकार (गहि) प्राप्त हो, वे [पण्डित लोग] (कुवित्) बहुत प्रकार से (अस्य) इस [कल्याण कारक पदार्थ] का (तृप्णवः) हर्ष पाने वाले हैं ॥२॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रीति के साथ एक दूसरे को उत्तम पदार्थों का दान कर के आनन्द पावें ॥ २ ॥

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः ।
आवृते सोमपीतये ॥ ३ ॥

इन्द्रम् । इत्था । गिरः । मम । अच्छ । अगुः । इषिताः । इतः ॥ आ-वृते । सोम-पीतये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इत्था) इस प्रकार से (मम) मेरी (इषिताः) प्रेरणा की गयीं (गिरः) वाणियां (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (सोमपीतये) सोमरस [उत्तम ओषधि] पीने के लिये (आवृते) घूमने को (अच्छ) अच्छे प्रकार (इतः) यहां से (अगुः) गयीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वानों का सत्कार उत्तम रीति से करते रहें ॥ ३ ॥

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे ।
उक्थेभिः कुविदागमत् ॥ ४ ॥

निवृत्तौ—क्विप् । बर्हिषि उत्तमासने स्थितम् (ग्रावभिः) अ० ३ । १० । ५ । गॄ विज्ञापने स्तुतौ च—कनिप् । शास्त्रविज्ञापकैः पण्डितैः (सुतम्) संस्कृतम् (कुवित्) बहुनाम-निघ० ३ । १ । बहुप्रकारेण (नु) क्षिप्रम् (अस्य) कल्याणकरस्य पदार्थस्य (तृप्णवः) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३ । २ । १४० । तृप प्रीणने—क्नु । तृप्तिशीलाः ॥

३—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (इत्था) अनेन प्रकारेण (गिरः) वाण्यः (मम) (अच्छ) सुरीत्या (अगुः) इण् गतौ—लुङ् । अगमन् । प्राप्ताः (इषिताः) प्रेरिताः (इतः) अस्मात् स्थानात् (आवृते) वृतु वर्तने-सम्पदादिः क्विप् । आवर्तनाय । आगमनाय (सोमपीतये) महौषधिरसस्य पानाय ॥

इन्द्रम् । सोमस्य । पीतये । स्तोमैः । इह । हवामहे ॥
उक्थेभिः । कुवित् । आ-गमत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (सोमस्य) सोमरस [महौषधि] के (पीतये) पीने के लिये (स्तोमैः) स्तुतियों के साथ (इह) यहां (हवामहे) हम बुलाते हैं। वह (उक्थेभिः) अपने उपदेशों के साथ (कुवित्) बहुत बार (आगमत्) आवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वानों के बुलाने से प्रसन्न होकर आया आया करें ॥ ४ ॥

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान् दधिष्व शतक्रतो ।
जठरे वाजिनीवसो ॥ ५ ॥

इन्द्र । सोमाः । सुताः । इमे । तान् । दधिष्व । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ जठरे । वाजिनीवसो इति वाजिनी-वसो ॥५॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले, (वाजिनी-वसो) अन्नयुक्त क्रियाओं में वसाने वाले ! (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (जठरे) प्रसिद्ध हुये जगत् में (इमे) यह (सोमाः) पदार्थ (सुताः) उत्पन्न हुये हैं, (तान्) उनको (दधिष्व) धारण कर ॥ ५ ॥

४—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (सोमस्य) महौषधिरसस्य (पीतये) पानाय (स्तोमैः) स्तोत्रैः (इह) अत्र (हवामहे) आह्वयामः (उक्थेभिः) कथनीयोपदेशैः (कुवित्) म० २। बहुबारम् (आगमत्) गमेर्लेटि अडागमः। आगच्छेत् ॥

५—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (सोमाः) पदार्थाः (सुताः) निष्पन्नाः (इमे) दृश्यमानाः (तान्) (दधिष्व) धत्स्व। धर (शतक्रतो) हे बहुकर्मन्। बहुप्रज्ञ (जठरे) जनेररष्ठ च। उ० ५। ३८। जनी प्रादुर्भावे—अरप्रत्ययः, ठश्चान्तादेशः। प्रादुर्भूते जगति। जातेऽस्मिन् जगति दयानन्दभाष्ये (वाजिनीवसो) वाजोऽन्नम्—निघ० २। ७। तस्माद्—इनि, ङीप्। हे अन्नयुक्तासु क्रियासु वासयितः ॥

भावार्थ—मनुष्य सृष्टि के पदार्थों की विद्या जानकर ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ५ ॥

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ६ ॥

विद्म । हि । त्वा । धनम्-जयम् । वाजेषु । दधृषम् । कवे ॥
अध । ते । सुम्नम् । ईमहे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कवे) हे विद्वान् ! (त्वा) तुझ को (हि) ही (धनंजयम्) धन जीतने वाला और (वाजेषु) सङ्ग्रामों में (दधृषम्) अत्यन्त निर्भय (विद्म) हम जानते हैं । (अध) इस लिये (ते) तेरे लिये (सुम्नम्) सुख को (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धनी, शूर और परोपकारी होवे, उसके लिये सुख पहुंचाने को सब प्रयत्न करें ॥ ६ ॥

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब ।
आगत्या वृषभिः सुतम् ॥ ७ ॥

इमम् । इन्द्र । गो-आशिरम् । यव-आशिरम् । च । नः ।
पिब ॥ आ-गत्य । वृष-भिः । सुतम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (नः) हमारे (इमम्) इस (वृषभिः) बलवानों करके (सुतम्) सिद्ध किये गये (गवाशिरम्) पृथिवी पर फैले हुये (च) और (यवाशिरम्) अन्न के भोजन वाले

६—(विद्म) वयं जानीमः (हि) एव (त्वा) त्वाम् (धनञ्जयम्) अ० ३ । १४ । २ । धनस्य जेतारम् (वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (दधृषम्)ञि धृषा प्रागल्भ्ये यङ्लुकि पचाद्यच् । अतिप्रगल्भम् (कवे) हे मेधाविन्—निघ० ३ । १५ (अध) अथ । अतः (ते) तुभ्यम् (सुम्नम्) सुखम् (ईमहे) याचामहे ॥

७—(इमम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (गवाशिरम्) म० १ । पृथिव्यां व्याप्तम् (यवाशिरम्) अशेर्नित् । उ० १ । ५२ । यव+आङ्+अश भोजने—किरन् । अन्नभोजनयुक्तं पदार्थम् (च) (नः) अस्माकम् (पिब) (आगत्य)

पदार्थ को (आगत्य) आकर (पिब) पी ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के बीच उत्तम पदार्थों का भोजन पान कर के बलवान् होवें ॥ ७ ॥

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये ।
एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

तुभ्य॑ । इत् । इन्द्र । स्वे । ओक्ये॑ । सोम॑म् । चोदामि । पीतये॑ ॥ एषः । ररन्तु । ते । हृदि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जन] (तुभ्य) तेरे लिये (इत्) ही (स्वे) अपने (ओक्ये) घर में (पीतये) पीने को (सोमम्) सोमरस [महौषधि] (चोदयामि) भेजता हूं । (एषः) यह (ते) तेरे (हृदि) हृदय में (ररन्तु) अत्यन्त रमे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम उत्तम पदार्थों को रुचि के साथ खावें जिससे हृदय में उत्तम रस उत्पन्न होकर सब शरीर में फैले और बल बढ़े ॥ ८ ॥

त्वां सुतस्य॑ पीतये॑ प्रत्नमिन्द्र हवामहे ।
कुशिकासो॑ अवस्यवः॑ ॥ ९ ॥

त्वाम् । सुतस्य॑ । पीतये॑ । प्रत्नम् । इन्द्र । हवामहे ॥ कुशिकासः॑ । अवस्यवः॑ ॥ ९ ॥

अस्मान् प्राप्य (वृषभिः) बलवद्भिः (सुतम्) साधितम् ॥

८—(तुभ्य) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्लुक् । तुभ्यम् (इत्) एव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (स्वे) स्वकीये (ओक्ये) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । उच समवाये—ण्यत्, कुत्वं च । ओकसि । गृहे (सोमम्) महौषधिरसम् (चोदामि) प्रेरयामि (पीतये) पानाय (एषः) सोमः (ररन्तु) रमु क्रीडायाम्—यङ्लुकि लोट्, नुमभावश्छान्दसः सांहितिको दीर्घः । भृशं रमताम् (ते) तव (हृदि) हृदये ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (त्वां प्रत्नम्) तुझ पुराने को (सुतस्य) सिद्ध किये हुये रस के (पीतये) पीने के लिये (कुशिकासः) मिलने वाले, (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनुभवी पुराने बुद्धिमानों से आदर करके शिक्षा लेवें ॥ ६ ॥

सूक्तम् २५ ॥

१—७॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३—५ निचृज् जगती ; २ जगती ; ६ आर्षी त्रिष्टुप् ; ७ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

विद्वत्कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

अश्वा॑वति प्रथ॒मो गोषु॑ गच्छति सुप्रा॒वीरि॑न्द्र॒ मर्त्य॒स्तवो॒तिभिः॑ । तमित् पृ॑णक्षि॒ वसु॑ना॒ भवी॑यसा॒ सिन्धु॒माप॒ो यथा॒भितो॒ विचे॑तसः ॥ १ ॥

अश्व॑-वति । प्र॒थ॒मः । गोषु॑ । ग॒च्छ॒ति॒ । सु॒प्र॒-अ॒वीः । इ॒न्द्र॒ । मर्त्यः॑ । तव॑ । ऊ॒ति-भिः॑ ॥ तम् । इत् । पृ॒ण॒क्षि॒ । वसु॑ना । भवी॑यसा । सिन्धु॑म् । आपः॑ । यथा॑ । अ॒भितः॑ । वि-चे॑तसः ॥१

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर वा राजन्] (मर्त्यः) मनुष्य (तव) तेरी (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अश्वावति) उत्तम

६—(त्वाम्) (सुतस्य) संस्कृतस्य रसस्य (पीतये) पानाय (प्रत्नम्) नश्च पुराणे प्रात् । वा० पा० ५ । ४ । २५ । प्र—त्नप्प्रत्ययः । पुराणम्—निघ० ३ । २७ । अनुभविपुरुषम् (इन्द्र) (हवामहे) आह्वयामः (कुशिकासः) वृश्चिकृष्योः किकन् । उ० २ । ४० । कुश संश्लेषणे—किकन्, असुगागमः । कुशिको राजा बभूव क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः साधुविक्रोशयितार्थानामिति वा—निरु० २ । २५ । संगन्तारो वयम् (अवस्यवः) अ० २० । १४ । १ । रक्षाकामाः ॥

१—(अश्वावति) मन्त्रे सोमाश्वे० । पा० ६ । ३ । १३१ । इति दीर्घः । श्रेष्ठाश्वैर्युक्ते सैन्ये (प्रथमः) मुख्यः (गोषु) भूमिदेशेषु (गच्छति) चलति (प्रावीः) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । अव रक्षणे-ईप्रत्ययः । सुरक्षकः

घोड़ों वाले [सेनादल] में (प्रथमः) पहिला [प्रधान] (प्रावीः) बड़ा रक्षक होकर (गोषु) भूमियों पर (गच्छति) चलता है। (तम् इत्) उसको ही (भवीयसा) अति अधिक (वसुना) धन से (पृणक्षि) तू भर देता है, (यथा) जैसे (अभितः) सब ओर से (विचेतसः) विविध प्रकार जाने गये (आपः) जल समूह (सिन्धुम्) समुद्र को [भरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजा और सेनापति आदि कार्यकर्ता परमेश्वर में विश्वास करके एक दूसरे की रक्षा और सत्कार करते हैं, वे सब देशों में विजयी होकर बहुत धनी होते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में हैं—१ । ८३ । १—६ ॥

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः । प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वरा इव ॥ २ ॥

आपः । न । देवीः । उप । यन्ति । होत्रियम् । अवः । पश्यन्ति । वि-ततम् । यथा । रजः ॥ प्राचैः । देवासः । प्र । नयन्ति । देव-युम् । ब्रह्म-प्रियम् । जोषयन्ते । वराः-इव ॥२

भाषार्थ—(आपः न) व्याप्त जलों के समान [उपकारी] (देवासः) विद्वान् लोग (देवीः) दिव्य गुण वाली [विद्याओं] को (उप) आदर से (यन्ति) पाते हैं, और (होत्रियम्) देने लेने योग्य (अवः) रक्षा को (यथा

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमेश्वर राजन् वा (मर्त्यः) मनुष्यः (तव) (ऊतिभिः) रक्षाभिः (तम्) मनुष्यम् (इत्) एव (पृणक्षि) पृची सम्पर्के। संयोजयसि । पूरयसि (वसुना) धनेन (भवीयसा) भवितृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृलोपः । अत्यधिकेन । भूयसा (सिन्धुम्) समुद्रम् (आपः) जलानि (यथा) येन प्रकारेण (अभितः) सर्वतः (विचेतसः) विविधानि चेतांसि ज्ञानानि यासां ताः । विविधज्ञातव्याः ॥

२—(आपः) व्याप्तानि जलानि (न) यथा (देवीः) दिव्यगुणवतीः सुविद्याः (उप) पूजायाम् (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (होत्रियम्) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । हु दानादानादनेषु—त्रन् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ ।

रजः) रज [धूलि] के समान (विततम्) फैला हुआ (पश्यन्ति) देखते हैं। और (वराः इव) श्रेष्ठ पुरुषों के समान वे (प्राचैः) पुराने व्यवहारों के साथ (देवयुम्) उत्तम गुण चाहने वाले, (ब्रह्मप्रियम्) ईश्वर और वेद में प्रीति करने वाले पुरुष को (प्र णयन्ति) आगे बढ़ाते हैं और (जोषयन्ते) सेवा करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उत्तम उत्तम विद्यायें प्राप्त करके संसार के प्रत्येक पदार्थ से उपकार लेते हैं और श्रेष्ठ धर्मात्मा ईश्वरभक्त को अगुआ बनाकर उसकी आज्ञा में चलते हैं ॥ २ ॥

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः। असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अधि। द्वयोः। अदधाः। उक्थ्यम्। वचः। यत-स्रुचा। मिथुना। या। सपर्यतः ॥ असम्-यत्तः। व्रते। ते। क्षेति। पुष्यति। भद्रा। शक्तिः। यजमानाय। सुन्वते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्!] (द्वयोः अधि) उन दोनों के ऊपर (उक्थ्यम्) बड़ाई के योग्य (वचः) वचन को (अदधाः) तू ने धारण किया है, (या) जो (यतस्रुचा) चमचा [भोजन साधन] लिये हुये (मिथुना) दोनों

---

१२० । होत्र—घप्रत्ययः । होत्राणामिदम् । दातव्यादातव्यम् (अवः) रक्षणम् (पश्यन्ति) प्रेक्षन्ते (विततम्) विस्तृतम् (यथा) येन प्रकारेण (प्राचैः) प्र+अञ्चतेः—घञर्थे कप्रत्ययः । प्राचीनैर्व्यवहारैः (देवासः) विद्वांसः (प्र) प्रकर्षेण । अग्रे (नयन्ति) प्रापयन्ति (देवयुम्) देव—क्यच्, उ । देवान् दिव्यगुणान् कामयमानम् (ब्रह्मप्रियम्) ईश्वरो वेदो वा प्रियो यस्य तम् (जोषयन्ते) जुषी प्रीतिसेवनयोः—स्वार्थे णिच् । सेवन्ते (वराः) श्रेष्ठाः पुरुषाः (इव) यथा ।

३—(अधि) उपरि (द्वयोः) स्त्रीपुरुषयोः (अदधाः) धारितवानसि (उक्थ्यम्) कथनीयं स्तुत्यम् (वचः) वचनम् (यतस्रुचा) यमु उपरमे—क्त । चिक् च । उ० २ । ६२ । स्रु गतौ—चिक् । यता नियताः स्रुचः चमसा भोजनसाधनानि याभ्यां तौ (मिथुना) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ ।

मिलनसार स्त्री पुरुष (सपर्यतः) सेवा करते हैं। वह [स्त्री वा पुरुष] (ते) तेरे (व्रते) नियम में (असंयत्तः) बे रोक [स्वतन्त्र] होकर (क्षेति) रहता है और (पुष्यति) पुष्ट होता है, (भद्रा) कल्याण करने हारी (शक्तिः) शक्ति (यजमानाय) यजमान [सत्कार, संगति और दान करने हारे] (सुन्वते) ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये [होती है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष विद्वानों के उपदेश और मार्ग पर चलकर स्वाधीनता के साथ भोजन आदि से आप सुख पाते और सब को सुख देते हैं॥३

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वय इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया। सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥४

आत्। अङ्गिराः। प्रथमम्। दधिरे। वयः। इद्ध-अग्नयः। शम्या। ये। सु-कृत्यया॥ सर्वम्। पणेः। सम्। अविन्दन्त। भोजनम्। अश्व-वन्तम्। गो-मन्तम्। आ। पशुम्। नरः॥४॥

भाषार्थ—(ये) जिन (इद्धाग्नयः) अग्नि के प्रकाश करने वाले (अङ्गिराः) अङ्गिराओं [ज्ञानी ऋषियों] ने (प्रथमम्) श्रेष्ठ (वयः) जीवन को (सुकृत्यया) सुन्दर रीति से करने योग्य (शम्या) शान्तिदायक कर्म से (दधिरे) धारण किया था, (आत्) तब ही (नरः) उन नेताओं ने (पणेः)

५५। मिथृ मेथृ संगमे वधे मेधायां च—उनन्, कित्। मिलितौ स्त्रीपुरुषौ (या) यौ (सपर्यतः) सपर पूजायाम्—कण्ड्वादित्वाद् यक्। सपर्यतिः परिचरणकर्मा—निघ० ३। ५। परिचरतः। सेवेते (असंयत्तः)। नञ्+सम्+यती प्रयत्ने—क्त। अनायत्तः। अवशीभूतः। स्वतन्त्रः (व्रते) नियमे (ते) तव (क्षेति) क्षि निवासगत्योः विकरणस्य लुक्। क्षियति। निवसति (पुष्यति) पुष्टो भवति (भद्रा) कल्याणी (शक्तिः) समर्थता (यजमानाय) पूजासंगतिदानशीलाय (सुन्वते) षु ऐश्वर्ये—शतृ, स्वादित्वं छान्दसम्। ऐश्वर्यवते ॥

४—(आत्) अनन्तरम् (अङ्गिराः) अ०१८। ३४। ५। अगि गतौ—किरच् नित्। विज्ञानिनः। ऋषयः (प्रथमम्) श्रेष्ठम् (दधिरे) (धारितवन्तः (वयः) जीवनम् (इद्धाग्नयः) प्रकाशिताग्नयः। अग्निविद्याकुशलाः (शम्या) शमु उपशमे—इन्, ङीष्। शान्तिप्रदेन कर्मणा—निघ० २। १ (ये) (सुकृत्यया)

उद्यम से (सर्वम्) सब (भोजनम्) भोजन [पालन साधन धन अन्न आदि], (अश्वावन्तम्) उत्तम घोड़ों वाले (आ) और (गोमन्तम्) उत्तम गौओं वाले (पशुम्) पशु समूह को (सम्) अच्छे प्रकार (अविन्दन्त) पाते हैं ॥४॥

भावार्थ—जो अग्नि विद्या में कुशल, पुरुषार्थी, विज्ञानी लोग धार्मिक कर्म कर के उत्तम जीवन बनाते हैं, वे ही उद्योग कर के सब प्रकार से सुख पाते हैं ॥ ४ ॥

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि । आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥५॥

यज्ञैः । अथर्वा । प्रथमः । पथः । तते । ततः । सूर्यः । व्रत-पाः । वेनः । आ । अजनि ॥ आ । गाः । आजत् । उशना । काव्यः । सचा । यमस्य । जातम् । अमृतम् । यजामहे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (अथर्वा) निश्चल परमात्मा ने (यज्ञैः) संगति कर्मों [परमाणुओं के मेलों] से (पथः) मार्गों को (तते) फैलाया, (ततः) फिर (व्रतपाः) नियम पालने वाला, (वेनः) पियारा (सूर्यः) सूर्य लोक (आ) सब ओर (अजनि) प्रकट हुआ । (उशना)

शोभनकर्तव्ययुक्तया (सर्वम्) (पशोः) पश व्यवहारे स्तुतौ च—कुन् । उद्योगात् (सम्) सम्यक् (अविन्दन्त) अलभन्त (भोजनम्) धननाम—निघ० २ । १० । भोजनसाधनं धनान्नादिकम् (अश्वावन्तम्) म० १ । प्रशस्ततुरङ्गयुक्तम् (गोमन्तम्) उत्तमधेनुयुक्तम् (आ) समुच्चये (पशुम्) पशुसमूहम् (नरः) नेतारः॥

५—(यज्ञैः) संगतिकरणैः । परमाणूनां संगमैः (अथर्वा) अ० ४ । १ । ७ । नञ् + थर्व चरणे = गतौ—वनिप्, वलोपः । निश्चलः परमेश्वरः (प्रथमः) सर्वेषामादिः (पथः) मार्गान् (तते) तनु विस्तारे—लिट्, छान्दसं रूपम् । तेने । विस्तारितवान् (सूर्यः) सवितृलोकः (व्रतपाः) नियमपालकः (वेनः) कमनीयः (आ) समन्तात् (अजनि) जनी प्रादुर्भावे—लुङ् । प्रादुरभूत् (आ) समन्तात् (गाः) गमनशीलान् पृथिव्यादिलोकान् (आजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ् । प्रक्षिप्तवान् । आकर्षणे धारितवान् (उशना) वशेः कनसि । उ०

पियारे, (काव्यः) बड़ाई योग्य उस [सूर्य] ने (गाः) पृथिवियों [चलते हुये लोकों] को (आ) सब ओर (आजत्) खींचा है, (यमस्य) उस नियम कर्ता परमेश्वर के (सचा) मेल से (जातम्) उत्पन्न हुये (अमृतम्) अमरण [मोक्ष सुख वा जीवन सामर्थ्य] को (यजामहे) हम पाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने आकाश, सूर्य, पृथिवी आदि लोक बनाकर हमें जीवन दिया है, उस बड़े जगदीश्वर की उपासना से विद्वान् लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख भोगें ॥ ५ ॥

बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि । ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यः तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रणयति ॥ ६ ॥

बर्हिः । वा । यत् । सु-अपत्याय । वृज्यते । अर्कः । वा । श्लोकम् । आ-घोषते । दिवि ॥ ग्रावा । यत्र । वदति । कारुः । उक्थ्यः । तस्य । इत् । इन्द्रः । अभि-पित्वेषु । रणयति ६

भाषार्थ—(यत्) जब (बर्हिः) उत्तम आसन (स्वपत्याय) गुणी सन्तान के लिये (वा) विचार पूर्वक (वृज्यते) छोड़ा जाता है, (वा) अथवा (अर्कः) पूजनीय विद्वान् (श्लोकम्) अपनी वाणी को (दिवि) व्यवहार के

---

४ । २३९ । वश कान्तौ—क्सि, सम्प्रसारणं च । ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च । पा० ७ । १ । ९४ । अनङ् आदेशः। सर्वनामस्थाने चा० । पा० ६ । ४ । ८ । उपधादीर्घः । हल्ङ्याब्भ्यो० । पा० ६ । १ । ६८ । सुलोपः । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य । पा० ८ । २ । ७ । नलोपः । कमनीयः (काव्यः) अ० ४ । १ । ६ । कवृ स्तुतौ-ण्यत् । स्तुत्यः सूर्यः (सचा) षच समवाये—क्विप् । सम्मेलनेन (यमस्य) सर्वनियन्तुः परमेश्वरस्य (जातम्) उत्पन्नम् । प्रसिद्धम् (अमृतम्) अमरणम् । मोक्षसुखं जीवनसामर्थ्यं वा (यजामहे) संगच्छामहे । प्राप्नुमः ॥

६—(बर्हिः) उत्तमासनम् (वा) वेति विचारणार्थे—निरु० १ । ४ । विचारपूर्वकम् (यत्) यदा (स्वपत्याय) गुणिने सन्तानाय (वृज्यते) वृजी वर्जने । त्यज्यते । दीयते (अर्कः) पूजनीयः पण्डितः (वा) अथवा (श्लोकम्) वाणीम् (आघोषते) घुषिर् विशब्दने । उच्चारयति (दिवि) व्यवहारे (ग्रावा)

बीच (आघोषते) कह सुनाता है। और (यत्र) जहां (ग्रावा) मेघ [के समान उपकारी], (उक्थ्यः) प्रशंसनीय (कारुः) शिल्पी विद्वान् (वदति) बोलता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (तस्य) इस [सब] के (इत्) ही (अभिपित्वेषु) सङ्ग्रामों में (रण्यति) आनन्द पाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस स्थान में विद्वान् गुणी सन्तानों का आदर होता है और जहां पर बड़े विज्ञानी शिल्पी लोग उत्तम उत्तम विद्याओं का आविष्कार करते हैं, वहां पर सब प्राणियों को सुख मिलता है ॥ ६ ॥

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः॥७॥

प्र । उग्राम् । पीतिम् । वृष्णे । इयर्मि । सत्याम् । प्र-यै । सुतस्य । हरि-अश्व । तुभ्यम् ॥ इन्द्र । धेनाभिः । इह । मादयस्व । धीभिः । विश्वाभिः । शच्या । गृणानः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे वायु समान फुरतीले घोड़ों वाले ! (वृष्णे तुभ्यम्) तुझ महाबली को (प्रयै) आगे चलने के लिये (सुतस्य) निचोड़ [सिद्धान्त] का (उग्राम्) तीव्र, (सत्याम्) सत्यगुण वाला (पीतिम्) घूंट (प्र इयर्मि) आगे रखता हूं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्]

मेघनाम—निघ० १। १०। मेघ इवोपकारी (यत्र) यस्मिन् देशे (वदति) उपदिशति (कारुः) शिल्पकर्त्ता विद्वान् (उक्थ्यः) प्रशंसनीयः (तस्य) पूर्वोक्तस्य सर्वस्य (इत्) एव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (अभिपित्वेषु) जनिदाच्यु०। उ० ४। १०४। पि गतौ—त्वन् प्रत्ययः। अभिप्राप्तिषु। संगमेषु (रण्यति) रमु क्रीडायाम्—छान्दसः श्यन् परस्मैपदं मकारस्य नत्वं च। रमते। आनन्दितो भवति ॥

७—(उग्राम्) तीव्राम् (पीतिम्) पानम् (वृष्णे) महाबलवते (प्र इयर्मि) ऋ गतौ जुहोत्यादिः। प्रेरयामि। अग्रे धरामि (सत्याम्) यथार्थगुणयुक्ताम् (प्रयै) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै। पा० ३। ४। १०। प्र+या गतिप्रापणयोः—कैप्रत्ययः, तुमर्थे। प्रयातुम्। अग्रे गन्तुम् (सुतस्य) (संस्कृतस्य) सिद्धान्तस्य (हर्यश्व) अ० ५। ३। ८। हृञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु—इन्+अशू

(धेनाभिः) वेदवाणियों द्वारा (इह) यहां पर (विश्वाभिः) समस्त (धीभिः) बुद्धियों से और (शच्या) कर्म से (गृणानः) उपदेश करता हुआ तू (मादयस्व) आनन्द दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य फुरतीली सेना वाला ज्ञानवान् और बलवान् हो, सब लोग आदर करके उस बुद्धिमान् कर्मकुशल की वैदिक शिक्षाओं से आनन्द पावें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १०४ । ३ और आगे है—अ०२०। ३३ ।२ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके द्वितीयः पर्यायः ॥

सूक्तम् २६ ॥ [सूक्तानि २६-३३ तृतीयः पर्यायः ॥]

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४, ६ गायत्री; ३ निचृद् गायत्री; ५ विराड् गायत्री ॥

१—३ सेनाध्यक्षलक्षणोपदेशः—१—३ सेनाध्यक्ष के लक्षण का उपदेश; ४—६ परमेश्वरगुणोपदेशः—४—६ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥१॥

योगे-योगे । तवः-तरम् । वाजे-वाजे । हवामहे ॥ सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(योगेयोगे) अवसर अवसर पर और (वाजेवाजे) सङ्ग्राम सङ्ग्राम के बीच (तवस्तरम्) अधिक बलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र [परम-ऐश्वर्यवान् पुरुष] को (ऊतये) रक्षा के लिये (सखायः) मित्र लोग हम (हवामहे) पुकारते हैं ॥ १ ॥

व्याप्नौ—क्वन्। हरी इन्द्रस्य—निघ० २। १। हरिर्वायुः। हे हरिभिर्वायुतुल्यैः शीघ्रगामिभिस्तुरङ्गैर्युक्त (तुभ्यम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् विद्वन् (धेनाभिः) धेट इच्च । उ०३ । ११ । धेट् पाने—नप्रत्ययः,टाप् । धेना वाङ्नाम-निघ०१ । ११ । वेदवाणीभिः (इह) अत्र (मादयस्व) आनन्दय (धीभिः) प्रज्ञाभिः (विश्वाभिः) सर्वाभिः (शच्या) अ०५ । ११ । ८ । शच व्यक्तायां वाचि—इन्, ङीष् । कर्मणा—निघ० २ । १ (गृणानः) उपदिशंस्त्वम् ॥

१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १६ । २४ । ७ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण विद्वान् पुरुषार्थी राजा के साथ मित्रता करके शत्रु से अपनी रक्षा का उपाय करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है—अ० १८ । २४ । ७ ॥

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः ।

वाजेभिरुप नो हवम् ॥ २ ॥

आ । घ । गमत् । यदि । श्रवत् । सहस्रिणीभिः । ऊतिभिः ॥

वाजेभिः । उप । नः । हवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो वह (आ गमत्) आवे, (घ) तो वह (सहस्रिणीभिः) सहस्रों उत्तम पदार्थ पहुंचानेवाली (ऊतिभिः) रक्षाओं से (वाजेभिः) अन्नों के साथ (नः) हमारी (हवम्) पुकार को (उप) आदर से (श्रवत्) सुने ॥ २ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष को चाहिये कि दूरदर्शी होकर आवश्यक अन्न आदि पदार्थों का संग्रह करके सब की यथावत् रक्षा करे ॥ २

मन्त्र २, ३ ऋग्वेद में है— १ । ३० । ८, ६, और सामवेद में है—उ० १ । २ । तृच ११ ॥

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।

यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥ ३ ॥

अनु । प्रत्नस्य । ओकसः । हुवे । तुवि-प्रतिम् । नरम् ॥ यम् । ते । पूर्वम् । पिता । हुवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (प्रत्नस्य) पुराने (ओकसः) घर के

२—(आ गमत्) गमेर्लेटि अडागमः । आगच्छेत् (यदि) चेत् (श्रवत्) शृणोतेर्लेटि अडागमः । शृणुयात् (सहस्रिणीभिः) प्रशंसार्थे इनिः । सहस्राणि प्रशस्तानि पदार्थप्रापणानि यासु ताभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः (वाजेभिः) अन्नैः (उप) पूजायाम् (नः) अस्माकम् (हवम्) आह्वानम् ॥

३—(अनु) निरन्तरम् (प्रत्नस्य) अ० २० । २४ । ६ । प्राचीनस्य (ओकसः) गृहस्य (हुवे) ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च— लटि छान्दसं रूपम् । अहं ह्वये । आह्वयामि

[उत्पन्न हुये] (तुविप्रतिम) बहुत पदार्थों के प्रत्यक्ष पहुंचाने वाले (नरम्) पुरुष को (अनु हुवे) मैं पुकारता रहता हूं, (यम्) जिस [पुरुष] को (पूर्वम्) पहिले काल में (ते) तेरा (पिता) पिता (हुवे) बुलाता था ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो कोई प्रतिष्ठित घराने का पुरुष अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाकर उपकार करे, उस को लोग आदर करके बुलावें ॥ ३ ॥

४—६ । परमेश्वरगुणोपदेशः । ४—६ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।

रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ४ ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥

रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तस्थुषः) मनुष्यादि प्राणियों और लोकों में (परि) सब ओर से (चरन्तम्) व्यापे हुये, (ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) हिंसा रहित [परमात्मा] को (रोचना) प्रकाशमान पदार्थ (दिवि) व्यवहार के बीच (युञ्जन्ति) ध्यान में रखते और (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमाणुओं से लेकर सूर्य आदि लोक और सब प्राणी सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता परात्मा की आज्ञा को मानते हैं, उसी की उपासना से मनुष्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करें ॥ ४ ॥

(तुविप्रतिम्) विनाऽपिप्रत्ययेन पूर्वोत्तरपदयोर्विभाषा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० ५ । ३ । ८३ । इति गमयितृ शब्दस्य लोपः । तुवीनां बहूनां पदार्थानां प्रतिगमयितारं प्रत्यक्षेण प्रापकम् (नरम्) नेतारम् (यम्) समाश्रयन्तम् (ते)तव(पूर्वम्) पूर्वकाले (पिता)जनकः(हुवे) ह्वेञ्—लिटि छान्दस रूपम् । जुहुवे । आहूतवान् ॥

४—(युञ्जन्ति) युज समाधौ । ध्यायन्ति (ब्रध्नम्) अ० ७ । २२ । २ । महान्तम्-निघ० ३ । ३ (अरुषम्) रुष हिंसायाम्—कप्रत्ययः । अहिंसकम् (चरन्तम्) व्याप्नुवन्तम् (परि) सर्वतः (तस्थुषः) तिष्ठतेः क्वसुः शसि रूपम् । तस्थुष इति मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्यादिप्राणिनो लोकांश्च (रोचन्ते) प्रकाशन्ते (रोचना) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—युच्, शेर्लोपः । रोचनानि । प्रकाशमानानि वस्तूनि (दिवि) व्यवहारे ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—१ । ६ । १—३, सामवेद में—उ० ६ । ३ । तृच १४ और आगे हैं—अ० २० । ४७ । १०—१२ तथा ६६ । ६—११ । मन्त्र ४, ५ यजुर्वेद में हैं— २३ । ५, ६ और मन्त्र ४ महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका उपासना विषय में व्याख्यात है ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ५ ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । वि-पक्षसा । रथे ॥
शोणा । धृष्णू इति । नृ-वाहसा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमात्मा—म० ४] के (काम्या) चाहने योग्य, (विपक्षसा) विविध प्रकार ग्रहण करने वाले, (शोणा) व्यापक, (धृष्णू) निर्भय, (नृवाहसा) नेताओं [दूसरों के चलाने वाले सूर्य आदि लोकों] के चलाने वाले (हरी) दोनों धारण आकर्षण गुणों को (रथे) रमणीय जगत् के बीच (युञ्जन्ति) वे [प्रकाशमान पदार्थ—म०४] ध्यान में रखते हैं ५

भावार्थ—जिस परमात्मा के धारण आकर्षण सामर्थ्य में सूर्य आदि पिण्ड ठहर कर अन्य लोकों और प्राणियों को चलाते हैं, मनुष्य उन सब पदार्थों से उपकार लेकर उस ईश्वर को धन्यवाद दें ॥ ५ ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥

५—(युञ्जन्ति) समाधौ कुर्वन्ति तानि रोचनानि—म० ४ (अस्य) परमेश्वरस्य—म० ४ (काम्या) कमु कान्तौ—एयत् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इत्यत्र सर्वत्र विभक्तेराकारः । कमनीयौ (हरी) हरणशीलौ धारणाकर्षणगुणौ (विपक्षसा) पक्ष परिग्रहे —असुन् । विविधग्रहणशीलौ (रथे) रमणीये जगति (शोणा) शोणृ वर्णगत्योः—घञ् । व्यापकौ (धृष्णू) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्नु । धर्षकौ । निर्भयौ (नृवाहसा) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । वह प्रापणे—असुन् णित् । नॄणां नेतॄणां सूर्यादिलोकानां गमयितारौ ॥

केतुम् । कृण्वन् । अकेतवे । पेशः । मर्याः । अपेशसे ॥
सम् । उषत्-भिः । अजायथाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मर्याः) हे मनुष्यो ! (अकेतवे) अज्ञान हटाने के लिये (केतुम्) ज्ञान को और (अपेशसे) निर्धनता मिटाने के लिये (पेशः) सुवर्ण आदि धन को (कृण्वन्) उत्पन्न करता हुआ वह [परमात्मा—मन्त्र० ५, ६] (उषद्भिः) प्रकाशमान गुणों के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके परमात्मा को विचारते हुये सृष्टि के पदार्थों से उपकार लेकर ज्ञानी और धनी होवें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—२९ । ३७ और महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ३०७ ग्रन्थप्रामण्याप्रामाण्य विषय में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडर्षी गायत्री; २, ४, ५ निचृद् गायत्री; ३, ६ गायत्री ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षणों का उपदेश ।

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । अहम् । यथा । त्वम् । ईशीय । वस्वः । इत् ॥
स्तोता । मे । गो-सखा । स्यात् ॥ १ ॥

६—(केतुम्) केतुरिति प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । प्रज्ञानम् (कृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः—शतृ । कुर्वन् सन् सः परमेश्वरः—म० ५, ६ (अकेतवे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इति तुमुनः कर्मणि चतुर्थी । अज्ञानं नाशयितुम् (पेशः) पिश गतौ—अवयवे दीपनायां च—असुन् । पेश इति हिरण्यनाम—निघ० १ । २ । पेश इति रूपनाम पिंशतेर्विपिशितं भवति निरु० ८ । ११ । सुवर्णादिधनं रूपं वा (मर्याः)मनुष्याः(अपेशसे)निर्धनतां नाशयितुम् (सम्) सम्यक् (उषद्भिः) उष दाहे—शतृ । प्रकाशमानैर्गुणैः (अजायथाः) प्रथमपुरुषस्य मध्यमपुरुषः । अजायत । प्रादुरभवत् ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) जब (यथा) जैसे जैसे (एकः) अद्वितीय (त्वम्) तू (इत्) ही (मे) मेरा [स्वामी होवे], (अहम्) मैं (वस्वः) धन का (ईशीय) स्वामी हो जाऊं, और (स्तोता) गुणों का व्याख्यान करने वाला [प्रत्येक पुरुष] (गोसखा) पृथिवी [अर्थात् तेरे राज्य] का मित्र (स्यात्) हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—अद्वितीय प्रतापी राजा विद्वान् गुणी पुरुषों का आदर करता रहे, जिस से सब लोग राज्य की वृद्धि में लगे रहें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १४ । १—६ मन्त्र १–३ सामवेद में हैं—उ० २ । ६ । तृच ६, और मन्त्र १ सामवेद में है—पू० २ । ३ । ७ ॥

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।

यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥

शिक्षेयम् । अस्मै । दित्सेयम् । शची-पते । मनीषिणे ॥

यत् । अहम् । गो-पतिः । स्याम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शचीपते) हे बुद्धि के स्वामी ! [राजन्] (अस्मै) इस (मनीषिणे) बुद्धिमान् [ब्रह्मचारी] को (शिक्षेयम्) मैं शिक्षा करूं और (दित्सेयम्) दान दूं, (यत्) जो (अहम्) मैं (गोपतिः) विद्या का स्वामी (स्याम्) हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् राजा आदि धनी लोग प्रबन्ध करें कि ब्रह्मचारी लोग निश्चिन्त होकर उत्तम शिक्षकों से उत्तम विद्या पावें ॥ २ ॥

१—(यत्) यदा (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (अहम्) (यथा) येन येन प्रकारेण (त्वम्) ईशिषे—इति शेषः (ईशीय) ईश्वरः स्वामी स्याम् (वस्वः) धनस्य (इत्) एव (एकः) अद्वितीयः (स्तोता) गुणानां व्याख्याता (मे) मम (गोसखा) गोःपृथिव्यास्तवराज्यस्य मित्रभूतः (स्यात्) भवेत् ॥

२—(शिक्षेयम्) शिक्षां दद्याम् (अस्मै) उपस्थिताय (दित्सेयम्) दा दाने—सन् प्रत्ययः । दातुमिच्छेयम् (शचीपते) अ० ३ । १० । १२ । शच व्यक्तायां वाचि—इन्, ङीष् । शची प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । हे बुद्धिस्वामिन् (मनीषिणे) बुद्धिमते ब्रह्मचारिणे (यत्) यदि (अहम्) पुरुषः (गोपतिः) गोर्विद्यायाः स्वामी (स्याम्) भवेयम् ॥

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥

धेनुः । ते । इन्द्र । सूनृता । यजमानाय । सुन्वते ॥
गाम् । अश्वम् । पिप्युषी । दुहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ते) तेरी (धेनुः) वाणी (सूनृता) प्यारी और सच्ची और (पिप्युषी) बढ़ती करने वाली होकर (सुन्वते) तत्त्व निचोड़ने वाले (यजमानाय) यजमान [विद्वानों का सत्कार, सत्संग और विद्या आदि दान करने वाले] के लिये (गाम्) भूमि, विद्या वा गौओं और (अश्वम्) घोड़ों को (दुहे) भर पूर करती है ॥३

भावार्थ—सत्यवादी ऐश्वर्यवान् राजा सत्कार करके विद्वानों की उन्नति करके राज्य की उन्नति करे ॥ ३ ॥

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।
यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ ४ ॥

न । ते । वर्ता । अस्ति । राधसः । इन्द्र । देवः । न । मर्त्यः ॥
यत् । दित्ससि । स्तुतः । मघम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ते) तेरे (राधसः) ऐश्वर्य का (वर्ता) रोकने वाला, (न) न तो (देवः) विद्वान् पुरुष और (न) न (मर्त्यः) सामान्य पुरुष (अस्ति) है , (यत्) जब कि

३—(धेनुः) वाक्-निघ० १ । ११ (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सूनृता) अ० ३ । १२ । २ प्रियसत्यात्मिका (यजमानाय) देवपूजा-संगतिकरणविद्यादिदानकारकाय (सुन्वते) तत्त्वनिष्पादनं कुर्वते (गाम्) भूमिं विद्यां गोसमूहं वा (अश्वम्) अश्वसमूहम् (पिप्युषी) ओ प्यायी वृद्धौ, कसु, ङीप् । वर्धयित्री (दुहे) तलोपः । दुग्धे । प्रपूरयति ॥

४—(न) निषेधे (ते) तव (वर्ता) निवारकः (अस्ति) (राधसः) ऐश्वर्यस्य (इन्द्र) (देवः) विद्वान् पुरुषः (न) निषेधे (मर्त्यः) सामान्यो मनुष्यः (यत्)

(स्तुतः) स्तुति किया गया तू (मघम्) धन (दित्सति) देना चाहता है ॥ ४ ।

भावार्थ—राजा अपने उत्तम गुणों से अनुपम होकर सुपात्रों को दान देकर उन्नति करे ॥ ४ ॥

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥ ५ ॥

यज्ञः । इन्द्रम् । अवर्धयत् । यत् । भूमिम् । वि । अवर्तयत्॥
चक्राणः । ओपशम् । दिवि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यज्ञः) यज्ञ [विद्वानों के सत्कार, सत्संग और विद्या आदि दान] ने (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (अवर्धयत्) बढ़ाया है, (यत्) जब कि (दिवि) व्यवहार के बीच (ओपशम्) पूरा उद्योग (चक्राणः) कर चुकते हुये उसने (भूमिम्) भूमि को (वि अवर्तयत्) व्याख्यात किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य पृथिवी पर प्रत्येक काम को योग्यता से करता है, तब वह उन्नति करके कीर्ति पाता है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र सामवेद में है पू० २ । ३ । ७ तथा उ० ८ । १ । ६ ॥

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।
ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥ ६ ॥

ववृधानस्य । ते । वयम् । विश्वा । धनानि । जिग्युषः ॥
ऊतिम् । इन्द्र । आ । वृणीमहे ॥ ६ ॥

यदा (दित्सति) दातुमिच्छसि (स्तुतः) (मघम्) मंहनीयं धनम् ॥

५—(यज्ञः) देवपूजासंगतिकरणविद्यादिदानव्यवहारः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (अवर्धयत्) वर्धितवान् (यत्) यदा (भूमिम्) (वि अवर्तयत्) विवृतां व्याख्यातां कृतवान् (चक्राणः) करोतेः—कानच् । कृतवान् सन् (ओपशम्) अ० ६ । १३८ । १ । आङ्+उप+शीङ् शयने—ड । ओपशः = उपशयः = उपयोगः । समन्तादुपयोगम् (दिवि) व्यवहारे ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ववृधानस्य) बढ़ते हुये और (विश्वा) सब (धनानि) धनों को (जिग्युषः) जीत चुकने वाले (ते) तेरी (ऊतिम्) रक्षा को (वयम्) हम (आ) सब ओर से (वृणीमहे) मांगते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब राजा पराक्रमी और धनी होता है, तब प्रजागण सुरक्षित रह कर उस राज्य की वृद्धि चाहते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद्गायत्री; २—४ गायत्री ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर को उपासना का उपदेश ॥

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।

इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ १ ॥

वि । अन्तरिक्षम् । अतिरत् । मदे । सोमस्य । रोचना ॥

इन्द्रः । यत् । अभिनत् । वलम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (सोमस्य) ऐश्वर्य के (मदे) आनन्द में (रोचना) प्रीति के साथ (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि अतिरत्) पार किया है, (यत्) जब कि उस ने (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (अभिनत्) तोड़ डाला ॥ १ ॥

भावार्थ—सब से महान् और पूजनीय परमेश्वर की उपासना से सब मनुष्य उन्नति करें ॥ १ ॥

६—(ववृधानस्य) वर्धमानस्य (ते) तव (वयम्) प्रजाजनाः (विश्वा) सर्वाणि (धनानि) (जिग्युषः) जि जये—क्वसु । जितवतः (ऊतिम्) रक्षाम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (आ) समन्तात् (वृणीमहे) याचामहे ॥

१—(वि) विविधम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (अतिरत्) पारं कृतवान् (मदे) आनन्दे (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (रोचना) विभक्तेराकारः । रोचनया । प्रीत्या (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (यत्) यदा (अभिनत्) व्यदारयत् (वलम्) हिंसकं विघ्नम् ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८। १४। ७—१० और आगे है—अ० २०। ३९। २—५। मन्त्र १, २ सामवेद में है—उ० ८। १। तृच ६॥

उद्गा आ॑ज॒दङ्गि॑रोभ्य आ॒विष्कृ॒ण्वन् गुहा॑ स॒तीः।
अ॒र्वाञ्चं॑ नुनुदे व॒लम्॥ २॥

उत्। गाः। आ॒ज॒त्। अङ्गि॑रः-भ्यः। आ॒विः। कृ॒ण्वन्। गुहा॑। स॒तीः॥ अ॒र्वाञ्च॑म्। नु॒नु॒दे॒। व॒लम्॥ २॥

भाषार्थ—(गुहा) गुहा [गुप्त अवस्था] में (सतीः) वर्तमान (गाः) वाणियों को (आविः कृण्वन्) प्रकट करते हुये उस [परमेश्वर] ने (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (उत् आजत्) ऊंचा पहुंचाया और (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (अर्वाञ्चम्) नीचे (नुनुदे) हटाया है॥ २॥

भावार्थ—प्रलय के पीछे परमात्मा ने वेदों का उपदेश करके हमारे सब विघ्न मिटाये हैं॥ २॥

इन्द्रे॑ण रोच॒ना दि॒वो दृ॒ळ्हानि॑ दृंहि॒तानि॑ च।
स्थि॒राणि॒ न प॑रा॒णुदे॑॥ ३॥

इन्द्रे॑ण। रो॒च॒ना। दि॒वः। दृ॒ळ्हानि॑। दृं॒हि॒तानि॑। च॒॥ स्थि॒राणि॑। न। प॒रा॒-नुदे॑॥ ३॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] करके (दिवः) व्यवहार के (स्थिराणि) ठहराऊ (रोचना) प्रकाश (न पराणुदे)

२—(उत्) ऊर्ध्वम् (गाः) वाणीः। विद्याः (आजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ्। अगमयत् (अङ्गिरोभ्यः) अ० २। १२। ४। विज्ञानिभ्यः (आविष्कृण्वन्) प्रकटयन् (गुहा) गुहायाम्। गुप्तावस्थायाम् (सतीः) विद्यमानाः (अर्वाञ्चम्) अधोगतम् (नुनुदे) प्रेरितवान् (वलम्) हिंसकं विघ्नम्॥

३—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता परमात्मना (रोचना) रोचनानि। प्रकाशाः (दिवः) व्यवहारस्य (दृह्लानि) दृह वृद्धौ—क्त। दृढीकृतानि (दृंहितानि) दृहि वृद्धौ—क्त। वर्धितानि। विस्तारितानि (च) (स्थिराणि)

न हटने के लिये (दृढ्लानि) पक्के किये गये (च) और (दृंहितानि) बढ़ाये गये [फैलाये गये] हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपने अटल नियमों से सब संसार को सुख दिया है ॥ ३ ॥

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।

वि ते मदा अराजिषुः ॥ ४ ॥

अपाम् । ऊर्मिः । मदन्-इव । स्तोमः । इन्द्र । अजिर-यते ।

वि । ते । मदाः । अराजिषुः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (स्तोमः) बड़ाई (अपाम्) जलों की (मदन्) हर्ष बढ़ाने वाली (ऊर्मिः इव) लहर के समान (अजिरायते) वेग से चलती है, और (मदाः) आनन्द (वि अराजिषुः) विराजते हैं [विविध प्रकार ऐश्वर्य बढ़ाते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—न्यायकारी जगदीश्वर की उत्तम नीति को मानकर सब लोग आनन्द पाकर शीघ्र ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी गायत्री; २—४ गायत्री; ५ निचृद् गायत्री ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

स्थितिशीलानि (न) निषेधे (पराणुदे) परा+णुद प्रेरणे—क्विप् । परानोदनाय । दूरे प्रेरणाय ॥

४—(अपाम्) जलानाम् (ऊर्मिः) तरङ्गः (मदन्) आनन्दयन् (इव) यथा (स्तोमः) स्तुतिः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (अजिरायते) अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । अज गतिक्षेपणयोः—किरच् । अजिरं क्षिप्रनाम—निघ० २ । १५ । तत्करोतीत्युपसंख्यानं सूत्रयत्याद्यर्थम् । वा० पा० । ३ । १ । २६ । अजिर—णिच्, सांहितिको दीर्घः । अजिरं क्षिप्रं करोति । शीघ्रं गच्छति (वि) विविधम् (ते) तव (मदाः) आनन्दाः (अराजिषुः) लडर्थे लुङ् । राजतीति ऐश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । ऐश्वर्यं वर्धयन्ति । शोभन्ते ॥

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः ।
स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ॥ १ ॥

त्वम् । हि । स्तोम-वर्धनः । इन्द्र । असि । उक्थ-वर्धनः ॥
स्तोतॄणाम् । उत । भद्र-कृत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू (हि) ही (स्तोमवर्धनः) स्तुतियों से बढ़ाने योग्य और (उक्थवर्धनः) यथार्थ वचनों से सराहने योग्य (उत) और (स्तोतॄणाम्) गुण व्याख्याताओं का (भद्रकृत्) कल्याण करने वाला (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा उत्तम गुणी और पराक्रमी होवे कि सब लोग उसके गुणों से सुखी होवें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १४ । ११—१५ ॥

इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः ।
उप यज्ञं सुराधसम् ॥ २ ॥

इन्द्रम् । इत् । केशिना । हरी इति । सोम-पेयाय । वक्षतः ॥
उप । यज्ञम् । सु-राधसम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(केशिना) सुन्दर केशों [कन्धे आदि के बालों] वाले (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (सुराध-

---

१—(त्वम्) (हि) एव (स्तोमवर्धनः) कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । स्तोम+वृधु वर्धने-अर्हार्थे ल्युट् । स्तुतिभिर्वर्द्धनीयः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (असि) (उक्थवर्धनः) ल्युट् पूर्ववत् । यथार्थवचनैर्वर्धनीयः (स्तोतॄणाम्) गुणव्याख्यातॄणाम् (उत) अपि च (भद्रकृत्) कल्याणस्य कर्ता ॥

२—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् । (इत्) एव (केशिना) प्रशस्तकेशयुक्तौ । स्कन्धादिचिक्कणबालोपेतौ (हरी) रथस्य वाहकावश्वाविव बल-

सम्) महाधनी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (इत्) ही (सोमपेयाय) ऐश्वर्य की रक्षा के लिये (यज्ञम् उप) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] की ओर (वक्षतः) लावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम उत्साही पुरुष का श्रेष्ठ वस्तुओं से आदर करके उसके योग्य प्रबन्ध से सुखी होवें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० २० । ३ । २ ॥

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।

विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ३ ॥

अपाम् । फेनेन । नमुचेः । शिरः । इन्द्र । उत् । अवर्तयः ॥

विश्वाः । यत् । अजयः । स्पृधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (अपाम्) जलों के (फेनेन) फेन [झाग के समान हलके तीक्ष्ण शस्त्र विशेष] से (नमुचेः) न छुटने योग्य [दण्डनीय पापी] के (शिरः) शिर को (उत् अवर्तयः) तू ने उछाल दिया है, (यत्) जब कि (विश्वाः) सब (स्पर्धः) झगड़ने वाली सेनाओं को (अजयः) तू ने जीता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति पानी के झाग के समान हलके तीक्ष्ण चक्र आदि हथियारों से शत्रु का शिर काटकर उसकी सेना को जीते ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—१९ । ७१ तथा सामवेद—पू० ३ । २ । ८

पराक्रमौ (सोमपेयाय) अचो यत् पा० ३ । १ । ९७ । सोम+पा रक्षणे-यत् । ईद्यति । पा० ६ । ४ । ६५ । आकारस्य ईकारः । ऐश्वर्यस्य रक्षणाय (वक्षतः) वह प्रापणे—लेट् । वहताम् । प्रापयताम् (उप) प्रति (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सुराधसम्) बहुधनवन्तम् ॥

३—(अपाम्) जलानाम् (फेनेन) फेनवल्लघुतीक्ष्णशस्त्रविशेषेण (नमुचेः) अ० २० । २१ । ७ । अमोचनीयस्य दण्डनीयस्य पापिनः (शिरः) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (उदवर्तयः) ऊर्ध्वं गमितवानसि (विश्वाः) सर्वाः (यत्) यदा (अजयः) जितवानसि (स्पृधः) स्पर्ध संघर्षे—क्विप्, रेफस्य ऋकारः अकारलोपश्च । स्पर्धमानाः । युध्यमानाः शत्रुसेनाः ॥

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः ।
अव दस्यूँरधूनुथाः ॥ ४ ॥

मायाभिः । उत्-सिसृप्सतः । इन्द्र । द्याम् । आ-रुरुक्षतः ॥
अव । दस्यून् । अधूनुथाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (उत्सिसृप्सतः उछलते हुये और (द्याम्) आकाश को (आरुरुक्षतः) चढ़ते हुये (दस्यून्) डाकुओं को तू ने (मायाभिः) अपनी बुद्धियों से (अव अधूनुथाः) औंधा गिरा दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो शत्रु लोग विमान आदि से आकाश में चढ़ कर उपद्रव मचावें, युद्ध कुशल सेनापति विमान आदि में चढ़ कर उन्हें गिरावे ॥ ४ ॥

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः ।
सोमपा उत्तरो भवन् ॥ ५ ॥

असुन्वाम् । इन्द्र । सम्-सदम् । विषूचीम् । वि । अनाशयः ॥
सोम-पाः । उत्-तरः । भवन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (सोमपाः) ऐश्वर्य का रक्षक और (उत्तरः) बड़ा विजयी (भवन्) हो कर तूने (असुन्वाम्)

४—(मायाभिः) प्रज्ञाभिः (उत्सिसृप्सतः) सृप्लृ गतौ—सनि शतृ । उत्सर्पणेच्छून् । ऊर्ध्वगमनेच्छून् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (द्याम्) आकाशम् (आरुरुक्षतः) रुह प्रादुर्भावे—सनि शतृ । आरोहणेच्छून् (अव) अधोमुखम् (दस्यून्) उपक्षेप्तॄन् । दुष्टान् । चौरान् (अधूनुथाः) धूञ् कम्पने—लङ् । कम्पितवान् प्रेरितवानसि ॥

५—(असुन्वाम्) षुञ् अभिषवे—शानच्, स्वादिभ्यः श्नुः, ततष्टाप्, अमि कृते नकारलोपः । असुन्वानाम् । अभिषवं बलिं राजग्राह्यं भागं न ददतीम् (इन्द्र) (संसदम्) जनसंहतिम् (विषूचीम्) नानागतिम् (वि) विशेषेण (अना-

भेंट न देती हुई (विषूचीम्) इतर वितर चलती हुयी (संसदम्) भीड़ का (वि अनाशयः) विनाश कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विजयी सेनापति कट्टर लुटेरे शत्रुओं का नाश करके ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१—५॥ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती; २—४ निचृज्जगती; ५ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

बलपराक्रमोपदेशः—बल और पराक्रम का उपदेश ॥

प्र ते महे विदथे शंसिषं हरी प्र ते वन्वे वनुषो हर्यतं मदम् । घृतं न यो हरिभिश्चारु सेचत आ त्वा विशन्तु हरिवर्पसं गिरः ॥ १ ॥

प्र । ते । महे । विदथे । शंसिषम् । हरी इति । ते । वन्वे । वनुषः । हर्यतम् । मदम् ॥ घृतम् । न । यः । हरि-भिः । चारु । सेचते । आ । त्वा । विशन्तु । हरि-वर्पसम् । गिरः ॥ १

भाषार्थ—[हे शूर !] (महे) बड़े (विदथे) समाज के बीच (ते) तेरे (हरी) दुख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम की (प्र शंसिषम्) मैं प्रशंसा करता हूं, और (वनुषः ते) तुझ शूर के (हर्यतम्) कामना योग्य (मदम्) आनन्द को (प्र वन्वे) मांगता हूं । (यः) जो आप (हरिभिः) वीर

शयः) नाशितवानसि (सोमपाः) ऐश्वर्यरक्षकः (उत्तरः) उत्+तॄ अभिभवे-अप् । उत्कर्षेण विजयी (भवन्) सन् ॥

१—(प्र) (ते) तव (महे) मह पूजायाम्—यज्ञर्थे क । महति (विदथे) अ० १ । १३ । ४ । विद ज्ञाने—अथप्रत्ययः । समाजे (शंसिषम्) शंसु स्तुतौ—लडर्थे लुङ्, अडभावः । स्तौमि (हरी) दुःखहरणशीलौ बलपराक्रमौ (प्र (ते) तव (वन्वे) वनु याचने-लट् । अहं याचे (वनुषः) जनेरुसि । उ० २ । ११५ । वन हिंसायाम्—उसि । शत्रुहिंसकस्य शूरस्य (हर्यतम्) भृमृदशियजि० । उ० ३ । ११० । हर्य कान्तौ—अतच् । कमनीयम् (मदम्) आनन्दम् (घृतम्) उदकम् (न) इव (यः) भवान् (हरिभिः)

पुरुषों के साथ (घृतम् न) जल के समान (चारु) रमणीय धन को (सेचते) बरसाते हैं, (हरिवर्पसम्) सिंहरूप (त्वा) उस तुझ में (गिरः) स्तुतियां (आ) सब ओर से (विशन्तु) प्रवेश करें ॥ १ ॥

भावार्थ—बली, पराक्रमी, धनी दानी पुरुष संसार में बड़ाई पाता है॥१

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ९६ । १—५ ।

इस सूक्त का मिलान करो ऋग्वेद—म० ३ । सू० ४४ ॥

हरिं हि योनिमभि ये समस्वरन् हिन्वन्तो हरी दिव्यं यथा सदः । आ यं पृणन्ति हरिभिर्न धेनव इन्द्राय शूषं हरिवन्तमर्चत ॥ २ ॥

हरिम् । हि । योनिम् । अभि । ये । सम्-अस्वरन् । हिन्वन्तः । हरी इति । दिव्यम् । यथा । सदः ॥ आ । यम् । पृणन्ति । हरि-भिः । न । धेनवः । इन्द्राय । शूषम् । हरि-वन्तम् । अर्चत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हरी) दुख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम को (हिन्वन्तः) बढ़ाते हुये (ये) जो लोग (दिव्यम्) दिव्य गुण वाले (सदः यथा) समाज के समान (हरिम्) दुख मिटाने वाले [सेनापति] को (हि) निश्चय करके (योनिम् अभि) न्याय घर में (समस्वरन्) अच्छे प्रकार सराहते हैं,

---

वीरमनुष्यैः (चारु) रमणीयं धनम् (सेचते) सिञ्चति । वर्षयति (आ) समन्तात् (त्वा) त्वाम् (विशन्तु) प्रविशन्तु । प्राप्नुवन्तु (हरिवर्पसम्) वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । वृङ् वरणे-असुन् पुट् च । वर्पो रूपनाम—निघ० ३ । ७ । हरेः सिंहस्य रूपमिव रूपं यस्य तम् । महाबलवन्तम् (गिरः) स्तुतयः ॥

२—(हरिम्) दुःखहर्तारं सेनापतिम् (हि) निश्चयेन (योनिम्) न्यायगृहम् (अभि) प्रति (ये) पुरुषाः (समस्वरन्) स्वृ शब्दोपतापयोः—लडर्थे लङ् । सम्यक् स्तुवन्ति (हिन्वन्तः) हि गतिवृद्धयोः—शतृ । वर्धयन्तः (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (दिव्यम्) उत्तमगुणविशिष्टम् (यथा)

और (यम्) जिस [सेनापति] को (हरिभिः) शूर पुरुषों सहित (धेनवः न) गौओं के समान [जो] (आ) सब ओर से (पृणन्ति) तृप्त करते हैं, (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिये (शूषम्) सुख से (हरिवन्तम्) उस शूर पुरुषों वाले [सेनापति को (अर्चत) तुम पूजो ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण न्यायकारी वीर राजा को शूर विद्वानों के सहित प्रसन्न करके आनन्दित रहें ॥ २ ॥

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः । द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ॥ ३ ॥

सः । अस्य । वज्रः । हरितः । यः । आयसः । हरिः । नि-कामः । हरिः । आ । गभस्त्योः ॥ द्युम्नी । सु-शिप्रः । हरि-मन्यु-सायकः । इन्द्रे । नि । रूपा । हरिता । मिमिक्षिरे ॥३॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सेनापति] का (सः) वह (हरितः) शत्रुनाशक, (आयसः) लोहे का बना (वज्रः) वज्र [शस्त्र] है, (यः) जो (गभस्त्योः) दोनों भुजाओं पर (निकामः) बड़ा प्रिय, (हरिः) सिंह [के समान] (आ) और (हरिः) सूर्य [के समान] (द्युम्नी) तेजस्वी, (सुशिप्रः)

(सदः) समाजः (आ) समन्तात् (यम्) सेनापतिम् (पृणन्ति) पृण तर्पणे । तर्पयन्ति (हरिभिः) शूरमनुष्यैः सह (न) यथा (धेनवः) गावः (इन्द्राय) ऐश्वर्याय (शूषम्)शूषं सुखनाम—निघ० ३ । ६ । सुखेन (हरिवन्तम्) शूरपुरुषै र्युक्तम् (अर्चत) पूजयत ॥

३—(सः) प्रसिद्धः (अस्य) सेनापतेः (वज्रः) दण्डशस्त्रम् (हरितः) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ ।९३ । हृञ् नाशने—इतन् । शत्रुनाशकः (यः) वज्रः (आयसः) लोहनिर्मितः (हरिः) सिंह इव (निकामः) नितरां कमनीयः प्रियः (हरिः) सूर्य इव (आ) समुच्चये (गभस्त्योः) गम्यते ज्ञायते इति गः विषयः, गम-ड, तं बभस्ति भासयति दीपयतीति । क्विच्कौ च । पा० ३।३।७। भस दीप्तौ—क्विन् । गभस्ती बाहुनाम—निघ० २।४। भुजयोः (द्युम्नी) अ०

बहुत काटने वाला [बड़ा कंटीला वा दन्तीला] और (हरिमन्युसायकः) सर्प [के समान शत्रु] के क्रोध का नाश करने वाला है। (इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सेना पति] में (हरिता) स्वीकार करने योग्य (रूपा) रूप [सुन्दरपन] (नि) दृढ़ करके (मिमिक्षिरे) सींचे गये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेना पति दृढ़ तीक्ष्ण हथियारों से शत्रुओं का नाश करके अपने उत्तम गुणों से प्रजा का पालन करे ॥ ३ ॥

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद् वज्रो हरितो न रंह्या । तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिंभरः ॥ ४ ॥

दिवि । न । केतुः । अधि । धायि । हर्यतः । विव्यचत् । वज्रः । हरितः । न । रंह्या ॥ तुदत् । अहिम् । हरि-शिप्रः । यः । आयसः । सहस्र-शोकाः । अभवत् । हरिम्-भरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (हर्यतः) रमणीक (केतुः) प्रकाश (दिवि) आकाश में (अधि) ऊपर (धायि) रक्खा गया है, (वज्रः) वह वज्रधारी (रंह्या) वेग के साथ (हरितः न) सिंह के समान (विव्यचत्) व्याप गया,

---

६।३५।३। द्युत दीप्तौ—नप्रत्ययः, कित्, तस्य मः, द्युम्न-इनि । दीप्तिमान् (सुशिप्रः) अ०२०।४।१। शिञ् निशाने छेदने—रक् पुक् च । बहुच्छेदकः। बहुकण्टकः। बहुदन्तः (हरिमन्युसायकः) हरेः सर्पस्येव शत्रोः क्रोधस्य नाशकः (इन्द्रे) परमैश्वर्यवति सेनापतौ (नि) नितराम् (रूपा) सौन्दर्याणि (हरिता) हञ् स्वीकारे-इतन् । स्वीकरणीयानि (मिमिक्षिरे) मिह सेचने—सन्—कर्मणि लडर्थे लिट् । मेढुं सेक्तुम् इष्टानि भवन्ति । सिक्तानि सन्ति ॥

४—(दिवि) प्रकाशे (न) यथा (केतुः) प्रज्ञापकः प्रकाशः (अधि) उपरि (धायि) अधायि । निहितो वर्तते (हर्यतः) कमनीयः (विव्यचत्) व्यच व्याजीकरणे, वेदे व्याप्तौ—णिचिलुङ्, अडभावः । व्याप्नोत् (वज्रः) अर्श आद्यच् । वज्रवान् (हरितः) सिंहः (न) इव (रंह्या) रंहणेन वेगेन (तुदत्) अतुदत् । हिंसितवान् (अहिम्) आहन्तारं सर्पमिव शत्रुम् (हरिशिप्रः) स्फा-

और (आयसः) लोहे के बने हुये [अति दृढ़], (हरिशिप्रः) सिंह के समान मुख वाले (यः) जिस ने (अहिम्) सर्प [समान शत्रु] को (तुदत्) छेदा, है, वह (सहस्रशोकाः) सहस्रों प्रकाश वाला होकर (हरिंभरः) मनुष्यों का पालने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेजस्वी न्यायकारी राजा दुष्ट पापियों को शीघ्र दण्ड देकर अनेक प्रकार से प्रजा का पालन करे ॥ ४ ॥

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः । त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्य१मसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥५॥

त्वम्-त्वम् । अहर्यथाः । उप-स्तुतः । पूर्वेभिः । इन्द्र । हरि-केश । यज्व-भिः ॥ त्वम् । हर्यसि । तव । विश्वम् । उक्थ्यम् । असामि । राधः । हरि-जात । हर्यतम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हरिकेश) हे सूर्य समान तेज वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (पूर्वेभिः) समस्त (यज्वभिः) यज्ञ करने वालों करके (उपस्तुतः) आदर से स्तुति किया गया (त्वं-त्वम्) तू ही तू (अहर्यथाः) प्रिय हुआ है । (हरिजात) हे मनुष्यों में

यितश्चित्रञ्चि०।उ०२।१३। शिञ् निशाने छेदने—रक्, पुक् च । शिप्रे हनू नासिके वा—निरु०६।१७। हरेः सिंहस्य मुखमिव मुखं यस्य सः (यः) (आयसः) लोहनिर्मितः । अतिदृढः (सहस्रशोकाः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृति-स्वरत्वं च। उ० ४।२२७। सहस्र+ईशुचिर् पूतीभावे—असि । सहस्रप्रकाशः (अभवत्) (हरिंभरः) संज्ञायां भृतॄवृजि०। पा० ३।२।४६। हरि+भृञ् भरणे-खच्, मुमागमः । हरयो मनुष्याः निघ०३।२। मनुष्याणां पोषकः ॥

५—(त्वंत्वम्) त्वमेव (अहर्यथाः) अकामयथाः । प्रियोऽभवः (उपस्तुतः) आदरेण प्रशंसितः (पूर्वेभिः) समस्तैः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (हरिकेश) केशा रश्मयः ··· काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा—निरु० १२ । २५ । हे सूर्यवत् प्रकाशवन् (यज्वभिः) सुयजोर्ङ्वनिप्। पा० ३ । २ । १०३ । यज देवपूजादिषु ङ्वनिप् । यज्ञकर्तृभिः (त्वम्) (हर्यसि) कामयसे (तव) (विश्वम्) सर्वम्

प्रसिद्ध ! (त्वम्) तू (हर्यसि) प्रीति करता है, (विश्वम्) सब (उक्थ्यम्) बड़ाई योग्य वस्तु और (असामि) न समाप्त होने वाला [अनन्त] (हर्यतम्) चाहने योग्य (राधः) धन (तव) तेरा है॥ ५ ॥

भावार्थ—शुभ गुणों के कारण जिस राजा से सब विद्वान् प्रीति करते हैं और जो सबसे प्रीति करता है, उसके राज्य में बहुत सम्पत्ति और धन होता है ५

सूक्तम् ॥ ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी जगती; २, ३ जगती; ४, ५ निचृज् जगती ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी। पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे ॥१॥

ता । वज्रिणम् । मन्दिनम् । स्तोम्यम् । मदे । इन्द्रम् । रथे । वहतः । हर्यता । हरी इति ॥ पुरूणि । अस्मै । सवनानि । हर्यते । इन्द्राय । सोमाः । हरयः । दधन्विरे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ता) वे दोनों (हर्यता) प्यारे (हरी) दुख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम (वज्रिणम्) वज्रधारी, (मन्दिनम्) आनन्दकारी, (स्तोम्यम्) स्तुति योग्य (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (मदे) सुख के लिये (रथे) रमण साधन जगत् में (वहतः) ले चलते हैं।

(उक्थ्यम्) प्रशस्यम् (असामि) भुवः कित् । उ० ४ । ४५ । षो अन्तकर्मणि—मिप्रत्ययः । असामि सामिप्रतिषिद्धं सामि स्यतेः ··· असुसमाप्तम्—निरु० ६ । २३ । असमाप्तम् । अनन्तम् (राधः) धनम् (हरिजात) हे हरिषु मनुष्येषु प्रसिद्ध (हर्यतम्) कमनीयम् ॥

१—(ता) तौ प्रसिद्धौ (वज्रिणम्) वज्रधारिणम् (मन्दिनम्) अ० २० । १७ । ४ । मोदयितारम् (स्तोम्यम्) स्तुतियोग्यम् (मदे) आनन्दाय (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (रथे) रमणसाधने जगति (वहतः) प्रापयतः । गमयतः (हर्यता) हर्य कान्तौ—अतच् । हर्यतौ कमनीयौ (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (पुरूणि) बहूनि (अस्मै) (सवनानि) ऐश्वर्याणि

(सोमाः) शान्त स्वभाव वाले (हरयः) मनुष्यों ने (अस्मै) इस (हर्यते) प्यारे (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिये (पुरूणि) बहुत से (सवनानि) ऐश्वर्य (दधन्विरे) प्राप्त किये हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म के साथ बल और पराक्रम करके संसार को आनन्द देता है, सब लोग मान आदर करके उस का ऐश्वर्य बढ़ाते हैं ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ९६ । ६—१० ॥

अरं कामा॑य॒ हर॑यो दधन्विरे स्थि॒राय॑ हिन्व॒न् हर॑यो॒ हरी॑ तु॒रा। अर्व॑द्भि॒र्यो हरि॑भि॒र्जोष॒मीय॑ते॒ सो अ॑स्य॒ कामं॒ हरि॑वन्तमानशे

अर॑म् । कामा॑य । हर॑यः । द॒ध॒न्वि॒रे॒ । स्थि॒राय॑ । हि॒न्व॒न् । हर॑यः । हरी॒ इति॑ । तु॒रा ॥ अर्व॑त्-भिः । यः । हरि॑-भिः । जोष॑म् । ईय॑ते । सः । अ॒स्य॒ । काम॑म् । हरि॑-वन्तम् । आ॒न॒शे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हरयः) सिंह [समान बलवान्] (हरयः) दुख हरने वाले मनुष्यों ने (कामाय) कामना पूरी करने के लिये (तुरा) शीघ्रकारी (हरी) दुख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम को (स्थिराय) दृढ़ स्वभाव वाले [सेनापति] के निमित्त (अरम्) पूरा पूरा (दधन्विरे) प्राप्त किया और (हिन्वन्) बढ़ाया है । (यः) जो मनुष्य (अर्वद्भिः) घोड़ों [के समान

(हर्यते) वर्तमाने पृषद्बृहन् महज्० । उ० २ । ८४ । हर्य कान्तौ—अति-प्रत्ययः । कमनीयाय (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (सोमाः) शान्तस्व-भावाः (हरयः) मनुष्याः (दधन्विरे) धवि गतौ—लिट्, , आत्मनेपदम् । प्राप्तवन्तः ॥

२—(अरम्) अलम् । पर्याप्तम् (कामाय) कामनां पूरयितुम् (हरयः) सिंहसमाना बलवन्तः (दधन्विरे) म० १ । प्राप्तवन्तः (स्थिराय) दृढाय सेनापतये (हिन्वन्) हि गतिवृद्ध्योः—लङ् । वर्द्धितवन्तः (हरयः) दुःख-हर्तारो मनुष्याः (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (तुरा) वेगे—क । वेग-वन्तौ (अर्वद्भिः) अरणवद्भिः अश्वतुल्यैर्वेगवद्भिः (यः) (हरिभिः) दुःख-

शीघ्रगामी] (हरिभिः) दुख हरने वाले मनुष्यों के साथ (जोषम्) प्रीति (ईयते) प्राप्त करता है, (सः) उस ने ही (हरिवन्तम्) श्रेष्ठ मनुष्यों वाली (अस्य) अपनी (कामम्) कामना को (आनशे) फैलाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां पर विद्वान् लोग राजा के लिये बल और पराक्रम करते हैं और राजा विद्वानों से प्रीति करता है, वहां सब उत्तम कामनायें पूरी होकर आनन्द बढ़ता है ॥ २ ॥

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥३॥

हरि-श्मशारुः । हरि-केशः । आयसः । तुरः-पेये । यः । हरि-पाः । अवर्धत ॥ अर्वत्-भिः । यः । हरि-भिः । वाजिनी-वसुः । अति । विश्वा । दुः-इता । परिषत् । हरी इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हरिश्मशारुः) सिंह के शरीर को छेदने वाला, (हरिकेशः) सूर्य समान तेज वाला, (आयसः) लोहे का बना हुआ [अति दृढ़] (यः) जो (हरिपाः) मनुष्यों का रक्षक [सेनापति] (तुरस्पेये) शीघ्र रक्षा करने में (अवर्धत) बढ़ा है, और (यः) जो (अर्वद्भिः) घोड़ों [के समान शीघ्रगामी] (हरिभिः) दुख हरने वाले मनुष्यों के साथ (वाजिनीवसुः) अन्न युक्त

हर्तृभिर्मनुष्यैः सह (जोषम्) प्रीतिम् (ईयते) गच्छति । प्राप्नोति (सः) सेनापतिः (अस्य) स्वकीयस्य (कामम्) अभिलाषाम् (हरिवन्तम्) श्रेष्ठपुरुषैर्युक्तम् (आनशे) अशू व्याप्तौ—लिट् । व्याप्तवान् । विस्तारितवान् ॥

३—(हरिश्मशारुः) हञ् नाशने—इन्+शीङ् स्वप्ने—मनिन्, डिच्च+ ओरश्चलः । उ० १ । ५ । ६ शॄ हिंसायाम्—उण् । श्म शरीरम्—निरु० ३ । ५ । हरेः सिंहस्य श्मनः शरीरस्य शारुश्छेदकः (हरिकेशः) सूर्यवत् प्रकाशमानः (आयसः) लोहनिर्मितः । अतिदृढः (तुरस्पेये) भूरञ्जिभ्यां कित् । उ० । ४ । २१७ । तुर वेगे-असुन्, कित् । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । पा रक्षणे–यत् । ईद्यति । पा० ६ । ४ । ६५ । आकारस्य ईकारः । तुरसा वेगेन रक्षणे (यः) सेनापतिः (हरिपाः) हरीणां मनुष्याणां रक्षकः (अवर्धत) वर्द्धितवान् (अर्वद्भिः) म० २ । अश्ववद्वेगवद्भिः (यः)(हरिभिः) म० २ (वाजिनी-

क्रियाओं में बसने वाला है, वह (विश्वा) सब (दुरिता) विघ्नों को (अति) लांघकर (हरी) दुख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम को (पारिषत्) भरपूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अति बलवान् और तेजस्वी होकर कष्ट से प्रजा की रक्षा करता है और सत्कार पूर्वक शूर वीर विद्वानों को अन्न आदि देता है, वही अपने बल और पराक्रम से कीर्ति पाता है ॥ ३ ॥

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः। प्र यत् कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः ॥४॥

स्रुवा-इव । यस्य । हरिणी इति । वि-पेततुः । शिप्रे इति । वाजाय । हरिणी इति । दविध्वतः ॥ प्र । यत् । कृते । चमसे । मर्मृजत् । हरी इति । पीत्वा । मदस्य । हर्यतस्य । अन्धसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाजाय) अन्न के लिये (यस्य) जिस [सेनापति] के (हरिणी) स्वीकार करने योग्य (शिप्रे) दोनों जाबड़े (स्रुवा इव) दो चमचाओं के समान (विपेततुः) विविध प्रकार चलते हैं, [उसके राज्य में] (हरिणी) सुख हरने वाली [अविद्या और कुनीति] दोनों (दविध्वतः) सर्वथा मिट जाती हैं । (यत्) क्योंकि वह (चमसे कृते) भोजन सिद्ध होने

वसुः) वाजिनीषु अन्नयुक्तासु क्रियासु निवासशीलः (अति) अतीत्य (विश्वा) सर्वाणि (दुरिता) विघ्नान् (पारिषत्) पॄ पूरणे-णिच्, लेट् । पूरयेत् (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ ॥

४—(स्रुवा) स्रुवौ । चमसौ (इव) यथा (यस्य) सेनापतेः) (हरिणी) हृञ् स्वीकारे—इनच्, उ० २ । ४६ । स्वीकरणीये (विपेततुः) लडर्थे लिट् । विविधं पततश्चलतः (शिप्रे) अथर्व—२० । ४ । १ । शिञ् निशाने छेदने—रक् पुक् च, टाप् । शिप्रे हनू नासिके वा—निरु०६ । १७ । हनू (वाजाय) अन्नाय (हरिणी) हृञ् नाशने—इनच् । सुखनाशिके अविद्याकुनीती (दविध्वतः) दाधर्तिदर्धर्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । ध्वृ कौटिल्ये यङ्लुकि लट् द्विवचनान्तः ।

पर (मदस्य) आनन्द दायक, (हर्यतस्य) कामना योग्य (अन्धसः) अन्न का (पीत्वा) पान कर के (हरी) बल और पराक्रम दोनों को (प्र) अच्छे प्रकार (मर्मृजत्) शुद्ध करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे अन्न खाने से भूख मिटती है और स्रुवा से अग्नि में घी डालने से धुआँ नष्ट हो जाता है, वैसे ही जो राजा विद्या और सुनीति के फैलाने से अविद्या और कुनीति मिटाता है, वह अन्न के भोजन से बल और पराक्रम बढ़ाता है ॥ ४ ॥

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योऽरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत् । मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद् वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥ ५ ॥

उत । स्म । सद्म । हर्यतस्य । पस्त्योः । अत्यः । न । वाजम् । हरि-वान् । अचिक्रदत् ॥ मही । चित् । हि । धिषणा । अहर्यत् । ओजसा । बृहत् । वयः । दधिषे । हर्यतः । चित् । आ ॥५॥

भाषार्थ—(हर्यतस्य) कामना योग्य [उस पूर्वोक्त पुरुष] का (सद्म) घर (उत स्म) अवश्य ही (पस्त्योः) आकाश और पृथिवी में [हुआ है] और (हरिवान्) उत्तम पुरुषों वाले [उस पुरुष] ने (अत्यः न) घोड़े के समान (वाजम्) अन्न को (अचिक्रदत्) पुकारा है—(मही) पूज-

ध्वरति वधकर्मा—निघ० २ । १९ । सर्वथा विनश्यतः (प्र) प्रकर्षेण (यत्) यतः (कृते) संस्कृते (चमसे) भोजने (मर्मृजत्) मृजू शुद्धौ-लट् । मार्ष्टि । शोधयति (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (पीत्वा) पानं कृत्वा (मदस्य) आनन्दकस्य (हर्यतस्य) कमनीयस्य (अन्धसः) अन्नस्य ॥

५—(उत) अवश्यम् (स्म) एव (सद्म) गृहम् (हर्यतस्य) कमनीयस्य (पस्त्योः) जनेर्यक् । उ० ४ । १११ । पस बाधे ग्रन्थे च—यक्, तुगागमः । पस्त्यं गृहनाम—निघ० ३ । ४ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये (अत्यः) अ० २० । ११ । ६ । अश्वः (न) यथा (वाजम्) अन्नम् (हरिवान्) हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । उत्तम मनुष्योपेतः (अचिक्रदत्) अ० ३ । ३ । १ । क्रदि

नीय (धिषणा) वेदवाणी ने (चित्) अवश्य (हि) ही (ओजसा) बल के साथ [यह] (अहर्यत्) कामना की है । [इसी से] (हर्यतः) कामना योग्य तू ने (चित्) भी (बृहत्) बड़े (वयः) जीवन को (आ) सब ओर से (दधिषे) धारण किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी को मानकर बलवान् और पराक्रमी होता है, वही आकाश और भूमि पर राज्य करके बहुत अन्न प्राप्त करता है, वैसा ही प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन बनाना चाहिये ॥ ५ ॥

सूक्तम् ॥ ३२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी त्रिष्टुप्; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् ।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ १ ॥

आ । रोदसी इति । हर्यमाणः । महि-त्वा । नव्यम्-नव्यम् । हर्यसि । मन्म । नु । प्रियम् ॥ प्र । पस्त्यम् । असुर । हर्यतम् । गोः । आविः । कृधि । हरये । सूर्याय ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (महित्वा) अपने महत्त्व से (रोदसी) आकाश और भूमि को (आ हर्यमाणः) प्राप्त कर लेता हुआ तू (नव्यंनव्यम्)

आह्वाने—गयन्ताल् लुङ्, नुमभावः । आह्वनवान् (मही) पूजनीया (चित्) अवश्यम् (हि) (धिषणा) धृषेर्धिष च सञ्ज्ञायाम् । उ० २ । ८२ । इति ञि धृषा प्रागल्भ्ये—क्यु, धिषादेशश्च । यद्वा, धिष शब्दे—क्यु, टाप्, धिषणा वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाणी (अहर्यत्) अकामयत (ओजसा) बलेन (बृहत्) महत् (वयः) जीवनम् (दधिषे) दधातेः—लिट् । त्वं धारितवानसि (हर्यतः) कमनीयः (चित्) अपि (आ) समन्तात् ॥

१—(आ) समन्तात् (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । रुधेः—असुन् धस्य दः, ङीप् । विभक्तेः पूर्व सवर्णदीर्घः । सर्वभूतरोधयित्र्यौ द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० (हर्यमाणः) हर्य गतिकान्त्योः—शानच् । प्राप्नुवन् (महित्वा)

नये नये (प्रियम्) प्रिय (मन्म) ज्ञान को (नु) शीघ्र (हर्यसि) पाता है । (असुर हे बुद्धिमान् ! (गोः) विद्या के (हर्यतम्) पाने योग्य (पस्त्यम्) घर को (हरये) दुःख हरने वाले (सूर्याय) सूर्य [के समान प्रेरक विद्वान्] के लिये (प्र) अच्छे प्रकार (आविः कृधिः) प्रकट कर ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि पूर्ण विद्वान् होकर प्रकाश और भूमि के तत्त्वों को जानकर नवीन नवीन विद्याओं के आविष्कार करे और विद्वान् आचार्य और ब्रह्मचारियों के लिये विद्यामन्दिर आदि स्थान बनावे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ९६ । ११—१३ ॥

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र । पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन् युज्ञं सधमादे दशोणिम्॥२

आ । त्वा । हर्यन्तम् । प्र-युजः । जनानाम् । रथे । वहन्तु । हरि-शिप्रम् । इन्द्र ॥ पिब । यथा । प्रति-भृतस्य । मध्वः । हर्यन् । यज्ञम् । सध-मादे । दश-ओणिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (जनानाम्) मनुष्यों की (प्रयुजः) प्रार्थनायें (हरिशिप्रम्) सिंह के समान मुख वाले (हर्यन्तम्) कामना योग्य (त्वा) तुझ को (रथे) रथ पर (आ वहन्तु) लावें । (यथा) जिससे (सधमादे) उत्सव के बीच (दशोणिम्) दस

महत्त्वेन (नव्यंनव्यम्) नवीनं नवीनम् (हर्यसि) प्राप्नोषि (मन्म) मन ज्ञाने—मनिन् । ज्ञानम् (नु) क्षिप्रम् (प्रियम्) हितकरम् (पस्त्यम्) अ० २० । ३१ । ५ । गृहम् (असुर) असुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थान्—निरु० १० । ३४ । रो मत्वर्थीयः । हे प्रज्ञावन् (हर्यतम्) प्रापणीयम् (गोः) विद्यायाः (आविष्कृधि) प्रकटीकुरु (हरये) दुःखनाशकाय (सूर्याय) सूर्यवत् प्रेरकाय विदुषे ॥

२—(आ वहन्तु) आनयन्तु (त्वा) त्वाम् (हर्यन्तम्) कमनीयम् (प्रयुजः) युजिर् योगे—क्विप् । प्रयोजनाः । प्रार्थनाः (जनानाम्) मनुष्याणाम् (रथे) रमणसाधने याने (हरिशिप्रम्) अ० २० । ३० । ४ सिंहसमानमुखयुक्तम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (पिब) पानं कुरु (यथा) येन

दिशाओं में क्लेश मिटाने वाले (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (हर्यन्) चाहता हुआ तू (प्रतिभृतस्य) प्रत्यक्ष रक्खे हुये (मध्वः) ज्ञान का (पिब) पान करे ॥ २॥

भावार्थ—राजा सभा के बीच प्रजा की प्रार्थनाओं को सुन कर उनके दुःखों को मिटाकर राज्य की उन्नति का विचार करे ॥ २ ॥

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते । ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व ॥ ३ ॥

अपाः । पूर्वेषाम् । हरि-वः । सुतानाम् । अथो इति । इदम् । सवनम् । केवलम् । ते ॥ ममद्धि । सोमम् । मधु-मन्तम् । इन्द्र । सत्रा । वृषन् । जठरे । आ । वृषस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हरिवः) हे उत्तम मनुष्यों वाले ! [राजन्] तू ने (पूर्वेषाम्) पहिले महात्माओं के (सुतानाम्) निचोड़ों [सिद्धान्तों] का (अपाः) पान किया है, (अथो) इसी लिये (इदम्) यह (सवनम्) ऐश्वर्य (केवलम्) केवल (ते) तेरा है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (मधुमन्तम्) ज्ञानयुक्त (सोमम्) ऐश्वर्य को (ममद्धि) तृप्त कर और (वृषन्) हे बलवान् ! (सत्रा) सत्य रीति से (जठरे) प्रसिद्ध हुये जगत् के

प्रकारेण (प्रतिभृतस्य) प्रत्यक्षधृतस्य (मध्वः) मधुनः। ज्ञानस्य (हर्यन्) कामयमानः (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सधमादे) सहमोदस्थाने । उत्सवे (दशोणिम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । दश+ओणृ अपनयने—इन्, पृषोदरादिरूपम् । दशसु दिक्षु क्लेशानामपनेतारं नाशयितारम् ॥

३—(अपाः) पीतवानसि (पूर्वेषाम्) पूर्वमहात्मनाम् (हरिवः) अ० २० । ३१ । ५ । हे श्रेष्ठमनुष्ययुक्त (सुतानाम्) निष्पादितानां सिद्धान्तानाम् (अथो) अपि च (इदम्) दृश्यमानम् (सवनम्) ऐश्वर्यम् (केवलम्) असाधारणम् । विशेषम् (ते) तव (ममद्धि) मदी आमोदे—शपःश्लुः । हर्षय । तर्पय (सोमम्) ऐश्वर्यम् (मधुमन्तम्) ज्ञानयुक्तम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सत्रा) निघ० ३ । १० । सत्येन (वृषन्) हे महाबलवन्

बीच (आ) सब ओर से (वृषस्व) बरसा ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा पूर्व महात्माओं के सिद्धान्तों पर चल कर ऐश्वर्य प्राप्त करे और उस का सत् प्रयोग करके संसार को सुख देवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व ।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥ १ ॥

अप्-सु । धूतस्य । हरि-वः । पिब । इह । नृ-भिः । सुतस्य । जठरम् । पृणस्व ॥ मिमिक्षुः । यम् । अद्रयः । इन्द्र । तुभ्यम् । तेभिः । वर्धस्व । मदम् । उक्थ-वाहः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हरिवः) हे श्रेष्ठ मनुष्यों वाले ! (अप्सु) प्रजाओं के बीच (नृभिः) नरों [नेताओं] करके (धूतस्य) शोधे हुये (सुतस्य) निचोड़े [सिद्धान्त] का (इह) यहां पर (पिब) पान कर और (जठरम्) प्रसिद्ध हुये जगत् को (पृणस्व) सन्तुष्ट कर । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अद्रयः) मेघों [के समान उपकारी पुरुषों] ने (तुभ्यम्) तेरे लिये (यम्) जिस [आनन्द] को (मिमिक्षुः) सींचना चाहा है, (उक्थवाहः)

(जठरे) अ० २० । २४ । ५ । प्रादुर्भूते जगति (आ) समन्तात् (वृषस्व) वर्षय ॥

१—(अप्सु) आपः, आप्ताः प्रजाः, दयानन्दभाष्ये—६ । २७ । प्रजासु (धूतस्य) धावु गतिशुद्ध्योः—क्त । छान्दसं रूपम् । धौतस्य । शोधितस्य (हरिवः) हे श्रेष्ठमनुष्ययुक्त (पिब) पानं कुरु (इह) अत्र (नृभिः) नेतृभिः सह (सुतस्य) अभिषुतस्य शोधितस्य सिद्धान्तस्य (जठरम्) अ० २० । २४ । ५ । प्रादुर्भूतं संसारम् (पृणस्व) तर्पय (मिमिक्षुः) मिह सेचने—सन्, लिट् मेढुं सेक्तुमैच्छन् (यम्) आनन्दम् (अद्रयः) अद्रिर्मेघनाम—निघ० १ । १० । मेघसमानोपकारिणः पुरुषाः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (तुभ्यम्) (तेभिः) तैः पुरुषैः (वर्धस्व) वर्धय (मदम्) आनन्दम् (उक्थवाहः)

हे वचनों पर चलने वाले ! [सत्यवादी] (तेभिः) उन [पुरुषों] के साथ (मदम्) उस आनन्द को (वर्धस्व) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजा विद्वानों के संशोधित सिद्धान्तों को मानकर प्रजा को प्रसन्न रखता है, प्रजा भी उसे आनन्द देती है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । १०४ । २—४ ॥

प्रोग्रां पीतिं वृष्णं इयर्मि सुत्यां प्रयै सुतस्यं हर्यश्व तुभ्यंम् ।
इन्द्र धेनांभिरिह मांदयस्व धीभिर्विश्वांभिः शच्यां गृणानः ॥२

प्र । उग्राम् । पीतिम् । वृष्णे । इयर्मि । सुत्याम् । प्र-यै । सुतस्यं । हरि-अश्व । तुभ्यंम् ॥ इन्द्रं । धेनांभिः । इह । मादयस्व । धीभिः । विश्वांभिः । शच्यां । गृणानः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे वायु समान फुरतीले घोड़ों वाले ! (वृष्णे तुभ्यम्) तुझ महाबली को (प्रयै) आगे चलने के लिये (सुतस्य) निचोड़ [सिद्धान्त] का (उग्राम्) तीव्र, (सत्यम्) सत्यगुण वाला (पीतिम्) घूंट (प्र इयर्मि) आगे रखता हूं । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] (धेनाभिः) वेदवाणियों द्वारा (इह) यहां पर (विश्वाभिः) समस्त (धीभिः) बुद्धियों से और (शच्या) कर्म से (गृणानः) उपदेश करता हुआ तू (मादयस्व) आनन्द दे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य फुरतीली सेना वाला ज्ञानवान् और बलवान् हो, सब लोग आदर करके उस बुद्धिमान् कर्मकुशल को वैदिक शिक्षाओं से आनन्द पावें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० । २० । २५ । ७ ॥

ऊती शचीवुस्तवं वीर्येण वयो दधांना उशिजं ऋतुज्ञाः ।
प्रजावंदिन्द्र मनुंषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यांसः ॥ ३ ॥

गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २ ७ उक्थ+वह प्रापणे-असि, णित् । हे उक्थेसु वचनेषु वहनशील । सत्यवादिन् ॥

२—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । २५ । ७ ॥

ऊती । शचीऽवः । तव॑ । वीर्ये॑ण । वयः । दधानाः । उशिजः ।
ऋत-ज्ञाः ॥ प्रजा-वत् । इन्द्र । मनु॑षः । दुरोणे । तस्थुः ।
गृणन्तः । सध-माद्यासः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शचीवः) हे बुद्धिमान् (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (तव) तेरी (ऊती) रक्षा से और (वीर्येण) वीरता से (प्रजावत्) उत्तम प्रजा वाले (वयः) जीवन को (दधानाः) धारण करते हुये, (उशिजः) प्रीति युक्त बुद्धिमान् (ऋतज्ञाः) सत्य शास्त्र जानने वाले (मनुषः) मनन शील मनुष्य (दुरोणे) घर के बीच (गृणन्तः) गुण बखानते हुये (सधमाद्यासः) मिलकर आनन्द मनाते हुये (तस्थुः) ठहरते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् जितेन्द्रिय प्रधान पुरुष अपनी नीति कुशलता से ऐसा प्रबन्ध करे कि सब मनुष्य विद्वान् होकर उत्तम सन्तान और भृत्य आदि सहित आनन्द से रहें ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयः पर्यायः ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—१८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—४. १३—१५, १८ त्रिष्टुप् ; ५; १२ आर्षी त्रिष्टुप्; ६—८, ११, १७ निचृत् त्रिष्टुप्; ६ भुरिक् त्रिष्टुप्; १० विराडार्षी त्रिष्टुप् ; १६ आर्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

३—(ऊती) ऊत्या । रक्षणेन (शचीवः) अ० २० । २१ । ३ । हे प्रशस्तप्रज्ञावन् (तव) (वीर्येण) वीरकर्मणा (वयः) जीवनम् (दधानाः) धारयन्तः (उशिजः) अ० २० । ११ । ४ । कामयमाना मेधाविनः (ऋतज्ञाः) सत्यशास्त्रस्य ज्ञातारः (प्रजावत्) उत्तमप्रजायुक्तम् (इन्द्र) (मनुषः) जनेरुसि । उ० २ । ११५ । मन ज्ञाने—उसि । मननशीला मनुष्याः (दुरोणे) अ० ५ । २ । १ । गृहे—निघ० ३ । ४ (तस्थुः) लडर्थे लिट् । तिष्ठन्ति (गृणन्तः) स्तुवन्तः । गुणान् विज्ञापयन्तः (सधमाद्यासः) मद हर्षे—ण्यत् । सह हृष्यन्तः ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्। यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥

यः। जातः। एव। प्रथमः। मनस्वान्। देवः। देवान्। क्रतुना। परि-अभूषत्॥ यस्य। शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्। नृम्णस्य। मह्ना। सः। जनासः। इन्द्रः॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातः एव) प्रकट होते ही (यः) जिस (प्रथमः) पहिले (मनस्वान्) मननशील (देवः) प्रकाशमान [परमेश्वर] ने (क्रतुना) अपनी बुद्धि से (देवान्) चलते हुये [पृथिवी आदि लोकों] को (पर्यभूषत्) सब ओर सजाया है। (यस्य) जिसके (शुष्मात्) बल से (नृम्णस्य) मनुष्यों को झुकाने वाले सामर्थ्य की (मह्ना) महिमा के कारण (रोदसी) दोनों आकाश और भूमि (अभ्यसेताम्) भय को प्राप्त हुये हैं, (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस अनादि पुरुष ने अपने अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य से पृथिवी आदि लोकों को रचकर नियम में रक्खा है, उस परमेश्वर के गुण विचार कर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १ ॥

१—(यः) इन्द्रः (जातः) प्रकटः सन् (एव) (प्रथमः) आदिमः (मनस्वान्) मननवान् (देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (देवान्) दिवु गतौ—पचाद्यच्। गच्छतः पृथिव्यादिलोकान् (क्रतुना) प्रज्ञया—निघ० ३। ९ (पर्यभूषत्) भूष अलङ्कारे लङ्। परितो भूषितवान् (यस्य) (शुष्मात्) बलात् (रोदसी) अ० ४। १। ४। द्यावापृथिव्यौ (अभ्यसेताम्) भ्यस भये-लङ्। अबिभीताम्—निरु० १०। १० (नृम्णस्य) अ० ४। २४। ३। नृ+णम प्रह्वत्वे शब्दे च—पचाद्यच्, आद्यन्त विपर्ययोऽकारलोपश्च। नॄन् शत्रुभूतान् नमयति प्रह्वीकरोतीति नृम्णं बलम्—निघ० २। ९। मनुष्याणां नमयितुः सामर्थ्यस्य (मह्ना) महिम्ना (सः) पूर्वोक्तः (जनासः) हे मनुष्याः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः ॥

यह सूक्त मन्त्र १२, १६ और १७ को छोड़ कर ऋग्वेद में है—२। १२। १—१५॥

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

यः। पृथिवीम्। व्यथमानाम्। अदृंहत्। यः। पर्वतान्। प्र-कुपितान्। अरम्णात्॥ यः। अन्तरिक्षम्। वि-ममे। वरीयः। यः। द्याम्। अस्तभ्नात्। सः। जनासः। इन्द्रः॥ २॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (व्यथमानाम्) चलती हुई (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृंहत्) दृढ़ किया है, (यः) जिस ने (प्रकुपितान्) कोप करते हुये (पर्वतान्) मेघों को (अरम्णात्) ठहराया है। (यः) जिस ने (वरीयः) अधिक चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश को (विममे) नाप डाला है, (यः) जिस ने (द्याम्) सूर्य को (अस्तभ्नात्) खम्भे समान खड़ा किया है, (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवाला परमेश्वर] है॥ २॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य के आकर्षण से पृथिवी को ठहराता, किरणों से खींचे हुये पानी को बरसाता, और आकाश के बीच सूर्य को खम्भे के समान बनाकर अनेक लोकों को उसके आकर्षण से सब ओर घुमाता है, उस परमेश्वर की उपासना से आत्मबल बढ़ाओ॥ २॥

यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा वलस्य।

२—(यः) परमेश्वरः (पृथिवीम्) विस्तीर्णां भूमिम् (व्यथमानाम्) चलन्तीम् (अदृंहत्) दृढीकृतवान्। सूर्यस्याकर्षणे धृतवान् (यः) पर्वतान्) मेघान् (प्रकुपितान्) प्रक्रुद्धान् (अरम्णात्) रमु क्रीडायाम्-श्नाप्रत्ययः, अन्तर्गतण्यर्थः। स्थापितवान् सूर्याकर्षणे (यः) (अन्तरिक्षम्) आकाशम्) (विममे) माङ् माने—लिट्। विशेषेण मानं कृतवान् (वरीयः) उरुतरम् (यः) (द्याम्) सूर्यमण्डलम् (अस्तभ्नात्) स्तम्भं यथा स्थापितवान्। अन्यद् गतम्॥

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥३॥

यः । हत्वा । अहिम् । अरिणात् । सप्त । सिन्धून् । यः । गाः । उत्-आजत् । अप-धा । वलस्य ॥ यः । अश्मनोः । अन्तः । अग्निम् । जजान । सम्-वृक् । समत्-सु । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (अहिम्) सब ओर चलने वाले मेघ में (हत्वा) व्यापकर (सप्त) सात (सिन्धून्) बहने हुये समुद्रों [अर्थात् भूर् भुवः आदि सात अवस्था वाले सब लोकों] को (अरिणात्) चलाया है, (वलस्य) बल [सामर्थ्य] के (अपधा) हृष से धारण करने वाले (यः) जिस ने (गाः) पृथिवियों को (उदाजत्) उत्तमता से चलाया है। (समत्सु) संग्रामों के बीच (संवृक) शत्रुओं के रोकने वाले (यः) जिसने (अश्मनोः) दो व्यापक मेघों वा पत्थरों के (अन्तः) बीच (अग्निम्) अग्नि [बिजुली] को (जजान) उत्पन्न किया है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ३ ॥

भावार्थ—भूर्, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, सात लोक संसार की अवस्था विशेष हैं। परमेश्वर मेघ आदि पदार्थों और सात अवस्था वाले समस्त संसार में व्याप कर पृथिवी आदि लोकों को आकर्षण में रखकर, मेघ

३—(यः) इन्द्रः (हत्वा) हन हिंसागत्योः। गत्वा व्याप्य (अहिम्) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च। उ० ४। १३८ आङ्+हन हिंसागत्योः—इण्, डित्। आहन्तारम्। समन्ताद् गन्तारं मेघम्—निघ० १।१० (अरिणात्) री गतिरेषणयोः—लङ्। अगमयत् (सप्त) सप्तसंख्याकान् (सिन्धून्) स्यन्दमानान् समुद्रान् इव भूर्भुवः स्वर्महो जनस्तपः सत्यमिति सप्तलोकान् संसारस्य अवस्थाविशेषान् (यः) (गाः) पृथिवीः (उदाजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ्। उत्तमतया चालितवान् (अपधा) आतश्चोपसर्गे। पा० ३। १। १३६। अप+दधातेः—कप्रत्ययः। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। विभक्तेर्डा। अपधः। हर्षेण धारकः (वलस्य) सामर्थ्यस्य (यः) (अश्मनोः) व्यापकयोः मेघयोः पाषाणयोर्वा (अन्तः) मध्ये (अग्निम्) विद्युतम् (जजान) उत्पादयामास (संवृक) वृजी वर्जने—क्विप्। संवर्जकः। शत्रूणां निवारकः (समत्सु) अ० २०। ११। ११। संग्रामेषु। अन्यद् गतम् ॥

पाषाण आदि सब वस्तुओं में बिजुली आरम्भ करके परमाणुओं के संयोग वियोग से अनन्त रचना करता है, इस को जानकर मनुष्य वृद्धि करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथर्व—२०। ६१। १२ ॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥४

येन। इमा। विश्वा। च्यवना। कृतानि। यः। दासम्। वर्णम्। अधरम्। गुहा। अकरित्यकः॥ श्वघ्नी-इव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्। अर्यः। पुष्टानि। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ४॥

भावार्थ—(येन) जिस [परमेश्वर] करके (इमा) यह (विश्वा) सब (च्यवना) चलते हुये लोक (कृतानि) बनाये गये हैं, (यः) जिसने (दासम्) देने योग्य (वर्णम्) रूप को (गुहा) गुहा [गुप्त अवस्था] में (अधरम्) नीचे (अकः) किया है। (यः) जो, (इव) जैसे (श्वघ्नी) वृद्धि पाने वाला (जिगीवान्) विजयी पुरुष (लक्षम्) लक्ष्य [जीते पदार्थ] को, (अर्यः) वैरी के (पुष्टानि) बढ़े हुये धनों को (आदत्) ले लेता है, (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ४ ॥

४—(येन) परमेश्वरेण (इमा) इमानि दृश्यमानानि (विश्वा) सर्वाणि (च्यवना) च्युङ् गतौ—ल्युट्, शेर्लुक्। गच्छन्ति जगन्ति। लोकान् (कृतानि) रचितानि (यः) (दासम्) दातव्यम् (वर्णम्) रूपम् (अधरम्) निम्नम् (गुहा) गुहायाम्। गुप्तावस्थायाम् (अकः) करोतेर्लुङि छान्दसं रूपम्। अकार्षीत् (श्वघ्नी) अ० २०। १७। ५। श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५९। टुओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन्+हन हिंसागत्योः—घञर्थे कप्रत्ययः। श्वघ्न-इनि। शुनो वृद्धेर्घ्नः प्राप्तिर्यस्य सः। वृद्धिं गतः। (इव) यथा (यः) (जिगीवान्) जि जये क्वसु, छान्दसो दीर्घः। विजयी पुरुषः (लक्षम्) लक्ष्यम्। जितपदार्थम् (आदत्) आदत्ते (अर्यः) षष्ठ्येकवचने छान्दसो यणादेशः। अरेः। शत्रोः (पुष्टानि) समृद्धानि धनानि। अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जो सब घूमते हुये लोकों को बनाता है और पदार्थों के रूपों को बीज के भीतर छिपा रखता है और जो दुष्टों को दण्ड देता है, मनुष्य उस परमेश्वर के गुणों को ग्रहण करें ॥ ४ ॥

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५॥

यम् । स्म । पृच्छन्ति । कुह । सः । इति । घोरम् । उत । ईम् । आहुः । न । एषः । अस्ति । इति । एनम् ॥ सः । अर्यः । पुष्टीः । विजः-इव । आ । मिनाति । श्रत् । अस्मै । धत्त । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (घोरम्) भयानक को [कोई कोई] (सः) वह (स्म) निश्चय करके (कुह) कहां है, (इति) ऐसा (पृच्छन्ति) पूछते हैं, (उत) और [कोई कोई] (एनम्) इसको,(एषः) वह (अस्ति ईम्) है ही (न) नहीं, (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं। (सः) वह (विजः) विवेकी (इव) ही (अर्यः) बैरी के (पुष्टीः) बढ़े हुये धनों को (आ) सब ओर से (मिनाति) नष्ट करता है, (अस्मै) उसके लिये तुम (श्रत्) सत्य [श्रद्धा] (धत्त) धारण करो, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ५ ॥

५—(यम्) (स्म) एव (पृच्छन्ति) जिज्ञासन्ते (कुह) क (सः) (इति) अनेन प्रकारेण। (सेति) सोऽपि लोपे चेत् पादपूरणम् । पा० ६।१।१३४। इति सोर्लोपे गुणः। (घोरम्) भयङ्करं परमेश्वरम् (उत) अपि च (ईम्) सर्वतः। निश्चयेन (आहुः) कथयन्ति (न) निषेधे (एषः) (अस्ति) वर्तते (इति) (एनम्) इन्द्रम् (सः) (अर्यः) म० ४। अरेः (पुष्टीः) पोषणानि धनानि (विजः) विजिर् पृथग्भावे—कप्रत्ययः। विवेकी (इव) एवार्थे (आ) समन्तात् (मिनाति) मीङ् हिंसायाम् । मीनातेर्निगमे । पा० ७।३।८१। इति ह्रस्वः। नाशयति (श्रत्) सत्यम्। श्रद्धाम् (अस्मै) (धत्त) धरत। अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की विवेचना मनुष्य अनेक प्रकार करते हैं, और जो सब का आधार है, वही परमेश्वर सब का उपास्य देव है ॥ ५ ॥

यो रध्रस्यं चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः। युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥६॥

यः। रध्रस्यं। चोदिता। यः। कृशस्य। यः। ब्रह्मणः। नाधमानस्य। कीरेः॥ युक्त-ग्राव्णः। यः। अविता। सु-शिप्रः। सुत-सोमस्य। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ६॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (रध्रस्य) धनी का, और (यः) जो (कृशस्य) दुर्बल का, (यः) जो (नाधमानस्य) ऐश्वर्य वाले, (कीरेः) गुणों के व्याख्याता (ब्रह्मणः) ब्रह्मा [ब्रह्मज्ञानी] का (चोदिता) आगे बढ़ाने वाला है। (यः) जो (युक्तग्राव्णः) योगाभ्यासी पण्डित का और (सुतसोमस्य) मोक्ष पा लेने वाले का (सुशिप्रः) बड़ा सेवनीय (अविता) रक्षक है, (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस परमात्मा की उपासना से सदा उत्तम कर्म करें, जो सब को श्रेष्ठ कर्म द्वारा उन्नति के लिये आज्ञा देता है ॥ ६ ॥

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे

६—(यः) परमेश्वरः (रध्रस्य) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। रध हिंसासंराद्ध्योः—रक्। समृद्धस्य। धनिकस्य (चोदिता) प्रेरकः (यः) (कृशस्य) दुर्बलस्य (यः) (ब्रह्मणः) वेदज्ञानिनः पुरुषस्य (नाधमानस्य) नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—शानच्। ऐश्वर्ययुक्तस्य (कीरेः) अ० २०। १७। १२। गुणव्याख्यातुः (युक्तग्राव्णः) युज समाधौ—क्त। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। गॄ शब्दे विज्ञापे स्तुतौ च—क्वनिप्। अभ्यस्तयोगस्य पण्डितस्य (यः) (अविता) रक्षकः (सुशिप्रः) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। शेवृ सेवायाम्—रक्, पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः। सुसेवनीयः (सुतसोमस्य) षु गतौ प्रसवैश्वर्ययोश्च—क्त, सोमो मोक्षः। प्राप्तमोक्षस्य। अन्यत् गतम् ॥

रथा॑सः । यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

यस्य॑ । अश्वा॑सः । प्र-दि॒शि । यस्य॑ । गावः॑ । यस्य॑ । ग्रामाः॑ । यस्य॑ । विश्वे॑ । रथा॑सः ॥ यः । सूर्य॑म् । यः । उ॒षस॑म् । ज॒जान॑ । यः । अ॒पाम् । ने॒ता । सः । ज॒ना॒सः॒ । इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (प्रदिशि) बड़ी आज्ञा में (अश्वासः) घोड़े, (यस्य) जिसकी [आज्ञा में] (गावः) गाय बैल आदि पशु, (यस्य) जिसकी [आज्ञा में] (ग्रामाः) गाम [मनुष्य समूह] और (यस्य) जिसकी [आज्ञा में] (विश्वे) सब (रथासः) विहार कराने वाले पदार्थ हैं। (यः) जिस ने (सूर्यम्) सूर्य को, (यः) जिस ने (उषसम्) प्रभात वेला को (जजान) उत्पन्न किया है, और (यः) जो (अपाम्) जलों का (नेता) पहुंचाने वाला है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से सब उपकारी जीव और पदार्थ उत्पन्न हुये हैं, उस जगदीश्वर की उपासना करके मनुष्य उपकार करें ॥ ७ ॥

यं क्रन्द॑सी सं॒यती॑ वि॒ह्वये॑ते॒ परेऽव॑र उ॒भया॑ अ॒मित्राः॑ । स॒मा॒नं चि॒द्रथ॑मातस्थि॒वांसा॒ नाना॑ हवेते॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ ८ ॥

यम् । क्रन्द॑सी॒ इति॑ । सं॒यती॒ इति॑ स॒म्-य॒ती । वि॒ह्वये॑ते॒ इति॑ वि॒-ह्वये॑ते । परे॑ । अव॑रे । उ॒भयाः॑ । अ॒मित्राः॑ ॥ स॒मा॒नम् ।

७—(यस्य) परमेश्वरस्य (अश्वासः) तुरङ्गाः (प्रदिशि) प्रकृष्टायामाज्ञायाम् (यस्य) (गावः) धेनुवृषभादयः पशवः (यस्य) (ग्रामाः) मनुष्यसमूहाः (यस्य) (विश्वे) (रथासः) विहारसाधनाः पदार्थाः (यः) (सूर्यम्) सवितृमण्डलम् (यः) (उषसम्) प्रत्यूषकालम् (जजान) उत्पादितवान् (यः) (अपाम्) जलानाम् (नेता) प्रापकः । अन्यद् गतम् ॥

चित् । रथम् । आतस्थि-वांसा । नाना । हवेते इति । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिसको (संयती) आपस में जुटी हुयी (क्रन्दसी) ललकारती हुयी दो सेनायें (विह्वयेते) विविध प्रकार पुकारती हैं, (परे) ऊंचे [जीतने वाले] और (अवरे) नीचे [हारने वाले] (उभयाः) दोनों पक्ष (अमित्राः) शत्रुदल [पुकारते हैं]। और [जिसको] (समानम्) एक (चित्) ही (रथम्) रथ में (आतस्थिवांसा) चढ़े हुये दोनों [योधा और सारथी] (नाना) बहुत प्रकार से (हवेते) बुलाते हैं, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस इष्टदेव परमात्मा का स्मरण करके सब मनुष्य उत्साही होकर आगे बढ़ते हैं, उसकी उपासना सबको करना चाहिये ॥ ८ ॥

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते । यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥

यस्मात् । न । ऋते । वि-जयन्ते । जनासः । यम् । युध्यमानाः । अवसे । हवन्ते ॥ यः । विश्वस्य । प्रति-मानम् । बभूव । यः । अच्युत-च्युत् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यस्मात् ऋते) जिस के बिना (जनासः) मनुष्य (न)

८—(यम्) परमेश्वरम् (क्रन्दसी) अ० २ । ४ । ३ । क्रदि आह्वाने—असुन्, ङीप् पूर्वसवर्णदीर्घः । क्रन्दस्यौ । आह्वयन्त्यौ द्वे सेने (संयती) इण् गतौ-शतृ । संगच्छमाने (विह्वयेते) विविधमाह्वयतः प्रतिभटान् (परे) प्रकृष्टाः । जेतारः (अवरे) निकृष्टाः । पराजिताः (उभयाः) उभयपक्षाः (अमित्राः) शत्रवः (समानम्) एकम् (चित्) एव (रथम्) यानम् (आतस्थिवांसा) अधितिष्ठन्तौ (नाना) अनेकधा (हवेते) आह्वयतः । अन्यद् गतम् ॥

९—(यस्मात्) परमेश्वरात् (न) निषेधे (ऋते) विना (विजयन्ते)

नहीं (विजयन्ते) विजय पाते हैं, (यम्) जिसको (युध्यमानाः) लड़ते हुये लोग (अवसे) रक्षा के लिये (हवन्ते) पुकारते हैं। (यः) जो (विश्वस्य) संसार का (प्रतिमानम्) प्रत्यक्ष नापने का साधन और (यः) जो (अच्युत-च्युत्) नहीं हिलने वालों का हिलाने वाला (बभूव) है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस जगदीश्वर की उपासना से ही मनुष्य युद्ध में जय पाते हैं, जो सब संसार को ठीक ठीक जानता और जो अत्यन्त से अत्यन्त दृढ़ स्वभाव वालों को वश में रखता है, उसकी उपासना सब करें ॥ ६ ॥

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान। यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्। शर्वा। जघान ॥ यः। शर्धते। न। अनु-ददाति। शृध्याम्। यः। दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जिस ने (महि) बड़े (एनः) पाप को (दधानान्) धारण करने वाले (शश्वतः) बहुत से (अमन्यमानान्) अज्ञानियों को (शर्वा) शासनरूपी वज्र से (जघान) मारा है। (यः) जो (शर्धते) अपमान करने वाले को (शृध्याम्) उत्साह (न) नहीं (अनुददाति) कभी देता है, और (यः)

विजयं प्राप्नुवन्ति (जनासः) मनुष्याः (यम्) (युध्यमानाः) युद्धं कुर्वाणाः (अवसे) रक्षणाय (हवन्ते) आह्वयन्ति (यः) (विश्वस्य) संसारस्य (प्रति-मानम्) प्रत्यक्षमानसाधनम् (बभूव) लडर्थे लिट्। भवति (यः) (अच्युतच्युत्) अच्युतानाम्, अच्यावयितव्यानां स्थावरादीनां च्यावयिता प्रेरयिता। अन्यद् गतम् ॥

१०—(यः) परमेश्वरः (शश्वतः) बहून्—निघ० ३। १ (महि) महत् (एनः) पापम् (दधानान्) धरतः (अमन्यमानान्) अज्ञानिनः। शठान् (शर्वा) सुडभावः। शरुणा। शासनरूपवज्रेण (जघान) नाशितवान् (यः) (शर्धते) शृधु शब्दकुत्सायाम्, अपमाने उत्साहे च—शतृ। अपमानं कुर्वते (न) निषेधे (अनुददाति) आनुकूल्येन प्रयच्छति (शृध्याम्) शृधु उत्साहे—क्यप। शर्धो

जो (दस्योः) डाकू का (हन्ता) मारने वाला है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो परमात्मा पापियों, निन्दकों और डाकुओं को बिना दण्ड दिये नहीं छोड़ता, अर्थात् दण्डनीय को दण्ड ही देता है, उसी को न्यायकारी जगदीश्वर जानो ॥ १० ॥

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११

यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् । शरदि । अनु-अविन्दत् ॥ ओजायमानम् । यः । अहिम् । जघान । दानुम् । शयानम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस ने (पर्वतेषु) बादलों में (क्षियन्तम्) रहते हुये (शम्बरम्) चलने वाले पानी को (चत्वारिंश्याम्) भिक्षा नाश करने वाले (शरदि) वर्ष में (अन्वविन्दत्) निरन्तर पहुंचाया है। (यः) जिसने (ओजायमानम्) अत्यन्त बल करते हुये, (दानुम्) छेदने वाले, (शयानम्) पड़े हुये (अहिम्) सब ओर से नाश करने वाले [विघ्न] को (जघान) नष्ट किया है,

---

बलनाम—निघ० २ । ६ । उत्साहम् (यः) (दस्योः) परपदार्थापहारकस्य (हन्ता) घातकः । अन्यद् गतम् ॥

११—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (शम्बरम्) कोरन् । उ० ४ । १५१ । शम्ब सम्बन्धने गतौ च-अरन्, यद्वा शम्+वृञ् वरणे—अप्, वस्य बः । शम्बरो मेघः—निघ०१।१०। शम्बरमुदकम्—१।१२। शम्बर बलम् २। ६ । गतिशीलं जलम् (पर्वतेषु) मेघेषु (क्षियन्तम्) निवसन्तम् (चत्वारिंश्याम्) अशूप्रुषिलटि० । उ०१। १५१। चत याचने-क्वन्, टाप्+रिश हिंसायाम्-क, गौरादित्वाद् ङीष्, छान्दसो नुम् । चत्वाया भिक्षाया रिश्यां नाशिकायाम् (शरदि) वत्सरे (अन्वविन्दत्) अन्तर्गतण्यर्थः । निरन्तरं प्रापितवान् (ओजायमानम्) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ १।११। ओजस्-क्यङ् ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया। वा० पा० ३।१।११। सकारलोपः । ओजो बलम्, तद्वदाचरन्तम् । अतिशयितबलयुक्तम् (यः) (अहिम्) म०३। आहन्तारं समन्ताद् नाशयितारं विघ्नम (जघान)

(जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूखा के समय अकाल में मेह बरसाकर अन्न उत्पन्न करता और क्लेशों का नाश करके शारीरिक और आत्मिक सुख पहुंचाता है, उसी की उपासना किया करो ॥ ११ ॥

यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत् सुतस्य। अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत् स जनास इन्द्रः ॥१२

[सूचना—मन्त्र १२, १६, १७ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं हैं, और इन का पदपाठ गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई के पुस्तक में भी नहीं दिया। हम स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द कृत पदसूची से संग्रह कर के स्वरों को यथासम्भव शोधकर यहां लिखते हैं, बुद्धिमान् जन विचार लेवें]

यः। शम्बरम्। परि। अतरत्। कसीभिः। यः। अचारु। कास्ना। अपिबत्। सुतस्य॥ अन्तः। गिरौ। यजमानम्। बहुम्। जनम्। यस्मिन्। आमूर्छत्। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यः) जिसने (शम्बरम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (कसीभिः) ज्ञानों के साथ (परि) सब प्रकार (अतरत्) तराया है, (यः) जिस (अचारु) अचालु [निश्चल] ने (कास्ना) प्रकाश के साथ (सुतस्य) तत्त्व का (अपिबत्) पान कराया है। और [जिसने] (यस्मिन्) जिस (गिरौ अन्तः)

नाशितवान् (दानुम्) दाभाभ्यां नुः। उ० ३। ३२। दाप् लवने–नु। छेत्तारम् (शयानम्) कृतशयनमिव वर्तमानम्। अन्यद् गतम् ॥

१२—(यः) इन्द्रः (शम्बरम्) म० ११। मेघमिवोपकारिणम् (परि) सर्वतः (अतरत्) तॄ तरणे—लङ्। पारं कृतवान् (कसीभिः) अवितॄस्तृतन्—त्रिभ्य ईः। उ० ३। १५८। कस गतिशासनयोः—ईप्रत्ययः। कसतीति गतिकर्मा—निघ० २। १४। ज्ञानैः (यः) (अचारु) चर गतौ—उण्। विभक्तेर्लुक्। अचारुः। अचालुः। निश्चलः (कास्ना) रास्नासास्ना०। उ० ३। १५ कासृ शब्दे दीप्तौ च-नप्रत्ययः, टाप्, विभक्तेराकारः। कास्नया दीप्त्या (अपिबत्) अन्तर्गत-

तत्त्व ज्ञान के भीतर (बहुम्) बहुत से (यजमानम्) यज्ञ करने वाले (जनम्) लोगों को (आमूर्छत्) सब प्रकार बढ़ाया है, (जनासः) हे मनुष्यो (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपकारी ज्ञानी पुरुषों को दुःख से पार करता और वैदिक तत्त्वों पर चलने वालों को बढ़ाता है, हम उस परमेश्वर की भक्ति करें ॥ १२ ॥

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥१३॥

यः । सप्त-रश्मिः । वृषभः । तुविष्मान् । अव-असृजत् । सर्तवे । सप्त । सिन्धून् ॥ यः । रौहिणम् । अस्फुरत् । वज्र-बाहुः । द्याम् । आ-रोहन्तम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सप्तरश्मिः) सात प्रकार की [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र] किरणों वाले सूर्य के समान (यः) जिस (वृषभः) सुख की बरसा करने वाले, (तुविष्मान्) बलवान् ने (सप्त) सात (सिन्धून्) बहते हुये समुद्रों [के समान भूर् आदि सात लोकों] को (सर्तवे) चलने के लिये (अवासृजत्) विमुक्त किया है। और (यः) जिस (वज्रबाहुः) वज्र

ण्यर्थः। पानमकारयत् (सुतस्य) निष्पादितस्य तत्त्वस्य (अन्तः) मध्ये (गिरौ) कॄगॄशॄपॄ०। उ० ४। १४३। गॄ विज्ञापने—इप्रत्ययः। तत्त्वज्ञाने (यजमानम्) (बहुम्) बहुसंख्याकम् (जनम्) मनुष्यसमूहम् (यस्मिन्) ज्ञाने (आमूर्छत्) आङ्+मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः—लङ्। समन्ताद् वर्धितवान्। अन्यद् गतम् ॥

१३—(यः) इन्द्रः (सप्तरश्मिः) ऋ० ६। ५। १५। सप्त आदित्यरश्मयः निरु० ४। २६। शुक्लनीलपीतादिवर्णाः सप्तकिरणाः सन्ति यस्य सः। सूर्यलोक इव। (वृषभः) सुखस्य वर्षिता (तुविष्मान्) बलवान् (अवासृजत् विमुक्तवान् (सर्तवे) गन्तुम् (सप्त) (सिन्धून्) म० ३। स्यन्दमानान् समुद्रान् इव भूरादिसप्तलोकान्, संसारस्यावस्थाविशेषान् (यः) (रौहिणम्) रुहेश्च।

समान भुजाओं वाले [दृढ़ शरीर वाले वीर सदृश] ने (द्याम्) आकाश को (आरोहन्तम्) चढ़ते हुये (रौहिणम्) उपजाने वाले बादल को (अस्फुरत्) घुमड़ाया है [घेरा करके चलाया है], (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १३ ॥

भावार्थ—भूर् आदि लोकों के लिये मन्त्र ३ का भावार्थ देखो। जैसे सूर्य अपनी परिधि के लोकों को आकर्षण में रखकर ठहराता है, वैसे ही परमेश्वर सूर्य आदि लोकों को नियम में रखकर चलाता है, और अनावृष्टि हटाकर मेह बरसा कर अन्न आदि उत्पन्न करता है, हे मनुष्यो ! उस परमेश्वर की आज्ञा में चलो ॥ १३ ॥

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥१४
द्यावा । चित् । अस्मै । पृथिवी इति । नमेते इति । शुष्मात् । चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते ॥ यः । सोम-पाः । नि-चितः । वज्रबाहुः । यः । वज्र-हस्तः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(द्यावा पृथिवी) आकाश और भूमि (चित्) भी (अस्मै) इस [परमेश्वर] के लिये (नमेते) झुकते हैं, (अस्य) इस के (शुष्मात्) बल से (चित्) ही (पर्वताः) मेघ (भयन्ते) डरते हैं। (यः) जो (निचितः) भर पूर, (सोमपाः) ऐश्वर्य का रक्षक, (वज्रबाहुः) वज्रसमान भुजाओं वाला

ब० २ । ५५ । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इनन्, प्रज्ञादित्वादण्। रौहिणो मेघनाम—निघ० १ । १० । उत्पादनशीलं मेघम् (अस्फुरत्) स्फुर संचलने। संचालितवान् (वज्रबाहुः) वज्रवत् सारभूताभ्यां बाहुभ्यामुपेतः शूरपुरुष इव (द्याम्) आकाशम् (आरोहन्तम्) अधितिष्ठन्तम् । अन्यद् गतम् ॥

१४—(द्यावा पृथिवी) छान्दसं रूपम् । आकाशभूमिलोकौ (चित्) अपि (अस्मै) परमेश्वराय (नमेते) प्रह्वीभवतः (शुष्मात्) बलात् (चित्) एव (अस्य) परमेश्वरस्य (पर्वताः) मेघाः (भयन्ते) छान्दसः शप् आत्मनेपदं च। बिभ्यति (यः) (सोमपाः) ऐश्वर्यरक्षकः—दयानन्दभाष्ये, यजु०

[दृढ़ शरीर वाले वीर सदृश] है और (यः) जो (वज्रहस्तः) वज्र हाथ में रखने वाले [दृढ़ हथियार वाले शूर सदृश] है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के नियम में सब बड़े बड़े और छोटे छोटे पदार्थ रहते हैं, वही महाबली हमारे ऐश्वर्य का रक्षक है, उसकी शरण में रहकर हम अपना कर्तव्य करें ॥ १४ ॥

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१५

यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः । पचन्तम् । यः । शंसन्तम् ।
यः । शशमानम् । ऊती ॥ यस्य । ब्रह्म । वर्धनम् । यस्य ।
सोमः । यस्य । इदम् । राधः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (सुन्वन्तम्) तत्त्व निचोड़ते हुये को, (यः) जो (पचन्तम्) पक्के करते हुये को (यः) जो (शंसन्तम्) गुण बखानते हुये को, (यः) जो (शशमानम्) उद्योग करते हुये को (ऊती) अपनी रक्षा से (अवति) पालता है । (यस्य) जिसका (ब्रह्म) वेद, (यस्य) जिसका (सोमः) मोक्ष और (यस्य) जिसका (इदम्) यह (राधः) धन (वर्धनम्) वृद्धिरूप है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १५ ॥

---

८ । ३४ (निचितः) चिञ् चयने—क्त । नितरां राशीकृतः । पूरितः (वज्रबाहुः) म० १३ (यः) वज्रहस्तः) वज्रो दृढशस्त्रं हस्तयोर्यस्य स शूर इव । अन्यद् गतम् ॥

१५—(यः) परमेश्वरः (सुन्वन्तम्) तत्त्वं निष्पादयन्तम् (अवति) पालयति (यः) (पचन्तम्) परिपक्वं कुर्वन्तम् (यः) (शंसन्तम्) गुणान् वर्णयन्तम् (यः) (शशमानम्) शश प्लुतगतौ-शानच् । उद्योगं कुर्वन्तम् (ऊती) रक्षया (यस्य) (ब्रह्म) वेदः (वर्धनम्) वृद्धिरूपम् (यस्य) (सोमः) मोक्षः (यस्य) (इदम्) (राधः) धनम् । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जो परमात्मा वेद द्वारा सब मनुष्यों को तत्त्वदर्शी बनने बनाने का उपदेश करता है, और संसार के सब पदार्थ जिसका ऐश्वर्य प्रकाशित करते हैं, उसका ध्यान करके सब लोग उन्नति करें ॥ १५ ॥

जातो व्यख्यत् पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य ।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद् व्रता देवानां स जनास इन्द्रः ॥१६

[सूचना-पद पाठ के लिये सूचना मन्त्र १२ देखो ।]

जातः । वि । अख्यत् । पित्रोः । उपस्थे । भुवः । न । वेद । जनितुः । परस्य ॥ स्तविष्यमाणः । नो इति । यः । अस्मत् । व्रता । देवानाम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (जातः) प्रकट होकर (पित्रोः) [हमारे] माता पिता के (उपस्थे) समीप में (वि अख्यत्) व्याख्यात हुआ है, और (परस्य) [अपने से] दूसरे (जनितुः) जनक और (भुवः) जननी को (न) नहीं (वेद) जानता है, और (देवानाम्) विद्वानों का (स्तविष्यमाणः) स्तुति किया गया [जो] (नो) अभी ही (अस्मत्) हमारे (व्रता) कर्मों को [जानता है], (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो अनादि होने से हमारे पूर्वजों का पूर्वज है, और अजन्मा होने से जिसके माता पिता नहीं हैं, और सर्वज्ञ होने से सब के कर्मों को जानता है, हम उस जगदीश्वर की उपासना करके अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १६ ॥

१६—(जातः) प्रकटः सन् (वि अख्यत्) वि अख्यातोऽभवत् (पित्रोः) अस्माकं मातापित्रोः (उपस्थे) समीपे (भुवः) भू सत्तायाम्—क्विप् । भवन्ति उत्पद्यन्ते सन्ताना यस्यां सा भूः । द्वितीयार्थे षष्ठी । भुवम् । जननीम् (न) निषेधे (वेद) जानाति (जनितुः) जनितारम् । जनकम् (परस्य) परम् । स्वस्माद् भिन्नम् (स्तविष्यमाणः) लृटः सद् वा । पा० ३।३।१४। ष्टुञ् स्तुतौ— लृटः शानच्,कर्मणि प्रयोगः । स्तूयमानः (नो) न—उ । न इति सम्प्रत्यर्थे—निरु०७।३१ । उ एवार्थे । इदानीमेव (यः) परमेश्वरः (अस्मत्) षष्ठ्यर्थे पञ्चमी । अस्माकम् (व्रता) व्रतानि । कर्माणि— निघ०२।१ (देवानाम्) विदुषां मध्ये । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यः सोम॑कामो॒ हर्य॑श्वः सू॒रिर्यस्मा॒द् रेज॑न्ते॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ।
यो ज॒घान॒ शम्ब॑रं॒ यश्च॒ शुष्णं॒ य ए॑क॒वीरः स ज॑नास॒ इन्द्रः॑॥१७॥

[सूचना—पद पाठ के लिये सूचना मन्त्र १२ देखो ।]

यः । सोम॑-का॒मः । हरि॑-अश्वः । सू॒रिः । यस्मा॑त् । रेज॑न्ते । भुव॑नानि । विश्वा ॥ यः । ज॒घान॑ । शम्ब॑रम् । यः । च॒ । शुष्ण॑म् । यः । ए॒क॒-वी॒रः । सः । ज॒ना॒सः॒ । इन्द्रः॑ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (सोमकामः) ऐश्वर्य चाहने वाला, (हर्यश्वः) मनुष्यों में व्यापक, (सूरिः) प्रेरक, विद्वान् है, (यस्मात्) जिससे (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक (रेजन्ते) थरथराते हैं । (यः) जो (शम्बरम्) मेघ में (च) और (यः) जो (शुष्णम्) सूर्य में (जघान) व्यापा है, (यः) जो (एकवीरः) एकवीर [अकेला शूर] है, (जनासः) हे मनुष्यो !(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमात्मा परम ऐश्वर्यवान् होकर सब को ऐश्वर्यवान् बनाता है और जो एकवीर होकर सब संसार को नियम में रखता है, उस इष्ट देव की महिमा विचार कर हम ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १७ ॥

यः सु॒न्व॒ते पच॑ते दु॒ध्र आ चि॒द् वाजं॒ दर्द॑र्षि॒ स कि॒लासि स॒त्यः ।
व॒यं त॑ इन्द्र वि॒श्वह॑ प्रि॒यासः॑ सु॒वीरा॑सो वि॒दथ॒मा व॑देम ॥१८॥

१७—(यः) परमेश्वरः (सोमकामः) ऐश्वर्यं कामयमानः (हर्यश्वः) हरयो मनुष्याः—निघ०२।३+अशू व्याप्तौ-क्वन् । मनुष्येषु व्यापकः (सूरिः) अ० २।११।४। षू प्रेरणे—क्रि-उ० ४। ६४। प्रेरको विद्वान् (यस्मात्) परमेश्वरात् (रेजन्ते) रेजत इति भयवेपनयोः—निरु०३।२१। कम्पन्ते (भुवनानि) लोकाः (विश्वा) सर्वाणि (यः) (जघान) हन हिंसागत्योः—लिट् । जगाम । व्याप्तवान् (शम्बरम्) म० १२ । मेघम्—निघ० १ । १० (यः) (च) (शुष्णम्) तृषिशुषिरसिभ्यः कित् । उ० ३ । १२ । शुष शोषे—नप्रत्ययः कित् । रसशोषकं सूर्यम् (यः) (एकवीरः) अ० १६ । १३ । २ । अद्वितीयशूरः । अन्यद् गतम् ॥

यः । सुन्वते । पचते । दुध्रः । आ । चित् । वाजम् । दर्दर्षि । सः । किल । असि । सत्यः ॥ वयम् । ते । इन्द्र । विश्वह । प्रियासः । सु-वीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (दुध्रः) पूर्ण होकर (चित्) ही (सुन्वते) तत्त्व निचोड़ते हुये और (पचते) परिपक्व करते हुये के लिये (वाजम्) अन्न [वा बल] (आ दर्दर्षि) फाड़ कर देता है, (सः) सो तू (किल) निश्चय करके (सत्यः) सच्चा (असि) है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (वयम्) हम (ते) तेरे (प्रियासः) प्यारे हो कर (सुवीरासः) सुन्दर वीरों वाले (विश्वह) सब दिनों (विदथम्) ज्ञान का (आ) सब ओर (वदेम) उपदेश करें ॥ १८ ॥

भावार्थ—परिपूर्ण सत्यस्वरूप परमात्मा तत्त्वदर्शी परिपक्व ज्ञानियों को धनवान् और बलवान् करता है, उसी के गुणों को विचार कर हम उत्तम वीरों वाले होवें ॥ १८ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—१६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, १६ विराडार्षी त्रिष्टुप्; २, ७, ६ निचृत् त्रिष्टुप्; ३, ५, १५ विराट् पङ्क्तिः; ४, १० पङ्क्तिः; ६, १२ आर्षी पङ्क्तिः; ८, ११ भुरिक् पङ्क्तिः; १३ निचृदार्षी पङ्क्तिः; १४ विराट् त्रिष्टुप् ॥

सभापतिलक्षणोपदेशः—सभापति के लक्षणों का उपदेश ॥

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय ।

१८—(यः) परमेश्वरः (सुन्वते) तत्त्वं निष्पादयते (पचते) परिपक्वं कुर्वते (दुध्रः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । दुह प्रपूरणे-रक्, हस्य धः । पूर्णः सन् (आ) समन्तात् (चित्) अपि (वाजम्) अन्नम् । बलम् (दर्दर्षि) दॄ विदारणे—यङ्लुकि लट् । भृशं विदृणासि । अत्यन्तं ददासि (सः) (किल) निश्चयेन (असि) (सत्यः) यथार्थस्वरूपः (वयम्) (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (विश्वह) अकारलोपो विभक्तेर्लुक् च । विश्वेषु अहःसु दिनेषु (प्रियासः) प्रियाः सन्तः (सुवीरासः) शोभनवीरोपेताः (विदथम्) ज्ञानम् (आ) समन्तात् (वदेम) उपदिशेम ॥

ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥ १ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । प्र । तवसे । तुराय । प्रयः । न । हर्मि । स्तोमम् । माहिनाय ॥ ऋचीषमाय । अध्रि-गवे । ओहम् । इन्द्राय । ब्रह्माणि । रात-तमा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (तवसे) बल के निमित्त, (तुराय) फुरतीले, (माहिनाय) पूजनीय, (ऋचीषमाय) स्तुति के समान गुण वाले, (अध्रिगवे) बेरोक गति वाले, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के लिये (स्तोमम्) स्तुति को, (ओहम्) पूरे विचार को और (राततमा) अत्यन्त देने योग्य (ब्रह्माणि) धनों को (प्रयः न) तृप्ति करने वाले अन्न के समान (प्र हर्मि) मैं आगे लाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि पूजनीय, उत्तम गुण वाले, अति बुद्धिमान् राजा आदि प्रधान पुरुषों का धन आदि से सत्कार करें और प्रधान

१—(अस्मै) परिदृश्यमानस्य संसारस्य हिताय (इत्) एव (उ) वितर्के । विचारे (प्र) (तवसे) अ० ४ । ३२ । ३ । बलार्थम् (तुराय) तुर त्वरणे-कप्रत्ययः । वेगवते (प्रयः) सर्वधातुभ्य असुन् । उ० ४ । १८६ । प्रीञ् तर्पणे—असुन् । प्रीतिकरम् अन्नम्—निघ० २ । ७ (न) यथा (हर्मि) शपो लुक् । हरामि । नयामि (स्तोमम्) स्तुतिम् (माहिनाय) महेरिनण् च । उ० २ । ५६ । मह पूजायाम्—इनण् । पूजनीयाय (ऋचीषमाय) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । ऋच स्तुतौ—इन, कित् ङीष्+षम अवैकल्ये—अच् । ऋचीषम ऋचा समः—निरु० ६ । २३ । ऋचा स्तुत्या तुल्याय । स्तुतितुल्यगुणवते (अध्रिगवे) भुजेः किच्च । उ० ४ । १४२ । नञ्+धृञ् धारणे—इप्रत्ययः कित् । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । पा० १ । २ । ४८ । इति ह्रस्वः । अध्रिगुः, अधृतगमनः, इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते—निरु० ५ । ११ । अध्रिः अधृतोऽन्येनानिवारितो गौर्गमनं यस्य तस्मै । अनिवारितगतये (ओहम्) आ+ऊह वितर्के—घञ् । पूर्णविचारम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते सेनापतये (ब्रह्माणि) प्रवृद्धानि धनानि निघ० २ । १० (राततमा) रा दाने —क्त, तमप् । अतिशयेन दातव्यानि ॥

लोग भी इसी प्रकार उनका आदर करें॥ १॥

यह सूक्त—ऋग्वेद में है—१। ६१। १—१६॥

अस्मा इदु प्रयं इव प्र यंसि भरांम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति ।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥२॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । प्रयः-इव । प्र । यंसि । भरामि । आङ्गूषम् । बाधे । सु-वृक्ति ॥ इन्द्राय । हृदा । मनसा । मनीषा । प्रत्नाय । पत्ये । धियः । मर्जयन्त ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (अस्मै) इस [संसार के हित के लिये (इत) ही (उ) विचार पूर्वक, (प्रयः इव) तृप्ति करने वाले अन्न के समान (आङ्गूषम्) प्राप्ति योग्य स्तुति को (प्र यंसि) तू देता है और (बाधे) बाधा रोकने के लिये (सुवृक्ति) सुन्दर ग्रहण करने योग्य कर्म को (भरामि) मैं पुष्ट करता हूं। (प्रत्नाय) प्राचीन (पत्ये) स्वामी, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के लिये (हृदा) हृदय से, (मनसा) मनन से और (मनीषा) बुद्धि से (धियः) कर्मों को (मर्जयन्त) मनुष्य शुद्ध करें॥ २॥

भावार्थ—सब मनुष्य मिलकर परस्पर हितके लिये सुपरीक्षित विद्वान् उपकारी पुरुष को सभापति बनाकर उसके लिये प्रिय आचरण करें॥ २॥

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भरांम्याङ्गूषमास्येन ।

२—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (प्रयः) म० १। प्रीतिकरमन्नम् (इव) यथा (प्र यंसि) यमु उपरमे-शपो लुक्। प्रयच्छसि। ददासि हे विद्वन् (भरामि) पुष्णामि (आङ्गूषम्) पीयेरूषन्। उ० ४। ७६। आङ्+अङ्ग गतौ-ऊषन्। आङ्गूष स्तोम आघोषः-निरु० ५। ११। प्रापणीय स्तोमम् (बाधे) बाधृ विलोडने-क्विप्। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः। पा० २। ३। १४। इति तुमुनः कर्मणि चतुर्थी। बाधं बाधां व्यथां निवारयितुम् (सुवृक्ति) सु+वृजी आदाने-क्तिन्। सुष्ठु ग्राह्यं कर्म (इन्द्राय) म० १ (हृदा) हृदयेन (मनसा) मननेन (मनीषा) विभक्तेर्डा। मनीषया बुद्धया (प्रत्नाय) प्राचीनाय (पत्ये) स्वामिने (धियः) कर्माणि-निघ० २। १ (मर्जयन्त) मृजू शुद्धौ-लोडर्थे लङ् अडभावश्च। मर्जयन्तु शोधयन्तु॥

मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै ॥ ३ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्यम् । उप-मम् । स्वः-साम् । भरामि । आङ्गूषम् । आस्येन ॥ मंहिष्ठम् । अच्छोक्ति-भिः। मतीनाम् । सुवृक्ति-भिः । सूरिम् । ववृधध्यै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (त्यम्) उस (उपमम्) उपमा योग्य, (स्वर्षाम्) सुख देने वाली, (आङ्गूषम्) प्राप्ति योग्य स्तुति को (आस्येन) [अपने] मुख से (मतीनाम्) बुद्धिमानों में (अच्छोक्तिभिः) अच्छे वचनों वाली (सुवृक्तिभिः) सुन्दर ग्रहण योग्य क्रियाओं के साथ (मंहिष्ठम्) उस अत्यन्त उदार, (सूरिम्) प्रेरक विद्वान् के (ववृधध्यै) बढ़ाने के लिये (भरामि) मैं धारण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने शुभ लक्षणों से सब में श्रेष्ठ गुणी विद्वान् हो, उस को आदर पूर्वक सभापति बनावें ॥ ३ ॥

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय ।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥ ४ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । स्तोमम् । सम् । हिनोमि । रथम् । न । तष्टा-इव । तत्-सिनाय ॥ गिरः । च । गिर्वा-हसे । सु-वृक्ति । इन्द्राय । विश्वम्-इन्वम् । मेधिराय ॥ ४ ॥

३—(अस्मै) (इत्) (उ) म० १ (त्यम्) तम् (उपमम्) दृष्टान्तयोग्यम् (स्वर्षाम्) अ० ५ । २ । ८ । स्वः+षणु दाने—विट् । सुखस्य दातारम् (भरामि) धरामि (आङ्गूषम्) म ०२। प्रापणीयं स्तोमम् (मंहिष्ठम्) अ० २० । १५ । १ दातृतमम् (अच्छोक्तिभिः) श्रेष्ठवचनयुक्ताभिः (मतीनाम्) मेधाविनाम्—निघ० ३ । १ (सुवृक्तिभिः) म० २ । सुष्ठु ग्राह्याभिः क्रियाभिः (सूरिम्) अ० २ । ११ । ४ । प्रेरकं विद्वांसम् (ववृधध्यै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । वृधु वृद्धौ—कध्यैप्रत्ययः, अन्तर्गतण्यर्थः, कित्वाद् गुणाभावः, द्विर्भावश्छान्दसः । वर्धयितुम् । स्तोतुम् ॥

वृन्दध्यै । पुराम् । गूर्त-श्रवसम् । दुर्माणम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (इन्द्राय) ऐश्वर्य के अर्थ (श्रवस्या) कीर्ति की इच्छा से (जुह्वा) देने लेने वाली क्रिया के साथ (सप्तिम् इव) जैसे फुरतीले घोड़े को [वैसे] (अर्कम्) पूजनीय (वीरम्) वीर, (दानौकसम्) दान के घर [बड़े दानी], (गूर्तश्रवसम्) उद्यम युक्त यश वाले, (पुराम्) शत्रुओं के गढ़ों के (दर्माणम्) ढाने वाले [सभापति] को (वन्दध्यै) सत्कार करने के लिये (सम्) अच्छे प्रकार (अञ्जे) मैं चाहता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे फुरतीले घोड़े को चढ़ने और रथ आदि ले चलने के लिये चाहते हैं, वैसे ही मनुष्य शुभ गुण वाले महा कीर्तिमान् पुरुषार्थी जन को संसार के हित के लिये आदर से चाहते हैं ॥ ५ ॥

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय ।
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥६॥

५—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (सप्तिम्) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति षप समवाये-ति । सप्तिरिति अश्वनाम—निघ० १ । १४ । शीघ्रगा मिनम् अश्वम् (इव) यथा (श्रवस्या) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । श्रवस्—क्यच् । तस्मात् अप्रत्ययः, टाप् । तृतीयाया डादेशः । कीर्तीच्छया (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्तये (अर्कम्) अर्चनीयम् (जुह्वा) अ० १८ । ४ । ५ । हु दानादानादनेषु—क्विप्, तृतीयैकवचनम् । दानादानक्रियया (सम्) सम्यक् (अञ्जे) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—आत्मनेपदं छान्दसम् । अहं कामये (वीरम्) शूरम् (दानौकसम्) दानस्य गृहम् । महादानिनम् (वन्दध्यै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । वदि अभिवादनस्तुत्योः—कध्यै । वन्दितुम् । सत्कर्तुम् (पुराम्) शत्रूणां पुराणां दुर्गाणाम् (गूर्तश्रवसम्) नसत्तनिषत्ताऽनुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानिच्छन्दसि । पा० ८ । २ । ६१ । गूरी उद्यमने—क्त, नत्वाभावः । गूर्णम् उद्योगयुक्तं श्रवो यशो यस्य तम् (दर्माणम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । दृ विदारणे—मनिन् । विदारयितारम् ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (गिर्वाहसे) विद्याओं के पहुंचाने वाले, (मेधिराय) बुद्धिमान् (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के लिये (सुवृक्ति) सुन्दर ग्रहण करने योग्य क्रियाओं के साथ (विश्वमिन्वम्) सब में फैलने वाले (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार (च) और (गिरः) वेदवाणियों को (सम्) यथावत् (हिनोमि) मैं बढ़ाता हूं, (रथम्) रथ को (तष्टा इव) जैसे विश्वकर्मा [बड़ा ज्ञाती बढ़ई] (न) अब (तत्सिनाय) उस [रथ] से अन्न के लिये बढ़ाता है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् शिल्पी कला यन्त्र लगाकर सुन्दर रथ बनाकर उस से अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करता कराता है। वैसे ही मनुष्य बुद्धिमान् पुरुष से आदर के साथ उत्तम गुण ग्रहण करके आनन्द पावे ॥ ४ ॥

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समंञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥ ५ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । सप्तिम्-इव । श्रवस्या । इन्द्राय । अर्कम् । जुह्वा । सम् । अञ्जे ॥ वीरम् । दान-ओकसम् ।

४—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (स्तोमम्) स्तुत्यं व्यवहारम् (सम्) सम्यक् (हिनोमि) हि गतिवृद्ध्योः। वर्धयामि। स्तौमि (रथम्) रमणीयं यानम् (न) सम्प्रति (तष्टा) तक्षू तनूकरणे—तृन्, ऊदित्वात्पक्षे इडभावः। तक्षकः। विश्वकर्म्मा। शिल्पी (इव) यथा (तत्सिनाय) इण्सिञ्जि०। उ० ३। २। षिञ् बन्धने—नक्। सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि—निरु० ५। ५। तेन रथेन सिनस्य अन्नस्य प्राप्तये (गिरः) वेदवाणीः (च) (गिर्वाहसे) सर्वधातुभ्य असुन्। उ० ४। १८६। गिर्+वह प्रापणे—असुन्, धातोर्दीर्घश्छान्दसः। गिरां विद्यानां प्रापकाय (सुवृक्ति) म० २। सु+वृक आदाने—क्तिन्। विभक्ते लुक्। सुष्ठु ग्राह्याभिः क्रियाभिः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते सभापतये (विश्वमिन्वम्) इवि व्याप्तौ—पचाद्यच्, विभक्त्यलुक्। सर्वव्यापकम् (मेधिराय) मेधारथाभ्यामिरन्निरचौ वक्तव्यौ। वा० पा० ५। २। १०९। मेधा—इरन्। मेधाविने ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्वष्टा । तक्षत् । वज्रम् । स्वपःऽतमम् । स्वर्यम् । रणाय ॥ वृत्रस्य । चित् । विदत् । येन । मर्म । तुजन् । ईशानः । तुजता । कियेधाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी विश्वकर्मा सभापति] ने (स्वपस्तमम्) अत्यन्त सुन्दर रीति से काम सिद्ध करने वाला, (स्वर्यम्) सुख देने वाला (वज्रम्) वज्र [बिजुली आदि शस्त्र] (रणाय) रण जीतने को (तक्षत्) तीक्ष्ण किया है। (तुजता येन) जिस काटने वाले [वज्र] से (वृत्रस्य) बैरी के (मर्म) मर्म [जीवन स्थान] को (चित्) ही (तुजन्) छेद कर (ईशानः) ऐश्वर्यवान्, (कियेधाः) कितने [अर्थात् बड़े बल] के धारण करने वाले [उस सभापति] ने (विदत्) पाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सभापति राजा तीक्ष्ण तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को दण्ड देकर प्रजा को आनन्द देवे ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० २ । ५ । ६ ॥

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवां चार्वन्ना । मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥ ७ ॥

६—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे—तृन् । व्यवहाराणां तनूकर्ता सूक्ष्मदर्शी विश्वकर्मा (तक्षत्) तक्ष तनूकरणे—लङ् । अतक्षत् । तीक्ष्णमकरोत् (वज्रम्) विद्युदादिशस्त्रसमूहम् (स्वपस्तमम्) अपः कर्मनाम—निघ० २ । १ । सुष्ठु अपांसि कर्माणि यस्मात् तम् (स्वर्यम्) अ० २ । ५ । ६ । स्वः—यत् । सुखे साधुम् (रणाय) रणं युद्धं जेतुम् (वृत्रस्य) शत्रोः (चित्) एव (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ् । अविदत् । लब्धवान् (येन) वज्रेण (मर्म) अ० ५ । ८ । ६ । सन्धिस्थानं जीवस्थानम् (तुजन्) तुज हिंसायाम्—शतृ, शपि प्राप्ते छान्दसः शः । हिंसन् (ईशानः) ऐश्वर्यवान् (तुजता) छेदकेन (कियेधाः) कियत्+दधातेर्विच्, कियतः किये भावः । कियेधाः कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वा—निरु० ६ । २० । कियतो महतो बलस्य धारकः ॥

अस्य । इत् । ऊं इति । मातुः । सवनेषु । सद्यः । महः । पितुम् । पपि-वान् । चारु । अन्ना ॥ मुषायत् । विष्णुः । पचतम् । सहीयान् । विध्यत् । वराहम् । तिरः । अद्रिम् । अस्ता ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [जगत्] के (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (महः) बड़े (मातुः) निर्माता [बनाने वाले परमेश्वर] के (सवनेषु) ऐश्वर्यों में (सद्यः) तुरन्त (चारु) सुन्दर (पितुम्)पीने योग्य रस को और (अन्ना) अन्नों को (पपिवान्) खाने पीने वाला, (पचतम्) परिपक्क [वैरी के अन्न वा धन] को (मुषायन्) लूटता हुआ, (विष्णुः) विद्याओं में व्यापक, (सहीयान्) विजयी, (अद्रिम्) वज्र का (अस्ता) चलाने वाला [सेनापति] (वराहम्) वराह [सूअर के समान अच्छे पदार्थ नाश करने वाले शत्रु] को

७—(अस्य) संसारस्य (इत्) एव (उ) वितर्के (मातुः) निर्मातुः । रचकस्य परमेश्वरस्य (सवनेषु) ऐश्वर्येषु (सद्यः) समाने दिने । इदानीम् (महः) मह पूजायाम्- विट् । महतः । पूजनीयस्य (पितुम्) अ० ४ । ६ । ३ पा पाने रक्षणे वा—तुप्रत्ययो धातोः पिभावः । पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु० ६ । २४ । पानीयं रसम् (पपिवान्) अ० ७ । ६७ । ३ । पिबतेः क्वसु । पीतवान् । खादितवान् (चारु) विभक्तेर्लुक् । सुन्दराः (अन्ना) अन्नानि (मुषायत्) मुष स्तेये—घञर्थे कविधानम् । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । मुष-क्यच् । नच्छन्दस्यपुत्रस्य । पा० ७ । ४ । ३५ । ईत्वबद्ध दीर्घस्यापि प्रतिषेधे छान्दसो दीर्घः । अस्मात् क्यजन्तात् शतृ, नुमभावः । आत्मनः स्तेयमिच्छन् अपहरन् (विष्णुः) विद्यासु व्यापनशीलः (पचतम्) भृमृदृशियजिपर्विपच्यमि० । उ० ३ । ११० । पचतेः—अतच् । शत्रूणां परिपक्वमन्नं धनं वा (सहीयान्) सोढृ—ईयसुन् । अतिशयेन अभिभविता, विजेता (विध्यत्) विध्यति । ताडयति (वराहम्) वृञ् वरणे—अप् अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । वर+आङ्+हन् नाशने वा हन हिंसागत्योः—डप्रत्ययः । वरस्य उत्कृष्टस्य पदार्थस्य आहर्तारम् आहन्तारं नाशयितारं शूकरमिव शत्रुम् । वराहो मेघो भवति वराहार,"' अयमपीतरो वराह एतस्मादेव ।वृहति मूलानि, वरं वरं मूलं वृहतीति वा," अङ्गिरसोऽपि वाराहा

(तिरः) आर पार (विध्यत्) छेदता है ॥ ७ ॥

भावार्थ-जो परमेश्वर के बनाये ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों का ठीक ठीक उपयोग कर के जङ्गली सूअर के समान उपद्रवी शत्रुओं का नाश करे, वही पुरुष सभापति सेनापति होवे ॥ ७ ॥

अस्मा इदु ग्नाश्चिद् देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः ।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥८

अस्मै । इत् । ऊं इति । ग्नाः । चित् । देव-पत्नीः । इन्द्राय । अर्कम् । अहि-हत्ये । ऊवुरित्यूवुः ॥ परि । द्यावापृथिवी इति । जभ्रे । उर्वी इति । न । अस्य । ते इति । महिमानम् । परि । स्तः इति स्तः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (देवपत्नीः) विद्वानों से पालने योग्य (ग्नाः) वेद-वाणियों ने (चित्) भी (अहिहत्ये) सब ओर से नाश करने वाले [विघ्न] के मिटने पर (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के लिये (अर्कम्) पूजनीय व्यवहार को (ऊवुः) बुना है [फैलाया है] । उस [परमात्मा] ने (उर्वी) चौड़े (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (परि) सब ओर से

उच्यन्ते—निरु० ५ । ४ (तिरः) तिरस्कृत्य (अद्रिम्) वज्रम् (अस्ता) असु क्षेपणे-तृन्, इडभावः । नलोकाव्ययनिष्ठा० । पा० २ । ३ । ६९ । षष्ठी-प्रतिषेधः । प्रक्षेप्ता ॥

८—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (ग्नाः) अ० ७ । ४९ । २ । गमेर्नप्रत्ययः, टाप्, टिलोपः । ग्ना वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाण्यः (चित्) अपि (देवपत्नीः) विद्वद्भिः पालनीयाः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते परमात्मने (अर्कम्) अर्चनम् । पूजनम् (अहिहत्ये) अहेराहन्तुः समन्ताद् नाशकस्य विघ्नस्य हत्यायां नाशने (ऊवुः) वेञ् तन्तुसन्ताने—लिट् । विस्तारयामासुः अतन्वत (परि) सर्वतः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (जभ्रे)

(अग्ने) ग्रहण किया है, (ते) वे दोनों (अस्य) इस [परमात्मा] की (महिमानम्) महिमा को (न) नहीं (परि अस्तः) पहुंच सकते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सब से बड़े परमात्मा ने प्रलय के अन्धकार आदि क्लेश मिटाकर सूर्य पृथिवी आदि लोक रच कर वेदद्वारा अपनी महिमा फैलायी है, वैसे ही सभापति आदि पुरुष कठिनाइयों को झेलकर सब को आनन्द देवें ॥ ८ ॥

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् ।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय॥९॥

अस्य । इत् । एव । प्र । रिरिचे । महि-त्वम् । दिवः । पृथिव्याः । परि । अन्तरिक्षात् ॥ स्व-राट् । इन्द्रः । दमे । आ । विश्व-गूर्तः । सु-अरिः । अमत्रः । ववक्षे । रणाय ॥९॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमेश्वर] का (इत्) ही (महित्वम्) महत्त्व (एव) निश्चय करके (दिवः) सूर्य से, (पृथिव्याः) पृथिवी से और (अन्तरिक्षात्) आकाश से (परि) सब प्रकार (प्र रिरिचे) अधिक बड़ा है । (स्वराट्) स्वयं राजा, (विश्वगूर्तः) सब को उद्यम में लगाने वाला, (स्वरिः)

हृञो लिट् । ह्रस्य भः । जह्रे । गृहीतवान् (उर्वी) विस्तृते (न) निषेधे (अस्य) परमेश्वरस्य (ते) उभे (महिमानम्) महत्वम् (परि अस्तः) पराभवतः । प्राप्नुतः ॥

९—(अस्य) सर्वत्र व्यापकस्य परमेश्वरस्य (इत्) एव (एव) निश्चयेन (प्र) प्रकर्षेण (रिरिचे) रिचिर् विरेचने—लिट् । अधिकं बभूव (महित्वम्) महत्त्वम् (दिवः) सूर्यलोकात् (पृथिव्याः) भूलोकात् (परि) सर्वतः (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (स्वराट्) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क्विप् । स्वयं राजा शासकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (दमे) दमु उपशमे-घञ् । शासने (विश्वगूर्तः) गूरी उद्यमे—क्त । नसत्तनिषत्ताऽनुत्त प्रतूर्तसूर्तगूर्तानिच्छन्दसि । पा० ८ । २ । ६१ । निष्ठानत्वाभावः । विश्वं सर्वं जगद् गूर्णम् उद्यतम् उद्यमे कृतं येन सः (स्वरिः) अच इः । उ० ४ । १३९ । सु+ऋ गतिप्रापणयोः—

बड़ा प्रेरक, (अमत्रः) ज्ञानवान् (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (दमे) शासन के बीच (रणाय) रण मिटाने के लिये (आ ववक्षे) क्रोधित हुआ है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सब से बड़ा होकर सूर्य आदि सब बड़ों से बड़ों को शासन में रखता है, वैसे ही सब से अधिक गुणी पुरुष प्रधान हो कर प्रजा का पालन करे ॥ ९ ॥

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः ।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः ॥ १० ॥

अस्य । इत् । एव । शवसा । शुषन्तम् । वि । वृश्चत् । वज्रेण । वृत्रम् । इन्द्रः ॥ गाः । न । व्राणाः । अवनीः । अमुञ्चत् । अभि । श्रवः । दावने । स-चेताः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] ने (अस्य) इस [परमेश्वर] के (इत् एव) ही (शवसा) बल से(शुषन्तम्) सुखाने वाले (वृत्रम्) वैरी को (वज्रेण) वज्र [बिजुली आदि शस्त्र] द्वारा (वि वृश्चत्) छेद डाला । और (श्रवः अभि) कीर्ति के निमित्त (दावने) सुख दान के लिये (सचेताः) चित्त वाला होकर (व्राणाः) घिरी हुयी (अवनीः) रक्षा योग्य

इप्रत्ययः । सुप्रेरकः (अमत्रः) अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । अम गत्यादिषु अत्रन् । ज्ञानवान् (ववक्षे) वक्ष रोषसंघातयोः—लिट्, आत्मनेपदं छान्दसम् । रोषं चकार (रणाय) रणं युद्धं नाशयितुम् ॥

१०—(अस्य) परमेश्वरस्य (इत् एव) (शवसा) बलेन (शुषन्तम्) शुष शोषणे—श्यनि प्राप्ते शः । शुष्यन्तम् । शोषकम् (वि) विविधम् (वृश्चत्) अच्छिनत् (वज्रेण) विद्युदादिशस्त्रेण (वृत्रम्) आवरकं शत्रुम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (गाः) धेनूः (न) इव (व्राणाः) वृञ् वरणे—कर्मणि शानच्, यको लुक्, गुणाभावे यणादेशः । आवृताः (अवनीः) अर्त्तिसृधृधम्य-श्यवितृभ्योऽनिः । उ० २ । १०२ । अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यव-गमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गनहिंसादानभागवृद्धिषु

भूमियों को (गाः न) गौओं के समान (अमुञ्चत्) छुड़ाया ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर का आश्रय लेकर दुःखदायी शत्रुओं का नाश करके प्रजा को कष्ट से छुड़ाकर और कीर्ति पाकर सुख का दान करे, जैसे ग्वाला गौओं को बन्धन से खोलकर सुखी करके वन में चराता है ॥ १० ॥

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद् वज्रेण सीमयच्छत् ।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥ ११ ॥

अस्य । इत् । ऊं इति । त्वेषसा । रन्त । सिन्धवः । परि । यत् । वज्रेण । सीम् । अयच्छत् ॥ ईशान-कृत् । दाशुषे । दशस्यन् । तुर्वीतये । गाधम् । तुर्वणिः । करिति कः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सभापति] के (इत्) ही (उ) निश्चय करके (त्वेषसा) तेज [पराक्रम] से (सिन्धवः) नदियां [नाले बरहा आदि] (रन्त) रमे हैं [बहे हैं], (यत्) क्योंकि उस ने (वज्रेण) वज्र [बिजुली फड़ुआ आदि शस्त्रों] से (सीम्) बन्ध [बांध आदि] को (परि) सब ओर से (अयच्छत्) बांधा है ; (दाशुषे) दानी मनुष्य को (ईशानकृत्) ऐश्वर्यवान् करने वाले, (दशस्यन्) कवच [रक्षासाधन] के समान काम करते हुये, (तुर्वणिः) शीघ्रता सेवन करने वाले [समाध्यक्ष] ने (तुर्वीतये) शीघ्रता

-अनिप्रत्ययः । भूमिदेशान् (अमुञ्चत्) अमोचयत् (अभि) अभिलक्ष्य (श्रवः) कीर्तिम् (दावने) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । ददातेर्वनिप्, अल्लोपाभावश्छान्दसः । सुखदानाय (सचेताः) चेतसा ज्ञानेन सह वर्तमानः ॥

११-(अस्य) सभाध्यक्षस्य (इत् उ) अवधारणे (त्वेषसा) तेजसा । पराक्रमेण (रन्त) रमु क्रीडायाम्-लङि शपोलुक् । अरमन्त (सिन्धवः) नद्यः (परि) सर्वतः (यत्) यतः (वज्रेण) विद्युदादिभूखननशस्त्रेण (सीम्) अ० २० । ३२ । ६ । षिञ् बन्धने-ईप्रत्ययः । बन्धम् (अयच्छत्) यमु उपरमे—लङ् । नियमितवान् । अबध्नात् (ईशानकृत्) ऐश्वर्ययुक्तस्य कर्ता (दाशुषे) दानिने मनुष्याय (दशस्यन्) दंश दंशने—असुन्, स च कित् । उपमानादाचारे । पा० ३ । १ । १० । दशस्-क्यच्, शतृ । दशः कवच इवाचरन् (तुर्वीतये) तुर त्वरणे-क्विप् + वी गतौ-क्तिन् । तुरां शीघ्रकारिणां गतये गमनाय (गाधम्) गाधृ

करने वालों के चलने के लिये (गाधम्) उथले स्थान [घाटि आदि] को (कः) बनाया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रधान राजा, को चाहिये कि पहाड़ों से बड़े बड़े नाले काट-कर पृथिवी पर जल लाकर खेती आदि करावे, और यात्रियों के लिये सेतु [पुल] घाट आदि बनावे ॥ ११ ॥

अस्मा इदु प्र भरा तूतुंजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः ।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै ॥ १२ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । प्र । भर । तूतुंजानः । वृत्रायं । वज्रंम् । ईशानः । कियेधाः ॥ गोः । न । पर्वं । वि । रद । तिरश्चा । इष्यंन् । अर्णांसि । अपाम् । चरध्यै ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के निमित्त (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (तूतुजानः) शीघ्रता करता हुआ, (ईशानः) ऐश्वर्यवान्, (कियेधाः) कितने [अर्थात् बड़े बल] का धारण करने वाला तू (वृत्राय) वैरी के लिये (वज्रम्) वज्र [बिजुली आदि शस्त्र] को (प्र) अच्छे प्रकार (भर) धारण कर । और (तिरश्चा) तिरछी चाल के साथ (अर्णांसि) अपनी चालों को (इष्यन्) चलता हुआ तू (अपाम्) प्रजाओं के (चरध्यै) चलने के लिये (पर्व)

प्रतिष्ठाश्राम—घञ् । तलस्पर्शस्थानम् । अवतरणस्थानम् (तुर्वणिः) तुर्+वन संभक्तौ-इन् । शीघ्रत्वस्य वेगस्य संभक्ता (कः) करोतेर्लुङि छान्दसं रूपम् । अकार्षीत् ॥

१२—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (प्र) प्रकर्षेण (भर) धर (तूतुजानः) तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु—कानच् । तुजा-दीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । तूतुजानः क्षिप्रनाम-निघ० २ । १५ । त्वरमाणः (ईशानः) ऐश्वर्यवान् (कियेधाः) म० ६ । कियतो महतो बलस्य धारकः (गोः) पृथिव्याः (न) इव (पर्व) पर्वाणि (वि) विविधम् (रद) रद विलेखने । विदारय (तिरश्चा) ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । तिरस्+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । तिर्यग्गत्या (इष्यन्) गच्छन् (अर्णांसि) उदके नुट् च । उ० ४ । १९७ । ऋ गतिप्रापणयोः—असुन् नुट् च । गमनानि

[वैरी के] जोड़ों को (वि रद) चीर डाल, (गोः न) जैसे भूमि के [जोड़ों को किसान चीरते हैं] ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे किसान पृथिवी को जोतकर, घास आदि काट कर एक-सा करके अन्न उत्पन्न कर सुख देते हैं, वैसे ही सभाध्यक्ष राजा शत्रुओं को छिन्न भिन्न कर के प्रजा को सुखी करे ॥ १२ ॥

अ॒स्येदु॒ प्र ब्रू॑हि पू॒र्व्याणि॑ तु॒रस्य॒ कर्मा॑णि॒ नव्य॑ उ॒क्थैः । यु॒धे यदि॑ष्णा॒न आयु॑धान्यृघा॒यमा॑णो निरि॒णाति॒ शत्रू॑न् ॥ १३ ॥

अ॒स्य । इत् । ऊं॒ इति॑ । प्र । ब्रू॒हि॒ । पू॒र्व्याणि॑ । तु॒रस्य॑ । कर्मा॑णि । नव्यः॑ । उ॒क्थैः ॥ यु॒धे । यत् । इ॒ष्णा॒नः । आयु॑-धानि । ऋ॒घा॒यमा॑णः । नि॒-रि॒णाति॑ । शत्रू॑न् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (तुरस्य) शीघ्रता करने वाले [सभापति] के (पूर्व्याणि) पहिले किये हुये (कर्माणि) कामों को (प्र) अच्छे प्रकार (ब्रूहि) तू कह, (उक्थैः) कहने योग्य वचनों से (नव्यः) स्तुति योग्य होकर, (युधे) युद्ध के लिये (आयुधानि) हथियारों को (इष्णानः) बार बार चलाता हुआ और (ऋघायमाणः) बढ़ता हुआ [बे रोक चलता हुआ] (यत्) जो [सभापति]

(अपाम्) आपः, आप्ताः प्रजाः-दयानन्दभाष्ये यजु० ६ । २७ । प्रजानाम् (चरध्यै) तुमर्थे सेसेन से० । पा० ३ । ४ । ९ । चरतेः—अध्यैप्रत्ययः । चरितुम् । गन्तुम् ॥

१३—(अस्य) सभापतेः (इत्) (उ) (प्र) प्रकर्षेण (ब्रूहि) कथय (पूर्व्याणि) पूर्व्यं पुराणनाम—निघ० ३ । २७ । पुराणानि (तुरस्य) तुरमाणस्य (कर्माणि) वीरकर्माणि (नव्यः) अ० २ । ५ । २ । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । णु स्तुतौ-यत् । स्तुत्यः (उक्थैः पातॄतुदिवचि० । उ० २ । ७ । वच परिभाषणे थक् । वक्तुं योग्यैर्वचनैः (युधे) युद्धाय (यत्) यः सेनापतिः (इष्णानः) इष आभीक्ष्ण्ये—शानच् । वारं वारं प्रेरयन् (आयुधानि) शस्त्राणि (ऋघायमाणः) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । ऋधु वृद्धौ-क, धस्य घः । लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् । पा० ३ । १ । १३ । ऋघ—भवत्यर्थे—क्यष्, शानच् । ऋघ ऋघो वृद्धो भवतीति । प्रवर्धमानः । अप्रतिहतगतिः (निरिणाति) री गति-

(शत्रून्) वैरियों को (निरिणाति) मारता जाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो सभाध्यक्ष सेनापति शस्त्र अस्त्र विद्या में चतुर और विजयी शूर होवे, विद्वान् लोग उसके विद्या, विनय, वीरता आदि गुणों की बड़ाई करके उसका मान और उत्साह बढ़ावें ॥ १३ ॥

अस्येदु भिया गिरयश्च दृह्ला द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः॥१४॥

अस्य । इत् । ऊं इति । भिया । गिरयः । च । दृह्लाः । द्यावा । च । भूम । जनुषः । तुजेते इति ॥ उपो इति । वेनस्य । जोगुवानः । ओणिम् । सद्यः । भुवत् । वीर्याय । नोधाः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (जनुषः) उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] के (इत्) ही (उ) निश्चय करके (भिया) भय से (गिरयः) पहाड़ (च) भी (दृह्लाः) दृढ़ हैं, (च) और (द्यावा भूम) सूर्य और भूमि (तुजेते) बलवान् हैं । (वेनस्य) प्यारे [वा बुद्धिमान् परमेश्वर] के (ओणिम्) दुःख मिटाने को

रेषणयोः श्ना । प्वादीनां ह्रस्वः । पा० ७ । ३ । ८० । इति ह्रस्वः । निरन्तरं हिनस्ति (शत्रून्) वैरिणो दुष्टान् ॥

१४—(अस्य) सर्वत्र वर्तमानस्य (इत्) एव (उ) निश्चयेन (भिया) भयेन (गिरयः) पर्वताः) (च) अपि (दृह्लाः) स्थिराः सन्ति (द्यावा भूम) दिवो द्यावा । पा० ६ । ३ । २९ । दिवुशब्दस्य द्यावा इत्यादेशः । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्डा आदेशः,देवता द्वन्द्वे च । पा०६ । २ । १४१ । इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम्, अत्वम् पदपाठे विचारणीयम्, चकारेण व्यवधानं सांहितिकम् । द्यावाभूमी । सूर्यपृथिव्यौ (च) समुच्चये (जनुषः) जनेरुसि । उ० २ । ११८ । जन जनने—उसि । जनयितुः परमेश्वरस्य (तुजेते) तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु-लट्, छन्दसि [illegible] तुदादित्वम् । तोजयतः । बलवत्यौ भवतः (उपो) समीप एव (वेनस्य) अ० २ । १ । १ । कमनीयस्य । मेधाविनः परमेश्वरस्य (जोगुवानः) गुङ् अव्यक्ते शब्दे यङ्लुकि शानच् । भृशं कथयन्

(जोगुवानः)बार बार कहता हुआ (नोधाः) नेताओं [व स्तुतियों] का धारण करने वाला [सभापति] (सद्यः) तुरन्त (वीर्याय) पराक्रम सिद्ध करने के लिये (उपो) समीप ही (भुवत्) होवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से सब लोकों को नियम पूर्वक अपने अपने काम के लिये समर्थ बनाता है, सभाध्यक्ष आदि उस जगदीश्वर का आश्रय लेकर अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १४ ॥

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद् वव्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥ १५ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्यत् । अनु । दायि । एषाम् । एकः । यत् । वव्ने । भूरेः । ईशानः ॥ प्र । एतशम् । सूर्ये । पस्पृधानम् । सौवश्व्ये । सुस्विम् । आवत् । इन्द्रः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) उस [मनुष्य] को (इत्) ही (उ) निश्चय कर के (त्यत्) वह [वस्तु] (अनु) निरन्तर (दायि) दी गयी है, (यत्) जो [वस्तु] (एषाम्) इन [मनुष्यों] के बीच (एकः) अकेले (भूरेः) बहुत

(ओणिम्) अ० ७ । १४ । १ । ओणृ अपनयने—इन् । दुःखस्य अपनयनं नाशनम् (सद्यः) शीघ्रम् (भुवत्) भवेत् (वीर्याय) पराक्रमसम्पादनाय (नोधाः) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । णीञ् प्रापणे, यद्वा णु स्तुतौ—डोप्रत्ययः । गतिकारको-पपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । नी+डुधाञ् धारणपोषणयोः-असि । नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति—निरु० ४ । १६ । नेतॄणां स्तुतीनां वा धारकः ॥

१५—(अस्मै) तस्मै मनुष्याय (इत्) एव (उ) निश्चये (त्यत्) तद् वस्तु (अनु) निरन्तरम् (दायि) अदायि । दत्तमस्ति (एषाम्) मनुष्याणां मध्ये (एकः) असहायः । केवलः (यत्) वस्तु (वव्ने) वनु याचने-लिट्, उपधालोपः । ववने । ययाचे (भूरेः) प्रभूतस्य राज्यस्य (ईशानः) अधिपतिः (प्र) प्रकर्षेण (एतशम्) इणस्तशन्तशसुनौ । उ० ३ । १४९ इण् गतौ-तशन् । एतशः, अश्वनाम-निघ० १ । १४ । गमनशीलम् । ब्राह्मणम् । ब्रह्मज्ञानिनं सभा-

[राज्य] के (ईशानः) स्वामी ने (ववने) मांगी है । (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवाले परमेश्वर] ने (सौवश्व्ये) फुरतीले घोड़ों वाले संग्राम के बीच (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में [जैसे स्पष्ट रीति से] (पस्पृधानम्) झगड़ते हुये (सुष्विम्) ऐश्वर्यवान् (एतशम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी सभापति] को (प्र) अच्छे प्रकार (आवत्) बचाया है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो आत्मविश्वासी मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से दुष्टों को जीतने में प्रयत्न करता है, परमात्मा अवश्य उसकी रक्षा करता है ॥ १५ ॥

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन् ।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥१६॥

एव । ते । हारि-योजन । सु-वृक्ति । इन्द्र । ब्रह्माणि । गोतमासः । अक्रन् ॥ आ । एषु । विश्व-पेशसम् । धियम् । धाः । प्रातः । मक्षु । धिया-वसुः । जगम्यात् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(हारियोजन) हे घोड़ों के जोतने वाले ! (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष] (ते) तेरे लिये (एव) ही (गोतमासः) अत्यन्त ज्ञानी

पतिम् (सूर्ये) सूर्यप्रकाशे यथा । अतिस्पष्टरीत्या (पस्पृधानम्) स्पर्ध संघर्षे-कानच् । शर्पूर्वाः खयः । पा० ७ । ४ । ६१ इत्यभ्यासस्य पकारः शिष्यते, धात्व-कारस्य लोपो रेफस्य सम्प्रसारणं च पृषोदरादित्वात् । स्वर्धमानम् । मत्सरं कुर्वन्तम् (सौवश्व्ये) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । ४ । १२४ । स्वश्व-ष्यञ् । नय्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् । पा० ७ । ३ । ३ । वकारात् पूर्वम् औकारागमः । शोभना वेगवन्तोऽश्वास्तुरङ्गाः स्वश्वाः, तेषां कर्मणि । वेगवदश्वयुक्ते सङ्ग्रामे (सुष्विम्) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादि-भ्यो दर्शनात् । वा० । पा० ३ । २ । १७१ । षु प्रसवैश्वर्ययोः-किन्, यणादेशः उव-ङादेशाभाव श्छान्दसः । ऐश्वर्यवन्तम् (आवत) अरक्षत् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा ॥

१६—(एव) निश्चयेन (ते) तुभ्यम् (हारियोजन) वसिवपियजि० । ऊ० ४। १२५ । हृञ् प्रापणे-इञ् + युजिर् योग-ल्यु । हे हारीणां हरीणाम् अश्वानां योजक (सुवृक्ति) म० २ । विभक्तेर्लुक् । सुवृक्तीनि । सुग्राह्याणि (इन्द्र) हे

[ऋषियों] ने (सुवृक्ति) अच्छे प्रकार ग्रहण करने योग्य (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों को (अकन्) किया है [बताया है]। (धियावसुः) बुद्धि और कर्म के साथ रहने वाला तू (एषु) इन [ज्ञानों] में (विश्वपेशसम्) सब रूपों वाली (धियम्) निश्चल बुद्धि को (आ) सब ओर से (धाः) धारण कर और (प्रातः) प्रातःकाल (मक्षु) शीघ्र (जगम्यात्) [उस बुद्धि को] प्राप्त हो ॥१६॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सभापति आदि को सदा वेदशास्त्रों का उपदेश करें और प्रधान आदि जन अन्तःकरण से ग्रहण कर के परोपकार करते रहें ॥ १६ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ७ भूरिक् पङ्क्तिः ; २, ४, ५ त्रिष्टुप् ; ३ स्वराडार्षी पङ्क्तिः ; ६, विराट् त्रिष्टुप् ; ८, ११ निचृत् त्रिष्टुप् ; १० आर्षी पङ्क्तिः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः । यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान् ॥१॥

यः । एकः । इत् । हव्यः । चर्षणीनाम् । इन्द्रम् । तम् । गीः-भिः । अभि । अर्च । आभिः ॥ यः । पत्यते । वृषभः । वृष्ण्य-वान् । सत्यः । सत्वा । पुरु-मायः । सहस्वान् ॥ १ ॥

परमैश्वर्यवन् पुरुष (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (गोनमाम:) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ यद्वा गै गाने—डो प्रत्ययः, तमप्, असुक् च । गौरिति स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । अतिशयेन ज्ञानिनः । महर्षयः (अक्रन) अ० ः । २६ । ७ । करोतेर्लुङि छान्दसं रूपम् । अकार्षुः (आ) समन्तात् (एषु) ब्रह्मसु । वेदज्ञानेषु (विश्वपेशसम्) सर्वरूपोपेताम् (धियम्) धारणावतीं प्रज्ञाम् (धाः) दधातेर्लुङ् लोडर्थे । धेहि । धर (प्रातः) प्रातःकाले (मक्षु) शीघ्रम् (धियावसुः) प्रज्ञाकर्मभ्यां सह निवासी (जगम्यात्) अ० ७ । ७६ । २ । गमेः शपः श्लुः, विधिलिङि मध्यमपुरुषस्य प्रथमः । गम्याः । प्राप्नुयाः ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (आभिः) इन (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (अर्चे) मैं पूजता हूं (यः) जो (एकः) अकेला (इत्) ही (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के बीच (हव्यः) ग्रहण करने योग्य है और (यः) जो (वृषभः) श्रेष्ठ, (वृष्ण्य-वान्) पराक्रम वाला, (सत्यः) सच्चा, (सत्वा) वीर, (पुरुमायः) बहुत बुद्धि वाला और (सहस्वान्) महाबलवान् (पत्यते) स्वामी है ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को सर्वशक्तिमान्, महापराक्रमी जगदीश्वर की उपासना करके श्रेष्ठ गुणी होना चाहिये ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—६ । २२ । १—११ ॥

तमु॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरो॒ नव॑ग्वाः स॒प्त विप्रा॑सो अ॒भि वा॒जय॑न्तः ।
न॒क्ष॒द्दा॒भं तत॑रिं पर्वते॒ष्ठामद्रो॑घवाचं म॒तिभिः॒ शवि॑ष्ठम् ॥ २ ॥

तम् । ऊं॒ इति॑ । नः॒ । पूर्वे॑ । पि॒तरः॑ । नव॑-ग्वाः । स॒प्त । विप्रा॑सः । अ॒भि । वा॒जय॑न्तः ॥ न॒क्ष॒त्-दा॒भम् । तत॑रिम् । प॒र्व॒ते-स्थाम् । अद्रो॑घ-वाचम् । म॒ति-भिः॑ । शवि॑ष्ठम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नवग्वाः) स्तुति योग्य चरित्र वाले, (सप्त) सात (विप्रासः) [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि] व्यापन शील

१—(यः) परमेश्वरः (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (हव्यः) हु आदाने—यत् । ग्राह्यः (चर्षणीनाम्) मनुष्याणां मध्ये (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (तम्) (गीर्भिः) वाग्भिः । स्तुतिभिः (अभि) सर्वतः (अर्चे) पूजयामि (आभिः) (यः) (पत्यते) यद्वृत्तान्नित्यम् । पा० ८ । १ । ६६ । इति निघातप्रतिषेधः । ईष्टे । स्वामी भवति (वृषभः) श्रेष्ठः (वृष्ण्यवान्) अ० ४ । ४ । ४ । वृषन्—यत्, मतुप् । पराक्रमयुक्त (सत्यः) यथार्थस्वभावः (सत्वा) अ० ५ । २० । ८ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्वनिप्, दस्य तः । वीरः (पुरुमायः) माया प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । बहुप्रज्ञः (सहस्वान्) महाबल-वान् ॥

२—(तम्) प्रसिद्धम् (उ) एव (पूर्वे) प्राचीनाः (पितरः) पालक-जनाः विद्वांसः (नवग्वाः) अ० १४ । १ । ५६ । णु स्तुतौ—अप् + गम्लृ गतौ-

इन्द्रियों के समान (नः) हमारे (पूर्वे) पहिले (पितरः) पितृजन (तम्) उस (उ) ही (नक्षद्दाभम्) व्याप्त दोषों के नाश करने वाले, (ततुरिम्) दुःखों से तारने वाले, (पर्वतेष्ठाम्) मेघ में वर्तमान [बिजुली के समान शुद्ध स्वरूप], (अद्रोघवाचम्) द्रोह रहित वाणी वाले, (मतिभिः) बुद्धियों के साथ (शविष्ठम्) अत्यन्त बली [परमात्मा] को (अभि) सब ओर से (वाजयन्तः) जताते हुये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस अनादि अनन्त परमात्मा की उपासना योगी जन सदा करते हैं, उसका ध्यान करके सब मनुष्य आनन्द पावें ॥ २ ॥

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः । यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् तमा भर हरिवो मादयध्यै ॥ ३ ॥

तम् । ईमहे । इन्द्रम् । अस्य । रायः । पुरु-वीरस्य । नृवतः । पुरु-क्षोः ॥ यः । अस्कृधोयुः । अजरः । स्वः-वान् । तम् । आ । भर । हरि-वः । मादयध्यै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा]

ड्वप्रत्ययः । स्तोतव्यचरित्राः (सप्त) सप्तसंख्याकाः (विप्रासः) विप्राणां व्यापनकर्माणामिन्द्रियाणाम्—निरु० १४ । १३ । व्यापनकर्माणीन्द्रियाणि यथा । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः । सप्त ऋषयः—अ० ४ । ११ । ९ (अभि) सर्वतः (वाजयन्तः) ज्ञापयन्तः सन्ति (नक्षद्दाभम्) नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८—शतृ, दभ्नोतीति वधकर्मा—निघ० २ । १९ । नक्षत् + दम्भु दम्भे हनने—अण्, नलोपश्छान्दसः । व्याप्नुवतां दोषाणां नाशकम् (ततुरिम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । तॄ प्लवनतरणयोः, अन्तर्गतण्यर्थः—किन् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १०३ । इत्युत्वम् । दुःखेभ्यस्तारयितारम् (पर्वतेष्ठाम्) पर्वते मेघे स्थितां विद्युतमिव शुद्धस्वरूपम्—इति दयानन्दभाष्ये (अद्रोघवाचम्) अ० ६ । १ । २ । द्रोहरहितवाग्युक्तम् । कल्याणवाणीम् (मतिभिः) बुद्धिभिः (शविष्ठम्) अतिशयेन बलवन्तम् ॥

३—(तम्) (ईमहे) याचनां कुर्मः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (अस्य) (रायः) धनस्य (पुरुवीरस्य) बहुवीरप्रापकस्य (नृवतः)

से (अस्य) इस (पुरुवीरस्य) बहुत वीरों के प्राप्त कराने वाले, (नृवतः) श्रेष्ठ मनुष्यों वाले, (पुरुक्षोः) बहुत ऐश्वर्य वा अन्न वाले (रायः) धन की (ईमहे) हम मांग करते हैं। और (यः) जो [परमात्मा] (अस्कृधोयुः) अपनी छोटाई न चाहने वाला, (अजरः) निर्बल न होने वाला, (स्वर्वान्) बहुत सुख वाला है, (हरिवः) हे उत्तम मनुष्यों वाले! [विद्वान् पुरुष] तू (मादयध्यै) आनन्दित करने के लिये (तम्) उस [परमात्मा] को (आ) सब प्रकार (भर) धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विज्ञान और ऐश्वर्य आदि बढ़ाने के लिये परमात्मा से प्रार्थना करके सदा प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनुशुः सुम्नमिन्द्र।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥४॥

तत्। नः। वि। वोचः। यदि। ते। पुरा। चित्। जरितारः। आनशुः। सुम्नम्। इन्द्र ॥ कः। ते। भागः। किम्। वयः।

श्रेष्ठनृभिर्युक्तस्य (पुरुक्षोः) आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च। उ० १। ३३। टुक्षु शब्दे, क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्ये च—कु प्रत्ययः, स च डित्। क्षु अन्ननाम—निघ० २। ७। बह्वैश्वर्ययुक्तस्य। बह्वन्नोपेतस्य (यः) परमात्मा (अस्कृधोयुः) पृभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः। उ० १। २३। कृती छेदने—कु, तकारस्य धः। कृधु ह्रस्वनाम—निघ० ३। २। सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। अकृधु—क्यच्। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७०। उप्रत्ययः, यद्वा, मृगय्वादयश्च। उ० १। ३७। अकृधु+या प्रापणे—कु। सकार उपजनः, धुशब्दस्य धोभावः। अस्कृधोयुरकृध्वायुः. कृध्विति ह्रस्वनाम निकृत्तं भवति—निरु० ३। ३। य आत्मनः कृधु ह्रस्वत्वं नेच्छतीति–दयानन्दभाष्ये—ऋक्० ६। ६७। ११ (अजरः) जरारहितः। अनिर्बलः। दृढः (स्वर्वान्) सुखवान् (तम्) परमात्मानम् (आ) समन्तात् (भर) धर (हरिवः) हरयो मनुष्याः—निघ० २। ३। हे प्रशस्त—मनुष्ययुक्त (मादयध्यै) तुमर्थे सेसेनसे०। पा० ३। ४। ९। मादयतेः—अध्यै प्रत्ययः। मादयितुमानन्दयितुम ॥

दुध्र । खिद्व: । पुरु-हूत । पुरुवसो इति पुरु-वसो । असुर-घ्नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (तत्) यह बात (नः) हम को (वि) विशेष करके (वोचः) तू बता—(यदि) यदि (ते) तेरे (जरितारः) गुण बखानने वालों ने (पुरा चित्) पहिले भी (सुम्नम्) सुख को (आनशुः) पाया है। (दुध्र) हे पूर्ण ! (खिद्वः) हे शत्रुओं के खेद देने वाले ! (पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये ! (पुरुवसो) हे बहुत धन वाले (ते) तेरा (कः) कौन सा (असुरघ्नः) असुरों [दुष्टों का] नाश करने वाला (भागः) भाग है और (किम्) कौन (वयः) जीवन है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के उपदेशों को ग्रहण करके सदा सुख प्राप्त करें ॥ ४ ॥

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः ।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥ ५ ॥

तम् । पृच्छन्ती । वज्र-हस्तम् । रथे-स्थाम् । इन्द्रम् । वेपी । वक्वरी । यस्य । नु । गीः ॥ तुवि-ग्राभम् । तुवि-कूर्मिम् । रभः-दाम् । गातुम् । इषे । नक्षते । तुम्रम् । अच्छ ॥ ५ ॥

४—(तत्) वक्ष्यमाणम् (नः) अस्मान् (वि) विशेषेण (वोचः) लोडर्थे लुङ् । ब्रूहि (यदि) (ते) तव (पुरा) पूर्वम (चित्) अपि (जरितारः) गुणस्तोतारः (आनशुः) अशू व्याप्तौ—लिट् । प्रापुः (सुम्नम्) सुखम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (कः) (ते) तव (भागः) अंशः (किम्) (वयः) जीवनम् (दुध्र) अ० २० । ३४ । १८ । हे पूर्ण (खिद्वः) खिद दैन्ये, अन्तर्गतण्यर्थः-क्वसु । वस्वेकाजाद्घसाम् । पा० ७ । २ । ६७ । इडभावः । द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ८ । इत्यनभ्यासः । मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । इति रुत्वम् । आमन्त्रितनिघातः । हे शत्रूणां खेदयितः (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (पुरुवसो) हे बहुधन (असुरघ्नः) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । असुर + हन हिंसागत्योः- कप्रत्ययः । दुष्टानां हन्ता नाशकः ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [पुरुष] की (गीः) वाणी (नु) निश्चय करके (वेपी) हिलने वाली [बे रोक चलने वाली] और (वक्री) बोलने की शक्ति वाली है, (तम्) उस (वज्रहस्तम्) वज्र [हथियार] हाथ में रखने वाले (रथेष्ठाम्) रथ में बैठे हुये, (तुविग्राभम्) बहुतों को सहारा देने वाले, (तुविकूर्मिम्) बहुत से काम करने वाले, (रभोदाम्) वेगयुक्त बल देने वाले, (गातुम्) वेदों के गाने वाले, (तुम्रम्) विघ्नों के मिटाने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (इषे) अन्न आदि के लिये (पृच्छन्ती) पूंछती हुयी [स्त्री] (अच्छ) अच्छे प्रकार (नक्षते) प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारिणी कन्या भली भांति निश्चय करके शुभ गुण वाले ऐश्वर्यवान् पुरुष को विवाह के लिये स्वीकार करे ॥ ५ ॥

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन । अच्युता चिद् वीलिता स्वोजो रुजो वि दृह्ला धृषता विरप्शिन् ॥ ६ ॥

५—(तम्) पुरुषम् (पृच्छन्ती) जिज्ञासमाना (वज्रहस्तम्) आयुधपाणिम् (रथेष्ठाम्) रथारूढम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (वेपी) वेपृ कम्पने पचाद्यच् । गौरादित्वाद् ङीष् । कम्पनशीला । चेष्टायमाना (वक्री) वचेर्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । यद्वा, कृगॄशॄ दॄभ्यो वः । उ० १ । १५५ । वचेर्वप्रत्ययः, रो मत्वर्थे, ङीप् । न्यङ्क्वादीनां च । पा ७।३।५३। इति बाहुलकात् कुत्वम् । वचनशक्तिमती (यस्य) पुरुषस्य (नु) निश्चयेन (गीः) वाक् (तुविग्राभम्) ग्रह उपादाने-अण् हस्य भः । बहूनां ग्रहीतारं सहायकम् (तुविकूर्मिम्) अर्त्तेरूच्च । उ० ४ । ४४ । डु कृञ् करणे-मिप्रत्ययः ऊच्च । बहुकर्माणम् (रभोदाम्) रभसो वेगयुक्तबलस्य दातारम् (गातुम्) कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च । उ० १ । ७३ । वेदानां गायनं गायकम् (इषे) अन्नाद्याय-दयानन्दभाष्ये—ऋक्० ६ । २२ । ५ (नक्षते) प्राप्नोति । नक्षतिर्गतिकर्मा-निघ० २ । १४ (तुम्रम्) तुमिराहननार्थः—सायणभाष्ये—ऋक्० ३ । ५० । १ । सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति क्रन् प्रत्ययः । विघ्नानां नाशकम् (अच्छ) सुष्ठु ॥

अया । ह । त्यम् । मायया । वृवृधानम् । मनः-जुवा । स्व-तवः । पर्वतेन ॥ अच्युता । चित् । वीलिता । सु-ओजः । रुजः । वि । दृह्ळा । धृषता । विरप्शिन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(स्वतवः) हे अपने बल वाले ! (स्वोजः) हे बड़े पराक्रम वाले ! (विरप्शिन्) हे महागुणी पुरुष ! (अया) इस (ह) ही (मायया) [अपनी] बुद्धि और (मनोजुवा) मन के समान वेग के साथ (पर्वतेन) पहाड़ [के तुल्य दृढ़ हथियार] से और (धृषता) ढीठपन से (त्यम्) उस (वृवृधानम्) बढ़ते हुये [वैरी] को और (अच्युता) न हिलने वाले, और (वीलिता) ठहराऊ और (दृह्ळा) दृढ़ [पदार्थों] को (चित्) भी (वि रुजः) तू ने चूर चूर कर दिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष बड़े बड़े विघ्नों और कष्टों को सह सकें, वे ही गृहस्थाश्रम आदि बड़े बड़े काम चला सकते हैं ॥ ६ ॥

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परितंसयध्यै । स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ॥ ७ ॥

तम् । वः । धिया । नव्यस्या । शविष्ठम् । प्रत्नम् । प्रत्न-वत् । परि-तंसयध्यै ॥ सः । नः । वक्षत् । अनि-मानः । सु-वह्मा । इन्द्रः । विश्वानि । अति । दुः-गहानि ॥ ७ ॥

६—(अया) अनया (ह) एव (त्यम्) तम् (मायया) प्रज्ञया (वृवृधानम्) वर्धमानम् (मनोजुवा) जु गतौ-क्विप् । मनोवद् वेगेन (स्वतवः) तवो बलम्—निघ० २ । ६ । हे स्वकीयबलयुक्त (पर्वतेन) शैलतुल्यदृढशस्त्रेण (अच्युता) च्युङ् गतौ—क्त । अचेष्टायमानानि (चित्) अपि (वीलिता) वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५ । १६ । संस्तम्भितानि । स्थिराणि (स्वोजः) हे महापराक्रमिन् (रुजः) अरुजः । भग्नवानसि (वि) विशेषेण (दृह्ळा) दृढानि वस्तूनि (धृषता) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । ञि धृषा प्रागल्भ्ये-अति प्रत्ययः । प्रागल्भ्येन (विरप्शिन्) अ० ५ । २६ । १३ । हे महागुणिन् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (शविष्ठम्) अत्यन्त बली और (प्रत्नम्) पुराने [अनुभवी पुरुष] को (नव्यस्या) अधिक नवीन (धिया) बुद्धि वा कर्म से (प्रत्नवत्) पुराने लोगों के समान (परितंसयध्यै) हम शोभायमान करें । (सः) वह (अनिमानः) बिना परिमाण वाला, (सुवह्ना) बड़ा नायक (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (विश्वानि) सब (दुर्गहानि) अत्यन्त कठिन स्थानों को (अति) पार करके (नः) हम को (वक्षत्) चलावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो पुरुष सब मनुष्यों के बीच अनुपम, बलवान्, बुद्धिमान्, परोपकारी होवे, उसी को विद्वान् लोग अपना प्रधान बनावें ॥ ७ ॥

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा । तपा वृषन् विश्वतः शोचिषा तान् ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥८

आ । जनाय । द्रुह्वणे । पार्थिवानि । दिव्यानि । दीपयः । अन्तरिक्षा ॥ तप । वृषन् । विश्वतः । शोचिषा । तान् । ब्रह्म-द्विषे । शोचय । क्षाम् । अपः । च ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे बलिष्ठ ! [पुरुष] (दिव्यानि) श्रेष्ठ गुण वाले (पार्थिवानि) पृथिवी पर उत्पन्न हुये और (अन्तरिक्षा) आकाश वाले पदार्थों

७—(तम्) (वः) युष्मभ्यम् (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (नव्यस्या) नव-ईयसुन्, ईकारलोपः, ङीप् नवीयस्या । नवतरया (शविष्ठम्) अतिशयेन बलवन्तम् (प्रत्नम्) प्राचीनम् । अनुभविनं पुरुषम् (प्रत्नवत्) पुराणाः पुरुषो यथा (परितंसयध्यै) तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । तसि अलङ्करणे-तुमर्थे अध्यैप्रत्ययो लिङर्थे । अलंकुर्याम (सः) (नः) अस्मान् (वक्षत्) वहतेर्लेट् । वहेत् । नयेत् (अनिमानः) अपरिमाणः (सुवह्ना) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । वह प्रापणे—मनिन् । सुष्ठु वोढा । महानायकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (विश्वानि) सर्वाणि (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (दुर्गहानि) गह गहने दुर्गमने-अच् । दुर्गमानि । अतिकठिनानि वस्तूनि ॥

८—(आ) समन्तात् (जनाय) पुरुषाय (द्रुह्वणे) अ० ४ । २९ । १ । द्रुह जिघांसायाम्-क्वनिप् द्रोग्धे (पार्थिवानि) पृथिव्यां भवानि (दिव्यानि)

को (आ) सब ओर से (दीपयः) प्रकाशित कर, और (तान्) हिंसक चोरों को (शोचिषा) तेज से (विश्वतः) सब प्रकार (तप) तपा दे, और (ब्रह्मद्विषे) ईश्वर और वेद के द्वेषी, (दुह्वणे) अनिष्ट चाहने वाले (जनाय) जन के लिये (क्षाम्) पृथिवी (च) और (अपः) जलों को (शोचय) शोकयुक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पृथिवी आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान को फैलाकर दुष्टों को सन्ताप और सत्पुरुषों को आनन्द देवें ॥ ८ ॥

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक् ।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥९॥

भुवः । जनस्य । दिव्यस्य । राजा । पार्थिवस्य । जगतः । त्वेष-संदृक् ॥ धिष्व । वज्रम् । दक्षिणे । इन्द्र । हस्ते । विश्वाः । अजुर्य । दयसे । वि । मायाः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(त्वेषसंदृक्) हे प्रकाश के दिखाने वाले ! तू (दिव्यस्य) कामना योग्य (जनस्य) मनुष्य का और (पार्थिवस्य) पृथिवी पर हुये (जगतः) संसार का (राजा) राजा (भुवः) है। (अजुर्य) हे जरा रहित [प्रबल] (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (दक्षिणे) दाहिने (हस्ते) हाथमें (वज्रम्) वज्र [हथियार] (धिष्व) धारण कर। और

दिव्यगुणयुक्तानि (दीपयः) अदीपयः—लोडर्थे लङ्। प्रकाशय (अन्तरिक्षा) अशंसायच् । अन्तरिक्षसम्बन्धीनि वस्तूनि (तप) दह (वृषन्) हे बलिष्ठ (विश्वतः) सर्वतः (शोचिषा) तेजसा (तान्) तर्द हिंसायाम्—डप्रत्ययः। चोरान् (ब्रह्मद्विषे) ईश्वरवेदयोर्द्वेष्ट्रे (शोचय) शोकं प्रापय (क्षाम्) पृथिवीम् (अपः) जलानि (च) ॥

९—(भुवः) छान्दसं रूपम्। भवसि (जनस्य) पुरुषस्य (दिव्यस्य) कमनीयस्य (राजा) (पार्थिवस्य) पृथिव्यां भवस्य (जगतः) संसारस्य (त्वेषसंदृक्) हे प्रकाशस्य सम्यग् दर्शयितः (धिष्व) सुधितवसुधित नेमधित धिष्वधिषीय च। पा० ७। ४। ५५। दधातेः इत्वम्। धत्स्व। धर (वज्रम्) शस्त्रम् (दक्षिणे) (इन्द्र) (हस्ते) (विश्वाः) सर्वाः (अजुर्य) अ० ५। १। ४। जूरी हिंसावयोहान्योः—यक्। हे जरारहित प्रबल (दयसे) दय दानादिषु।

(विश्वाः) समस्त (मायाः) बुद्धियों को (वि) विशेष करके (दयसे) दे ॥६॥

भावार्थ— वही मनुष्य राजा होना चाहिये जो शरीर और आत्मा से प्रबल होकर संसार की रक्षा और विद्याओं का प्रचार करे ॥ ६ ॥

आ सं॒यत॑मिन्द्र णः स्व॒स्तिं श॑त्रु॒तूर्या॑य बृह॒तीमसृ॑ध्राम् ।
यया॒ दासा॒न्यार्या॑णि वृ॒त्रा करो॑ वज्रिन्त्सु॒तुका॒ नाहु॑षाणि ॥१०॥

आ । स॒म्ऽयत॑म् । इ॒न्द्र॒ । नः॒ । स्व॒स्तिम् । श॒त्रु॒ऽतूर्या॑य । बृ॒ह॒तीम् । असृ॑ध्राम् ॥ यया॑ । दासा॑नि । आर्या॑णि । वृ॒त्रा । करः॑ । व॒ज्रि॒न् । सु॒ऽतुका॑ । नाहु॑षाणि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारे लिये (शत्रुतूर्याय) शत्रुओं के मारने को (संयतम्) बहुत दृढ़, (बृहतीम्) बढ़ती हुयी, (असृध्राम्) अक्षय (स्वस्तिम्) सुख सामग्री (आ) सब ओर से (करः) तू कर । (यया) जिस [सुख सामग्री] से (वज्रिन्) हे वज्रधारी ! (दासानि) शूद्रों के कुल (आर्याणि) द्विजकुल [होवें] और (नाहुषाणि) मनुष्यों के (वृत्राणि) धन (सुतुका) बहुत बढ़ने वाले [होवें] ॥१०॥

भावार्थ—राजा विद्यादान और सत्य उपदेश से शूद्रों को भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनाकर शत्रुओं के नाश के लिये मनुष्यों में धन और सुख की वृद्धि करे ॥ १० ॥

लोडर्थे लट् । देहि (वि) विशेषेण (मायाः) प्रज्ञाः ॥

१०—(आ) समन्तात् (संयतम्) यम नियमने—क्विप् तुक् च । सम्यग् नियमिताम् । सुदृढाम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (नः) अस्मभ्यम् (स्वस्तिम्) सुसत्ताम् । सुखसामग्रीम् (शत्रुतूर्याय) तूरी गतित्वरणहिंसनयोः—क्यप् । शत्रूणां हिंसनाय (बृहतीम्) महतीम् (असृध्राम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । मृधु आर्द्रीभावे हिंसायां च—रक्, टाप् । अहिंसिताम् । अक्षीणाम् । (यया) स्वस्त्या (दासानि) शूद्रकुलानि (आर्याणि) द्विजकुलानि (वृत्राणि) धनानि (करः) कुरु (वज्रिन्) शस्त्रधारिन् (सुतुका) सुवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । तु गतिवृद्धिहिंसासु—कक । सुवर्धकानि (नाहुषाणि) मनुष्यसम्बन्धीनि ॥

स नो॑ नि॒युद्भि॑ः पुरुहूत वेधो वि॒श्ववा॑राभि॒रा ग॑हि प्रयज्यो ।
न या अदे॑वो॒ वर॑ते॒ न दे॒व आभि॑र्याहि॒ तूय॒मा म॑द्र्य॒द्रिक् ॥११॥

सः । नः । नि॒युत्ऽभिः । पु॒रु॒ऽहू॒त॒ । वे॒धः॒ । वि॒श्वऽवा॑राभिः ।
आ । ग॒हि॒ । प्र॒य॒ज्यो॒ इति॑ प्रऽयज्यो ॥ न । याः । अदे॑वः ।
वर॑ते । न । दे॒वः । आ । आ॒भिः॒ । या॒हि॒ । तूय॑म् । आ ।
म॒द्र्य॒द्रिक् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से पुकारे गये ! (वेधः) हे बुद्धिमान्! (प्रयज्यो) हे अच्छे प्रकार यज्ञ करने वाले ! (सः) वह तू (नः) हम को (विश्ववाराभिः) सब से स्वीकार करने योग्य (नियुद्भिः) निश्चित मिलने और बिछुड़ने की रीतों से (आ गहि) प्राप्त हो। (याः) जिन [मिलने बिछुड़ने की रीतों] को (अदेवः) अविद्वान् जन (देवः न) विद्वान् के समान (न) नहीं (आ) अच्छे प्रकार (वरते) मानता है, (आभिः) उन [रीतों] के साथ (मद्र्यद्रिक्) मेरी ओर दृष्टि करता हुआ तू (तूयम्) शीघ्र (आ याहि) आ ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा उत्तम उत्तम रीतों को स्वीकार कर के विद्वानों से स्वीकार करावे, क्योंकि मूर्ख जन उत्तम बातों को तुरन्त ठीक नहीं समझते ॥११॥

११—(सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (नियुद्भिः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्विप् । निश्चितसंयोगवियोगरीतिभिः (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (वेधः) मेधाविन्!(विश्ववाराभिः) सर्वैः स्वीकरणीयाभिः (आगहि) प्राप्नुहि (प्रयज्यो) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—युच् । हे प्रकर्षेण यज्ञकर्तः (न) निषेधे (याः) नियुतः (अदेवः) अविद्वान् (वरते) वृञ् वरणे, भ्वादिः । स्वीकरोति (न) यथा (देवः) विद्वान् (आ समन्तात् (आभिः) नियुद्भिः (याहि) गच्छ (तूयम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । तवतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० ६ । २५—यक्, छान्दसो दीर्घः । शीघ्रम्—निघ०२ । १५ (मद्र्यद्रिक्) मद्र्यच्—अथर्व० २० । २३ । १+दृशिर् प्रेक्षणे —क्विप , पृषोदरादिरूपम् । मदभिमुखदृष्टिः सन् ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ५ त्रिष्टुप् ; २ आर्षी पङ्क्तिः; ३, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४ पङ्क्तिः; ७, ९, १० विराडार्षी त्रिष्टुप् ; ८ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ११ भुरिक् पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः। यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥१

यः । तिग्म-शृङ्गः । वृषभः । न । भीमः । एकः । कृष्टीः । च्यवयति । प्र । विश्वाः ॥ यः । शश्वतः । अदाशुषः । गयस्य । प्र-यन्ता । असि । सुस्वि-तराय । वेदः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एकः) अकेला [वही] (विश्वाः) सब (कृष्टीः) मनुष्य प्रजाओं को (प्र) अच्छे प्रकार (च्यावयति) चलाता है, (यः) जो (तिग्मशृङ्गः न) तीखी किरणों वाले सूर्य के समान (भीमः] भयङ्कर और (वृषभः) बरसा करने वाला है। और (यः) जो (शश्वतः) निरन्तर (अदाशुषः) न देने वाले के (गयस्य) घर का (वेदः) धन (सुष्वितराय) अधिक ऐश्वर्य वाले व्यवहार के लिये (प्रयन्ता) देने वाला (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने ताप से जल खींच बरसा करके उपकार करता है, वैसे ही राजा कुदानी वा कंजूसों से धन लेकर विद्या आदि शुभ कर्मों में लगावे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । १९ । १—११ ॥

१—(यः) पुरुषः (तिग्मशृङ्गः) तिग्मानि तेजस्वीनि शृङ्गानि किरणा यस्य स सूर्यः (वृषभः) वृष्टकरः (न) इव (भीमः) भयङ्करः (एकः) अद्वितीयः (कृष्टीः) मनुष्यप्रजाः (च्यावयति) चालयति (प्र) प्रकर्षेण (विश्वाः) सर्वाः (यः) (शश्वतः) निरन्तरस्य । सदा वर्तमानस्य (अदाशुषः) अदातुः पुरुषस्य (गयस्य) गृहस्य (प्रयन्ता) नियमयिता । प्रदाता (असि) अस्ति (सुष्वितराय) अ० २० । ३५ । १५ । अधिकैश्वर्यवते व्यवहाराय (वेदः) धनम्—निघ० २ । १० ॥

त्वं ह॒ त्यदि॑न्द्र॒ कुत्स॑मावः॒ शुश्रू॑षमाणस्त॒न्वा॑ सम॒र्ये । दासं॒ यच्छुष्णं॒ कुय॑वं॒ न्य॑स्मा॒ अर॑न्धय आर्जुने॒याय॒ शिक्ष॑न् ॥ २ ॥

त्वम् । ह॒ । त्यत् । इ॒न्द्र॒ । कुत्स॑म् । आ॒वः॒ । शुश्रू॑षमाणः । त॒न्वा॑ । सु-म॒र्ये ॥ दास॑म् । यत् । शुष्ण॑म् । कुय॑वम् । नि । अ॒स्मै॒ । अर॑न्धयः । आ॒र्जु॒ने॒याय॑ । शिक्ष॑न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (शुश्रूषमाणः) सुनने की इच्छा करते हुये [वा सेवा करते हुये] (त्वम्) तू ने (ह) ही (त्यत्) तब (कुत्सम्) मिलनसार ऋषि [वा वज्रधारी शूर] को (तन्वा) शरीर से (समर्ये) सङ्ग्राम में (आवः) बचाया है । (यत्) जब कि (दासम्) नाश करने वाले, (शुष्णम्) सुखाने वाले, (कुयवम्) अन्नों के बिगाड़ देने वाले [वैरी] को (अस्मै) उस (आर्जुनेयाय) विद्या प्राप्ति कराने वाली [विदुषी-स्त्री] के पुत्र के लिये (शिक्षन्) शिक्षा देते हुये तू ने (नि अरन्धयः) वश में कर लिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा प्रजा की पुकार सुनता और विद्वानों का सत्कार करता है और शत्रुओं का नाश करके विद्या फैलाता है, वह स्थिर ऐश्वर्य को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

२—(त्वम्) (ह) निश्चयेन (त्यत्) तदा (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (कुत्सम्) अ० २० । २१ । १० । संगतिशीलम् । ऋषिम् । कुत्सो वज्रनाम-निघ० २ । २० । अर्शआद्यच् । वज्रधारिणम् (आवः) अरक्षः (शुश्रूषमाणः) श्रोतुमिच्छन् । सेवां कुर्वाणः (तन्वा) शरीरेण (समर्ये) मर्या मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्यैर्युक्ते सङ्ग्रामे (दासम्) दसु उपक्षये—घञ् । नाशयितारम् (यत्) यदा (शुष्णम्) शोषकम् (कुयवम्) कु कुत्सिता नाशिता यवा अन्नानि येन तं शत्रुम् (नि) निरन्तरम् (अस्मै) (अरन्धयः) अ० १० । ४ । १० । वशीकृतवानसि (आर्जुनेयाय) अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । अर्ज संचये-णिच्-उनन् णेश्च लुक्, गौरादित्वाद् ङीष् । स्त्रीभ्यो ढक् । पा०४ । १ । १२० । अर्जुनी-ढक् । अर्जयति विद्याः सा अर्जुनी । अर्जुन्या विदुष्याः पुत्राय (शिक्षन्) शिक्षां कुर्वन् ॥

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम् ॥ ३ ॥

त्वम् । धृष्णो इति । धृषता । वीत-हव्यम् । प्र । आवः ।
विश्वाभिः । ऊ॒ति-भिः । सु-दासम् ॥ प्र । पौरु-कुत्सिम् ।
त्रसदस्युम् । आवः । क्षेत्र-साता । वृत्र-हत्येषु । पूरुम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निडर पुरुष ! (त्वम्) तू ने (धृषता) निडरपन से (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (वीतहव्यम्) पाने योग्य पदार्थ के पाने वाले, (सुदासम्) बड़े दाता को (प्र) अच्छे प्रकार (आवः) बचाया है । और (पौरकुत्सिम्) बहुत वज्र आदि हथियारों के जानने वाले के सन्तान, (त्रसदस्युम्) डाकुओं के डराने वाले (पूरुम्) मनुष्य को (क्षेत्रसाता) रणक्षेत्र के विभाग में (वृत्रहत्येषु) शत्रुओं के मारने वाले सङ्ग्रामों के बीच (प्र) अच्छे प्रकार (आवः) तृप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा लोग सङ्ग्राम में शत्रुओं को जीतने वाले, शस्त्र विद्या में चतुर वीरों का सत्कार करके सुखी होवें ॥ ३ ॥

त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि ।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु ॥४॥

३—(त्वम्) (धृष्णो) अ० १ । १३ । ४ । ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्नु । हे निर्भय (धृषता) अ० २० । ३६ । ६ । प्रागल्भ्येन (वीतहव्यम्) अ० ६ । १३७ ।१ । प्राप्तप्राप्तव्यपदार्थम् (प्र) प्रकर्षेण (आवः) रक्षितवानसि (विश्वाभिः) सर्वाभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः (सुदासम्) बहुदातारम् (प्र) (पौरुकुत्सिम्) अत इञ् । पा० ४ । १ । ९५ । पुरुकुत्स-इञ् । पुरुकुत्सस्य बहुवज्रादिशस्त्रास्त्रविदः पुरुषस्य सन्तानम् (त्रसदस्युम्) त्रसी उद्वेगे—अच् । त्रसा उद्विग्ना भयभीता दस्यवः साहसिका यस्मात् तम् (आवः) अव तृप्तौ । तर्पितवानसि (क्षेत्रसाता) क्षेत्रसातौ । रणक्षेत्रविभागे (वृत्रहत्येषु) अ० २० । २१ । ६ । शत्रुहननेषु सङ्ग्रामेषु (पूरुम्) पॄभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । पूरी आप्यायने-कु । मनुष्यम्-निघ० २ । ३ ॥

त्वम् । नृ-भिः । नृ-मनः । देव-वीतौ । भूरीणि । वृत्रा । हरि-अश्व । हंसि ॥ त्वम् । नि । दस्युम् । चुमुरिम् । धुनिम् । च । अस्वापयः । दभीतये । सु-हन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नृमणः) हे नरों के समान मन वाले ! (हर्यश्व) हे वायु समान फुरतीले घोड़ों वाले ! (त्वम्) तू (नृभिः) नरों के साथ (देववीतौ) दिव्यगुणों की प्राप्ति में (भूरीणि) बहुत (वृत्राणि) धनों को (हंसि) पाता है। (च) और (त्वम्) तू ने (चुमुरिम्) हिंसाकारी, (धुनिम्) कंपाने वाले (दस्युम्) डाकू को (दभीतये) शासन के लिये (सुहन्तु) अच्छे प्रकार मारने वाले हथियार से (नि) नीचे (अस्वापयः) सुलाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा धन आदि पदार्थ प्राप्त कर के वीर सेनाध्यक्षों के साथ शत्रुओं का नाश करके प्रजा पालन करे ॥ ४ ॥

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत् पुरो नवतिं च सद्यः ।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥ ५ ॥

तव । च्यौत्नानि । वज्र-हस्त । तानि । नव । यत् । पुरः । नवतिम् । च । सद्यः ॥ नि-वेशने । शत-तमा । अविवेषीः । अहन् । च । वृत्रम् । नमुचिम् । उत । अहन् ॥ ५ ॥

४—(त्वम्) (नृभिः) नेतृभिः (नृमणः) अ० १६ । ३ । ५ । नेतृतुल्यमनस्क (देववीतौ) दिव्यगुणानां प्राप्तौ (भूरीणि) बहूनि (वृत्राणि) धनानि—निघ० २ । १० (हर्यश्व) अ० २० । २५ । ७ । हे हरिभिर्वायुतुल्यैः शीघ्रगामिभिस्तुरङ्गैर्युक्त (हंसि) गच्छसि । प्राप्नोषि (त्वम्) (नि) नीचैः (दस्युम्) साहसिकम् (चुमुरिम्) चुबि वक्त्रसंयोगे हिंसायां च—उरिन्, बलोपः । हिंसकम् (धुनिम्) सुवृषिभ्यां कित् । उ० ४ । ४६ । धुञ् कम्पने—निप्रत्ययः कित् । कम्पयितारम् (च) (अस्वापयः) स्वापितवानसि । नाशितवानसि (दभीतये) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । दभ प्रेरणे—तिप्रत्ययः, ईकार उपजनः । प्रेरणाय । शासनाय (सुहन्तु) विभक्तेर्लुक् । सुहन्तुना । सुहननसाधनेन शस्त्रेण ॥

भाषार्थ—(वज्रहस्त) हे हाथों में वज्र रखने वाले ! (ते) तेरे (तानि) वे (च्यौत्नानि) बल हैं,(यत्) कि (सद्यः) तुरन्त (नव) नव (च) और (नवतिम्) नव्वे [निन्नावे] (पुरः) नगरों में और (निवेशने) छावनी के बीच (शततमा) सौवें [नगर] में (अविवेषीः) तू व्याप गया है, (च) और (वृत्रम्) रोकने वाले शत्रु को (अहन्) तू ने मारा है (उत) और (नमुचिम्) न छोड़ ने योग्य डाकू को (अहन्) मारा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपनी उत्तम सेना के द्वारा वैरी के सब नगरों और राजधानी को अधीन कर के शत्रुओं को मारे ॥ ५ ॥

सना ता त॑ इन्द्र भोज॑नानि रातह॑व्याय दाशुषे॑ सुदासे॑ । वृष्णे॑ ते हरी॒ वृष॑णा युनज्मि॒ व्यन्तु॒ ब्रह्मा॑णि पुरुशाक॒ वाज॑म् ॥ ६ ॥

सना॑ । ता । ते॒ । इन्द्र॒ । भोज॑नानि । रा॒त-ह॑व्याय । दा॒शुषे॑ । सु॒-दासे॑ ॥ वृष्णे॑ । ते॒ । हरी॒ इति॑ । वृष॑णा । यु॒न॒ज्मि॒ । व्यन्तु॑ । ब्रह्मा॑णि । पु॒रु॒-शा॒क॒ । वाज॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ता) वे (ते) तेरे (भोजनानि) पालन साधन (रातहव्याय) पाने योग्य पदार्थ के

५—(नव) (च्यौत्नानि) जनिदाच्युसृवृ० । उ० ४ । १०४ । च्युङ् गतौ—त्नण्प्रत्ययः । बलानि—निघ० २ । ६ (वज्रहस्त) हे शस्त्रपाणे (तानि) प्रसिद्धानि (नवनवतिम्) एकोनशतसंख्याकाः (पुरः) नगर्यः (च) (सद्यः) शीघ्रम् (निवेशने) निवेशे । सेनास्थितिस्थाने (शततमा) नित्यं शतादिमासार्ध० पा० ५ । २ । ५७ । डटस्तमडागमः । शततमीम् । शतसंख्यापूरिकां पुरीम् (अविवेषीः) विष्लृ व्याप्तौ—यङ्लुगन्तात् लुङि । व्याप्तवानसि (अहन्) मध्यमपुरुषस्यप्रथमपुरुषः । अहः । हतवानसि (च) (वृत्रम्) आवरकं शत्रुम् (नमुचिम्) अ० २० । २१ । ७ । अमोचनीयम् । दण्डनीयम् (उत) अपि च (अहन्) हतवानसि ॥

६—(सना) षण संभक्तौ—अप् । सनानि सनातनानि । विभजनीयानि (ता) प्रसिद्धानि (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (भोजनानि)

पाने वाले, (सुदासे) बड़े उदार (दाशुषे) दाता के लिये (सना) सेवनीय हैं। (पुरुशाक) हे महाबली ! (वृष्णे ते) तुझ बलवान् के लिये (वृषणा) दो बलवान् (हरी) घोड़ों [के समान बल और पराक्रम] को (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं, वे [प्रजा जन] (ब्रह्माणि) अनेक धनों को और (वाजम्) बल को (व्यन्तु) प्राप्त होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा लोग कर देने वाले राज भक्तों का पालन करके बल और पराक्रम के साथ प्रजाजनों की सब प्रकार उन्नति करें ॥ ६ ॥

मा ते॑ अ॒स्यां स॑हसाव॒न् परि॑ष्टाव॒घाय॑ भूम हरिवः परा॒दै ।
त्राय॑स्व नोऽवृ॒केभि॒र्वरू॑थै॒स्तव॑ प्रि॒यासः॑ सू॒रिषु॑ स्याम ॥ ७ ॥

मा । ते॒ । अ॒स्याम् । स॒ह॒सा॒-व॒न् । परि॑ष्टौ । अ॒घाय॑ । भू॒म॒ । ह॒रि॒-वः॒ । प॒रा॒-दै ॥ त्राय॑स्व । नः॒ । अ॒वृ॒केभिः॑ । वरू॑थैः । तव॑ । प्रि॒यासः॑ । सू॒रिषु॑ । स्या॒म॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सहसावन्) हे बहुत बल वाले ! (हरिवः) हे प्रशंसनीय मनुष्यों वाले ! [राजन्] (ते) तेरी (अस्याम्) इस (परिष्टौ) सब ओर से इष्ट सिद्धि में (परादै) छोड़ने योग्य (अघाय) पाप करने के लिये (मा भूम) हम न होवें । (नः) हम को (अवृकेभिः) चोर न होने वाले (वरूथैः)

पालनसाधनानि (रातहव्य) रा दानादानयोः—क्त । प्राप्तप्राप्तव्यपदार्थाय (दाशुषे) दात्रे (सुदासे) दासृ दाने—विट् । महादानिने । उदाराय (वृष्णे) बलवते (हरी) अश्वसमानौ बलपराक्रमौ (वृषणा) बलवन्तौ (युनज्मि) योजयामि (व्यन्तु) अ० ७ । ४६ । २ । वी गत्यादिषु । प्राप्नुवन्तु (ब्रह्माणि) धनानि (पुरुशाक) शक्लृ शक्तौ—घञ् । हे बहुशक्तिमन् (वाजम) बलम् ॥

७—(मा) निषेधे (ते) तव (अस्याम्) उपस्थितायाम् (सहसावन्) मध्ये तृतीयाविभक्तिश्छान्दसी । हे महस्वन् । बहुबलयुक्त (परिष्टौ) शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । परित इष्टसिद्धौ (अघाय) पापकरणाय (भूम) भवेम (हरिवः) अ० २० । ३१ । ५ । प्रशस्तमनुष्ययुक्त (परादै) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै । पा० ३ । ४ । १० । परा + ददातेः—कै प्रत्ययस्तुमर्थे । परादानाय

श्रेष्ठों के द्वारा (त्रायस्व) बचा, (सूरिषु) प्रेरक नेताओं के बीच हम लोग (ते) तेरे (प्रियासः) प्यारे [प्रसन्न करने वाले] (स्याम) होवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजागण धर्मात्मा राजा की उन्नति के लिये प्रयत्न करें, वैसे ही वह भी उत्तम उत्तम विद्याओं और बड़े बड़े अधिकारों के देने से प्रजा को प्रसन्न करे ॥ ७ ॥

प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः । नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥८॥

प्रियासः । इत् । ते । मघ-वन् । अभिष्टौ । नरः । मदेम । शरणे । सखायः ॥ नि । तुर्वशम् । नि । याद्वम् । शिशीहि । अतिथि-ग्वाय । शंस्यम् । करिष्यन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! (अभिष्टौ) सब प्रकार इष्टसिद्धि में (नरः) हम नेता लोग (ते इत्) तेरे ही (प्रियासः) प्यारे (सखायः) मित्र होकर (शरणे) शरण में [रह कर] (मदेम) प्रसन्न होवें । (शंस्यम्) बड़ाई योग्य कर्म (करिष्यन्) करता हुआ तू (तुर्वशम्) हिंसकों को वश में करने वाले (याद्वम्) प्रयत्न शील मनुष्य को (अतिथिग्वाय) अतिथियों

त्यागाय । त्यक्तव्याय—इति दयानन्दभाष्ये (त्रायस्व) पाहि (नः) अस्मान् (अवृकेभिः) अचोरैः (वरूथैः) वरैः । श्रेष्ठैः (तव) (प्रियासः) प्रीताः (सूरिषु) प्रेरकेषु नेतृषु (स्याम) भवेम ॥

८—(प्रियासः) प्रीताः (इत्) एव (ते) तव (मघवन्) महाधनिन् (अभिष्टौ) पररूपम् । अभित इष्टसिद्धौ (नरः) नेतारः (मदेम) आनन्देम (शरणे) शरणागतपालने कर्मणि (सखायः) सुहृदः सन्तः (नि) निश्चयेन (तुर्वशम्) तुर तूर त्वरणहिंसनयोः—क्विप्+वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । वश कान्तौ—अप् । तुरां हिंसकानां वशयितारम् (नि) नित्यम् (याद्वम्) इणशिभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । यती प्रयत्ने वा यत ताडने—वन्, णित्, तस्य दः । यद्वो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । प्रयत्नवन्तं मनुष्यम् (शिशीहि) अ० ५ । २ । ७ । शो तनूकरणे—श्यनः श्लुः, लोट् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७८ । अभ्यासस्य इत्वम् । ई हल्यघोः । पा० ६ ।

[विद्वानों] को प्राप्ति के लिये (नि) निश्चय करके (नि) नित्य (शिशीहि) तीक्ष्ण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा अपनी और प्रजा की बढ़ती के लिये शान्ति स्थापित कर के सब को प्रसन्न रक्खे, जिससे विद्वान् लोग बे रोक आ जाकर उन्नति का उपदेश करते रहें ॥ ८ ॥

स॒द्यश्चि॒न्नु ते॑ मघवन्न॒भिष्टौ॒ नरः॑ शंसन्त्युक्थ॒शास॑ उ॒क्था ।
ये ते॒ हवे॑भि॒र्वि प॒णीँरदा॑शन्न॒स्मान् वृ॑णीष्व॒ युज्या॑य॒ तस्मै॑ ॥९॥

स॒द्यः । चि॒त् । नु । ते॒ । म॒घ॒ऽव॒न् । अ॒भिष्टौ॑ । नरः॑ । शं॒स॒न्ति॒ । उ॒क्थ॒ऽशसः॑ । उ॒क्था ॥ ये । ते॒ । हवे॑भिः । वि । प॒णीन् । अदा॑शन् । अ॒स्मान् । वृ॒णी॒ष्व॒ । युज्या॑य । तस्मै॑ ॥९॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे बड़े पूजनीय ! (ये) जो (उक्थशासः) प्रशंसनीय अर्थों का उपदेश करने वाले (नरः) नर [नेता लोग] (ते) तेरी (अभिष्टौ) सब प्रकार इष्ट सिद्धि में (सद्यः) शीघ्र (चित्) ही (नु) निश्चय कर के (उक्था) कहने योग्य वचनों को (शंसन्ति) कहते हैं । और (ते) तेरे (हवेभिः) बुलावों से (पणीन्) व्यवहारों का (वि) विविध प्रकार (अदाशन्) दान करते हैं, [उन] (अस्मान्) हम को (तस्मै) उस (युज्याय) योग्य व्यवहार के लिये (वृणीष्व) तू स्वीकार कर ॥ ९ ॥

४ । ११३ । आत ईत्वम् । तीक्ष्णीकुरु (अतिथिग्वाय) अ० २० । २१ । ८ । अतिथीनां विदुषां गमनाय (शंस्यम्) प्रशंसनीयं कर्म (करिष्यन्) कुर्वन् ॥

९—(सद्यः) शीघ्रम् (चित्) अपि (नु) निश्चयेन (ते) तव (मघवन्) हे महापूज्य (अभिष्टौ) अभीष्टसिद्धौ (नरः) नेतारः (शंसन्ति) कथयन्ति (उक्थशासः) उक्थानां प्रशंसनीयार्थानां वक्तारः (उक्था) कथनीयानि वचनानि (ये) (ते) तव (हवेभिः) आह्वानैः (वि) विविधम् (पणीन्) व्यवहारान् (अदाशन्) लडर्थे लङ् । ददति (अस्मान्) (तान्) तथाविधान् (वृणीष्व) स्वीकुरु (युज्याय) युजिर् योगे—क्यप् । योग्य-व्यवहाराय (तस्मै) ॥

भावार्थ—जो मनुष्य राज्य की भलाई का उपदेश करें और अवसर होने पर उत्तम उपाय करें, राजा उनका सदा सन्मान करे ॥ ६ ॥

ए॒ते स्तोमा॑ न॒रां नृ॑तम॒ तुभ्य॑मस्म॒द्र्य॑ञ्चो॒ दद॑तो म॒घानि॑ ।
तेषा॑मिन्द्र वृत्र॒हत्ये॑ शि॒वो भू॑: सखा॑ च॒ शूरो॑ऽवि॒ता च॑ नृ॒णाम्॥१०

ए॒ते । स्तोमा॑: । न॒राम् । नृ॒-त॒म॒ । तुभ्य॑म् । अ॒स्म॒द्र्य॑ञ्च॒: । दद॑त: । म॒घानि॑ ॥ तेषा॑म् । इ॒न्द्र॒ । वृ॒त्र-हत्ये॑ । शि॒व: । भू॒: । सखा॑ । च॒ । शूर॑: । अ॒वि॒ता । च॒ । नृ॒णाम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(नराम्) नरों के बीच (नृतम) हे बड़े नर ! [नेता] (एते) यह (अस्मद्र्यञ्चः) हमको मिलने वाले (स्तोमाः) प्रशंसनीय विद्वान् लोग (तुभ्यम्) तेरे लिये (मघानि) धनों को (ददतः) देते हुये हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् !] (वृत्रहत्ये) शत्रुओं के मारने वाले संग्राम में (तेषाम्) उन (नृणाम्) नरों का (शिवः) मङ्गलकारी (सखा) मित्र (च च) और (शूरः) शूर (अविता) रक्षक (भूः) तू हो ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा विद्वानों द्वारा धन आदि बढ़ाकर शत्रुओं का नाश कर के प्रजा की रक्षा करे ॥ १० ॥

नू इ॑न्द्र शूर॒ स्तव॑मान ऊ॒ती ब्रह्म॑जूतस्त॒न्वा॑ वावृधस्व । उप॑ नो॒ वाजा॑न् मिमी॒ह्युप॒ स्तीन् यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभि॒: सदा॑ नः॥११

१०—(एते) (स्तोमाः) प्रशंसनीयाः पुरुषाः (नराम्) नॄ नये—विट् । नेतॄणां मध्ये (नृतम) नयतेर्डिच्च । उ० २ । १००। णीञ् प्रापणे—ऋप्रत्ययो डित्, तमप् । हे अतिशयेन नायक (तुभ्यम्) (अस्मद्र्यञ्चः) अस्मद्+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये । पा० ६ । ३ । ६२ । अस्मद् शब्दस्य टेरद्रि । अस्मान् अञ्चन्तः प्राप्नुवन्तः (ददतः) प्रयच्छन्तः सन्ति (मघानि) धनानि (तेषाम्) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (वृत्रहत्ये) वृत्राणां शत्रूणां हत्या हननं यस्मिंस्तस्मिन्, सङ्ग्रामे (शिवः) मङ्गलकारी (भूः) अभूः । भव (सखा) सुहृत् (च) (शूरः) निर्भयः (अविता) रक्षकः (च) (नृणाम्) नेतॄणाम् ॥

नु । इन्द्र । शूर । स्तवमानः । ऊती । ब्रह्म-जूतः । तन्वा । ववृधस्व ॥ उप । नः । वाजान् । मिमीहि । उप । स्तीन् । यूयम् । पात । स्वस्ति-भिः । सदा । नः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नु) शीघ्र (स्तवमानः) उत्साह देता हुआ और (ब्रह्मजूतः) धन वा अन्न को प्राप्त होता हुआ तू (ऊती) रक्षा के साथ (तन्वा) शरीर से (वावृधस्व) अत्यन्त बढ़ । (नः) हमारे (वाजान्) बलों को और (स्तीन्) घरों को (उप) आदर से (उप मिमीहि) उपमा योग्य [बड़ाई योग्य] कर । [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों के साथ (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा वीर पुरुषों को उत्साह देकर उनकी और अपनी वृद्धि करे और सब लोग उत्तम गुणों से उपमा योग्य प्रशंसनीय होकर परस्पर रक्षा करें ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद आ चुका है—अ० २० । १२ । ६; और १७ । १२, और आगे है—२० । ८७ । ७ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३८ ॥

११—(नु) शीघ्रम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (शूर) निर्भय (स्तवमानः) स्तुवन् । उत्साहयन् (ऊती) रक्षया (ब्रह्मजूतः) ब्रह्म धनम् अन्नं वा जूतः प्राप्तः (उप) पूजायाम् (तन्वा) शरीरेण (वावृधस्व) भृशं वर्धस्व (नः) अस्माकम् (वाजान्) पराक्रमान् (उप मिमीहि) माङ् माने शब्दे च । भृञामित् । । पा० ७ । ४ । ७६ । अभ्यासस्य इत्वम् । ई हल्यघोः । पा० ६ । ४ । ११३ । इति आत ईत्वम् । मिमिष्व । उपमितान् उपमायोग्यान् स्तुत्यान् कुरु (स्तीन्) अव इः । उ० ४ । १३९ । ष्टै वेष्टने–इप्रत्ययः । गृहान् । अन्यत् पूर्ववत्–अ० २० । १२ । ६ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—४, ६ गायत्री; ५ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥ आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (आ याहि) तू आ, (हि) क्योंकि (ते) तेरे लिये (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (सुषुम) हम ने सिद्ध किया है, (इमम्) इस [रस] को (पिब) पी, (मम) मेरे (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदः) बैठ ॥१॥

भावार्थ—लोग विद्वान् सद्वैद्य के सिद्ध किये हुये महौषधियों के रस से राजा को स्वस्थ बलवान् रखकर राजसिंहासन पर सुशोभित करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ आ चुके हैं—अ० २० । ३ । १-३ और आगे हैं—अ० २० । ४७ । ७-६ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

आ । त्वा । ब्रह्म-युजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥ उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ब्रह्मयुजा) धन के लिये जोड़े गये, (केशिना) सुन्दर केशों [कन्धे आदि के बालों] वाले (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (त्वा) तुझ को (आ) सब ओर (वहताम्) ले चलें। (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों को (उप) आदर से (शृणु) तू सुन ॥ २ ॥

मन्त्राः १—३ व्याख्याताः—अ० २० । ३ । १—३ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बलवान् घोड़े रथ को ठिकाने पर पहुंचाते हैं, वैसे ही राजा वेदोक्त मार्ग पर चल कर अपने बल और पराक्रम से राज्य भार उठा कर प्रजापालन करे ॥ २ ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोम-पाम् । इन्द्र । सोमिनः ॥
सुत-वन्तः । हवामहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक (त्वा) तुझ को (युजा) मित्रता के साथ (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले, (सोमिनः) ऐश्वर्य वाले, (सुतवन्तः) उत्तम पुत्र आदि सन्तानों वाले (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राजा के सुप्रबन्ध से प्रजागण ज्ञानवान् धनवान् और सुशिक्षित सन्तान वाले होवें, उसको मित्र जान कर सदा स्मरण करें ॥ ३ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ॥
इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गाथिनः) गाने वालों और (अर्किणः) विचार करने वालों ने (अर्केभिः) पूजनीय विचारों से (इन्द्रम्) सूर्य [के समान प्रतापी], (इन्द्रम्) वायु [के समान फुरतीले] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को और (वाणीः) वाणियों [वेदवचनों] को (इत्) निश्चय कर के

४—(इन्द्रम्) सूर्यमिव प्रतापिनम् (इत्) निश्चयेन (गाथिनः) उषि-कुषिगर्त्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । गायतेः—थन्प्रत्ययः, टाप् । व्रीह्यादिभ्यश्च । पा० ५ । २ । ११६ । गाथा—इनि । गानशीलाः (बृहत्) यथा भवति तथा । बृहद्भावेन (इन्द्रम्) वायुमिव शीघ्रगामिनम् । उद्योगिनम् (अर्केभिः) अ० ३ । ३ । २ । पूजनीयविचारैः (अर्किणः) विचारवन्तः (इन्द्रम्) पर-

(बृहत्) बड़े ढंग से (अनूषत) सराहा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुनीतिज्ञ, प्रतापी, उद्योगी राजा के व्यवहारों और परमेश्वर की दी हुई वेदवाणी के गुणों को विचार कर सब के सुख के लिये यथावत् उपाय करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—१ । ७ । १-३, सामवेद-उ० २ । १ । ८ और आगे हैं—अ० २० । ४७ । ४—६ तथा ७० । ७—६ और मन्त्र ४ सामवेद—पू० ३ । १ । ५ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रः। इत् । हर्योः । सचा । सम्-मिश्लः। आ । वचः-युजा ॥
इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वज्री) वज्रधारी, (हिरण्ययः) तेजोमय (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (इत्) ही (इन्द्रः) वायु [के समान] (सचा) नित्य मिले हुये (हर्योः) दोनों संयोग वियोग गुणों का (संमिश्लः) यथावत् मिलाने वाला (आ) और (वचोयुजा) वचन का योग्य बनाने वाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे पवन के आने जाने से पदार्थों में चलने, फिरने, ठहरने का और जीभ में बोलने का सामर्थ्य होता है, वैसे ही दण्डदाता प्रतापी

मैश्वर्यवन्तं राजानम् (वाणीः) वेदचतुष्टयीः (अनूषत) अ० २० । १७ । १ । स्तुतवन्तः ॥

५—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (इत्) सब (हर्योः)हञ् स्वीकारप्रापणयोः—इन् । संयोगवियोगयोः (सचा) षच समवाये—क्विप् , विभक्तेराकारः । समवेतयोः (संमिश्लः) सम् + मिश्रयतेः—घञ् । कपिलादीनां संज्ञाछन्दसोर्वा० । वा० पा० ८ । २ । १८ । रेफस्य लत्वम् । सर्वतो मिश्रयिता (आ) चार्थे (वचोयुजा) युजिर् योगे——क्विन् , विभक्तेराकारः । वचसो वचनस्य योजयिता (इन्द्रः) वायुरिव (वज्री) वज्रधारी (हिरण्ययः) तेजोमयः ॥

राजा के न्याय से सब लोगों में शुभ गुणों का संयोग और दोषों का वियोग होकर वाणी में सत्यता होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥
वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (दीर्घाय) दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये (दिवि) व्यवहार [वा आकाश] के बीच (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा [वा किरणों और जलों द्वारा] (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रेरक] और (अद्रिम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (आ रोहयत्) ऊंचा किया और (वि) विविध प्रकार (ऐरयत्) चलाया है ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से सूर्य आकाश में चलकर ताप आदि गुणों से अनेक लोकों को धारण करता और किरणों द्वारा जल खींच कर फिर बरसाकर उपकार करता है, वैसे ही दूरदर्शी राजा अपने प्रताप और उत्तम व्यवहार से सब प्रजा को नियम में रक्खे और कर लेकर उनका प्रतिपालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ , २ निचृद् गायत्री; ३—५ गायत्री ॥
परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (दीर्घाय) विस्तृताय (सूर्यम्) सूर्यलोकम् । सूर्यवत्प्रेरकम् (आरोहयत्) अधिष्ठापितवान् (दिवि) व्यवहारे । आकाशे (वि) विविधम् (गोभिः) वेदवाणीभिः । किरणैः । जलैः (अद्रिम्) मेघम् मेघतुल्योपकारिणम् (ऐरयत्) ईर गतौ कम्पने च—णिच्, लङ् । प्रेरितवान् ॥

राजा के न्याय से सब लोगों में शुभ गुणों का संयोग और दोषों का वियोग होकर वाणी में सत्यता होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥
वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (दीर्घाय) दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये (दिवि) व्यवहार [वा आकाश] के बीच (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा [वा किरणों और जलों द्वारा] (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रेरक] और (अद्रिम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (आ रोहयत्) ऊंचा किया और (वि) विविध प्रकार (ऐरयत्) चलाया है ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से सूर्य आकाश में चलकर ताप आदि गुणों से अनेक लोकों को धारण करता और किरणों द्वारा जल खींच कर फिर बरसाकर उपकार करता है, वैसे ही दूरदर्शी राजा अपने प्रताप और उत्तम व्यवहार से सब प्रजा को नियम में रक्खे और कर लेकर उनका प्रतिपालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३९ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ , २ निचृद् गायत्री; ३—५ गायत्री ॥
परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (दीर्घाय) विस्तृताय (सूर्यम्) सूर्यलोकम् । सूर्यवत्प्रेरकम् (आरोहयत्) अधिष्ठापितवान् (दिवि) व्यवहारे ; आकाशे (वि) विविधम् (गोभिः) वेदवाणीभिः । किरणैः । जलैः (अद्रिम्) मेघम् मेघतुल्योपकारिणम् (ऐरयत्) ईर गतौ कम्पने च—णिच्, लङ् । प्रेरितवान् ॥

इन्द्रम् । वः । विश्वतः । परि । हवामहे । जनेभ्यः ॥
अस्माकम् । अस्तु । केवलः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो!] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मा] को (वः) तुम्हारे लिये और (विश्वतः) सब (जनेभ्यः) प्राणियों के लिये (परि) सब प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं। वह (अस्माकम्) हमारा (केवलः) सेवनीय (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य सर्वहितकारी जगदीश्वर की आज्ञा में रहकर आनन्द पावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ७ । १०, सामवेद—उ० ८ । १ । २ और आगे है—अ० २० । ७० । १६ ॥

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ २ ॥
वि । अन्तरिक्षम् । अतिरत् । मदे । सोमस्य । रोचना ॥
इन्द्रः । यत् । अभिनत् । वलम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (सोमस्य) ऐश्वर्य के (मदे) आनन्द में (रोचना) प्रीति के साथ (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि अतिरत्) पार किया है, (यत्) जब कि उस ने (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (अभिनत्) तोड़ डाला ॥ २ ॥

भावार्थ—सब से महान् और पूजनीय परमात्मा की उपासना से सब मनुष्य उन्नति करें ॥ २ ॥

मन्त्र २—५ आचुके हैं—अ० २० । २८ । १—४ ॥

१—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (वः) युष्मभ्यम् (विश्वतः) सर्वेभ्यः । सर्वेषां हिताय (परि) सर्वतः (हवामहे) आह्वयामः (जनेभ्यः) प्रादुर्भूतानां प्राणिनां हिताय (अस्माकम्) मनुष्याणाम् (अस्तु) (केवलः) केवृ सेवने—कलच् । सेवनीयः ॥

मन्त्राः २—५ व्याख्याताः—अ० २० । २८ । १—४ ॥

उद् गा आजुदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ ३ ॥

उत् । गाः । आजत् । अङ्गिरःऽभ्यः । आविः । कृण्वन् । गुहा । सतीः ॥ अर्वाञ्चम् । नुनुदे । वलम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गुहा) गुहा [गुप्त अवस्था] में (सतीः) वर्तमान (गाः) वाणियों को (आविः कृण्वन्) प्रकट करते हुये उस [परमेश्वर] ने (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (उत् आजत्) ऊंचा पहुंचाया और (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (अर्वाञ्चम्) नीचे (नुनुदे) हटाया ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रलय के पीछे परमात्मा ने वेदों का उपदेश कर के हमारे सब विघ्न मिटाये हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ ४ ॥

इन्द्रेण । रोचना । दिवः । दृळ्हानि । दृंहितानि । च ॥ स्थिराणि । न । पराऽनुदे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] कर के (दिवः) व्यवहार के (स्थिराणि) ठहराऊ (रोचना) प्रकाश (न पराणुदे) न हटने के लिये (दृळ्हानि) पक्के किये गये (च) और (दृंहितानि) बढ़ाये गये [फैलाये गये हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपने अटल नियमों से सब संसार को सुख दिया है ॥ ४ ॥

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।
वि ते मदा अराजिषुः ॥ ५ ॥

अपाम् । ऊर्मिः । मदन्ऽइव । स्तोमः । इन्द्र । अजिरऽयते ॥ वि । ते । मदाः । अराजिषुः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (स्तोमः) बड़ाई (अपाम्) जलों की (मदन्) हर्ष बढ़ाने वाली (ऊर्मिः इव) लहर के समान (अजिरायते) वेग से चलती है, और (मदः) आनन्द (वि अराजिषुः) विराजते हैं [विविध प्रकार ऐश्वर्य बढ़ाते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा की उत्तम नीति का मानकर सब लोग आनन्द पाकर शीघ्र ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ४० ॥

१—३ ॥ १ मरुत इन्द्रश्च ; २, ३ मरुतो देवताः ॥ १ गायत्री ; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संजग्मा॒नो अबि॑भ्युषा ।
म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ १ ॥

इन्द्रे॑ण । सम् । हि । दृक्ष॑से । स॒म्ऽज॒ग्मा॒नः । अबि॑भ्युषा ॥
म॒न्दू इति॑ । स॒मा॒नऽव॑र्चसा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजागण !] (अबिभ्युषा) निडर (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के साथ (हि) ही (संजग्मानः) मिलता हुआ तू (सम्) अच्छे प्रकार (दृक्षसे) दिखाई देता है । (समानवर्चसा) एक से तेज के साथ (मन्दू) तुम दोनों [राजा और प्रजा] आनन्द देने वाले हो ॥१॥

भावार्थ—जिस राज्य में प्रजागण राजा से और राजा प्रजा से प्रसन्न रहते हैं, वही राज्य विद्या और धन में उन्नति करता है ॥ १ ॥

(मरुतः) अर्थात् मनुष्य वा प्रजागण देवता हैं, इसके लिये (मरुतः)

१—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता राज्ञा (सम्) सम्यक् (दृक्षसे) दृशेर्लेट् । त्वं दृश्येथाः (संजग्मानः) गमेः कानच् । संगच्छमानः (अबिभ्युषा) ञिभी भये-क्वसु । निर्भयेण (मन्दू) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—उप्रत्ययः । आनन्दकौ (समानवर्चसा) समानेन तेजसा ॥

ऋत्विज्—निघ० ३ । १८; पद नाम—निघ० ५ । ५ और अथर्व० १ । २० । १ भी देखो ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—१ । ६ । ७, ८ और आगे हैं—अ० २० । ७० । ३, ४; मन्त्र १ सामवेद में है—उ० २ । २ । ७ ॥

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः॥२॥

अनवद्यैः । अभिद्यु-भिः । मखः । सहस्वत् । अर्चति ॥ गणैः । इन्द्रस्य । काम्यैः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अनवद्यैः) निर्दोष, (अभिद्युभिः) सब ओर से प्रकाशमान और (काम्यैः) प्रीति के योग्य (गणैः) गणों [प्रजागणों] के साथ (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (मखः) यज्ञ [राज्य व्यवहार] (सहस्वत्) अति दृढ़ता से (अर्चति) सत्कार पाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब राज काज उत्तम विद्वान् लोगों के मेल से अच्छे प्रकार सिद्ध होते हैं ॥ २ ॥

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम्॥३॥

आत् । अह । स्वधाम् । अनु । पुनः । गर्भ-त्वम् । आ-ईरिरे ॥ दधानाः । नाम । यज्ञियम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आत्) फिर (अह) अवश्य (स्वधाम् अनु) अपनी

२—(अनवद्यैः) निर्दोषैः (अभिद्युभिः) अभितः प्रकाशमानैः (मखः) मख गतौ—घप्रत्ययः । यज्ञः—निघ० ३ । १७ । राज्यव्यवहारः (सहस्वत्) यथास्यात्तथा । बलवत्त्वेन । अतिदृढत्वेन (अर्चति) अर्च्यते । सत्क्रियते (गणैः) प्रजाजनैः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो राज्ञः (काम्यैः) कमेर्णिङ् । पा० ३ । १ । ३० । कमु कान्तौ—णिङ् । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । कामि—यत् । कामयितव्यैः । प्रीतियोग्यैः ॥

३—(आत्) अनन्तरम् (अह) विनिग्रहे—निघ० १ । १२ । अवश्यम् (स्वधाम्) स्वधारणशक्तिम् (अनु) अनुसृत्य (पुनः) अवधारणे (गर्भत्वम्)

धारण शक्ति के पीछे (यज्ञियम्) सत्कार योग्य (नाम) नाम [यश] को (दधानाः) धारण करते हुये लोगों ने (पुनः) निश्चय कर के (गर्भत्वम्) गर्भपन [सारपन, बड़े पद] को (एरिरे) सब प्रकार से पाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर पूर्वोक्त प्रकार से न्याययुक्त स्वतन्त्रता के साथ लोग कार्य करते हैं, वहां पर सब पुरुष बड़ाई पाते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ६ । ४ ; सामवेद उ० २ । २ । ७ और आगे है—अथ० २० । ६६ । १२ ॥

सूक्तम् ४१ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रो॑ दधी॒चो अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः। ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑॥१

इन्द्रः॑ । द॒धी॒चः । अ॒स्थ-भिः॑ । वृ॒त्राणि॑ । अप्र॑ति-स्कुतः ॥ ज॒घान॑ । न॒व॒तीः । नव॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अप्रतिष्कुतः) बे रोक गति वाले (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] ने (दधीचः) पोषण प्राप्त कराने वाले पुरुष की

ऋ० ३ । १० । १२ । अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । गॄ शब्दे, विज्ञापने, स्तुतौ निगरणे च—भन् । गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा—निरु० १० । २३ । गृणातिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । गर्भभावम् । स्तुत्यं पदम् (एरिरे) आ+ईर गतौ—लिटो झस्य इरेच् । समन्तात् प्राप्तवन्तः (दधानाः) धारयन्तः पुरुषाः (नाम) यशः । कीर्तिम् (यज्ञियम्) यज्ञार्हम् । पूजनीयम् ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (दधीचः) भाषायां धाञ्कृञ्—सृजनिगमिनमिभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । दधातेः—कि प्रत्ययः, यद्वा सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । दध दाने धारणे च—इन् । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च । पा० ३ । २ । ५९ । दधि+अञ्चु गतिपूजनयोः अन्तर्गतण्यर्थः—क्विन् । दधिं पोषणम् अञ्चयति प्रापयतीति दध्यङ् तस्य । पोषणप्रापकस्य पुरुषस्य दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा—निरु० १२ । ३३ (अस्थभिः) असिसञ्जिभ्यां क्थिन् ।

(अस्थभिः) गतियों से (नव नवतीः) नौ नव्वे [९ × ९० = ८१० अर्थात् बहुत से] (वृत्राणि) रोकने वाले शत्रुओं को (जघान) मारा है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा प्रजापोषक वीरों के समान अनेक उपाय कर के शत्रुओं को मारे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । ८४ । १३—१५; सामवेद—उ० ३ । १ । तृच ८, मन्त्र १ साम० पू० २ । ९ । ५ । और मन्त्र ३ पू० २ । ६ । ३ ॥

इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम् । तद् विदच्छर्य-णावति ॥ २ ॥

इच्छन् । अश्वस्य । यत् । शिरः । पर्वतेषु । अप-श्रितम् ॥ तत् । विदत् । शर्यणा-वति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्वस्य) काम में व्यापने वाले बलवान् पुरुष का (यत्) जो (शिरः) शिर [मस्तक वा विचार सामर्थ्य] (पर्वतेषु) मेघों [के समान उपकारी मनुष्यों] में (अपश्रितम्) आश्रित है, (तत्) उस [विचार सामर्थ्य] को (इच्छन्) चाहते हुये पुरुष ने (शर्यणावति) तीर चलाने के स्थान संग्राम में (विदत्) पाया है ॥ २ ॥

उ० ३ । १५४ । अस भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु, यद्वा असु क्षेपणे-क्थिन् । छन्दस्यपि दृश्यते । पा० ७ । १ । ७६ । अनङादेशः । गतिभिः । उपायैः (वृत्राणि) आवरकान् शत्रून् (अप्रतिष्कुतः) स्कुञ् आप्रवणे आगमने—क्त । अप्रतिष्कुतोऽप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्खलितो वा—निरु० ६ । १६ । अप्रतिगतः । अनिरुद्धः (जघान) नाशितवान् (नव नवतीः) नववारं नवतीः । दशोत्तराण्यष्टशतानि । बहुसंख्याकानि ॥

२—(इच्छन्) कामयमानः (अश्वस्य) कर्मसु व्यापकस्य बलवतः पुरुषस्य (यत्) (शिरः) मस्तकसामर्थ्यम् । विचारशक्तिम् (पर्वतेषु) मेघेषु । मेघतुल्यसर्वोपकारिषु मनुष्येषु (अपश्रितम्) आसेवितम् (तत्) मस्तकसामर्थ्यम्) विदत्) अविदत् । प्राप्तवान् (शर्यणावति) मध्वादिभ्यश्च । पा० ४ । २ । ८६ । शर्याण—मतुप् शरयाणशब्दस्य शर्याण, शर्यणा इति रूपद्वयं पृषोदरादित्वात् शराणां तीराणां यानेन गमनेन युक्ते सङ्ग्रामे ॥

भावार्थ—जो पुरुष विद्वानों के समान अपना विचार सामर्थ्य बढ़ाना चाहे, वह परिश्रम के साथ ऐसा प्रयत्न करे जैसे शूर सेनापति सङ्ग्राम में प्रयत्न करता है ॥ २ ॥

अत्राह॒ गोर॑मन्वत॒ नाम॒ त्वष्टु॑रपी॒च्य॑म् । इ॒त्था च॒न्द्रम॑सो गृ॒हे ॥ ३ ॥

अत्र॑ । अह॑ । गोः । अ॒म॒न्व॒त॒ । नाम॑ । त्वष्टुः॑ । अ॒पी॒च्य॑म् ॥ इ॒त्था । च॒न्द्रम॑सः । गृ॒हे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अत्र) यहां [राज्य व्यवहार में] (अह) निश्चय करके (गोः) पृथिवी के, (इत्था) इसी प्रकार (चन्द्रमसः) चन्द्रमा के (गृहे) घर [लोक] में (त्वष्टुः) छेदन करने वाले सूर्य के (अपीच्यम्) भीतर रक्खे हुये (नाम) झुकाव [आकर्षण] को (अमन्वत) इन्हों ने जाना है ॥३॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपने प्रकाश और आकर्षण द्वारा पृथिवी और चन्द्र आदि लोकों को उन के मार्ग में दृढ़ रखता है, वैसे ही राजा अपनी सुनीति से प्रजा को धर्म में लगावे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ४ । २५ में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१—३॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

मनुष्यकृत्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

वाच॑म॒ष्टाप॑दीम॒हं नव॑स्रक्तिमृत॒स्पृश॑म् । इन्द्रा॒त् परि॑ त॒न्व॑म् ममे ॥ १ ॥

३—(अत्र) राज्यव्यवहारे (अह) निश्चयेन (गोः) पृथिव्याः (अमन्वत) मनु अवबोधने—लङ् । अजानन् ते विद्वांसः (नाम) नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । नमतेः—मनिन् धातोर्मलोपो दीर्घश्च, नाम उदकनाम—निघ० १ । १२ । नमनम् । आकर्षणम् (त्वष्टुः) छेदकस्य सूर्यस्य (अपीच्यम्) आ० १८ । १ । २६ । अपि+अञ्चतेः—क्विन्, यत् । अन्तर्हितम्—निघ०३ । २५ । (इत्था) अनेन प्रकारेण (चन्द्रमसः) चन्द्रस्य (गृहे) लोके ॥

वाचम् । अष्टा-पदीम् । अहम् । नव-स्रक्तिम् । ऋत-स्पृशम् ॥ इन्द्रात् । परि । तन्वम् । ममे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अष्टापदीम्) आठ पद [छोटाई, हलकाई प्राप्ति, स्वतन्त्रता, बड़ाई, ईश्वरपन, जितेन्द्रियता और सत्य सङ्कल्प, आठ ऐश्वर्य] प्राप्त कराने वाली, (नवस्रक्तिम्) नौ [मन बुद्धि सहित दो कान, दो नथने, दो आखें और एक मुख] से प्राप्ति योग्य, (ऋतस्पृशम्) सत्य नियम की प्राप्ति कराने वाली, (तन्वम्) विस्तीर्ण [वा सूक्ष्म] (वाचम्) वेदवाणी को (इन्द्रात्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] से (अहम्) मैं ने (परि ममे) नापा है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपनी वेदवाणी सब के हित के लिये दी है, उसके द्वारा मनुष्य इन्द्रियों की स्वस्थता से [अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥१॥] यह आठ ऐश्वर्य पाता है । हम लोग उचित प्रबन्ध से इसे विचार कर अपना जीवन सुधारें ॥१॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथर्व० १३ । १ । ४२ । यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ७६ [सायणभाष्य ६५] । १२, ११, १० और कुछ भेद से सामवेद—उ० ३ । २ । तृच ६ ॥

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम् । इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥ २ ॥

अनु । त्वा । रोदसी इति । उभे इति । क्रक्षमाणम् । अकृपेताम् ॥ इन्द्र । इन्द्र । यत् । दस्यु-हा । अभवः ॥ २ ॥

१—(वाचम्) वेदवाणीम् (अष्टापदीम्) अ० १३ । १ । ४२ । अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ १ ॥ इत्यष्टैश्वर्याणि पदानि प्राप्तव्यानि यया ताम् (अहम्) उपासकः (नवस्रक्तिम्) स्रक्, स्रकि गतौ-क्तिन् । मनोबुद्धिसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैः प्राप्तव्याम् । नवपदीम्—अ० १३ । १ । ४२ (ऋतस्पृशम्) ऋतस्य सत्यनियमस्य स्पर्शयित्रीं प्रापयित्रीम् (इन्द्रात्) परमैश्वर्ययुक्तात् परमेश्वरात् (तन्वम्) विस्तृतां सूक्ष्मां वा (परि ममे) परिमापितवानस्मि । सर्वतो ज्ञातवानस्मि ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (कृक्ष-माणम्) आकर्षण करते हुये [वश में करते हुये] (त्वा अनु) तेरे पीछे (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और भूमि (अकृपेताम्) समर्थ हुये हैं, (यत्) जबकि तू (दस्युहा) शत्रुओं [विघ्नों] का नाश करने वाला (अभवः) हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अन्धकार आदि विघ्नों को हटा कर वायु, जल, अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न कर के सब लोकों को धारण किया है, वैसे ही मनुष्य अविद्या मिटाकर परस्पर रक्षा करें ॥ २ ॥

उ॒त्तिष्ठ॒न्नोज॑सा स॒ह पी॒त्वी शिप्रे॑ अवेपयः । सोम॑मिन्द्र च॒मू सु॒तम् ॥ ३ ॥

उ॒त्-तिष्ठ॑न् । ओज॑सा । स॒ह । पी॒त्वी । शिप्रे॒ इति॑ । अ॒वे॒प॒य॒ः ॥ सोम॑म् । इ॒न्द्र॒ । च॒मू इति॑ । सु॒तम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (ओजसा सह) पराक्रम के साथ (उत्तिष्ठन्) उठते हुये तू ने (चमू) चमचे में (सुतम्) सिद्ध किया हुआ (सोमम्) सोम [अन्न आदि महौषधियों का रस] (पीत्वी) पीकर (शिप्रे) दोनों जावड़ों को (अवेपयः) हिलाया है ॥ ३ ॥

२—(अनु) अनुसृत्य (त्वा) त्वाम् (रोदसी) आकाशभूमी (उभे) (कृक्षमाणम्) कृष विलेखने आकर्षणे—लृट् । स्यतासी लृलुटोः । पा० ३ । १ । ३३ । इति स्य । लृटः सद्वा । पा० ३ । ३ । १४ । लृटः शानच्, यकारलोपश्छान्दसः । कर्षयमाणम् । आकर्षन्तम् वशे कुर्वन्तम् (अकृपेताम्) कृपू सामर्थ्ये-लङ् । समर्थेऽभवताम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (यत्) यदा (दस्युहा) शत्रूणां विघ्नानां नाशकः (अभवः) ॥

३—(उत्तिष्ठन्) ऊर्ध्वं गच्छन् (ओजसा) बलेन (सह) (पीत्वी) अ० २० । ६ । ७ । पीत्वा (शिप्रे) अ० २० । ३१ । ४ । हनू (अवेपयः) अकम्पयः चालितवानासि (सोमम्) अन्नादिमहौषधिरसम् (चमू) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । सप्तम्याः पूर्वसवर्णः । चम्वाम् । भोजनपात्रे । चमसे (सुतम्) संस्कृतम् ॥

भावार्थ—जैसे प्राणी दांतो को चलाकर अन्न आदि खा आनन्द पाते हैं, वैसे ही मनुष्य बल पराक्रम कर के अभीष्ट फल प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४३ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥

भिन्धि । विश्वाः । अप । द्विषः । परि । बाधः । जहि । मृधः ॥ वसु । स्पार्हम् । तत् । आ । भर ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (विश्वाः) सब (द्विषः) द्वेष करने वाली सेनाओं में (अप भिन्धि) फूट डाल दे, और (बाधः) रोक डालने वाले (मृधः) संग्रामो को (परि) सब ओर से (जहि) मिटा दे (तत्) उस (स्पार्हम्) चाहने योग्य (वसु) धन को (आ भर) ले आ ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा धर्मात्माओं की रक्षा के लिये शत्रुओं में फूट डालकर बन का नाश करे और उनका धन लेकर विद्यादान आदि धर्म कार्य में लगावे ॥ १ ॥

यह तृच् ऋग्वेद में है—८ । ४५ । ४०—४२; सामवेद—उ० ४ । १ । तृच ८ । मन्त्र १—साम० पू० २ । ४ । १० और मन्त्र २ पू० ३ । २ । ३ ॥

यद् वीलाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ २ ॥

यत् । वीलौ । इन्द्र । यत् । स्थिरे । यत् । पर्शाने । परा-

१—(भिन्धि) भेदेन कुरु (विश्वाः) सर्वाः (अप) पृथग्भावे (द्विषः) द्वेष्ट्रीः सेनाः (परि) सर्वतः (बाधः) बाधृ विलोडने—क्विप् । बाधिकाः (जहि) नाशय (मृधः) सङ्ग्रामान् (वसु) धनम् (स्पार्हम्) अ० २० । १६ । ३ । कमनीयम् (तत्) (आ भर) आहर । प्रापय ॥

भृतम् । ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) जो [धन] (वीलौ) बल [वा सेना] में (यत्) जो [धन] (स्थिरे) दृढ़ स्थान में और (यत्) जो [धन] (पर्शाने) मेघ [बरसा] में (पराभृतम्) धरा हुआ है, (तत्) उस (स्पार्हम्) चाहने योग्य (वसु) धन को (आ भर) ले आ ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि शत्रुओं ने जो धन सेना में, दृढ़ कोश में, और जो जल आदि स्थान में रक्खा हो, उस सब को ले लेवे ॥ २ ॥

यस्य॑ ते वि॒श्वमा॑नुषो॒ भूरे॑र्द॒त्तस्य॒ वेद॑ति । वसु॑ स्पा॒र्हं तदा भ॑र ॥ ३ ॥

यस्य॑ । ते॒ । वि॒श्व-मा॑नुषः । भूरे॑ः । द॒त्तस्य॑ । वेद॑ति ॥ वसु॑ । स्पा॒र्हम् । तत् । आ । भ॒र ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(विश्वमानुषः) संसार का प्रत्येक मनुष्य (यस्य ते) जिस तेरे (भूरेः) बड़े (दत्तस्य) दान का (वेदति) ज्ञान करे, (तत्) उस (स्पार्हम्) चाहने योग्य (वसु) धन को (आ भर) ले आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को ऐसा दान करना चाहिये जिस से समस्त संसार का उपकार होवे ॥ ३ ॥

२—(यत्) धनम् (वीलौ) भृमृशीङ् ० । उ० १ । ७ । वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५ । १६—उप्रत्ययः । वीलु बलनाम—निघ० २ । ९ । बले । सैन्ये (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (यत्) (स्थिरे) दृढस्थाने (यत्) (पर्शाने) अ० ८ । ४ । ५ । परि+शॄ हिंसायाम्—आनच्, डित्, परे रिकारलोपः । पर्शानो मेघः—टिप्पणी, निघ० १ । १० । मेघे । वर्षाजले (पराभृतम्) न्यस्तम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(यस्य) (ते) तव (विश्वमानुषः) विश्वस्य संसारस्य प्रत्येकमनुष्यः (भूरेः) प्रभूतस्य (दत्तस्य) दानस्य (वेदति) लेटि रूपम् । ज्ञानं कुर्यात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ४४ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाकृत्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः । नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १ ॥

प्र । सम्-राजम् । चर्षणीनाम् । इन्द्रम् । स्तोत । नव्यम् । गीः-भिः ॥ नरम् । नृ-सहम् । मंहिष्ठम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (सम्राजम्) सम्राट् [राजाधिराज], (नव्यम्) स्तुति योग्य, (नरम्) नेता, (नृषहम्) नेताओं को वश में रखने वाले, (मंहिष्ठम्) अत्यन्त दानी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (गीर्भिः) वाणियों से (प्र) अच्छे प्रकार (स्तोत) सराहो ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण अभिनन्दन आदि से उदार चित्त राजा के बड़े बड़े उपकारी कामों की प्रशंसा करके सत्कार करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १६ । १—३ । मन्त्र १ सामवेद—पू० २ । ५ । १० ॥

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या । अपामवो न समुद्रे ॥ २ ॥

यस्मिन् । उक्थानि । रण्यन्ति । विश्वानि । च । श्रवस्या ॥ अपाम् । अवः । न । समुद्रे ॥ २ ॥

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम् । महो वाजिनं

१—(प्र) प्रकर्षेण (सम्राजम्) राजराजेश्वरम् (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (स्तोत) स्तुत (नव्यम्) स्तुत्यम् (गीर्भिः) वाणीभिः (नरम्) नेतारम् (नृषहम्) नेतॄणामभिभवितारं वशयितारम् (मंहिष्ठम्) अ० २० । १५ । १ । उदारतमम् ॥

सुनिभ्यः ॥ ३ ॥

तम् । सु-स्तुत्या । आ । विवासे । ज्येष्ठ-राजम् । भरे । कृत्नुम् ॥ महः । वाजिनम् । सनि-भ्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [पुरुष] में (विश्वानि) सब (उक्थानि) कहने योग्य वचन (च) और (श्रवस्या) धन के लिये हितकारी कर्म (रण्यन्ति) पहुंचते हैं, (न) जैसे (समुद्रे) समुद्र में (अपाम्) जलों की (अवः) गति [पहुंचती है] ॥ २ ॥ (तम्) उस (ज्येष्ठराजम्) सब से बड़े राजा, (भरे) सङ्ग्राम में (कृत्नुम्) काम करने वाले, (वाजिनम्) महाबलवान् [पुरुष] की, (महः) महत्त्व के (सनिभ्यः) दानों के लिये, (सुष्टुत्या) सुन्दर स्तुति के साथ (आ) सब प्रकार (विवासे) मैं सेवा करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे नदियां समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, वैसे ही विद्वान् लोग पराक्रमी राजा के पास पहुंचकर अपना गुण प्रकाशित कर के सुख पावें ॥ २,३ ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १,३ गायत्री ; २ निचृद् गायत्री ॥

सभाध्यक्षकृत्योपदेशः—सभापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् । वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ १ ॥

२—(यस्मिन्) पुरुषे (उक्थानि) वक्तव्यानि वचनानि (रण्यन्ति) अ० २० । १७ । ६ । गच्छन्ति (विश्वानि) सर्वाणि (च) (श्रवस्या) अ० २० । १२ । १ । धनाय हितानि कर्माणि (अपाम्) जलानाम् (अवः) अव गतौ—असुन् । गमनम् (न) यथा (समुद्रे) उदधौ ॥

३—(तम्) (सुष्टुत्या) शोभनया स्तुत्या (आ) समन्तात् (विवासे) विवासतिः परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । परिचरामि (ज्येष्ठराजम्) प्रशस्यतमं राजानम् (भरे) सङ्ग्रामे (कृत्नुम्) कृहनिभ्यां क्त्नु । उ० ३ । ३० । करोतेः—क्त्नु । कार्यकर्तारम् (महः) मह पूजायाम्—क्विप् । महत्त्वस्य (वाजिनम्) महाबलिनम् (सनिभ्यः) दानेभ्यः ॥

अयम् । ऊँ इति । ते । सम् । अतसि । कपोतः-इव । गर्भ-धिम् ॥ वचः । तत् । चित् । नः । ओहसे ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे सेनापति !] (अयम्) यह [प्रजा जन] (ते उ) तेरा ही है, तू [उस प्रजा जन से] (सम् अतसि) सदा मिलता रहता है, (इव) जैसे (कपोतः) कबूतर (गर्भधिम्) गर्भ रखने वाली कबूतरी से [पालने को मिलता है], (तत्) इस लिये तू (चित्) ही (नः) हमारे (वचः) वचन को (ओहसे) सब प्रकार विचारता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जब कबूतरी अण्डे सेवती और बच्चे देती है, कबूतर बड़े प्रेम से उसको चारा लाकर खिलाता है, इसी प्रकार राजा सुनीति से प्रजा का पालन करे और उन की पुकार सुने ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है --१ । ३० । ४—६ ; सामवेद—उ० ७ । ३ । तृच १५, तथा मन्त्र १-साम० पू० २ । ८ । ८ ॥

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते । विभूतिरस्तु सूनृता ॥ २ ॥

स्तोत्रम् । राधानाम् । पते । गिर्वाहः । वीर । यस्य । ते ॥ वि-भूतिः । अस्तु । सूनृता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राधानां पते) हे धनों के स्वामी ! (गिर्वाहः) हे विद्याओं के पहुंचाने वाले ! (वीर) हे वीर ! (यस्य ते) जिस तेरी (स्तोत्रम्) स्तुति है, [उस तेरी] (विभूतिः) विभूति [ऐश्वर्य] (सूनृता) प्यारी और सची

१—(अयम्) प्रजाजनः (उ) एव (ते) तव (सम्) (अतसि) सततं संगच्छसे (कपोतः) पारावतः (इव) यथा (गर्भधिम्) गर्भ+दधातेः—कि प्रत्ययः । गर्भधारिणीं कपोतीम् (वचः) वचनम् (तत्) तस्मात् कारणात् (चित्) एव (नः) अस्माकम् (ओहसे) आ+ऊह वितर्के । समन्ताद् विचारयसि ॥

२—(स्तोत्रम्) स्तुतिम् (राधानाम्) धनानाम् (पते) पालक (गिर्वाहः) अ० २ । ३५ । ४ । हे गिरां विद्यानां प्रापक (वीर) हे निर्भय (यस्य) (ते) तव (विभूतिः) ऐश्वर्यम् (अस्तु) (सूनृता) अ० ३ ।१२ । २ ।

वाणी (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अनेक धनों को प्राप्त होकर उत्तम कर्मों से अपनी स्तुति बढ़ावे और हितकारी सच्ची बात बोलने को ही अपना ऐश्वर्य समझे ॥ २ ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो । समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वः । तिष्ठ । नः । ऊतये । अस्मिन् । वाजे । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ सम् । अन्येषु । ब्रवावहै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (अस्मिन्) इस (वाजे) सङ्ग्राम में (ऊर्ध्वः) ऊपर (तिष्ठ) ठहर, (अन्येषु) दूसरे कामों पर (सम्) मिलकर (ब्रवावहै) हम दोनों बात करें ॥ ३ ॥

भावार्थ-विद्वान् लोग प्रजापालक सेनापति से बात चीत करके कर्तव्य को करते हुये और अकर्तव्य को छोड़ते हुये युद्ध में विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४६ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु । सासह्वांसं युधामित्रान् ॥ १ ॥

प्र-नेतारम् । वस्यः । अच्छ । कर्तारम् । ज्योतिः । समत्-सु । ससह्वांसम् । युधा । अमित्रान् ॥ १ ॥

प्रियसत्यात्मिका वाक् ॥

३—(ऊर्ध्वः) उन्नतः (तिष्ठ) (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षायै (अस्मिन्) (वाजे) संग्रामे (शतक्रतो) बहुकर्मन् । बहुप्रज्ञ (सम्) मिलित्वा (अन्येषु) युद्धाद् भिन्नविषयेषु (ब्रवावहै) आवां विचारयाव ॥

भाषार्थ—(वस्यः) श्रेष्ठ धन की ओर (प्रणेतारम्) ले चलने वाले (समत्सु) संग्रामों में (ज्योतिः) प्रकाश (कर्तारम्) करने वाले (युधा) युद्ध से (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले वैरियों को (ससह्वांसम्) हराने वाले [सेनापति] को (अच्छ) पाकर [हम बतें] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा को धन प्राप्त करावे और संग्रामों में वैरियों को जीते, वह सेनापति होवे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १६ । १०-१२ ॥

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः । इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥ २ ॥

सः । नः । पप्रिः । पारयाति । स्वस्ति । नावा । पुरु-हूतः ॥ इन्द्रः । विश्वाः । अति । द्विषः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (पप्रिः) पूरण करने वाला, (पुरुहूतः) बहुत पुकारा गया, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (विश्वाः) सब (द्विषः) द्वेष करने वाली सेनाओं को (अति) लांघ कर (नः) हम को (स्वस्ति) आनन्द के साथ (नावा) नाव से (पारयाति) पार लगावे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुओं को मार कर प्रजा को कष्ट से छुड़ावे, जैसे नाव से समुद्र पार करते हैं ॥ २ ॥

१—(प्रणेतारम्) प्रापयितारम् (वस्यः) अ० २० । १४ । ३ । प्रशस्यं धनम् (अच्छ) अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः—निरु० ५ । २८ । प्राप्य (कर्तारम्) कारकम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (समत्सु) सङ्ग्रामेषु (ससह्वांसम्) षह अभिभवे—क्वसु, अभ्यासस्य दीर्घश्छान्दसः। अभिभवितारम् (युधा) युद्धेन (अमित्रान्) पीडकान् । शत्रून् ॥

२—(सः) (नः) अस्मान् (पप्रिः) अ० १२ । २ । ४७ । प्रा पूरणे—किन् । प्राता । पूरयिता (पारयाति) लेटि रूपम् । पारयेत् (स्वस्ति) क्षेमेण (नावा) नौकया (पुरुहूतः) बहुविधाहूतः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (विश्वाः) सर्वाः (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (द्विषः) द्वेष्ट्रीः सेनाः ॥

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च । अच्छा च नः सुम्नं नेषि ॥ ३ ॥

सः । त्वम् । नः । इन्द्र । वाजेभिः । दशस्य । च । गातु-या । च ॥ अच्छ । च । नः । सुम्नम् । नेषि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः त्वम्) सो तू, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (नः) हमारे लिये (वाजेभिः) पराक्रमों के साथ (दशस्य) कवच के समान काम कर, (च च) और (गातुया) मार्ग बता, (च) और (अच्छ) अच्छे प्रकार (नः) हमें (सुम्नम्) सुख की ओर (नेषि) ले चल ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा पराक्रम कर के प्रजा को अनेक प्रकार से सुख पाने के ढंग बतावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१—२१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—१०,१२—२१ गायत्री; ११ विराड् गायत्री, ॥

१—६ राजप्रजकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १ ॥

तम् । इन्द्रम् । वाजयामसि । महे । वृत्राय । हन्तवे ॥ सः । वृषा । वृषभः । भुवत् ॥ १ ॥

३—(सः) तादृशः (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्र) सेनापते (वाजेभिः) सङ्ग्रामैः (दशस्य) अ० २०। ३५ । ११ । दशः कवच इवाचर (च) (गातुया) छन्दसि परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । गातु—क्यच् । छान्दसो दीर्घः, ऋग्वेदे [गातुय] इति पदपाठः । मार्गम् इच्छ (च) (अच्छ) सुष्ठु (च) (नः) अस्मान् (सुम्नम्) सुखं प्रति (नेषि) शपोलुक् । नयसि । नय । प्रापय ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (महे) बड़े (वृत्राय) रोकने वाले वैरी के (हन्तवे) मारने को (वाजयामसि) हम बलवान् करते हैं [उत्साही बनाते हैं], (सः) वह (वृषा) पराक्रमी (वृषभः) श्रेष्ठ वीर (भुवत्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा को शत्रुओं के मारने के लिये सहाय करें, और राजा भी प्रजा की भलाई के लिये प्रयत्न करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८। ९३ [सायणभाष्य ८२]। ७—९; कुछ भेद से सामवेद—उ० ५। १। तृच १०। मन्त्र १ पू० २। ३। ५ और यह तृच आगे है—अथ० २०। १३७। १२—१४ ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ २ ॥

इन्द्रः । सः । दामने । कृतः । ओजिष्ठः । सः । मदे । हितः ॥ द्युम्नी । श्लोकी । सः । सोम्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (दामने) दान करने के लिये और (सः) वह (मदे) आनन्द देने के लिये (ओजिष्ठः) महाबली और (हितः) हितकारी (कृतः) बनाया गया है, (सः) वह (द्युम्नी) अन्न वाला और (श्लोकी) कीर्ति वाला पुरुष (सोम्यः) ऐश्वर्य के योग्य है ॥ २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (वाजयामसि) बलवन्तं कुर्मः । उत्साहयामः (महे) द्वितीयार्थे चतुर्थी । महान्तम् (वृत्राय) आवरकं, शत्रुम् (हन्तवे) मारयितुम् (सः) (वृषा) पराक्रमी (वृषभः) श्रेष्ठो वीरः (भुवत्) भवेत् ॥

२—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (सः) (दामने) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । ददातेः—मनिन् । दानाय (कृतः) स्वीकृतः (ओजिष्ठः) ओजस्वितमः (सः) (मदे) आनन्ददानाय (हितः) हितकरः (द्युम्नी) अन्नवान् (श्लोकी) कीर्तिमान् (सः) (सोम्यः) ऐश्वर्ययोग्यः ॥

भावार्थ—प्रजागण प्रतापी, गुणी पुरुष को इस लिये राजा बनावें कि वह प्रजा के उपकार के लिये दान कर के प्रयत्न करे और अन्न आदि पदार्थ बढ़ा कर कीर्ति पावे ॥ २ ॥

गि॒रा वज्रो॒ न संभृ॑तः॒ सब॑लो॒ अन॑पच्युतः। व॒व॒क्ष ऋ॒ष्वो अस्तृ॑तः ॥ ३ ॥

गि॒रा। वज्रः॑। न। सम्ऽभृ॑तः। सऽब॑लः। अन॑पऽच्युतः ॥ व॒व॒क्षे। ऋ॒ष्वः। अस्तृ॑तः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गिरा) वाणी से (संभृतः) पुष्ट किया गया, (सबलः) सबल, (अनपच्युतः) न गिरने योग्य, (ऋष्वः) गति वाला, और (अस्तृतः) बे रोक सेनापति (वज्रः न) बिजुली के समान (ववक्षे) रिस होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी बात में सच्चा, महाबली हो, वह सेनानी होकर शत्रुओं पर बिजुली के समान क्रोध करे ॥ ३ ॥

इन्द्र॒मिद् गा॒थिनो॑ बृ॒हदिन्द्र॑म॒र्केभि॑र॒र्किणः॑। इन्द्रं॒ वाणी॑रनूषत ॥ ४ ॥

इन्द्र॑म्। इत्। गा॒थिनः॑। बृ॒हत्। इन्द्र॑म्। अ॒र्केभिः॑। अ॒र्किणः॑ ॥ इन्द्र॑म्। वाणीः॑। अ॒नू॒ष॒त ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गाथिनः) गाने वालों और (अर्किणः) विचार करने वालों ने (अर्केभिः) पूजनीय विचारों से (इन्द्रम्) सूर्य [के समान प्रतापी], (इन्द्रम्) वायु के समान फुरतीले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को और (वाणीः) वाणियों [वेदवचनों] को (इत्) निश्चय करके (बृहत्) बड़े ढंग से (अनूषत) सराहा है ॥ ४ ॥

३—(गिरा) वाण्या (वज्रः) विद्युत् (न) यथा (संभृतः) सम्यक् पोषितः (सबलः) बलसहितः (अनपच्युतः) परैरपरिच्युतः । अनभिगतः (ववक्षे) अ० २० । ३५ । ६ । लेडर्थे लिट् । रोषं कुर्यात् (ऋष्वः) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । ऋषी गतौ—कन् । गतिमान् । महान्—निघ० ३ । ३ (अस्तृतः) अहिंसितः । अनिवारितः ॥

४—६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ३८ । ४—६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुनीतिज्ञ, प्रतापी, उद्योगी राजा के और परमेश्वर की दी हुई वेदवाणी के गुणों को विचार कर सब के सुख के लिये यथावत् उपाय करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४-६ आ चुके हैं—अ०२० । ३८ । ४—६ और आगे हैं—२० । ७० । ७—६ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रः । इत् । हर्योः । सचा । सम्-मिश्लः । आ । वचः-युजा ॥ इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वज्री) वज्रधारी, (हिरण्ययः) तेजोमय (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (इत्) ही (इन्द्रः) वायु [के समान] (सचा) नित्य मिले हुये (हर्योः) दोनों संयोग वियोग गुणों का (संमिश्लः) यथावत् मिलाने वाला (आ) और (वचोयुजा) वचन का योग्य बनाने वाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे पवन के आने जाने से पदार्थों में चलने, फिरने, ठहरने का और जीभ में बोलने का सामर्थ्य होता है, वैसे ही दण्डदाता प्रतापी राजा के न्याय से सब लोगों में शुभ गुणों का संयोग और दोषों का वियोग होकर वाणी में सत्यता होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥ वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (दीर्घाय) दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये (दिवि) व्यवहार [वा आकाश] के बीच (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा [वा किरणों वा जलों द्वारा] (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रेरक] और (अद्रिम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (आ रोहयत्) ऊंचा किया और (वि) विविध प्रकार (ऐरयत्) चलाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से सूर्य आकाश में चलकर ताप आदि गुणों से अनेक लोकों को धारण करता और किरणों द्वारा जल खींचकर फिर बरसाकर उपकार करता है, वैसे ही दूरदर्शी राजा अपने प्रताप और उत्तम व्यवहार से सब प्रजा को नियम में रक्खे और कर लेकर उनका प्रतिपालन करे ॥ ६ ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥ आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (आ याहि) तू आ, (हि) क्योंकि (ते) तेरे लिये (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (सुषुम) हम ने सिद्ध किया है, (इमम्) इस [रस] को (पिब) पी, (मम्) मेरे (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदः) बैठ ॥ ७ ॥

भावार्थ—लोग विद्वान् सद्वैद्य के सिद्ध किये हुये महौषधियों के रस से राजा को स्वस्थ बलवान् रखकर राज सिंहासन पर सुशोभित करें ॥७॥

मन्त्र ७-९ आ चुके हैं—अ० २० । ३ । १—३ तथा ३८ । १—३ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ ८ ॥

आ । त्वा । ब्रह्म-युजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥ उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ब्रह्मयुजा) धन के लिये जोड़े गये, (केशिना) सुन्दर केशों [कन्धे आदि के बालों] वाले (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़ों [के समान बल और पराक्रम] (त्वा) तुझको (आ) सब ओर (वहताम्) ले चलें। (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेद ज्ञानों को (उप) आदर से (शृणु) तू सुन ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बलवान् घोड़े रथ को ठिकाने पर पहुंचाते हैं, वैसे ही राजा वेदोक्त मार्ग पर चलकर अपने बल और पराक्रम से राज्यभार उठाकर प्रजा पालन करे ॥ ८ ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ९ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोम-पाम् । इन्द्र । सोमिनः । सुत-वन्तः । हवामहे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक (त्वा) तुझ को (युजा) मित्रता के साथ (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले, (सोमिनः) ऐश्वर्य वाले, (सुतवन्तः) उत्तम पुत्र आदि सन्तानों वाले (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस राजा के सुप्रबन्ध से प्रजागण ज्ञानवान्, धनवान्, और सुशिक्षित सन्तान वाले होवें, उस को मित्र जानकर सदा स्मरण करें ॥ ९ ॥

मन्त्राः १०—१२ परमेश्वर गुणोपदेशः—१०—१२ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १० ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥ रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तस्थुषः) मनुष्य आदि प्राणियों और लोकों में (परि) सब ओर से (चरन्तम्) व्यापे हुये, (ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) हिंसारहित [परमात्मा] को (रोचना) प्रकाशमान पदार्थ (दिवि) व्यवहार के बीच (युञ्जन्ति) ध्यान में रखते और (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—परमाणुओं से लेकर सूर्य आदि लोक और सब प्राणी सर्व-

१०—१२ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । २६ । ४—६ ॥

व्यापक, सर्वनियन्ता परमेश्वर की आज्ञा को मानते हैं, उसी की उपासना से मनुष्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करें ॥ १० ॥

मन्त्र १०—१२ आचुके हैं—अ० २० । २६ । ४—६ और आगे हैं—२० । ६६ । ६—११ ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ११ ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । वि-पक्षसा । रथे ॥ शोणा । धृष्णू इति । नृ-वाहसा ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमात्मा-मन्त्र १०] के (काम्या) चाहने योग्य, (विपक्षसा) विविध प्रकार ग्रहण करने वाले, (शोणा) व्यापक (धृष्णू) निर्भय, (नृवाहसा) नेताओं [दूसरों के चलाने वाले सूर्य आदि लोकों] के चलाने वाले (हरी) दोनों धारण आकर्षण गुणों को (रथे) रमणीय जगत् के बीच (युञ्जन्ति) वे [प्रकाशमान पदार्थ—मन्त्र १०] ध्यान में रखते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के धारण आकर्षण सामर्थ्य में सूर्य आदि पिण्ड ठहर कर अन्य लोकों और प्राणियों को चलाते हैं, मनुष्य उन सब पदार्थों से उपकार ले कर उस ईश्वर को धन्यवाद दें ॥ ११ ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः १२

केतुम् । कृण्वन् । अकेतवे । पेशः । मर्याः । अपेशसे ॥ सम् । उषत्-भिः । अजायथाः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(मर्याः) हे मनुष्यो ! (अकेतवे) अज्ञान हटाने के लिये (केतुम्) ज्ञान को और (अपेशसे) निर्धनता मिटाने के लिये (पेशः) सुवर्ण आदि धन को (कृण्वन्) उत्पन्न करता हुआ वह [परमात्मा—मन्त्र १०, ११] (उषद्भिः) प्रकाशमान गुणों के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके परमात्मा को विचारते हुये सृष्टि

के पदार्थों से उपकार लेकर ज्ञानी और धनी होवें ॥ १२ ॥

मन्त्राः १३—२१ आध्यात्मोपदेशः ॥ १३—२१ परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

उदु॒त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तवः॑। दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॑म्॥१३

उत्। ऊँ॒ इति॑। त्यम्। जा॒त-वे॑दसम्। दे॒वम्। व॒ह॒न्ति॒। के॒तवः॑॥ दृ॒शे। विश्वा॑य। सूर्य॑म्॥ १३॥

भाषार्थ—(केतवः) किरणें (त्यम्) उस (जातवेदसम्) उत्पन्न पदार्थों को प्राप्त करने वाले, (देवम्) चलते हुये (सूर्यम्) रविमण्डल को (विश्वाय दृशे) सब के देखने के लिये (उ) अवश्य (उत् वहन्ति) ऊपर ले चलती हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य किरणों के आकर्षण से ऊंचा होकर सब पदार्थों को प्रकट करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और धर्म से उन्नति करके सब का उपकार करें ॥ १३ ॥

मन्त्र १३—२१ आ चुके हैं—अ० १३ । २ । १६—२४ ॥

अप॒ त्ये ता॒यवो॑ यथा॒ नक्ष॑त्रा यन्त्य॒क्तुभिः॑। सूरा॑य वि॒श्वच॑क्षसे ॥ १४ ॥

अप॑। त्ये। ता॒यवः॑। य॒था॒। नक्ष॑त्रा। य॒न्ति॒। अ॒क्तु-भिः॑॥ सूरा॑य। वि॒श्व-च॑क्षसे ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(विश्वचक्षसे) सब के दिखाने वाले (सूराय) सूर्य के लिये (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (नक्षत्रा) तारा गण (अप यन्ति) भाग जाते हैं, (यथा) जैसे (त्ये) वे (तायवः) चोर [भाग जाते हैं] ॥ १४ ॥

भावार्थ—सूर्य के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार मिट जाता है, मन्द चमकने वाले नक्षत्र छिप जाते हैं, और चोर लोग भाग जाते हैं, वैसेही वेद विज्ञान फैलने से अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि होती है ॥ १४ ॥

१३—२१ । एते मन्त्रा व्याख्याताः-अ० १३ । २ । १६—२४ ॥

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १५ ॥

अदृश्रन् । अस्य । केतवः । वि । रश्मयः । जनान् । अनु ॥ भ्राजन्तः । अग्नयः । यथा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सूर्य] की (केतवः) जताने वाली (रश्मयः) किरणें (जनान् अनु) प्राणियों में (वि) विविध प्रकार से (अदृश्रन्) देखी गयी हैं, (यथा) जैसे (भ्राजन्तः) दहकते हुये (अग्नयः) अंगारे ॥ १५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें धूप, बिजुली और अग्नि के रूप से संसार में फैलती हैं, वैसेही सब मनुष्य शुभ गुण कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होकर आत्मा और समाज की उन्नति करें ॥ १५ ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १६ ॥

तरणिः । विश्व-दर्शतः । ज्योतिः-कृत् । असि । सूर्य ॥ विश्वम् । आ । भासि । रोचन ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! तू (तरणिः) अन्धकार से पार करने वाला, (विश्वदर्शतः) सब का दिखाने वाला, (ज्योतिष्कृत्) [चन्द्र आदि में] प्रकाश करने वाला (असि) है। (रोचन) हे चमकने वाले ! तू (विश्वम्) सब को (आ) भले प्रकार (भासि) चमकाता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जैसे यह सूर्य अग्नि, बिजुली, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पर अपना प्रकाश डाल कर उन्हें चमकीला बनाता है, वैसे ही परमात्मा अपने सामर्थ्य से सब सूय आदि को रचता है और वैसे ही विद्वान् लोग विद्या के प्रकाश से संसार को आनन्द देते हैं ॥ १६ ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः । प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ १७ ॥

प्रत्यङ् । देवानाम् । विशः । प्रत्यङ् । उत् । एषि । मानुषीः॥ प्रत्यङ् । विश्वम् । स्वः । दृशे ॥ १७ ॥

भाषार्थ—[हे सूर्य !] (देवानाम्) गति शील [चन्द्र आदि लोकों] की (विशः) प्रजाओं को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर, (मानुषीः) मानुषी [मनुष्य सम्बन्धी पार्थिव प्रजाओं] को (प्रत्यङ्) सन्मुख हो कर और (विश्वम्) सब जगत् को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर (स्वः) सुख से (दृशे) देखने के लिये (उत्) ऊँचा होकर (एषि) तू प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सूर्य गोल आकार बहुत बड़ा पिण्ड है, इस लिये वह सब लोकों के सन्मुख दीखता है, और सब लोक उस के आकर्षण प्रकाशन आदि से सुख पाते हैं, ऐसे ही परमात्मा के सर्वव्यापी और सर्व शक्तिमान् होने से उसके नियम पर चलकर सब सुखी रहते हैं ॥ १७ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि॥१८

येन । पावक । चक्षसा । भुरण्यन्तम् । जनान् । अनु ॥ त्वम् । वरुण । पश्यसि ॥ १८ ॥

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः । पश्यं जन्मानि सूर्य ॥ १९ ॥

वि । द्याम् । एषि । रजः । पृथु । अहः । मिमानः । अक्तुभिः ॥ पश्यन् । जन्मानि । सूर्य ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पावक) हे पवित्र करने वाले ! (वरुण) हे उत्तम गुण वाले ! [सूर्य रविमण्डल] (येन) जिस (चक्षसा) प्रकाश से (भुरण्यन्तम्) धारण और पोषण करते हुये [पराक्रम] को (जनान् अनु) उत्पन्न प्राणियों में (त्वम्) तू (पश्यसि) दिखाता है ॥ १८ ॥ [उस प्रकाश से] (सूर्य) हे सूर्य ! [रविमण्डल] (अहः) दिन को (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (मिमानः) बनाता हुआ और (जन्मानि) उत्पन्न वस्तुओं को (पश्यन्) दिखाता हुआ तू (द्याम्) आकाश में (पृथु) फैले हुये (रजः) लोक को (वि) विविध प्रकार (एषि) प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से वृष्टि आदि द्वारा अपने घेरे के सब प्राणियोंऔर लोकों को धारण पोषण करता है, वैसे ही मनुष्य सर्वोपरि विराजमान परमात्मा के ज्ञान से परस्पर सहायक होकर सुखी होवें ॥ १८, १९ ॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २० ॥

सप्त । त्वा । हरितः । रथे । वहन्ति । देव । सूर्य ॥ शोचिःकेशम् । वि-चक्षणम् ॥ २० ॥

भाषार्थ—(देव) हे चलने वाले (सूर्य) सूर्य ! [रविमण्डल] (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र वर्ण वाली] (हरितः) आकर्षक किरणें (शोचिष्केशम्) पवित्र प्रकाश वाले (विचक्षणम्) विविध प्रकार दिखाने वाले (त्वा) तुझ को (रथे) रथ [गमन विधान] में (वहन्ति) ले चलती हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—यह प्रकाशमान सूर्य लोक शुक्ल, नील, पीत आदि सात किरणों द्वारा अपनी धुरी पर अपने घेरे में घूमता है। इस नियम का बनाने वाला वह परमेश्वर है ॥ २० ॥

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः । ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २१ ॥

अयुक्त । सप्त । शुन्ध्युवः । सूरः । रथस्य । नप्त्यः ॥ ताभिः ॥ याति । स्वयुक्ति-भिः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(सूरः) सूर्य [लोक प्रेरक रविमण्डल] ने (रथस्य) रथ [अपने चलने के विधान] की (नप्त्यः) न गिराने वाली (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत आदि-मन्त्र २०] (शुन्ध्युवः) शुद्ध किरणों को (अयुक्त) जोड़ा है। (ताभिः) उन (स्वयुक्तिभिः) धन से संयोग वाली [किरणों] के साथ (याति) वह चलता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो सूर्य अपनी परिधि के लोकों को अपने आकर्षण में रख-कर चलाता है और जिस की किरणें रोगों को हटा कर प्रकाश और वृष्टि आदि

से संसार को धनी बनाती हैं, उस सूर्य को जगदीश्वर परमात्मा ने बनाया है ॥ २१ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१—६॥ १—३ इन्द्रः;४—६ सर्पराज्ञी सूर्यो वा देवता ॥ १, ४-६ गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

१—३ आध्यात्मोपदेशः—१—३ परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

अ॒भि त्वा॒ वर्च॑सा॒ गिरः॒ सिञ्चन्ती॒राच॑र॒ण्यवः॑ । अ॒भि व॒त्सं न धे॒नवः॑ ॥ १ ॥

[सूचना—मन्त्र १—३ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं हैं; और इनका पद पाठ भी गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई के पुस्तक में नहीं है। हम स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द कृत पद सूची से संग्रह करके यहां लिखते हैं, बुद्धिमान् जन विचार लेवें। सूचना अथ० २०। ३४। १२ भी देखें।]

अ॒भि । त्वा॒ । वर्च॑सा । गिरः॑ । सिञ्च॑न्तीः । आच॑र॒ण्यवः॑ ॥ अ॒भि । व॒त्सम् । न । धे॒नवः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर!] (आचरण्यवः) सब ओर चलती हुई (गिरः) वाणियां (त्वा) तुझ को (वर्चसा) प्रकाश के साथ (अभि) सब प्रकार (सिञ्चन्तीः) सींचती हुई [हैं]। (न) जैसे (धेनवः) दुधेल गायें (वत्सम्) [अपने] बच्चे को (अभि) सब प्रकार [सींचती हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य प्रकाश स्वरूप परमात्मा की अनन्य भक्ति करके आनन्द पावें, जैसे गौयें अपने तुरन्त उत्पन्न हुये बच्चों से प्रीति करके सुखी होती हैं ॥ १ ॥

१-(अभि) सर्वतः (त्वा) (वर्चसा) तेजसा (गिरः) वाचः (सिञ्चन्तीः) सिञ्चन्त्यः। वर्धयन्त्यः (आचरण्यवः) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । आ+चरण गतौ—युच्। समन्ताद् गतिशीलाः (अभि) (वत्सम्) शिशुम् (न) यथा (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः ॥

ता अ॑र्षन्ति शु॒भ्रियः॑ पृ॒ञ्चन्ती॒र्वर्च॑सा प्रि॒यः । जा॒तं जा॒त्रीर्यथा॑ हृ॒दा ॥ २ ॥

[सूचना—पद पाठ के लिये—मन्त्र १ देखो] ॥

ताः । अ॑र्षन्ति । शु॒भ्रियः॑ । पृ॒ञ्चन्तीः॑ । वर्च॑सा । प्रि॒यः ॥ जा॒तम् । जा॒त्रीः । यथा॑ । हृ॒दा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शुभ्रियः) शुद्ध (प्रियः) प्रीति करती हुईं (ताः) वे [वाणियां—मन्त्र १] (वर्चसा) प्रकाश के साथ (पृञ्चन्तीः) छूती हुईं [तुझको-मन्त्र १] (अर्षन्ति) ग्रहण करती हैं । (यथा जैसे (जात्रीः) मातायें (जातम्) जने हुये बच्चों को (हृदा) हृदय से [ग्रहण करती हैं] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को एकाग्र चित्त होकर परमात्मा की उपासना ऐसी रीति से करनी चाहिये, जैसे माता तुरन्त जनमे बालक से प्रीति करती है ॥ २ ॥

व॒ज्रा॑पव॒साध्यः॑ की॒र्तिर्म्रि॒यमा॑णा॒माव॑हन् । मह्य॒मायु॑र्घृ॒तं पयः॑ ॥ ३ ॥

[सूचना—पदपाठ के लिये—मन्त्र १ देखो] ॥

व॒ज्रा॑पव॒साध्यः॑ । की॒र्तिः । म्रि॒यमा॑णाम् । आ॒वह॑न् ॥ मह्य॑म् । आयुः॑ । घृ॒तम् । पयः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वज्रापवसाध्यः) शस्त्रों के शोधने वालों [उजले शस्त्र

२—(ताः) गिरः—म० १ (अर्षन्ति) ऋषी गतौ । प्राप्नुवन्ति । ग्रहणन्ति (शुभ्रियः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन । उ० ४ । ६५ । शुभ शोभायाम्—क्रिन्, ङीप् । शुद्धाः (पृञ्चन्तीः) सम्पर्कं कुर्वन्त्यः (वर्चसा) तेजसा (प्रियः) प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च—क्विप् । तर्पयित्र्यः (जातम्) उत्पन्नं सन्तानम् (जात्रीः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । जन जनने-ष्ट्रन्, ङीष् । जनयित्र्यः । जनन्यः (यथा) (हृदा) हृदयेन ॥

३—(वज्रापवसाध्यः) वज्र+आ+पूञ् शोधने—अप् । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । साध संसिद्धौ-ण्यत् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ ।

वालों] की सिद्धि करने वाला, (कीर्तिः) कीर्तिरूप [बड़े ही यश वाला, परमेश्वर] (मह्यम्) मेरे लिये (म्रियमाणम्) नष्ट होते हुये (आयुः) जीवन, (घृतम्) घी [वा जल] और (पयः) दूध [वा अन्न] को (आवहन्) यथावत् लाता हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब हम किसी विपत्ति से निर्बल होकर अति दुःखी होवें, तब हम उस जगत् पालक परमात्मा का आश्रय लेकर शस्त्र आदि कर्तव्य ठीक करके कार्य सिद्धि करें ॥ ३ ॥

सूचना—पं० सेवक लाल कृष्ण दास परिशोधित संहिता के अनुसार इस मन्त्र का यह पाठ है—

उग्राय यशसो धियः कीर्तिमिन्द्रियमा वहान् ।

मह्यमायुर्घृतं पयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यशसः) यशस्वी [परमेश्वर] (उग्राय मह्यम्) मुझ तेजस्वी के लिये (धियः) बुद्धियां (कीर्तिम्) कीर्ति [बड़ाई], (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य, (आयुः) जीवन, (घृतम्) घी [वा जल] (पयः) दूध [वा अन्न] (आ) अच्छे प्रकार (वहान्) लावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर उत्तम विद्यायें पाकर आवश्यकीय पदार्थ पावे ॥ ३ ॥

मन्त्र ४—६ सूर्यस्य भूमेर्वा गुणोपदेशः-सूर्य वा भूमि के गुणों का उपदेश ॥

---

११३ । इति कर्तरि प्रत्ययः । साध्याः साधनात्-निरु० ८ । ४० । वज्राणां शस्त्राणाम् । आपवानां संशोधकानां साध्यः साधकः सिद्धिकर्ता (कीर्तिः) यशोरूपः परमेश्वरः (म्रियमाणम्) विनश्यमानम् (आवहन्) आ समन्तात् वहन् प्रापयन् वर्तते (मह्यम्) उपासकाय (आयुः) जीवनम् (घृतम्) आज्यं जलं वा (पयः) दुग्धमन्नं वा ॥

३—(उग्राय) तेजस्विने (यशसः) अर्शआद्यच् । यशस्वी परमात्मा (धियः) प्रज्ञाः (कीर्तिम्) यशः (इन्द्रियम्) ऐश्वर्यम् (आ) समन्तात् (वहान्) लेट् । वहेत् । प्रापयेत् (मह्यम्) उपासकाय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असदत् । मातरम् । पुरः ॥ पितरम् । च । प्र-यन् । स्वः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (गौः) चलने वा चलाने वाला, (पृश्निः) रसों वा प्रकाश का छूने वाला सूर्य (आ अक्रमीत्) घूमता हुआ है, (च) और (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) आकाश में (प्रयन्) चलता हुआ (पुरः) सन्मुख होकर (मातरम्) सब की बनाने वाली पृथिवी माता को (असदत्) व्यापा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह सूर्य अन्तरिक्ष में घूमकर आकर्षण, वृष्टि आदि व्यापारों से पृथिवी आदि लोकों का उपकार करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ आचुके हैं—अ० ६ । ३१ । १—३, वहां सविस्तार अर्थ देखो ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ ५ ॥

अन्तः । चरति । रोचना । अस्य । प्राणात् । अपानतः ॥ वि । अख्यत् । महिषः । स्वः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्राणात्) भीतर के श्वास के पीछे (अपानतः) बाहर को श्वास निकालते हुये (अस्य) इस [सूर्य] की (रोचना) रोचक ज्योति (अन्तः) [जगत् के] भीतर (चरति) चलती है, और वह (महिषः) बड़ा सूर्य (स्वः) आकाश को (वि) विविध प्रकार (अख्यत्) प्रकाशित करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे सब प्राणी श्वास प्रश्वास से जीवित रहकर चेष्टा करते हैं, वैसे ही सूर्य प्रकाश का ग्रहण और त्याग करके लोकों को प्रकाशित करता है ॥ ५ ॥

४—६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० ६ । ३१ । १—३ ॥

त्रिंशद् धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् । प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ६ ॥

त्रिंशत् । धाम । वि । राजति । वाक् । पतङ्गः । अशिश्रियत् ॥ प्रति । वस्तोः । अहः । द्यु-भिः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पतङ्गः) चलने वाला वा ऐश्वर्य वाला सूर्य (त्रिंशद् धामा) तीस धामों पर [दिन रात्रि के तीस मुहूर्तों पर] (वस्तोः, अहः) दिन दिन (द्युभिः) अपनी किरणों और गतियों के साथ (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता वा चमकता है, (वाक्) इस वचन ने [उस सूर्य में] (अशिश्रियत्) आश्रय लिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह बात स्वयं सिद्ध है कि यह सूर्य सर्वदा सब ओर चमकता रहकर अपनी परिधि के सब लोकों को गमन, आकर्षण, विकर्षण, वृष्टि, शीत, ताप आदि द्वारा स्थिर रखता है ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४९ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—३ गायत्री; ४ पथ्या बृहती; ५, ७ सतः पङ्क्तिः; ६ निचृद् बृहती छन्दः ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

यच्छुक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिषासथः । सं देवा अमदन् वृषा ॥ १ ॥

[सूचना—मन्त्र १—३ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं हैं, और इन का पदपाठ भी गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई के पुस्तक में नहीं है, आगे सूचना—सूक्त ४८ मन्त्र १—३ देखो ॥]

यत् । शुक्राः । वाचम् । आरुहन् । अन्तरिक्षम् । सिषासथः ॥ सम् । देवाः । अमदन् । वृषा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (वृषा) बलवान् परमेश्वर (सिषासथः)

१—(यत्) यदा (शुक्राः) समर्थाः (वाचः) वाणीम् (आरुहन्)

दान की इच्छा करने वाला [हुआ], [तब] (शक्राः) समर्थ (देवाः) विद्वानों ने (वाचम्) वाणी [वेद वाणी] को (अन्तरिक्षम्) हृदय आकाश में (आरुहन्) बोया और (सम्) ठीक रीति से (अमदन्) आनन्द पाया ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा का दी हुयी वेदवाणी को पाकर विद्वान् लोग समर्थ होकर आनन्द पावें ॥ १ ॥

सूचना—पं० सेवक लाल कृष्णदास परिशोधित संहिता में इस मन्त्र का यह पाठ है—

यच्छुक्रं वाच आरुहन्नन्तरिक्षं सिषासतीः ।
सं देवो अमदद् वृषा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (अन्तरिक्षम्) हृदय आकाश को (सिषासतीः) सेवने की इच्छा करती हुई (वाचः) वाणियां (शक्रम्) समर्थ [जीव] को (आरुहन्) प्रकट हुई, [तब] (देवः) विजय चाहने वाले (वृषा) बलवान् पुरुष ने (सम्) ठीक ठीक (अमदत्) आनन्द पाया ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य हृदय के भाव प्रकट करने के लिये परमेश्वर नियम से बोलने की शक्ति पाता है, तब वह व्यवहारों की सिद्धि करके सुखी होता है ॥ १ ॥

शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि । मंहिष्ठ आ मदर्दिविर

[सूचना—पदपाठ के लिये मन्त्र १ देखो] ॥

शक्रः । वाचम् । अधृष्टाय । उरुवाचः । अधृष्णुहि ॥

बीजवत् स्थापितवन्तः (अन्तरिक्षम्) हृदयाकाशं प्रति (सिषासथः) शीङ्-शपिरुगमि० । उ० ३ । ११३ । षणु दाने—सनि अथप्रत्ययः । दानेच्छुकः-आसीत् इति शेषः (सम्) सम्यक् (देवाः) विद्वांसः (अमदन्) आनन्दं प्राप्नुवन् (वृषा) बलिष्ठः परमेश्वरः ॥

१—(यत्) यदा (शक्रम्) समर्थं जीवम् (वाचः) वाण्यः (आरुहन्) प्रादुरभवन् (अन्तरिक्षम्) हृदयाकाशम् (सिषासतीः) षण सम्भक्तौ, सन्, शतृ, ङीप् । सेवितुमिच्छन्त्यः (सम्) सम्यक् (देवः) विजिगीषुः (अमदत्) हर्षं प्राप्नोत् (वृषा) बलवान् पुरुषः ॥

मंहिष्ठः । आ । मदर्दिवि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (शक्रः) शक्तिमान् तू (उरुवाचः) बहुत बड़ी वाणी वाले [परमेश्वर] की (वाचम्) वाणी को (अधृष्णाय) डरे हुये पुरुष के लिये (अधृष्णुहि) मत शक्तिहीन कर। वह [परमेश्वर] (मदर्दिवि) दीनता जीतने में (आ) सब ओर से (मंहिष्ठः) अत्यन्त उदार है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष दीन हीन पुरुषों के सुधार के लिये संकोच छोड़ कर शक्तिमती वेदवाणी का उपदेश करें, क्योंकि परमात्मा उद्योगी के लिये महादानी है ॥ २ ॥

सूचना—पं० सेवक लाल कृष्णादास परिशोधित संहिता में इस मन्त्र का यह पाठ है—

शक्रं वाचाभिष्टुहि घोरं वाचाभिष्टुहि ।
मंहिष्ठ आ मदद्दिवि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (वाचा) वाणी से (शक्रम्) शक्तिमान् [परमेश्वर] की (अभिष्टुहि) सब ओर से बड़ाई कर, (वाचा) वाणी से (घोरम्) भयङ्कर [विघ्ननाशक] की (अभिष्टुहि) सब प्रकार स्तुति कर। (मंहिष्ठः) वह अत्यन्त उदार (दिवि) जीतने की इच्छा में (आ) सब ओर से (मदत्) आनन्द दाता है ॥ २ ॥

२—(शक्रः) शक्तिमांस्त्वम् (वाचम्) वाणीम् (अधृष्णाय) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्त । अप्रगल्भाय । भयभीताय (उरुवाचः) विस्तीर्णवाणीयुक्तस्य परमेश्वरस्य (अधृष्णुहि) नञ्+धृष शक्तिबन्धे-लोट् । नञ् । पा० २ । २ । ६ । इति नञ् तत्पुरुषसमासः । नञो नलोपस्तिङ्क्षेपे । वा० । पा० २ । २ । ६ तिङा सह समासे नञो नलोपः । शक्तिहीनां मा कुरु (मंहिष्ठः) अतिशयेन दाता (आ) समन्तात् (मदर्दिवि) प्राततेररन् । उ० ५ । ५६ । मदी हर्षग्लेपनयोः—अरन् , ग्लेपनं।दैन्यम्+दिवु विजिगीषायाम्—डिवि । दैन्यस्य विजिगीषायाम् ॥

२—(शक्रम्) शक्तिमन्तं परमात्मानम् (वाचा) वाण्या (अभिष्टुहि) सर्वतः प्रशंस (घोरम्) भयङ्करम् । विघ्ननाशकम् (वाचा)(अभिष्टुहि) (मंहिष्ठः) अतिशयेन दाता (आ) समन्तात् मदत्) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ०२ । ८५ । मदी तर्पणे—अतिप्रत्ययः । आनन्दयिता (दिवि) विजिगीषायाम् ॥

भावार्थ—मनुष्य अनेक विद्यायें प्राप्त कर के जगदीश्वर परमात्मा के गुणों का ग्रहण करके संसार में विजयी होकर सुख पावे॥ २॥

शुक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन् वि राजति। विमदन् बर्हिरासरन्॥ ३॥

[सूचना—पदपाठ के लिये मन्त्र १ देखो]॥

शुक्रः। वाचम्। अधृष्णुहि। धाम। धर्मन्। वि। राजति॥ विमदन्। बर्हिः। आसरन्॥ ३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (शक्रः) शक्तिमान् तू (वाचम्) वाणी [वेदवाणी] को (अधृष्णुहि) मत शक्तिहीन कर, वह [परमात्मा] (विमदन्) विशेष रीति से आनन्द करता हुआ, (बर्हिः) उत्तम आसन (आसरन्) पाता हुआ (धाम) धाम धाम [जगह जगह] और (धर्मन्) धर्म धर्म [प्रत्येक धारण करने योग्य कर्तव्य व्यवहार] में (वि राजति) विराजता है॥ ३॥

भावार्थ—समर्थ विद्वान् पुरुष वेदवाणी के उपदेश से शक्ति बढ़ावे, वह आनन्द स्वरूप परमात्मा अन्तर्यामी होकर सब को शक्ति देता है॥ ३॥

सूचना—प० सेवकलाल कृष्णदास परिशोधित संहिता में इस मन्त्र का यह पाठ है—

शुक्रं वाचाभि ष्टुहि धामन्धामन् विराजति।
विमदन् बर्हिरा सन्॥ ३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (वाचा) वाणी से (शक्रम्) शक्तिमान् [परमेश्वर] की (अभि ष्टुहि) सब ओर से बड़ाई कर, वह [परमात्मा] (विमदन्)

३—(शक्रः) शक्तिमांस्त्वम् (वाचम्) वेदवाणीम् (अधृष्णुहि) म०२। शक्तिहीनां मा कुरु (धाम) धाम्नि धाम्नि। प्रत्येकस्थाने (धर्मन्) धर्मणि धर्मणि। प्रत्येकधारणीये कर्तव्ये व्यवहारे (वि) विविधम् (राजति) शोभते (विमदन्) विशेषेण हृष्यन् (बर्हिः) उत्तमासनम् (आसरन्) प्राप्नुवन्॥

३—(शक्रम्) शक्तिमन्तं परमात्मानम् (वाचा) (अभि ष्टुहि) (धाम)

विशेष रीति से आनन्द करता हुआ (वर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदन्) बैठा हुआ (धामन्धामन्) धाम धाम [जगह जगह] में (वि राजति) विराजता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य घट घट वासी परमात्मा को सदा ध्यान रख कर अपनी अवस्था सुधारता रहे ॥ ३ ॥

तं वो॑ द॒स्मामृ॑ती॒षहं॒ वसो॑र्मन्दा॒नमन्ध॑सः । अ॒भि व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नव॒ इन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॑वामहे ॥ ४ ॥

तम् । वः॒ । द॒स्मम् । ऋ॒ति॒-सह॑म् । वसोः॑ । म॒न्दा॒नम् । अन्ध॑सः ॥ अ॒भि । व॒त्सम् । न । स्वस॑रेषु । धे॒नवः॑ । इन्द्र॑म् । गीः॒-भिः । न॒वा॒म॒हे॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (दस्मम्) दर्शनीय, (ऋतिषहम्) शत्रुओं के हराने वाले, (वसोः) धन से और (अन्धसः) अन्न से (मन्दमानम्) आनन्द देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (नवामहे) हम सराहते हैं, (न) जैसे (धेनवः) गौयें (स्वसरेषु) घरों में [वर्तमान] (वत्सम्) बछड़े को [हिङ्कारती हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अनेक धन और अन्न आदि देकर हमें तृप्त करता है, उसे ऐसी प्रीति से हम स्मरण करें, जैसे गौयें दोहने के समय घर में बंधे छोटे बच्चों को पुकारती हैं ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—७ ऊपर आचुके हैं—अ० २० । ६ । १—४ ॥

द्यु॒क्षं सु॒दानुं॒ तवि॑षीभि॒रावृ॑तं गि॒रिं न पु॑रु॒भोज॑सम् । क्षु॒मन्तं॒ वाजं॑ श॒तिनं॑ सह॒स्रिणं॑ म॒क्षू गोम॑न्तमीमहे ॥ ५ ॥

धामन्) । धामनि धामनि । प्रत्येकस्थाने (वि) विशेषेण (राजति) शोभते (विमदन्) विशेषेण हृष्यन् (बर्हिः) उत्तमासनम् (आ सदन्) आतिष्ठन् ॥

४—७ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ६ । १—४ ॥

द्युक्षम् । सु-दानुम् । तविषीभिः । आ-वृतम् । गिरिम् । न । पुरु-भोजसम् ॥ सु-मन्तम् । वाजम् । शतिनम् । सहस्रिणम् । मक्षु । गो-मन्तम् । ईमहे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(द्युक्षम्) व्यवहारों में गति वाले, (सुदानुम्) बड़े दानी, (तविषीभिः) सेनाओं से (आवृतम्) भरपूर, (गिरिम् न) मेघ के समान (पुरुभोजसम्) बहुत पालन करने वाले, (क्षुमन्तम्) अन्न वाले, (वाजम्) बल वाले, (शतिनम्) सैकड़ों उत्तम पदार्थों वाले, (सहस्रिणम्) सहस्रों श्रेष्ठ गुण वाले, (गोमन्तम्) उत्तम गौओं वाले [शूर पुरुष] को (मक्षु) शीघ्र [इन्द्र परमात्मा से] (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करके प्रयत्न करें कि वे अपने सन्तानों अधिकारियों और प्रजाजनों सहित शूर वीर होकर व्यवहार कुशल होवें ॥ ५ ॥

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये । येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ६ ॥

तत् । त्वा । यामि । सु-वीर्यम् । तत् । ब्रह्म । पूर्व-चित्तये ॥ येन । यति-भ्यः । भृगवे । धने । हिते । येन । प्रस्कण्वम् । आविथ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वा) तुझ से (तत्) वह (सुवीर्यम्) बड़ा वीरत्व और (तत्) वह (ब्रह्म) बढ़ता हुआ अन्न (पूर्वचित्तये) पहिले ज्ञान के लिये (यामि) मैं मांगता हूं । (येन) जिस [वीरत्व और अन्न] से (धने हिते) धन के स्थापित होने पर (यतिभ्यः) यतियों [यत्नशीलों] के लिये (भृगवे=भृगुम्) परिपक्व ज्ञानी को और (येन) जिस से (प्रस्कण्वम्) बड़े बुद्धिमान् पुरुष को (आविथ) तू ने बचाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमात्मा की उपासना कर के पुरुषार्थ के साथ पराक्रमी, अन्नवान् और धनी होना चाहिये, जिस के अनुकरण से प्रयत्न शील पुरुष सुरक्षित रहें ॥ ६ ॥

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः। सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे ॥ ७ ॥

येन। समुद्रम्। असृजः। महीः। अपः। तत्। इन्द्र। वृष्णि। ते। शवः ॥ सद्यः। सः। अस्य। महिमा। न। सम्-नशे। यम्। क्षोणीः। अनु-चक्रदे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [बल] से (समुद्रम्) समुद्र में (महीः) शक्ति वाले (अपः) जलों को (असृजः) तू ने उत्पन्न किया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (तत्) वह (ते) तेरा (वृष्णि) पराक्रम युक्त (शवः) बल है। (सद्यः) अभी (अस्य) उस [परमात्मा] की (सः) वह (महिमा) महिमा [हम से] (न) नहीं (संनशे) पाने योग्य है, (यम्) जिस [परमात्मा] को (क्षोणीः) लोकों ने (अनुचक्रदे) निरन्तर पुकारा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने मेघमण्डल में और पृथिवी पर जलादि पदार्थ और सब लोकों को उत्पन्न करके अपने वश में रक्खा है, उस की महिमा की सीमा को सृष्टि में कोई भी नहीं पा सकता ॥ ७ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ आर्ष्यनुष्टुप्; २ सतः पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरस्य महिमोपदेशः—परमेश्वर की महिमा का उपदेश ॥

कन्नव्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्त्यः। नही न्वस्य महिमानमिन्द्रियं स्वर्गृणन्त आनशुः ॥ १ ॥

कत्। नव्यः। अतसीनाम्। तुरः। गृणीत। मर्त्यः ॥ नहि। नु। अस्य। महिमानम्। इन्द्रियम्। स्वः। गृणन्तः। आनशुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अतसीनाम्) सदा चलती हुई [सृष्टियों] के (तुरः) वेग देने वाले [परमात्मा] के (नव्यः) अधिक नवीन कर्म को (मर्त्यः) मनुष्य (कत्) कैसे (गृणीत) बता सके ? (नु) क्या (अस्य) उस की (महिमानम्) महिमा और (इन्द्रियम्) इन्द्रपन [परम ऐश्वर्य] को (गृणन्तः) वर्णन करते हुये पुरुषों ने (स्वः) आनन्द (नहि) नहीं (आनशुः) पाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि अल्पज्ञ मनुष्य सब सृष्टियों के चलाने वाले जगदीश्वर के अनन्त गुणों को नहीं जान सकता, तो भी वह उसको महिमा और परम ऐश्वर्य को विचारते विचारते और पुरुषार्थ करते करते अवश्य आनन्द पाता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ३ । १३, १४ ॥

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते । कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः ॥ २ ॥

कत् । ऊं इति । स्तुवन्तः । ऋत-यन्त । देवता । ऋषिः । कः । विप्रः । ओहते ॥ कदा । हवम् । मघ-वन् । इन्द्र । सुन्वतः । कत् । ऊं इति । स्तुवतः । आ । गमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कत् उ) कैसे ही (स्तुवन्तः) स्तुति करने वाले लोगों ने

१—(कत्) कथम् (नव्यः) अ० २० । ३६ । ७ । नवीयः । नवतरं कर्म (अतसीनाम्) अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । अत सातत्यगमने—असच्, गौरादित्वाद् ङीष् । संततगामिनीनां सृष्टीनाम् (तुरः) तुर वेगे—क्विप् । प्रेरकस्य परमेश्वरस्य (गृणीत) गॄ विज्ञापे—लिङ् । गारयेत । वर्णयेत (मर्त्यः) मनुष्यः (नहि) न कदापि (नु) प्रश्ने (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमानम्) महत्त्वम् (इन्द्रियम्) इन्द्रलिङ्गम् । परमैश्वर्यम् (स्वः) सुखम् (गृणन्तः) स्तुवन्तो जनाः (आनशुः) अश्नोतेर्लिटि परस्मैपदं छान्दसम् । प्रापुः ॥

२—(कत्) कथम् (उ) एव (स्तुवन्तः) स्तुतिं कुर्वन्तः (ऋतयन्त) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । ऋत—क्यच्, आत्मनेपदत्वम्, ईत्व दीर्घा-

(ऋतयन्त) सत्य धर्म को चाहा है ? (देवता) विद्वानों में (कः) कौन (ऋषिः) ऋषि [धर्म का साक्षात् करने वाला], (विप्रः) बुद्धिमान् पुरुष (ओहते) सब प्रकार से विचार करे ? (मघवन्) हे अति पूजनीय ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (सुन्वतः) तत्त्व निचोड़ने वाले, (स्तुवतः) स्तुति करने वाले की (हवम्) पुकार को (कदा) कब और (कत्) कैसे (उ) निश्चय कर के (आ) सब प्रकार से (गमः) तू पहुंचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब ऋषि महात्मा भी परमात्मा को ठीक ठीक नहीं पहुंचते, तौ हम अल्पज्ञ होकर उस तक कैसे पहुंचे ? हम ऐसी शङ्का करने लगते हैं । परन्तु परमात्मा अपनी शक्तिमत्ता से अपने भक्तों की पुकार सदा सुनता है, यह सोच कर हम अवश्य उसके लिये पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

भगवान् यास्कमुनि ने कहा है—धर्म के साक्षात् करने वाले ऋषि हुये, उन्हों ने छोटों, धर्म के साक्षात् न करने वालों को उपदेश द्वारा मन्त्र दिये थे—निरु० १ । २० ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २ आर्षी पङ्क्तिः ३ निचृत् पथ्या बृहती; ४ सतः पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे । यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥ १ ॥

भावोऽभावश्च छान्दसः । अर्तीयन् । ऋतं सत्यधर्ममैच्छन् (देवता) देवतासु । विद्वत्सु (ऋषिः) मन्त्रार्थद्रष्टा । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० १ । ११ । साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः—निरु० १ । २० (कः) (विप्रः) मेधावी (ओहते) समन्तादूहते तर्कयति (कदा) कस्मिन् काले (हवम्) आह्वानम् (मघवन्) हे बहुपूजनीय (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सुन्वतः) तत्त्वरसं संस्कुर्वतः (कत्) कथम् (उ) एव (स्तुवतः) स्तुतिं कुर्वतः पुरुषस्य (आ) समन्तात् (गमः) अगमः । प्राप्तवानसि ॥

अभि । प्र । वः । सु-राधसम् । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे ॥ यः । जरितृभ्यः । मघ-वा । पुरु-वसुः । सहस्रेण-इव । शिक्षति ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (सुराधसम्) सुन्दर धनों के देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] को (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (वः) स्वीकार कर और (यथा) जैसा (विदे) वह है [वैसा उसे] (अर्च) पूज । (यः) जो (मघवा) पूजनीय, (पुरुवसुः) बड़ा धनी [परमेश्वर] (जरितृभ्यः) स्तुति करने वालों को (सहस्रेण इव) सहस्र प्रकार से (शिक्षति) देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने हमें अनेक सुख दिये है, उस के गुणों को मनुष्य यथावत् जानकर उसकी सदा उपासना करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ४९ । १, २ [सायणभाष्य परिशिष्ट, वालखिल्य १ । १, २] । सामवेद—उ० २ । १ । १३ तथा मन्त्र १ पू० ३ । ५ । ३ ॥

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥ २ ॥

शतानीका-इव । प्र । जिगाति । धृष्णु-या । हन्ति । वृत्राणि । दाशुषे ॥ गिरेः-इव । प्र । रसाः । अस्य । पिन्विरे । दत्राणि । पुरु-भोजसः ॥ २ ॥

१—(अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (वः) वृञ् वरणे स्वीकरणे—लोडर्थे लुङ् । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । पा० ६ । ४ । ७५ । अडभावः । वृणु । स्वीकुरु (सुराधसम्) सु शोभनानि राधांसि धनानि यस्मात् तम् । बहुधनदातारम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (अर्च) पूजय (यथा) येन प्रकारेण (विदे) अ० २० । २२ । ४ । विद्यते सः (यः) परमेश्वरः (जरितृभ्यः) स्तोतृभ्यः (मघवा) पूजनीयः (पुरुवसुः) प्रभूतधनः (सहस्रेण) बहुप्रकारेण (इव) पादपूरणः (शिक्षति) ददाति—निघ० ३ । २० ॥

भाषार्थ—(शतानीका इव) सैकड़ों सेना वाले [सेनापति] के समान (धृष्णुया) निर्भय [परमेश्वर] (प्र जिगाति) आगे बढ़ता है और (वृत्राणि) शत्रुओं को (दाशुषे) दाता [आत्मदानी उपासक] के लिये (हन्ति) मारता है। (गिरेः) पहाड़ से (रसाः इव) जलों के समान (अस्य) इस (पुरुभोजसः) बहुत भोजन वाले [परमेश्वर] के (दत्राणि) दानों को (प्र पिन्विरे) सींचते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में आत्म समर्पण कर के धन धान्य आदि बढ़ा कर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये। यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥ ३ ॥

प्र। सु। श्रुतम्। सु-राधसम्। अर्च। शक्रम्। अभिष्टये ॥ यः। सुन्वते। स्तुवते। काम्यम्। वसु। सहस्रेण-इव। मंहते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सु श्रुतम्) बड़े विख्यात, (सुराधसम्) सुन्दर धनों के देने वाले, (शक्रम्) शक्तिमान् [परमेश्वर] को (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्ध के लिये (प्र अर्च) अच्छे प्रकार पूज। (यः) जो [परमात्मा] (सुन्वते)

२—(शतानीका) विभक्तेराकारः। शतान्यनेकानि सेनादलानि यस्य स शतानीकः सेनापतिः (इव) यथा (प्र)(जिगाति) गच्छति—निघ० २। १४ (धृष्णुया) सुपां सुलुक्। पा० ७। १। ३९। विभक्तेर्याच्। धृष्णुः। निर्भयः परमेश्वरः (हन्ति) नाशयति (वृत्राणि) आवरकान्। शत्रून् (दाशुषे) आत्मसमर्पकाय जनाय (गिरेः) पर्वतात् (इव) यथा (प्र) (रसाः) जलानि (अस्य) (पिन्विरे) पिवि प्रीणने सेचने च—लडर्थे लिट्। सिञ्चन्ति (दत्राणि) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः। उ० ४। १६४। डु दाञ् दाने—क्त्र। दो दद् घोः। पा० ७। ४। ४६। इति ददभावः, यद्वा। दद दाने—क्त्र। दानानि (पुरुभोजसः) बहुभोजनयुक्तस्य ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण (सु) सुष्ठु (श्रुतम्) विख्यातम् (सुराधसम्) म० १। बहुधनदातारम् (अर्च) (शक्रम्) शक्तिमन्तम् (अभिष्टये) अभीष्टसिद्धये (यः) परमेश्वरः (सुन्वते) तत्त्वं संस्कुर्वते (स्तुवते) स्तुतिं कुर्वते

तत्त्व निचोड़ने वाले, (स्तुवते) स्तुति करने वाले को (काम्यम्) मन भावना (वसु) धन (सहस्रेण इव) सहस्र प्रकार से (मंहते) देता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने अनन्त भण्डार से अपने सेवकों की कामनायें पूरी करता है ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—८ । ५० । १, २ [सायणभाष्य परिशिष्ट, वालखिल्य] । १, २ ॥

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः ।
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः ॥ ४ ॥

शत-अनीकाः । हेतयः । अस्य । दुस्तराः । इन्द्रस्य । सम्-इषः । महीः ॥ गिरिः । न । भुज्मा । मघवत्-सु । पिन्वते । यत् । ईम् । सुताः । अमन्दिषुः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] की (महीः) पूजनीय (समिषः) यथावत् इच्छायें (शतानीकाः) सैकड़ों सेना दलों में वर्तमान (हेतयः) बाणों के समान (दुष्टराः) दुस्तर [अजेय] हैं । (गिरिः न) मेघ के समान, वह [परमात्मा] (भुज्मा) भोग्य पदार्थों को (मघवत्सु) गति वालों पर (पिन्वते) सींचता है, (यत्) जबकि (सुताः) पुत्र [के समान उपासक] (ईम्) प्राप्ति योग्य [परमेश्वर] को (अमन्दिषुः) प्रसन्न कर चुके ॥ ४ ॥

(काम्यम्) कमनीयम् । मनोहरम् (वसु) धनम् (सहस्रेण इव) म० १ (मंहते) ददाति—निघ० ३ । २० ॥

४—(शतानीकाः) शतेषु सैन्येषु वर्तमाना यथा (हेतयः) बाणाः (अस्य) (दुष्टराः) दुःखेन तरणीयाः । अजेयाः (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (समिषः) सम्यग् इच्छाः (महीः) महत्यः (गिरिः) मेघः—निघ० १ । १० (न) यथा (भुज्मा)इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । भुज पालनाभ्यवहारयोः—मक् । भुज्मानि । भोग्यवस्तूनि (मघवत्सु) मघ मघी गतौ आरम्भे च—अच् । गतिमत्सु । उद्योगिषु (पिन्वते) सिञ्चति (यत्) यदा (ईम्) ई गतिकान्त्यादिषु—क्विप् । प्राप्तव्यं परमेश्वरम् (सुताः) पुत्रा इवोपासकाः (अमन्दिषुः) प्रसन्नं कृतवन्तः ॥

भावार्थ—परमात्मा की अनन्त शक्तियां दुष्टों वा दोषों को इस प्रकार नाश करती हैं, जैसे बड़े सेनापति के हथियार। और जो उद्योगी उपासक उसकी आज्ञा मानते हैं, उन को वह मेह के समान अवश्य अत्यन्त सुख देता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ५२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती ॥

परमात्मोपासनोपदेशः—परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

व॒यं घ॑ त्वा सु॒ताव॑न्त॒ आपो॒ न वृ॒क्तब॑र्हिषः ।
प॒वित्र॑स्य प्र॒स्रव॑णेषु वृत्रह॒न् परि॑ स्तो॒तार॑ आसते ॥ १ ॥

व॒यम् । घ॒ । त्वा॒ । सु॒त-व॑न्तः । आपः॑ । न । वृ॒क्त-ब॑र्हिषः ॥
प॒वित्र॑स्य । प्र॒-स्रव॑णेषु । वृ॒त्र॒-ह॒न् । परि॑ । स्तो॒तारः॑ । आ॒स॒ते १

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक ! [परमात्मन्] (सुतवन्तः) तत्त्व के धारण करने वाले, (वृक्तबर्हिषः) हिंसा त्यागने वाले [अथवा वृद्धि पाने वाले विद्वान्], (स्तोतारः) स्तुति करने वाले (वयम्) हम लोग (घ) निश्चय करके (त्वाम) तुझ को (परि आसते) सेवते हैं, (पवित्रस्य) शुद्ध स्थान के (प्रस्रवणेषु) झरनों में (आपः न) जैसे जल [ठहरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—तत्त्वग्राही विद्वान् लोग उस परमात्मा के ही ध्यान में शान्ति पाते हैं, जैसे बहता हुआ पानी शुद्ध चौरस स्थान में आकर ठहर जाता है ॥१॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ३३ । १–३ ; सामवेद उ० २ । २ । तृच १२ और आगे है—अथर्व० २० । ५७ । १४–१६, तथा मन्त्र १ साम० पू० ३ । ७ । ६ ॥

१—(वयम्) उपासकाः (घ) एव (त्वा) त्वाम् (सुतवन्तः) तत्त्वस्य धारकाः (आपः) जलानि (न) यथा (वृक्तबर्हिषः) वृजी वर्जने—क्त । श्वीदितो निष्ठायाम्–इट् प्रतिषेधः । बृहेर्नलोपश्च । उ० २ । १०९ । बर्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु–इसि यद्वा वृक आदाने—क्त + बृहि वृद्धौ—इसि, नलोपः । त्यक्तहिंसाः । प्राप्तवृद्धयः । ऋत्विजः–निघ० ३ । १८ (पवित्रस्य) शुद्धदेशस्य (प्रस्रवणेषु) निर्झरेषु (वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक (परि) सर्वतः (स्तोतारः) स्तावकाः (परि आसते) उत्तमपुरुषस्य प्रथमपुरुषः । उपास्महे । सेवामहे ॥

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥२ ॥
स्वरन्ति । त्वा । सुते । नरः । वसो इति । निरेके । उक्थिनः ॥
कदा । सुतम् । तृषाणः । ओकः । आ । गमः । इन्द्र । स्वब्दी-इव । वंसगः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे श्रेष्ठ ! [परमात्मन्] (उक्थिनः) कहने योग्य बचनों वाले (नरः) नर [नेता लोग] (निरेके) निःशङ्क स्थान में (सुते) सार पदार्थ के निमित्त (त्वा) तुझ को (स्वरन्ति) पुकारते हैं—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (कदा) कब (तृषाणः) प्यासे [के समान] तू (सुतम्) पुत्र को (ओकः) घर में (आ गमः) प्राप्त होगा, (स्वब्दी इव) जैसे सुन्दर जल देने वाला मेघ (वंसगः) सेवनीय पदार्थों का प्राप्त कराने वाला [होता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य सार पदार्थ पाने के लिये परमात्मा की भक्ति निर्भय होकर करता है, परमात्मा उस को इस प्रकार चाहता है जैसे प्यासा जल को, और जगदीश्वर इस प्रकार उस का उपकार करता है, जैसे सूखा के पीछे मेह आनन्द देता है ॥ २ ॥

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ३ ॥

२—(स्वरन्ति) शब्दायन्ते । आह्वयन्ति (त्वा) त्वाम् (सुते) सारपदार्थनिमित्ते (नरः) मनुष्याः (वसो) हे श्रेष्ठ (निरेके) रेक शङ्कायाम्—अच् । निःशङ्कस्थाने (उक्थिनः) वक्तव्यवचनोपेताः (कदा) (सुतम्) पुत्रम् (तृषाणः) युधिबुधिदृशः किच्च । उ० २ । ९० । ञितृषा पिपासायाम्—आनच्, कित् । पिपासुरिव (ओकः) गृहम् (आ गमः) आगच्छेः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (स्वब्दी) सु+अप्+ददातेः—क, स्वब्द—इनि । सु शोभनानाम् अपां जलानां दानवान् मेघः (इव) यथा (वंसगः) अ० १८ । ३ । ३६ । वन संभक्तौ—सप्रत्ययः+गमयतेर्डः । सेवनीयपदार्थानां प्रापयिता ॥

कण्वेभिः । धृष्णो इति । आ । धृषत् । वाजम् । दर्षि । सहस्रिणम् ॥ पिशङ्ग-रूपम् । मघ-वन् । वि-चर्षणे । मक्षु । गो-मन्तम् । ईमहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निर्भय ! [परमात्मन्] (धृषत्) दृढ़ता से (कण्वेभिः) बुद्धिमानों करके [किये हुये] (सहस्रिणम्) सहस्रों आनन्द वाले (वाजम्) वेग का (आ दर्षि) तू आदर करता है । (मघवन्) हे धन वाले ! (विचर्षणे) हे दूरदर्शी ! (पिशङ्गरूपम्) अवयवों को रूप देने वाले, (गोमन्तम्) वेदवाणी वाले [तुझ] से (मक्षु) शीघ्र (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा परमाणुओं से सूर्य आदि बड़े बड़े लोकों का बनाने वाला है, उस निर्भय की उपासना से मनुष्य धर्मात्मा होकर निर्भय होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती छन्दः ॥

सेनानीलक्षणोपदेशः—सेना पति के लक्षणों का उपदेश ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ १ ॥

कः । ईम् । वेद । सुते । सचा । पिबन्तम् । कत् । वयः । दधे ॥ अयम् । यः । पुरः । वि-भिनत्ति । ओजसा । मन्दानः ।

३—(कण्वेभिः) मेधाविभिः (धृष्णो) हे प्रगल्भ (आ) (धृषत्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । ञिधृषा प्रागल्भ्ये—अति, विभक्तेर्लुक् । निर्भयत्वेन (वाजम्) वेगम् । पौरुषम् (दर्षि) दृङ् आदरे—लट्, अदादित्वं छान्दसम् । आद्रियसे । सत्कारेण गृह्णासि (सहस्रिणम्) सहस्रहर्षोपेतम् (पिशङ्गरूपम्) अ० ६ । ४ । २२ । पिश अवयवे —अङ्गच्+रूप रूपकरणे—अच् । अवयवानां रूपकर्तारम् (मघवन्) हे धनवन् (विचर्षणे) अ० २० । ५ । १ । हे बहुदर्शिन् (मक्षु) शीघ्रम् (गोमन्तम) वेदवाणीयुक्तम् (ईमहे) याचामहे ॥

शिप्री । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन (सचा) नित्य मेल के साथ (सुते) तत्त्व रस (पिबन्तम्) पीते हुये (ईम्) प्राप्ति योग्य [सेनापति] को (वेद) जानता है? (कत्) कितना (वयः) जीवन सामर्थ्य [पराक्रम] (दधे) वह रखता है? (अयम्) यह (यः) जो (शिप्री) दृढ़ जाबड़े वाला, (अन्धसः) अन्न का (मन्दानः) आनन्द देने वाला [वीर] (ओजसा) बल से (पुरः) दुर्गों को (विभिनत्ति) तोड़ देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस पराक्रमी पुरुष के शरीर बल और बुद्धिबल की थाह सामान्य मनुष्य नहीं जानते, वह नीतिज्ञ अन्न आदि पदार्थ एकत्र करके वैरियों को जीतता है ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ३३ । ७—९, सामवेद—उ० ८ । २ । तृच १५, आगे है—अथ० २ । ५७ । ११—१३, मन्त्र १ सामवेद—पू० ४ । १ । ५ ॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ २ ॥
दाना । मृगः । न । वारणः । पुरु-त्रा । चरथम् । दधे ॥
नकिः । त्वा । नि । यमत् । आ । सुते । गमः । महान् ।
चरसि । ओजसा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (मृगः) जंगली (वारणः) हाथी (दाना) मद के कारण (पुरुत्रा) बहुत प्रकार से (चरथम्) झपट (दधे) लगाता है।

१—(कः) सामान्यपुरुषः (ईम्) प्राप्तव्यं सेनापतिम् (वेद) वेत्ति (सुते) सुतम् । तत्त्वरसम् (सचा) समवायेन । नित्यसम्बन्धेन (पिबन्तम्) (कत्) कियत् परिमाणम् (वयः) जीवनसामर्थ्यम् । पराक्रमम् (दधे) लडर्थे लिट् । धारयति (अयम्) (यः) (पुरः) नगराणि । दुर्गाणि (विभिनत्ति) विशेषेण छिनत्ति (ओजसा) बलेन (मन्दानः) अ० २० । ९ । १ । आमोदयिता (शिप्री) अ० २० । ४ । १ । दृढहनुः (अन्धसः) अन्नस्य ॥

२—(दाना) दानेन । मदजलेन (मृगः) वनचरः (न) यथा (वारणः) गजः (पुरुत्रा) बहुप्रकारेण (चरथम्) शीघ्रगतिम् । उ० ३ । ११३ । चरतेः—

[वैसे ही] (नकिः) कोई नहीं (त्वा) तुझे (नि यमत्) रोक सकता, (सुते) तत्त्व रस को (आ गमः) तू प्राप्त हो (महान्) महान् होकर तू (ओजसा) बल के साथ (चरसि) विचरता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे बन का मदमत्त हाथी सब ओर बेरोक घूम कर उपद्रव मचाता है, वैसे ही नीतिज्ञ सेनापति तत्त्व विचार कर शत्रुओं को शीघ्र दबावे ॥ २ ॥

य उ॒ग्रः सन्ननि॑ष्टृत स्थि॒रो रणा॑य॒ संस्कृ॑तः ।
यदि॑ स्तो॒तुर्म॒घवा॑ शृ॒णव॒द्धवं॒ नेन्द्रो॑ योषत्या ग॑मत् ॥ ३ ॥

यः । उ॒ग्रः । सन् । अनि॑ः-स्तृतः । स्थि॒रः । रणा॑य । संस्कृ॑तः ॥
यदि॑ । स्तो॒तुः । म॒घ-वा॑ । शृ॒णव॑त् । हव॑म् । न । इन्द्रः॑ । यो॒षति॒ । आ । ग॒मत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [वीर] (उग्रः) प्रचण्ड, (अनिष्टृतः) कभी न हराया गया, (स्थिरः) दृढ़ (सन्) होकर (रणाय) रण के लिये (संस्कृतः) संस्कार किये हुये है। (यदि) यदि (मघवा) वह महाधनी (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (स्तोतुः) स्तुति करने वाले की (हवम्) पुकार (शृणवत्) सुने, [तौ] (न योषति) वह अलग न रहे, [किन्तु] (आ गमत्) आता रहे ॥ ३ ॥

अथप्रत्ययः । संचरणम् (दधे) धरति (नकिः) न कोऽपि (त्वा) त्वाम् (नि यमत्) नियच्छति (आ) (सुते) तत्त्वरसम् (गमः) प्राप्नुहि (महान्) (चरसि) (ओजसा) ॥

३—(यः) वीरः (उग्रः) प्रचण्डः (सन्) भवन् (अनिष्टृतः) अ+निः+स्तृञ् आच्छादने हिंसायां च—क्त । स्तृणातिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । न कदापि हिंसितः (स्थिरः) दृढः (रणाय) युद्धाय (संस्कृतः) कृतसंस्कारः । सन्नद्धः (यदि) सम्भावनायाम् (स्तोतुः) (मघवा) महाधनी (शृणवत्) शृणुयात् (हवम्) आह्वानम् (न) निषेधे (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (योषति) यु मिश्रणामिश्रणयोः—लेट् । पृथग् भवेत (आगमत्) आ गच्छेत् ॥

भावार्थ—प्रतापी अजेय, युद्ध कुशल सेनापति प्रजा की पुकार को सदा ध्यान देकर सुनता रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५४ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ स्वराड् जगती; २, ३ निचृद् बृहती ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे । क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥ १ ॥

विश्वाः । पृतनाः । अभि-भूतरम् । नरम् । स-जूः । ततक्षुः । इन्द्रम् । जजनुः । च । राजसे ॥ क्रत्वा । वरिष्ठम् । वरे । आ-मुरिम् । उत । उग्रम् । ओजिष्ठम् । तवसम् । तरस्विनम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वाः) सब (पृतनाः) सङ्ग्रामों के (अभिभूतरम्) अत्यन्त मिटाने वाले, (क्रत्वा) अपनी बुद्धि से (वरे) श्रेष्ठ व्यवहार में (वरिष्ठम्) अति श्रेष्ठ, (आमुरिम्) शत्रुओं के घेर लेने [वा मार डालने] वाले, (उग्रम्) प्रचण्ड (ओजिष्ठम्) अत्यन्त पराक्रमी, (तवसम्) महाबली (उत) और (तरस्विनम्) बड़े उत्साही (नरम्) नर को (राजसे) राज्य के लिये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] को (सजूः) मिलकर

१—(विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः) सङ्ग्रामान् (अभिभूतरम्) अभिभवतेः-क्विप, तरप् । अत्यर्थम् अभिभवितारं नाशयितारम् (नरम्) नेतारम् (सजूः) संगत्य (ततक्षुः) तक्षतिः करोतिकर्मा-निरु० ४ । १९ । कृतवन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (जजनुः) जनी प्रादुर्भावे-लिट् । प्रादुष्कृतवन्तः (च) (राजसे) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—असुन् । राज्याय (क्रत्वा) क्रतुना । प्रज्ञया-निघ० ३ । ९ । (वरिष्ठम्) श्रेष्ठतमम् (वरे) श्रेष्ठव्यवहारे (आमुरिम्) भुजेः किच्च । उ० ४ । १४२ । आ+मुर संवेष्टने यद्वा मृ हिंसायाम्-इप्रत्ययः, कित् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् । आभिमुख्येन

(ततक्षुः) उन्हों ने [प्रजाजनों ने] बनाया (च) और (जजनुः) प्रसिद्ध किया है ॥ १ ॥

भावार्थ--प्रजागणों को उचित है कि जो मनुष्य सब में श्रेष्ठ गुणी प्रतापी होवे, उसी को सब मिलकर रक्षा के लिये राजा बनावें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है--८। ८७ [सायणभाष्य ८६]। १०--१२। कुछ भेद से सामवेद-उ० ३। १। तृच १४। तथा म० १-पू० ४। ६। १ ॥

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥ २ ॥

सम् । ईम् । रेभासः । अस्वरन् । इन्द्रम् । सोमस्य । पीतये ॥ स्वः-पतिम् । यत् । ईम् । वृधे । धृत-व्रतः । हि । ओजसा । सम् । ऊति-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ--(रेभासः) पुकारने वाले [प्रजागण] (सोमस्य) तत्त्व रस के (पीतये) पीने के लिये (यत्) जब (ईम् ईम्) अवश्य प्राप्ति के योग्य (स्वर्पतिम्) सुख के रक्षक (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (सम्) मिलकर (अस्वरन्) पुकारने लगे, [तब] (वृधे) बढ़ती के लिये (धृतव्रतः) नियम धारण करने वाला [वह पुरुष] (हि) निश्चय करके (ओजसा) बल से और (ऊतिभिः) रक्षाओं से (सम्) मिलकर [उन्हें पुकारने लगा] ॥ २ ॥

वेष्टयितारं मारयितारं वा शत्रूणाम् (उत) अपि च (उग्रम्) प्रचण्डम् (ओजिष्ठम्) ओजस्वितमम् (तवसम्) आशुभावुकं बलवन्तम् (तरस्विनम्) वेगवन्तम् । परमोत्साहिनम् ॥

२--(सम्) संगत्य (ईम्) प्राप्तव्यम् (रेभासः) रेभृ शब्दे-अच् असुक् च । शब्दायमानाः प्रजाजनाः (अस्वरन्) अशब्दयन् । आहूतवन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (सोमस्य) तत्त्वरसस्य (पीतये) पानाय (स्वर्पतिम्) सुखस्य रक्षकम् (यत्) यदा (ईम्) वाप्सायां द्विर्वचनम् । प्राप्तव्यमेव (वृधे) वृद्धये (धृतव्रतः) स्वीकृतनियमः (हि) निश्चयेन (ओजसा) बलेन (सम्) संगत्य (ऊतिभिः) रक्षाभिः ॥

भावार्थ—प्रजागण अपनी रक्षा के लिये राजा की सहायता चाहें, और राजा राज्य की रक्षा के लिये उन से सहायता ले, इस प्रकार राजा और प्रजा परस्पर प्रीति करके आनन्द भोगें ॥ २ ॥

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥ ३ ॥
नेमिम् । नमन्ति । चक्षसा । मेषम् । विप्राः । अभि-स्वरा ॥
सु-दीतयः । वः । अद्रुहः । अपि । कर्णे । तरस्विनः । सम् । ऋक्व-भिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (विप्राः) बुद्धिमान् (सुदीतयः) बहुत प्रकाश वाले, (अद्रुहः) द्रोह न करने वाले, (तरस्विनः) बड़े उत्साह वाले पुरुष (वः) तुम्हारे लिये (कर्णे) कान में (अपि) ही (अभिस्वरा) सब प्रकार से वाणी के साथ (ऋक्वभिः) स्तुतिवाले कर्मों द्वारा (नेमिम्) नेता (मेषम्) सुख से सींचने वाले [वीर] को (चक्षसा) दर्शन के साथ (सम्) मिलकर (नमन्ति) झुकते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्साही बुद्धिमान् लोग प्रजा के सुख के लिये राजा को सुन्दर नियमों और सत्कार के साथ धर्मपथ का निवेदन करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ अतिजगती; २ विराट् पथ्या बृहती; ३ निचृत्पथ्या बृहती ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

३—(नेमिम्) नियोभिः । उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मि । नेतारम् (नमन्ति) नमस्कुर्वन्ति (चक्षसा) दर्शनेन (मेषम्) मिष सेचने-अच् । सुखस्य सेक्तारम् (विप्राः) मेधाविनः (अभिस्वरा) स्वृ शब्दोपतापयोः—विट् । अभिस्वरेण । सर्वतः शब्देन (सुदीतयः) पलोपः । शोभनदीप्तयः (वः) युष्मभ्यम् (अद्रुहः) अद्रोग्धारः (अपि) (कर्णे) श्रोत्रे (तरस्विनः) उत्साहिनः (सम्) संगत्य (ऋक्वभिः) अ० १८ । १ । ४७ । ऋच स्तुतौ—क्विप्, मत्वर्थे—वनिप् । स्तुतिमद्भिः कर्मभिः ॥

तमिन्द्रं जोहवीमि मुघवानमुग्रं सुत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि । मंहिष्ठो गीर्भिरा च युज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वुज्री ॥ १ ॥

तम् । इन्द्रम् । जोहुवीमि । मुघ-वानम् । उग्रम् । सुत्रा । दधानम् । अप्रति-स्कुतम् । शवांसि ॥ मंहिष्ठः । गीः-भिः । आ । च । युज्ञियः । ववर्तत् । राये । नः । विश्वा । सु-पथा । कृणोतु । वुज्री ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवानम्) अत्यन्त धनी, (उग्रम्) प्रचण्ड, (सत्रा) सच्चे (शवांसि) बलों के (दधानम्) धारण करने वाले (अप्रतिष्कुतम्) बे रोक गति वाले (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (जोहवीमि) मैं बार बार पुकारता हूं। (मंहिष्ठः)वह अत्यन्त उदार (यज्ञियः) पूजा योग्य (च) और (वज्री) वज्रधारी [शस्त्र अस्त्र वाला] (गीर्भिः) हमारी वाणियों से (नः) हम को (राये) धन के लिये (आ) सब प्रकार (ववर्तत्) वर्तमान करे, और (विश्वा) सब कर्मों को (सुपथा) सुन्दर मार्ग वाला (कृणोतु) बनावें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की पुकार सुनकर उन्हें सुमार्ग में चलाकर धन प्राप्त करावे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ६७ [सायणभाष्य ८६] । १३, १, २, मन्त्र १ सामवेद—पू० ५ । ८ । ४ और मन्त्र २ पू० ३ । ७ । २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । ह्वेञ् आह्वाने, यङ्लुगन्तात्— लट् । पुनः पुनराह्वयामि (मघवानम्) बहुधनवन्तम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (सत्रा)सत्यानि (दधानम्)धारयन्तम् (अप्रतिष्कुतम्) अ० २० । ४१ । १ । अप्रतिगतम् (शवांसि) बलानि (मंहिष्ठः) दातृतमः (गीर्भिः) अस्माकं वाणीभिः (आ) समन्तात् (च) (यज्ञियः) पूजार्हः (ववर्तत्) वर्ततेर्ण्यन्तस्य चङि रूपं लिङर्थे । वर्तयेत (राये) धनाय (नः) अस्मान् (विश्वा) सर्वाणि कर्माणि (सुपथा) सुपथानि । सुमार्गयुक्तानि (कृणोतु) करोतु (वज्री) शस्त्रास्त्रधारकः ॥

या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥ २ ॥

याः । इन्द्र । भुजः । आ । अभरः । स्वः-वान् । असुरेभ्यः ॥
स्तोतारम् । इत् । मघ-वन् । अस्य । वर्धय । ये । च ।
त्वे इति । वृक्त-बर्हिषः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (स्ववान्) आनन्द युक्त तू (याः) जिन (भुजः) भोग सामग्रियों को (असुरेभ्यः) दुष्ट मनुष्यों से (आ अभरः) लाया है, (मघवन्) हे बड़े धनी ! (अस्य) उस अपने (स्तोतारम्) स्तुति करने वाले को (इत्) अवश्य (वर्धय) बढ़ा (च) और [उन्हें भी], (ये) जो (त्वे) तुझ में (वृक्तबर्हिषः) वृद्धि पाने वाले हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का धन हरण करके शिष्टों का पालन करे ॥ २ ॥

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ ॥३॥

यम् । इन्द्र । दधिषे । त्वम् । अश्वम् । गाम् । भागम् ।
अव्ययम् ॥ यजमाने । सुन्वति । दक्षिणा-वति । तस्मिन् ।
तम् । धेहि । मा । पणौ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यम्) जिस

२—(याः) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (भुजः) भोग्यसामग्रीः (आ अभरः) आहृतवानसि (स्ववान्) सुखवांस्त्वम् (असुरेभ्यः) सुरविरोधिभ्यो दुष्टेभ्यः सकाशात् (स्तोतारम्) (इत्) एव (मघवन्) हे धनवन् (अस्य) तादृशस्य त्वदीयस्य स्वकीयस्य (वर्धय) वृद्धिमन्तं कुरु (ये) (च) (त्वे) त्वयि राजनि (वृक्तबर्हिषः) ऋ० ८०। ५६। १। प्राप्तवृद्धयः ॥

३—(यम्) भागम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (दधिषे) कस्थै

(अश्वम्) घोड़े को, (गाम्) गौ को और (अव्ययम्) अक्षय (भागम्) सेवनीय धन को (त्वम्) तू (दधिषे) धारण करता है, (तम्) उसको (तस्मिन्) उस (सुन्वति) तत्त्व निचोड़ने वाले, (दक्षिणावति) दक्षिणा [प्रतिष्ठा के दान] वाले (यजमाने) यजमान [यज्ञ श्रेष्ठ कर्म करने वाले] में (धेहि) धारण कर और (पणौ) कुव्यवहारी में (मा) नहीं ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि अवसर विचार कर घोड़े, गौयें, सुवर्ण आदि धन दक्षिणा देकर सुपात्रों का सन्मान करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४, ६ विराट् पङ्क्तिः; ३ निचृत् पङ्क्तिः; ५ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

सभापतिलक्षणोपदेशः—सभापति के लक्षण का उपदेश ॥

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥१॥

इन्द्रः । मदाय । ववृधे । शवसे । वृत्रहा । नृ-भिः ॥ तम् । इत् । महत्-सु । आजिषु । उत । ईम् । अर्भे । हवामहे । सः । वाजेषु । प्र । नः । अविषत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहा) रोकने वाले शत्रुओं का नाश करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (मदाय) आनन्द और (शवसे) बल के लिये (नृभिः) नरों [नेताओं] के साथ (ववृधे) बढ़ा है। (तम् ईम्)

लिट्। धत्से। धरसि (त्वम्) (अश्वम्) गाम्) धेनुम् (भागम्) सेवनीयं धनम् (अव्ययम्) अक्षयम् (यजमाने) श्रेष्ठकर्मकर्तरि (सुन्वति) तत्त्वरसं संस्कुर्वाणे (दक्षिणावति) प्रतिष्ठाधनयुक्ते (तस्मिन्) (तम्) (भागम् (धेहि) धारय (मा) निषेधे (पणौ) कुव्यवहारिणे असुरे ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभाध्यक्षः (मदाय) आनन्दाय (ववृधे) लिटि रूपम् । वृद्धो बभूव (शवसे) बलाय (वृत्रहा) आवरकाणां शत्रूणां नाशकः (नृभिः) नेतृभिः पुरुषैः (तम्) सेनापतिम् (इत्) एव (महत्सु)

उस प्राप्ति योग्य को (इत्) ही (महत्सु) बड़े (आजिषु) संग्रामों में (उत) और (अर्भे) छोटे [संग्राम] में (हवामहे) हम बुलाते हैं, (सः) वह (वाजेषु) सङ्ग्रामों में (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (अविषत्) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा की भलाई के लिये पराक्रम करके शत्रुओं को मारे, उसी हितैषी को सेनापति बनाना चाहिये ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१ । ८१ । १—३, ७–९ । तृच १ कुछ भेद से सामवेद में है—उ० ३ । २ । तृच १४, मन्त्र १, पू० ५ । ३ । ३ ॥

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादुदिः । असि दभ्रस्य चिद् वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥ २ ॥

असि । हि । वीर । सेन्यः । असि । भूरि । परा-ददिः ॥ असि । दभ्रस्य । चित् । वृधः । यजमानाय । शिक्षसि । सुन्वते । भूरि । ते । वसु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वीर) हे वीर तू (हि) ही (सेन्यः) सेनाओं का हितकारी (असि) है, (भूरि) बहुत प्रकार से (परादुदिः) शत्रुओं का पकड़ने वाला (असि) है । तू (दभ्रस्य) छोटे पुरुष का (चित्) अवश्य (वृधः) बढ़ाने वाला (असि) है, तू (सुन्वते) तत्त्व निचोड़ने वाले (यजमानाय)

महाप्रबलेषु (आजिषु) अ० २ । १४ । ६ । संग्रामेषु (उत) अपि (ईम्) प्राप्तव्यम् (अर्भे) अल्पे संग्रामे (हवामहे) आह्वयामः (सः) सेनापतिः (वाजेषु) संग्रामेषु (प्र) (नः) अस्मान् (अविषत्) अव रक्षणे—लेट्, इकारलोपः सिप् च इडागमश्च । रक्षेत् ॥

२—(असि) (हि) (वीर) (सेन्यः) सेनाभ्यो हितः (असि) (भूरि) बहु (परादुदिः) पर+आङ्+डु दाञ् दाने—किप्रत्ययः । पराञ्छत्रूनादाता ग्रहीता (असि) (दभ्रस्य) अल्पस्य पुरुषस्य (चित्) एव (वृधः) वृधेरन्तर्गतण्यन्तात्—कप्रत्ययः । वर्धयिता (यजमानाय) श्रेष्ठकर्मकारकाय (शिक्षसि) ददासि—निघ० ३ । २० (सुन्वते) तत्त्वं संस्कुर्वते (भूरि) बहु

यजमान को (ते) अपना (भूरि) बहुत (वसु) धन (शिक्षसि) देता है ॥ २ ॥

भावार्थ—वीर सेना हितकारी योग्य छोटे अधिकारियों को बढ़ाकर श्रेष्ठों का मान करे ॥ २ ॥

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना। युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥ ३ ॥

यत्। उत्-ईरते। आजयः। धृष्णवे। धीयते। धना॥ युक्ष्व। मद-च्युता। हरी इति। कम्। हनः। कम्। वसौ। दधः। अस्मान्। इन्द्र। वसौ। दधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (आजयः) सङ्ग्राम (उदीरते) उठते हैं, (धृष्णवे) निर्भय पुरुष के लिये (धना) धन (धीयते) धरा जाता है। (मदच्युता) आनन्द देने वाले (हरी) दो घोड़ों [के समान बल और पराक्रम] को (युक्ष्व) जोड़, (कम्) किस [शत्रु] को (हनः) तू मारेगा ? (कम्) किस [मित्र] को (वसौ) धन के बीच (दधः) तू रक्खेगा ? (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (अस्मान्) हमें तू (वसौ) धन में (दधः) रख ॥ ३ ॥

भावार्थ—विजय पाने पर वीर पुरुष धन पाता है, यह विचार कर राजा बल और पराक्रम से युद्ध सामग्री एकत्र करके शत्रुओं को मारता हुआ और मित्रों का सत्कार करता हुआ प्रजा की उन्नति करे ॥ ३ ॥

(ते) त्वदीयम्। स्वकीयम् (वसु) धनम् ॥

३—(यत्) यदा (उदीरते) उद्गच्छन्ति (आजयः) संग्रामाः (धृष्णवे) प्रगल्भाय (धीयते) ध्रियते (धना) विभक्तेराकारः। धनम् (युक्ष्व) सांहितिको दीर्घः। युजिर् योगे—लोट्, अन्तर्गतण्यर्थः। योजय (मदच्युता) मदस्य हर्षस्य च्यावयितारौ प्रापयितारौ (हरी) अश्वाविव बलपराक्रमौ (कम्) शत्रुम् (हनः) हन्तेर्लेट्। हन्याः (कम्) सुहृदम् (वसौ) वसुनि। धने। (दधः) दध धारणे—लेट्। दध्याः (अस्मान्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (वसौ) धने (दधः) स्थापय ॥

मदेमदे हि नो दुदिर्यूथा गवामृजुक्रतुः। सं गृभाय पुरू शुतोभयाहुस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥ ४ ॥

मदे-मदे। हि। नुः। दुदिः। यूथा। गवाम्। ऋजु-क्रतुः॥ सम्। गृभाय। पुरु। शता। उभयाहुस्त्या। वसु। शिशीहि। रायः। आ। भुर ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ऋजुक्रतुः) सच्ची बुद्धि वा कर्म वाला तू (मदेमदे) आनन्द आनन्द पर (हि) निश्चय करके (नः) हम को (गवाम्) गो आदि पशुओं के (यूथा) समूहों का (ददिः) देने वाला है, (उभयाहस्त्या) दोनों हाथों से (पुरु) बहुत (शता) सैकड़े (वसु) धनों को (सं गृभाय) संग्रह कर, (शिशीहि) तीक्ष्ण हो और (रायः) धनों को (आ) सब ओर से (भर) भर ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् राजा आनन्द के प्रत्येक अवसर पर योग्य पुरुषों का सत्कार करे और उचित व्यय करने के लिये सदा धन का संग्रह करता रहे ॥ ४ ॥

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे। विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव ॥ ५ ॥

मादयस्व। सुते। सचा। शवसे। शूर। राधसे॥ विद्म।

४—(मदेमदे) प्रत्येकहर्षावसरे (हि) निश्चयेन (नः) अस्मभ्यम् (ददिः) डुदाञ् दाने-किप्रत्ययः। दाता (यूथा) यूथानि। समूहान् (गवाम्) गवादिपशूनाम् (ऋजुक्रतुः) सरलबुद्धिः। सत्यकर्मा (संगृभाय) सम्यग् गृहाण (पुरु) बहूनि (शता) शतानि (उभयाहस्त्या) विभक्तेर्ड्याजादेशः, छान्दसो दीर्घः। उभाभ्यां हस्ताभ्याम् (वसु) वसूनि। धनानि (शिशीहि) शो तनूकरणे, विकरणस्य श्लुः, अभ्यासस्य इत्वम्। ई हल्यघोः। पा० ६। ४। ११३। इति धातोरीत्वम्। श्य। तीक्ष्णीभव। उद्यतो भव (रायः) धनानि (आ) समन्तात् (भर) धेहि ॥

हि । त्वा । पुरु-वसुम् । उप । कामान् । सुसृज्महे । अथ । नः । अविता । भव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर ! (सुते) उत्पन्न जगत् में (सचा) नित्य मेल के साथ (शवसे) बल के लिये और (राधसे) धन के लिये (मादयस्व) आनन्द दे । (त्वा) तुझ को (हि) निश्चय करके (पुरुवसुम्) बहुतों में श्रेष्ठ (विद्म) हम जानते हैं, और (कामान्) मनोरथों को (उप) समीप से (ससृज्महे) हम सिद्ध करते हैं, (अथ) इस लिये तू (नः) हमारा (अविता) रक्षक (भव) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—बल और धन की वृद्धि के लिये शूर सेनापति के आश्रय से मनोरथ सिद्ध करके रक्षा करें ॥ ५ ॥

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् । अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥ ६ ॥

एते । ते । इन्द्र । जन्तवः । विश्वम् । पुष्यन्ति । वार्यम् ॥ अन्तः । हि । ख्यः । जनानाम् । अर्यः । वेदः । अदाशुषाम् । तेषाम् । नः । वेदः । आ । भर ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ते) तेरे लिये (एते) यह (जन्तवः) लोग (विश्वम्) सब (वार्यम्) स्वीकार योग्य

५—(मादयस्व) आनन्दय (सुते) उत्पन्ने जगति (सचा) समवायेन । नित्यसंबन्धेन (शवसे) बलाय (शूर) हे शत्रुनिवारक (राधसे) धनाय (विद्म) जानीमः (हि) अवधारणे (त्वा) त्वाम् (पुरुवसुम्) बहुषु श्रेष्ठम् (उप) समीपे (कामान्) मनोरथान् (ससृज्महे) सृज विसर्गे, विकरणस्य श्लुः । निष्पादयामः । साधयामः (अथ) अनन्तरम् (नः) अस्माकम् (अविता) अवतेस्तृच् । रक्षकः (भव) ॥

६—(एते) उपस्थिताः (ते) तुभ्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (जन्तवः) जीवाः जनाः (विश्वम्) सर्वम् (पुष्यन्ति) वर्धयन्ति (वार्यम्)

पदार्थ को (पुष्यन्ति) पुष्ट करते हैं। (अर्यः) स्वामी तू (तेषाम्)उन (जनानाम्) मनुष्यों के (अन्तः) बीच (हि) निश्चय करके (अदाशुषाम्) अदानी लोगों की (वेदः) समझ को (ख्यः) देख और (नः) हमारे लिये (वेदः) ज्ञान को (आ) सब प्रकार (भर) प्राप्त करा ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजागण श्रेष्ठ पदार्थों के दान से राजभक्ति करें, वैसे ही राजा अदाताओं से प्रजा की रक्षा करके विज्ञान की वृद्धि करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-१६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४-६, ८, ९ गायत्री; ३ विराडार्षी गायत्री; ७ अनुष्टुप्; १० निचृद् गायत्री; ११-१६ पथ्या बृहती ॥

१—१० मनुष्यकर्तव्योपदेशः— १—१० मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

सुरूप-कृत्नुम् । ऊतये । सुदुघाम्-इव । गो-दुहे ॥ जुहूमसि । द्यवि-द्यवि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुरूपकृत्नुम्) सुन्दर स्वभावों के बनाने वाले [राजा] को (ऊतये) रक्षा के लिये (द्यविद्यवि) दिन दिन (जुहूमसि) हम बुलाते हैं, (इव)

स्वीकार्यं पदार्थम् (अन्तः) मध्ये (हि) अवश्यम् (ख्यः) ख्या प्रकथने दर्शने च लोडर्थे लुङ् । पश्य (जनानाम्) जन्तूनाम् । जीवानाम् (अर्यः) स्वामी (वेदः) बोधम् (अदाशुषाम्) अदातॄणाम् (तेषाम्) पूर्वोक्तानां जन्तूनाम् (नः) अस्मभ्यम् (वेदः) विज्ञानम् (आ) समन्तात् (भर) प्रापय ॥

१—(सुरूपकृत्नुम्) कृहनिभ्यां क्त्नुः । उ० ३ । ३० । करोतेः—क्त्नु । शोभनस्वभावानां कर्तारम् (ऊतये) रक्षायै (सुदुघाम्) अ० ७ । ७३ । ७ । बहुदोग्ध्रीं गाम् (इव) यथा (गोदुहे) सत्सूद्विष द्रुह दुह० । पा० ३ । २ । ६१ । गो + दुह प्रपूरणे—क्विप् । गोदोग्ध्रे । दुग्धादिकमिच्छवे (जुहूमसि) ह्वयतेर्लट् शपः श्लुः । अभ्यस्तस्य च । पा० ६ । १ । ३३ । इति अभ्यस्ते भविष्यतो ह्वयतेः सम्प्रसारणम् । सम्प्रसारणाच्च । पा० ६ । १ । १०८ । इति परपूर्वत्वम् । हलः । पा० ६ । ४ । २ । इति । दीर्घः । श्लौ । पा० ६ । १ । १७ । द्विर्वचनम् । ह्रस्वः ।

जैसे (सुदुघाम्) बड़ी दुधेल गौ को (गोदुहे) गौ दोहने वाले के लिये ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे दुधेल गौ को दूध दोहने के लिये प्रीति से बुलाते हैं, वैसे ही प्रजागण विद्या आदि शुभ गुणों के बढ़ाने वाले राजा का आश्रय लेकर उन्नति करें ॥ १ ॥

म० १—३ ऋग्वेद में है—१।४।१—३ और आगे है अ० २०।६८।१—३ ॥

उप॑ नः॒ सव॑ना ग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब। गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ॥ २ ॥

उप॑। नः॒। सव॑ना। आ। ग॒हि॒। सोम॑स्य। सोम॒ऽपाः॒। पिब॒ ॥ गो॒ऽदाः। इत्। रे॒वतः॑। मदः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमपाः) हे ऐश्वर्य के रक्षक ! [राजन्] (नः) हमारे लिये (सवना) ऐश्वर्य युक्त पदार्थों को (उप) समीप से (आ गहि) तू प्राप्त हो और (सोमस्य) सोम [तत्त्व रस] का (पिब) पानकर, (रेवतः) धनवान् पुरुष का (मदः) हर्ष (इत्) ही (गोदाः) दृष्टि का देने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐश्वर्यवान् और दूरदर्शी होकर प्रसन्नता पूर्वक प्रजा को ज्ञानवान् बनावे ॥ २ ॥

अथा॑ ते॒ अन्त॑मानां वि॒द्याम॑ सुम॒तीना॑म्। मा नो॒ अति॑ ख्य॒ आ ग॑हि ॥ ३ ॥

पा० ७।४।५६। इति अभ्यासस्य ह्रस्वः। श्चुत्वजश्त्वे। इदन्तोमसि। पा० ७।१।४६। इति इकारागमः। जुहूमः। आह्वयामः (द्यविद्यवि) दिने दिने निघ० १।६ ॥

२—(उप) समीपे (नः) अस्मभ्यम् (सवना) ऐश्वर्ययुक्तानि वस्तूनि (आ) समन्तात् (गहि) गच्छ। प्राप्नुहि (सोमस्य) तत्त्वरसस्य (सोमपाः) हे ऐश्वर्यरक्षक (पिब) पानं कुरु (गोदाः) क्विप् च। पा० ३।२।७६। गो+ददातेः—क्विप्। गोर्दृष्टेर्दाता (इत्) एव (रेवतः) धनवतः पुरुषस्य (मदः) हर्षः ॥

अथ॑ । ते॒ । अन्त॑मानाम् । वि॒द्याम॑ । सु॒-म॒तीना॑म् ॥ मा । नः॒ । अति॑ । ख्यः॒ । आ । ग॒हि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अथ) और (ते) तेरी (अन्तमानाम्) अत्यन्त समीप रहने वाली (सुमतीनाम्) सुन्दर बुद्धियों का (विद्याम) हम ज्ञान करें । तू (नः) हमें (अति) छोड़कर (मा ख्यः) मत बोल, (आ गहि) तू आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब राजा पूर्ण प्रीति से प्रजा पालन करता है, प्रजागण उस की धार्मिक नीतियों से लाभ उठाकर उस से प्रीति करते हैं ॥ ३ ॥

शु॒ष्मिन्त॑मं न ऊ॒तये॑ द्यु॒म्निनं॑ पाहि॒ जागृ॑विम् । इन्द्र॒ सोमं॑ शतक्रतो ॥ ४ ॥

शु॒ष्मिन्-त॑मम् । नः॒ । ऊ॒तये॑ । द्यु॒म्निन॑म् । पा॒हि॒ । जागृ॑-विम् ॥ इन्द्र॑ । सोम॑म् । श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शत-क्रतो ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (शुष्मिन्तमम्) अत्यन्त बलवान्, (द्युम्निनम्) अत्यन्त धनी वा यशस्वी और (जागृविम्) जागने वाले [चौकस] पुरुष की और (सोमम्) ऐश्वर्य की (पाहि) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा धर्मात्मा शूर वीरों की और सब के ऐश्वर्य की यथावत्

३—(अथ) अनन्तरम् (ते) तव (अन्तमानाम्) अन्तः सामीप्यम् । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति अन्त-ठन् प्रत्ययः । ततोऽतिशायिने तमप् । पृषोदरादित्वात् तिकशब्दस्य लोपः । अन्तमानाम्, अन्तिकनाम-निघ० २ । १६ । अन्तिकतमानाम् । अतिशयेन समीपस्थानाम् (विद्याम) वेत्तेर्लिङ् । ज्ञानं कुर्याम (मा) निषेधे (नः) अस्मान् (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (ख्यः) ख्या प्रकथने लुङ् । माङ् योगेऽडभावः । प्रकथय (आ गहि) आगच्छ ॥

४—१० एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । २० । १—७ ॥

रक्षा कर के प्रजा का पालन करे ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—१० आ चुके हैं—अ० २० । २० । १—७ ।

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि । शतक्रतो इति शत-क्रतो । या । ते । जनेषु । पञ्च-सु ॥ इन्द्र । तानि । ते । आ । वृणे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (या) जो (ते) तेरे (इन्द्रियाणि) इन्द्र [ऐश्वर्यवान्] के चिह्न धनादि (पञ्चसु जनेषु) पंच [मुख्य] लोगों में हैं । (ते) तेरे (तानि) उन [चिह्नों] को (आ) सब प्रकार (वृणे) मैं स्वीकार करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् धार्मिक राजा बड़े बड़े अधिकारियों का आदर करके प्रजा की रक्षा करे ॥ ५ ॥

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् । उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥ ६ ॥

अगन् । इन्द्र । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् । दधिष्व । दुस्तरम् ॥ उत् । ते । शुष्मम् । तिरामसि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (बृहत्) बड़ा (श्रवः) अन्न [हमको] (अगन्) प्राप्त हुआ है, (दुस्तरम्) दुस्तर [अजेय] (द्युम्नम्) चमकने वाले यश को (दधिष्व) तू धारण कर, (ते) तेरे (शुष्मम्) बल को (उत् तिरामसि) हम बढ़ाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस राजा के कारण बहुत अन्न आदि पदार्थ मिलें, प्रजागण उस के बल बढ़ाने में सदा प्रयत्न करें ॥ ६ ॥

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः । उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ७ ॥

अर्वा-वतः । नः । आ । गहि । अथो इति । शक्र । परा-वतः ॥ ऊं इति । लोकः । यः । ते । अद्रि-वः । इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शक्र) हे समर्थ ! (अर्वावतः) समीप से (अथो) और (परावतः) दूर से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो, (अद्रिवः) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (उ) और (यः) जो (ते) तेरा (लोकः) स्थान है, (ततः) वहां से (इह) यहां पर (आ गहि) तू आ ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा अधिकारियों द्वारा समीप और दूर से प्रजा की सुधि रक्खे और उनको आप भी जा कर देखा करे ॥ ७ ॥

इन्द्रो अङ्ग महद् भयमभी षदप चुच्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ८ ॥

इन्द्रः । अङ्ग । महत् । भयम् । अभि । सत् । अप । चुच्यु-वत् ॥ सः । हि । स्थिरः । वि-चर्षणिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे विद्वान् ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] ने (महत्) बड़े और (अभि) सब ओर से (सत्) वर्तमान (भयम्) भय को (अव चुच्यवत्) हटा दिया है । (सः हि) वही (स्थिरः) दृढ़ और (विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा दृढ़स्वभाव और सावधान रहकर दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ॥ ८ ॥

इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ९ ॥

इन्द्रः । च । मृलयाति । नः । न । नः । पश्चात् । अघम् । नशत् ॥ भद्रम् । भवाति । नः । पुरः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (च) निश्चय करके (नः) हमें (मृलयाति) सुखी करे, (अघम्) पाप (नः) हम को

(पश्चात्) पीछे (न) न (नशत्) नाश करे । (भद्रम्) कल्याण (नः) हमारे लिये (पुरस्तात्) आगे (भवाति) होवे ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि धर्मात्मा राजा के प्रबन्ध में रहकर पापों से बच कर सुख भोगें ॥ ९ ॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ १० ॥

इन्द्रः। आशाभ्यः। परि। सर्वाभ्यः। अभयम्। करत्॥ जेता। शत्रून्। विचर्षणिः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (सर्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) आशाओं [गहरी इच्छाओं] के लिये (अभयम्) अभय (परि) सब ओर से (करत्) करे। वह (शत्रून् जेता) शत्रुओं को जीतने वाला और (विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा अपने न्याय युक्त प्रबन्ध से विघ्नों को हटाकर प्रजा की उन्नति की गहरी इच्छाओं को पूरा करे ॥ १० ॥

मन्त्राः ११—१३ सेनानीलक्षणोपदेशः—मन्त्र ११—१३ सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे। अयं यः पुरो विभिनत्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ ११ ॥

कः। ईम्। वेद। सुते। सचा। पिबन्तम्। कत्। वयः। दधे॥ अयम्। यः। पुरः। वि-भिनत्ति। ओजसा। मन्दानः। शिप्री। अन्धसः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन (सचा) नित्य मेल के साथ (सुते) तत्त्वरस (पिबन्तम्) पीते हुये (ईम्) प्राप्ति योग्य [सेनापति] को (वेद) जानता है ? (कत्) कितना (वयः) जीवन सामर्थ्य [पराक्रम] (दधे) वह रखता है ? (अयम्) यह (यः) जो (शिप्री) दृढ़ जाबड़े वाला, (अन्धसः) अन्न

का (मन्द्रानः) आनन्द देने वाला [वीर] (ओजसा) बल से (पुरः) दुर्गों को (विभिनत्ति) तोड़ देता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस पराक्रमी पुरुष के शरीर बल और बुद्धिबल की थाह सामान्य पुरुष नहीं जानते, वह नीतिज्ञ अन्न आदि पदार्थ एकत्र कर के वैरियों को जीतता है ॥ ११ ॥

मन्त्र ११—१३ आचुके हैं—अ० २० । ५३ । १—३ ॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे । नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ १२ ॥

दाना । मृगः । न । वारणः । पुरु-त्रा । चरथम् । दधे ॥ नकिः । त्वा । नि । यमत् । आ । सुते । गमः । महान् । चरसि । । ओजसा ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (मृगः) जंगली (वारणः) हाथी (दाना) मद के कारण (पुरुत्रा) बहुत प्रकार से (चरथम्) झपट (दधे) लगाता है। [वैसे ही] (नकिः) कोई नहीं (त्वा) तुझे (नि यमत्) रोक सकता, (सुते) तत्त्वरस को (आ गमः) तू प्राप्त हो, (महान्) महान् होकर तू (ओजसा) बल के साथ (चरसि) विचरता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे बन का मदमत्त हाथी सब ओर बे रोक घूमकर उपद्रव मचाता है, वैसे ही नीतिज्ञ सेनापति तत्त्व विचार कर शत्रुओं को शीघ्र दबावे ॥ १२ ॥

य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः । यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥ १३ ॥

यः । उग्रः । सन् । अनिः-स्तृतः । स्थिरः । रणाय । संस्कृतः ॥ यदि । स्तोतुः । मघ-वा । शृणवत् । हवम् । न । इन्द्रः । योषति । आ । गमत् ॥ १३ ॥

११—१३ एतेमन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ५३ । १—३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [वीर] (उग्रः) प्रचण्ड, (अनिष्टृतः) कभी न हराया गया, (स्थिरः) दृढ़ (सन्) होकर (रणाय) रण के लिये (संस्कृतः) संस्कार किये हुये है। (यदि) यदि (मघवा) वह महाधनी (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (स्तोतुः) स्तुति करने वाले की (हवम्) पुकार (शृणवत्) सुने, [तो] (न योषति) वह अलग न रहे, [किन्तु] (आ गमत्) आता रहे ॥ १३ ॥

भावार्थ—प्रतापी, अजेय, युद्ध कुशल सेनापति प्रजा की पुकार को सदा ध्यान देकर सुनता रहे ॥ १३ ॥

मन्त्राः १४—१६ परमात्मोपासनोपदेशः— मन्त्र १४—१६ परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

व॒यं घ॑ त्वा सु॒तावन्त॒ आपो॒ न वृ॒क्तबर्हिषः । प॒वित्र॑स्य प्र॒स्र॑वणेषु वृत्रहन् परि॑ स्तो॒तार॒ आसते ॥ १४ ॥

व॒यम् । घ॒ । त्वा॒ । सु॒त-व॑न्तः । आपः॑ । न । वृ॒क्त-ब॑र्हिषः ॥ प॒वित्र॑स्य । प्र॒-स्र॑वणेषु । वृ॒त्र-ह॒न् । परि॑ । स्तो॒तारः॑ । आ॒स॒ते॒ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक ! [परमात्मन्] (सुतवन्तः) तत्त्व के धारण करने वाले, (वृक्तबर्हिषः) हिंसा त्यागने वाले [अथवा वृद्धि पाने वाले विद्वान्], (स्तोतारः) स्तुति करने वाले (वयम्) हम लोग (घ) निश्चय करके (त्वा) तुझ को (परि आसते) सेवते हैं, (पवित्रस्य) शुद्ध स्थान के (प्रस्रवणेषु) झरनों में (आपः न) जैसे जल [ठहरते हैं] ॥ १४ ॥

भावार्थ—तत्त्वग्राही विद्वान् लोग उस परमात्मा के ही ध्यान में शान्ति पाते हैं, जैसे बहता हुआ पानी शुद्ध चौरस स्थान में आकर ठहर जाता है ॥ १४ ॥

मन्त्र १४—१६ आचुके हैं—अ० २० । ५२ । १—३ ॥

स्वर॑न्ति त्वा सु॒ते नरो॒ वसो॑ निरे॒क उ॒क्थिनः॑ । क॒दा सु॒तं

१४—१६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ५२ । १—३ ॥

तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥ १५ ॥

स्वरन्ति । त्वा । सुते । नरः । वसो इति । निरेके । उक्थिनः ॥ कदा । सुतम् । तृषाणः । ओकः । आ । गमः । इन्द्र । स्वब्दी-इव । वंसगः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे श्रेष्ठ ! [परमात्मन्] (उक्थिनः) कहने योग्य वचनों वाले (नरः) नर [नेता लोग] (निरेके) निःशंक स्थान में (सुते) सार पदार्थ के निमित्त (त्वा) तुझ को (स्वरन्ति) पुकारते हैं—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (कदा) कब (तृषाणः) प्यासे [के समान] तू (सुतम्) पुत्र को (ओकः) घर में (आ गमः) प्राप्त होगा, (स्वब्दी-इव) जैसे सुन्दर जल देने वाला मेघ (वंसगः) सेवनीय पदार्थों का प्राप्त कराने वाला [होता है]॥ १५ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य सार पदार्थ पाने के लिये परमात्मा की भक्ति निर्भय होकर करता है, परमात्मा उसको इस प्रकार चाहता है जैसे प्यासा जल को, और इस प्रकार उसका उपकार करता है, जैसे सूखा के पीछे मेह आनन्द देता है ॥ १५ ॥

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् । पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ १६ ॥

कण्वेभिः । धृष्णो इति । आ । धृषत् । वाजम् । दर्षि । सहस्रिणम् ॥ पिशङ्ग-रूपम् । मघ-वन् । वि-चर्षणे । मक्षु । गोमन्तम् । ईमहे ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निर्भय ! [परमात्मन्] (धृषत्) दृढ़ता से (कण्वेभिः) बुद्धिमानों करके [किये हुये] (सहस्रिणम्) सहस्रों आनन्द वाले (वाजम्) वेग का (आ दर्षि) तू आदर करता है, (मघवन्) हे धन वाले ! (विचर्षणे) हे दूरदर्शी ! (पिशङ्गरूपम्) अवयवों को रूप देने वाले, (गोमन्तम्) वेदवाणी वाले [तुझ] से (मक्षु) शीघ्र (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा परमाणुओं से सूर्य आदि बड़े बड़े लोकों का बनाने वाला है, उस निर्भय की उपासना से मनुष्य धर्मात्मा होकर निर्भय होवें ॥ १६ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१—४॥ १, २ इन्द्रः, ३, ४ सूर्यो देवता ॥ १, ३ निचृत्पथ्या बृहती, २ सतः पङ्क्तिः ; ४ भुरिगार्षी बृहती ॥

ईश्वरविषयोपदेशः—ईश्वर विषय का उपदेश ॥

आयन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत । वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ १ ॥

आयन्तः-इव । सूर्यम् । विश्वा । इत् । इन्द्रस्य । भक्षत ॥ वसूनि । जाते । जनमाने । ओजसा । प्रति । भागम् । न । दीधिम ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यों !] (सूर्यम्) सूर्य [रवि] का (आयन्तः इव) आश्रय करते हुये [किरणों] के समान (इन्द्रस्य) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] के (ओजसा) सामर्थ्य से (विश्वा) सब (इत्) ही (वसूनि) वस्तुओं को (भक्षत) भोगो, [उन को](जाते) उत्पन्न हुये और (जनमाने) उत्पन्न होने वाले जगत् में (भागम् न) अपने भाग के समान (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (दीधिम) हम प्रकाशित करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे किरणें सूर्य के आश्रय से रहती हैं, वैसे ही परमात्मा का आश्रय लेकर संसार के पदार्थों से उपकार लेते हुये हम आगे होने वालों

१—(आयन्तः) श्रिञ् सेवायाम्—शतृ । गुणे प्राप्ते छान्दसी वृद्धिः । श्रयन्तः । आश्रयन्तः किरणाः (इव) यथा (सूर्यम्) रविमण्डलम् (विश्वा) सर्वाणि (इत्) एव (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (भक्षत) भक्ष अदने—लोट् । भक्षयत । सेवध्वम् (वसूनि) वस्तूनि (जाते) उत्पन्ने (जनमाने) छान्दसं रूपम् । जनिष्यमाणे । उत्पत्स्यमाने जगति (ओजसा) सामर्थ्येन (प्रति) प्रत्यक्षेण (भागम्) सेवनीयमंशम् (न) इव (दीधिम) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः । छान्दसं परस्मैपदम्, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रकाशयेम ॥

के लिये पिता के धन के समान अपना कर्म छोड़ जावे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८। ६६ [सायणभाष्य ८८]। ३, ४; सामवेद—उ० ५। २। १४, म० १—पू० ३। ८। ५ तथा यजुर्वेद—३३। ४१ ॥

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः। सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥ २ ॥

अनर्श-रातिम्। वसु-दाम्। उप। स्तुहि। भद्राः। इन्द्रस्य। रातयः॥ सः। अस्य। कामम्। विधतः। न। रोषति। मनः। दानाय। चोदयन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अनर्शरातिम्) निर्दोष दानी, (वसुदाम्) धन देने वाले [परमात्मा] की (उप) आदर पूर्वक (स्तुहि) स्तुति कर, (इन्द्रस्य) उस इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] के (रातयः) दान (भद्राः) कल्याणकारी हैं। (सः) वह [परमात्मा] (विधतः) सेवक के (मनः) मन को (दानाय) दान के लिये (चोदयन्) बढ़ाता हुआ (अस्य) उसकी (कामम्) इच्छा को (न) नहीं (रोषति) नष्ट करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के अक्षय भण्डार से अनन्त दानों को पाकर सदा उपकार में लगावे ॥ २ ॥

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि। महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ३ ॥

बट्। महान्। असि। सूर्य। बट्। आदित्य। महान्।

२—(अनर्शरातिम्) ऋश हिंसायाम्-अच, सौत्रो धातुः। अनर्शरातिमनश्लीलदानमश्लीलं पापकमश्रिमद्‌ विषमम्—निरु० ६। २६। निर्दोषदानम् (वसुदाम्) धनस्य दातारम् (उप) पूजायाम् (स्तुहि) प्रशंस (भद्राः) कल्याण्यः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमैश्वरस्य (रातयः) दानानि (सः) परमात्मा (अस्य) उपासकस्य (कामम्) मनोरथम् (विधतः) परिचरतः पुरुषस्य (न) निषेधे (रोषति) हिनस्ति। नाशयति (मनः) अन्तःकरणम् (दानाय) (चोदयन्) प्रेरयन् सन् ॥

असि । महः । ते । सतः । महिमा । पनस्यते । अद्धा । देव । महान् । असि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे चराचर के प्रेरक [परमेश्वर] तू (बट्) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (असि) है, (आदित्य) हे अविनाशी ! तू (बट्) ठीक ठीक (महान्) महान् [पूजनीय] (असि) है । (ते) तुझ (महः) महान्, (सतः) सत्य स्वरूप की (महिमा) महिमा (पनस्यते) स्तुति की जाती है, (देव) हे दिव्य गुण वाले तू (अद्धा) निश्चय करके (महान्) महान् (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की महिमा सब सृष्टि के पदार्थ जताते हैं, सब मनुष्य उसकी उपासना करके अपनी उन्नति करें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३ कुछ भेद से आचुका है—अ० १३ । २ । २९ । मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में हैं—८ । १०१ [सायणभाष्य ९०] । ११, १२ ; यजुर्वेद ३३ । ३९, ४० । और सामवेद—उ० ९ । १ । ९ ॥

बट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि । मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४ ॥

बट् । सूर्य । श्रवसा । महान् । असि । सत्रा । देव । महान् । असि ॥ मह्ना । देवानाम् । असुर्यः । पुरः-हितः । वि-भु । ज्योतिः । अदाभ्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [सूर्य के समान सब के प्रकाशक परमेश्वर] तू (श्रवसा) यश वा धन से (बट्) सचमुच (महान्) बड़ा (असि) है,

---

३—(बट्) सत्यम् (महान्) विशालः (असि) (सूर्य) हे चराचर—प्रेरक (बट्) (आदित्य) हे अविनाशिस्वरूप (महान्) पूजनीयः (असि) (महः) महतः (ते) तव (सतः) सत्यस्वरूपस्य (पनस्यते) स्तूयते (अद्धा) सत्यम् (देव) हे दिव्यगुणविशिष्ट (महान्) (असि) ॥

४—(बट्) सत्यम् (सूर्य) हे सवितृवत् स्वप्रकाशक (श्रवसा) यशसा धनेन वा (महान्) (असि) (मह्ना) महिम्ना । महत्त्वेन (देवानाम्)

(देव) हे सुखदाता तू (सत्रा) सचमुच (महान्) बड़ा (असि) है । (देवानाम्) चलने वाले लोकों के बीच (मह्ना) अपनी बड़ाई से तू (असुर्यः) प्राणियों वा बुद्धि वालों का हितकारी (पुरोहितः) पुरोहित [अगुआ] और (विभु) व्यापक (अदाभ्यम्) न दबने योग्य (ज्योतिः) ज्योति है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो प्रकाशस्वरूप, सब का पुरोहित अर्थात् मुखिया होकर सब प्राणियों का हित करता है, मनुष्य उसकी आराधना कर के आत्मबल बढ़ावें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

मन्त्राः १—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २, ४ निचृदार्षी पङ्क्तिः; ३ निचृदार्षी बृहती ॥

१—२ ईश्वरोपासनोपदेशः—१—२ ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते । सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥ १ ॥

उत् । ऊं इति । त्ये । मधुमत्-तमाः । गिरः । स्तोमासः । ईरते ॥ सत्रा-जितः । धनसाः । अक्षित-ऊतयः । वाज-यन्तः । रथाः-इव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अतिमधुर (स्तोमासः) स्तोत्र (उ) और (गिरः) वाणियां (उत् ईरते) ऊंची जाती हैं । (इव) जैसे (सत्राजितः) सत्य से जीतने वाले, (धनसाः) धन देने वाले, (अक्षितोतयः) अक्षय रक्षा करने वाले, (वाजयन्तः) बल प्रकट करते हुये (रथाः) रथ [आगे बढ़ते हैं] ॥ १ ॥

गतिशीलानां लोकानां मध्ये (असुर्यः) असुः प्राणः । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६, रोमत्वर्थीयः, यत् हितार्थे । असुरत्वं प्रज्ञावत्वं वानवत्वं वा—निरु०१० । ३४ । प्राणिभ्यो बुद्धिमद्भ्यो वा हितकरः (पुरोहितः) अ० ३ । १९ । १ । पुरस्+डुधाञ् धारण पोषणयोः—क्त । अग्रे धृतः स्थापितः । प्रधानः (विभु) व्यापकम् (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपम् (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् ।

भावार्थ—जैसे शूर वीरों के रथ रणक्षेत्र में विजय पाने के लिये उमंग से चलते हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों और दुष्टों को वश में करने के लिये परमात्मा की स्तुति को किया करें ॥ १ ॥

मन्त्र १,२ आचुके हैं—अ० २० । १० । १—२ ॥

कण्वा॑ इव॒ भृग॑वः॒ सूर्या॑ इव॒ विश्व॒मिद्धी॒तमा॑नशुः । इन्द्रं॒ स्तोमे॑भिर्म॒हय॑न्त आ॒यवः॑ प्रि॒यमे॑धासो अस्वरन् ॥ २ ॥

कण्वाः॑-इव । भृग॑वः । सूर्याः॑-इव । विश्व॑म् । इत् । धी॒तम् । आ॒न॒शुः॒ ॥ इन्द्र॑म् । स्तोमे॑भिः । म॒ह-यन्तः॑ । आ॒यवः॑ । प्रि॒य-मे॑धासः । अ॒स्व॒र॒न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कण्वाः इव) बुद्धिमानों के समान, और (सूर्याः इव) सूर्यों के समान [तेजस्वी], (भृगवः) परिपक्क ज्ञान वाले, (महयन्तः) पूजते हुये, (प्रियमेधासः) यज्ञ को प्रिय जानने वाले (आयवः) मनुष्यों ने (विश्वम्) व्यापक, (धीतम्) ध्यान किये गये (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (इत्) ही (स्तोमेभिः) स्तोत्रों से (आनशुः) पाया है और (अस्वरन्) उच्चारा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य बुद्धिमानों और सूर्यों के समान प्रतापी होकर परमात्मा के गुणों को गाते हुये आत्मोन्नति करें ॥ २ ॥

३—४ राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—३—४ राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

उदिन्न्व॑स्य रिच्य॒तेंऽशो॒ धनं॒ न जि॒ग्युषः॑ । य इन्द्रो॒ हरि॑-वा॒न्न द॑भन्ति॒ तं रिपो॒ दक्षं॑ दधाति सो॒मिनि॑ ॥ ३ ॥

उत् । इत् । नु । अ॒स्य॒ । रि॒च्य॒ते॒ । अंशः॑ । धन॑म् । न । जि॒ग्युषः॑ ॥ यः । इन्द्रः॑ । हरि॑-वान् । न । द॒भ॒न्ति॒ । तम् । रिपः॑ । दक्ष॑म् । द॒धा॒ति॒ । सो॒मिनि॑ ॥ ३ ॥

१—२ ॥ मन्त्रौ व्याख्यातौ अ० २० । १० । १—२ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस [राजा] का (इत्) ही (अंशः) भाग (जिग्युषः) विजयी वीर के (धनं न) धन के समान (नु) शीघ्र (उत् रिच्यते) बढ़ता जाता है, (यः) जो (हरिवान्) श्रेष्ठ मनुष्यों वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (सोमिनि) तत्त्व रस वाले व्यवहार में (दक्षम्) बल को (दधाति) लगाता है, और (तम्) उस [राजा] को (रिपः) वैरी लोग (न) नहीं (दभन्ति) सताते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा अपने बल को श्रेष्ठ व्यवहारों में लगाता है, वह राज्य में उन्नति कर के प्रतिष्ठा पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में हैं—७ । ३२ । १२, १३ ॥

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् ॥ ४ ॥

मन्त्रम् । अखर्वम् । सु-धितम् । सु-पेशसम् । दधात । यज्ञियेषु । आ ॥ पूर्वीः । चन । प्र-सितयः । तरन्ति । तम् । यः । इन्द्रे । कर्मणा । भुवत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ— [हे मनुष्यों !] (अखर्वम्) अनीच [धार्मिक], (सुधितम्) अच्छे प्रकार व्यवस्था किये गये, (सुपेशसम्) बहुत सोना आदि धन करने वाले (मन्त्रम्) मन्त्र [मन्तव्य विचार] को (यज्ञियेषु) पूजा योग्य व्यवहारों में

३—(उत्) आधिक्ये (इत्) एव (नु) क्षिप्रम् (अस्य) राज्ञः (रिच्यते) अधिको भवति (अंशः) भागः (धनम्) (न) इव (जिग्युषः) जि जये— क्वसु । जयशीलस्य (यः) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (हरि—वान्) प्रशस्तमनुष्यैर्युक्तः (न) निषेधे (दभन्ति) हिंसन्ति (तम्) राजानम् (रिपः) रिपवः । शत्रवः (दक्षम्) बलम् (दधाति) धरति (सोमिनि) तत्त्वरसवति व्यवहारे ॥

४— (मन्त्रम्) मन्तव्यं विचारम् (अखर्वम्) खर्व गतौ दर्पे च—अच् । अनीचम् । धार्मिकम् (सुधितम्) दधातेः-क्त । सुविहितम् । सुष्ठु व्यवस्था—पितम (सुपेशसम्) पेशो हिरण्यनाम-निघ० १ । २ । सुपेशांसि शोभनानि

(आ) सब ओर से (दधात) धारण करो । (पूर्वीः) प्राचीन (चन) ही (प्रसितयः) उत्तम प्रबन्ध (तम्) उस मनुष्य को (तरन्ति) पार लगाते हैं, (यः) जो पुरुष (इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के निमित्त (कर्मणा) क्रिया के साथ (भुवत्) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— राजा और विद्वान् जन मिलकर गूढ़ विचारों के साथ सर्वहितकारी काम करके आपस में प्रीति बढ़ावें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ६० ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी गायत्री; २, ५ गायत्री; ३, ४ निचृद् गायत्री; ६ वर्धमाना गायत्री ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः । एवा ते राध्यं मनः ॥१

एव । हि । असि । वीर-युः । एव । शूरः । उत । स्थिरः ॥ एव । ते । राध्यम् । मनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] तू (एव) निश्चय करके (हि) ही (वीरयुः) वीरों का चाहने वाला, (एव) निश्चय करके (शूरः) शूर (उत) और (स्थिरः) दृढ़ (असि) है, (एव) निश्चय करके (ते) तेरा (मनः) मन [विचार सामर्थ्य] (राध्यम्) बड़ाई योग्य है ॥१ ॥

भावार्थ—मनुष्य धार्मिक सत्य सङ्कल्पों की पूर्ति के लिये सदा दृढ़ प्रयत्न करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८ । ९२ [सायण भाष्य ८१] । २८—३०; सामवेद—उ० २ । १ । तृच १८; मन्त्र १—पू० ३ । ४ । १० ॥

सुवर्णादिधनानि यस्मात् तम् (दधात) धत्त (यज्ञियेषु) पूजार्हेषु व्यवहारेषु (आ) समन्तात् (पूर्वीः) प्राचीनाः (चन) अपि (प्रसितयः) उत्तमप्रबन्धाः (तरन्ति) पारयन्ति (तम्) पुरुषम् (यः) (इन्द्रे) ऐश्वर्यवति राजनि निमित्ते (कर्मणा) सत्क्रियया (भुवत्) भवेत् ॥

१—((एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (असि) (वीरयुः) वीर—क्यच् । उप्रत्ययः वीरान् कामयमानः (एव) (शूरः) (उत) अपि(स्थिरः) दृढः (एव) (ते) तव (राध्यम्) आराधनीयम् (मनः) मननसामर्थ्यम् ॥

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः । अधा चिदिन्द्र मे सचा ॥ २ ॥

एव । रातिः । तुवि-मघ । विश्वेभिः । धायि । धातृ-भिः ॥ अध । चित् । इन्द्र । मे । सचा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तुविमघ) हे बहुत धन वाले ! (रातिः) [तेरा] दान (एव) निश्चय करके (विश्वेभिः) सब (धातृभिः) कर्मधारियों कर के (धायि) धारण किया गया है, (अध) सो, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (मे) मेरे लिये (चित्) भी (सचा) नित्य मेल से [रह] ॥ २ ॥

भावार्थ—वीर पुरुष बहुत धन को एकत्र करके अपने कर्मकारियों को सदा प्रसन्न रक्खे ॥ २ ॥

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते । मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३ ॥

मो इति । सु । ब्रह्मा-इव । तन्द्रयुः । भुवः । वाजानाम् । पते ॥ मत्स्व । सुतस्य । गो-मतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वाजानां पते) हे अन्नों के रक्षक ! (ब्रह्मा इव) ब्रह्मा [वेदज्ञाता] के समान [होकर] तू (तन्द्रयुः) आलसी (मो षु भुवः) कभी भी मत हो, (गोमतः) वेदवाणी से युक्त (सुतस्य) तत्त्व रस का (मत्स्व) आनन्द भोग ॥ ३ ॥

२—(एव) निश्चयेन (रातिः) दानम् (तुविमघ) हे बहुधनवन् (विश्वेभिः) सर्वैः (धायि) अधायि । धार्यते (धातृभिः) कर्मधारकैः (अध) अनन्तरम् (चित्) एव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (मे) मह्यम् (सचा) समवायेन—वर्तस्वेति शेषः ॥

३—(मो) नैव (सु) (ब्रह्मा) वेदज्ञाता (इव) यथा (तन्द्रयुः) तद्रि अवसादे मोहे च—घञ्, क्यच्—उ । तन्द्रम् आलस्यमिच्छन् । आलस्ययुक्तः (भुवः) भूयाः (वाजानाम्) अन्नानाम् (पते) रक्षक (मत्स्व) हर्षं प्राप्नुहि (सुतस्य) तत्त्वरसस्य (गोमतः) वेदवाणीयुक्तस्य ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के समान निरालसी होकर तत्त्वज्ञान के अभ्यास से सुखी होवे ॥ ३ ॥

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

एव । हि । अस्य । सूनृता । वि-रप्शी । गो-मती । मही ॥ पक्वा । शाखा । न । दाशुषे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस [सभापति] की (सूनृता) अन्नवाली क्रिया (एव) निश्चय करके (हि) ही (विरप्शी) स्पष्ट वाणी वाली, (गोमती) श्रेष्ठ दृष्टि वाली, (मही) सत्कार योग्य, (पक्वा) परिपक्व [फल फूल वाली] (शाखा न) शाखा के समान (दाशुषे) आत्मदानी पुरुष के लिये [होवे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा आदि सभापति दूरदर्शी होकर अन्न आदि पदार्थों से हितैषी सुपात्रों का सत्कार कर के सुखी करें, जैसे फल फूल वाले वृक्ष आनन्द देते हैं ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—१ । ८ । ८—१० । और आगे हैं, २० । ७१ । ४—६ ॥

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते । सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥

एव । हि । ते । वि-भूतयः । ऊतयः । इन्द्र । मा-वते ॥ सद्यः । चित् । सन्ति । दाशुषे ॥ ५ ॥

४—(एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (अस्य) सभापतेः (सूनृता) सूनृतेत्यन्ननाम—निघ० २ । ७ । अन्नवती क्रिया (विरप्शी) अ० ५ । २६ । १३ । वि + रप व्यक्तायां वाचि—क्विप् शपूत्ययो मत्वर्थे, ङीष् । स्पष्टवाग्वती (गोमती) श्रेष्ठदृष्टियुक्ता (मही) महती । पूज्या (पक्वा) फलपुष्पयुक्ता (शाखा) वृक्षावयवः (न) इव (दाशुषे) आत्मदानिने । भक्ताय ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (एव) निश्चय करके (हि) ही (ते) तेरे (विभूतयः) अनेक ऐश्वर्य (मावते) मेरे तुल्य (दाशुषे) आत्मदानी के लिये (सद्यः चित्) तुरन्त ही (ऊतयः) रक्षासाधन (सन्ति) होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपना ऐश्वर्य श्रेष्ठ उपकारी पुरुषों की रक्षा में लगाता रहे ॥ ५ ॥

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या । इन्द्राय सोमपीतये ॥ ६ ॥

एव । हि । अस्य । काम्या । स्तोमः । उक्थम् । च । शंस्या ॥ इन्द्राय । सोम-पीतये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एव) निश्चय करके (हि) ही (अस्य) उस [सभापति] के (काम्या) मनोहर और (शंस्या) प्रशंसनीय (स्तोमः) उत्तम गुण (च) और (उक्थम्) कहने योग्य कर्म (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये (सोमपीतये) तत्त्वरस पीने के निमित्त [हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—उत्तम गुणी पुरुष को सभापति बनाकर सब मनुष्य ऐश्वर्य वाले और तत्त्वज्ञान वाले होवें ॥ ६ ॥

५—(एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (ते) तव (विभूतयः) विविधैश्वर्याणि (ऊतयः) रक्षासाधनानि (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (मावते) वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ५ । २ । ३९ । अस्मद्—वतुप् सादृश्ये । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ९१ । इत्याकारादेशः । मत्सदृशाय (सद्यः) शीघ्रम् (चित्) एव (सन्ति) भवन्ति (दाशुषे) आत्मदानिने ॥

६—(एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (अस्य) सभापतेः (काम्या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति द्विवचनस्य आकारः । कमनीयै (स्तोमः) स्तुत्यगुणः (उक्थम्) वक्तव्यं कर्म (च) (शंस्या) पूर्ववद् आकारः । प्रशंसनीयै (इन्द्राय) ऐश्वर्यवते पुरुषाय (सोमपीतये) तत्त्वरसपानाय ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ उष्णिक्; २—६ निचृदुष्णिक ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

तं ते॒ मदं॑ गृणीमसि॒ वृष॑णं पृ॒त्सु सा॑स॒हिम्। उ॒ लो॒क॒कृ॒त्नु-म॑द्रिवो हरि॒श्रियं॑म् ॥ १ ॥

तम्। ते॒। मद॑म्। गृ॒णी॒म॒सि॒। वृष॑णम्। पृ॒त्ऽसु। स॒स॒हिम् ॥ ऊं॒ इति॑। लो॒क॒ऽकृ॒त्नुम्। अ॒द्रि॒ऽवः॒। ह॒रि॒ऽश्रियं॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे मेघों के धारण करने वाले ! [परमेश्वर] (ते) तेरे (तम्) उस (वृषणम्) महाबल वाले, (पृत्सु) सङ्ग्रामों में (ससहिम्) विजय करने वाले, (लोककृत्नुम) लोकों के बनाने वाले (उ) और (हरिश्रियम्) मनुष्यों में श्री [सेवनीय सम्पत्ति वा शोभा] देने वाले (मदम्) आनन्द की (गृणीमसि) हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी आदि सब लोकों के रचने वाले, मनुष्यों को सब में श्रेष्ठ बनाने वाले न्यायकारी परमेश्वर की स्तुति से हम समर्थ होकर आनन्द बढ़ावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८।१५।४—६, सामवेद—उ० २।२। तृच १८; मन्त्र १—पू०४।१०।३ ॥

येन॒ ज्योतीं॑ष्या॒यवे॒ मन॑वे च वि॒वेदि॑थ। म॒न्दा॒नो अ॒स्य ब॒र्हिषो॒ वि रा॑जसि ॥ २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (ते) तव (मदम्) आनन्दम् (गृणीमसि) मस इकारागमः। गृणीमः। स्तुमः (वृषणम्) महाबलवन्तम् (पृत्सु) सङ्ग्रामेषु (ससहिम्) अ० ३।१८।५। अभिभवितारम्। विजयितारम् (उ) च (लोककृत्नुम्) कृहनिभ्यां क्त्नुः। उ० ३।३०। करोतेः क्त्नु। लोकानां कर्तारम् (अद्रिवः) हे मेघधारिन् (हरिश्रियम्) हरिषु मनुष्येषु श्रीः श्रयणीया सेव्या सम्पत्तिः शोभा वा यस्मात् तम् ॥

येन॑ । ज्योती॑षि । आयवे॑ । मन॑वे । च । वि॒वेदि॑थ ॥ म॒न्दा॒नः । अ॒स्य । ब॒र्हिषः॑ । वि । रा॒ज॒सि॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (येन) जिस [यज्ञ] के द्वारा (आयवे) गतिशील [उद्योगी] (च) और (मनवे) मननशील मनुष्य के लिये (ज्योतींषि) ज्योतियों को (विवेदिथ) तू ने प्राप्त कराया है, (मन्दानः) आनन्द करता हुआ तू (अस्य) उस (बर्हिषः) बढ़े हुये यज्ञ [संसार] की (वि) विशेष कर के (राजसि) राजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने संसार के बीच, सूर्य, अग्नि, बिजुली, वायु आदि रचकर पुरुषार्थी विचारवान् पुरुष के लिये ऐश्वर्य पाने के अनन्त साधन दिये हैं, वही परमेश्वर सब सृष्टि का स्वामी है ॥ २ ॥

तद॒द्या चि॑त्त उ॒क्थिनोऽनु॑ ष्टुवन्ति पू॒र्वथा॑ । वृष॑पत्नीर॒पो ज॑या दि॒वेदि॑वे ॥ ३ ॥

तत् । अ॒द्य । चि॒त् । ते॒ । उ॒क्थिनः॑ । अनु॑ । स्तु॒व॒न्ति॒ । पू॒र्व-था॑ ॥ वृष॑-पत्नीः । अ॒पः । ज॒य॒ । दि॒वे-दि॑वे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तेरे (तत्) उस [सामर्थ्य] को (उक्थिनः) कहने योग्य के कहने हारे पुरुष (अद्यचित्) अब भी (पूर्वथा) पहिले के समान (अनु) लगातार (स्तुवन्ति) गाते हैं । [जिस सामर्थ्य से]

२—(येन) बर्हिषा । यज्ञेन (ज्योतींषि) सूर्याग्निविद्युद्वाय्वादीन् (आयवे) छन्दसीणः उ० १ । २ । इण् । गतौ–उण् । गतिशीलाय (मनवे) मननशीलाय मनुष्याय (च) (विवेदिथ) विद्लृ लाभे-लिट् । प्रापितवानसि (मन्दानः) अ० २० । ६ । १ । आमोदयितारम् (अस्य) प्रसिद्धस्य (बर्हिषः) प्रवृद्धस्य यज्ञस्य (वि) विशेषेण (राजसि) ईशिषे ॥

३—(तत्) सामर्थ्यम् (अद्य) इदानीम् (चित्) अपि (ते) तव (उक्थिनः) वक्तव्यस्य वक्तारः (अनु) निरन्तरम् (स्तुवन्ति) प्रशंसन्ति (पूर्वथा) पूर्वकाले यथा (वृषपत्नीः) वृषा बलवान् परमात्मा पती रक्षको

(वृषपत्नीः) बलवान् [तुझ परमात्मा] से रक्षा की हुई (अपः) प्रजाओं (को) (दिवेदिवे) दिन दिन (जय) तू जीतता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विज्ञानी सूक्ष्मदर्शी लोग परमात्मा की उस शक्ति को देखकर समर्थ होते हैं, जिस शक्ति से वह सब सृष्टि को रचकर सदा अपने वश में रखता है ॥ ३ ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ४ ॥

तम् । ऊं इति । अभि । प्र । गायत । पुरु-हूतम् । पुरु-स्तुतम् ॥ इन्द्रम् । गीः-भिः । तविषम् । आ । विवासत ॥४

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (तम् उ) उस ही (पुरुहूतम्) बहुत पुकारे हुये, (पुरुष्टुतम्) बहुत बड़ाई किये हुये, (तविषम्) महान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (अभि) सब ओर से (प्र) भले प्रकार (गायत) गाओ, और (गीर्भिः) वाणियों से (आ) सब प्रकार (विवासत) सत्कार करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा सब से बड़ा है, उसी के गुणों को हृदय में धारण कर के आत्मबल बढ़ाओ ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में है—८ । १५ । १—३ और आगे हैं—अ० २० । ६२ । ८—१० और मन्त्र १ सामवेद में है—पू० ४ । १० । ३ ॥

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ५ ॥

यासां ताः (अपः) प्रजाः (जय) लडर्थे लोट् । जयसि । वशीकरोषि (दिवे-दिवे) प्रतिदिनम् ॥

४—(तम्) प्रसिद्धम् (उ) एव (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (गायत) स्तुत (पुरुहूतम्) बहुविधाहूतम् (पुरुष्टुतम्) बहुप्रशंसितम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (गीर्भिः) वाणीभिः (तविषम्) महान्तम् (आ) समन्तात् (विवासत) परिचरत । सेवध्वम्—निघ० ३ । ५ ॥

यस्य॑ । द्वि॒-बर्ह॑सः । बृ॒हत् । सहः॑ । दा॒धार॑ । रोद॑सी॒ इति॑ ॥
गि॒रीन् । अज्रा॑न् । अ॒पः । स्वः॑ । वृ॒ष॒-त्व॒ना ॥ ५ ॥

स रा॑जसि पुरुष्टु॒तँ॒ एको॑ वृ॒त्राणि॑ जिघ्नसे । इन्द्र॒ जैत्रा॑ श्रव॒स्या॑ च॒ यन्त॑वे ॥ ६ ॥

सः । रा॒ज॒सि॒ । पु॒रु॒-स्तु॒त॒ । एकः॑ । वृ॒त्राणि॑ । जि॒घ्न॒से॒ ॥ इन्द्र॑ । जैत्रा॑ । श्र॒व॒स्या॑ । च॒ । यन्त॑वे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(द्विबर्हसः) दोनों विद्या और पुरुषार्थ में बढ़े हुये (यस्य) जिस [परमात्मा] के (बृहत्) बड़े (सहः) सामर्थ्य ने (रोदसी) सूर्य और भूमि, (अज्रान्) शीघ्रगामी (गिरीन्) मेघों, (अपः) जलों [समुद्र आदि] और (स्वः) प्रकाश को (वृषत्वना) बल के साथ (दाधार) धारण किया है ॥ ५ ॥ (पुरुष्टुत) हे बहुत स्तुति किये हुये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (सः) सो (एकः) अकेला तू (जैत्रा) जीतने वालों के योग्य धनों (च) और (श्रवस्या) यश के लिये हितकारी कर्मों को (यन्तवे) नियम में रखने के लिये, (राजसि) राज्य करता है, और (वृत्राणि) रोकने वाले विघ्नों को (जिघ्नसे मिटाता है ॥ ६ ॥

५—(यस्य) परमात्मनः (द्विबर्हसः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । द्वि + बर्ह प्राधान्ये—असि । द्वयोर्विद्या-पुरुषार्थयोः परिवृद्धस्य (बृहत्) महत् (सहः) सामर्थ्यम् (दाधार) धारितवान् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (गिरीन्) मेघान् (अज्रान्) स्फायितञ्चि-वञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । अज गतिक्षेपणयोः—रक्, वीभावाभावः । क्षिप्रान्—निघ० २ । १५ । शीघ्रगमनान् (अपः) जलानि समुद्रादीनि (स्वः) प्रकाशम् (वृषत्वना) वृषत्वेन । वीर्येण ॥ ५ ॥

६—(सः) तादृशस्त्वम् (राजसि) ईशिषे (पुरुष्टुत) बहुष्टुत (एकः) अद्वितीयः (वृत्राणि) आवरकान् । विघ्नान् (जिघ्नसे) हंसि । नाशयसि (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (जैत्रा) जेतृ—अण् । जेतृणां योग्यानि धनानि (श्रवस्या) अ० २० । १२ । १ । यशसे हितानि कर्माणि (च) (यन्तवे) यन्तुं नियन्तुं वशीकर्तुम् ॥

भावार्थ—अकेला महाविद्वान् और महापुरुषार्थी परमात्मा सब को परस्पर धारण आकर्षण से चलाता हुआ अपने विश्वासी भक्तों को उनके पुरुषार्थ के अनुसार धन और कीर्ति देता है ॥ ५, ६ ॥

सूक्तम् ६२ ॥

१—१० ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ६, ७ विराडार्ष्युष्णिक्; २ भुरिगार्षी बृहती; ३, ५ ककुबुष्णिक्; ४ विराडार्षी पङ्क्तिः; ८—१० निचृदुष्णिक् ॥

१—४ राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—१—४ राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

व॒यमु॑ त्वाम॑पूर्व्य स्थू॒रं न कच्चि॒द्भर॑न्तोऽव॒स्यवः॑ । वाजे॑ चि॒त्रं ह॑वामहे ॥ १ ॥

व॒यम् । ऊं॒ इति॑ । त्वाम् । अ॒पू॒र्व्य॒ । स्थू॒रम् । न । कत् । चि॒त् । भर॑न्तः । अ॒व॒स्यवः॑ ॥ वाजे॑ । चि॒त्रम् । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥१॥

भावार्थ—(अपूर्व्य) हे अनुपम ! [राजन्] (कत् चित्) कुछ भी (स्थूरम्) स्थिर (न) नहीं (भरन्तः) रखते हुये, (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले (वयम्) हम (वाजे) सङ्ग्राम के बीच (चित्रम्) विचित्र स्वभाव वाले (त्वाम्) तुझ को (उ) ही (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जब दुष्ट चोर डाकू लोग अत्यन्त सतावें, प्रजागण वीर राजा की शरण लेकर रक्षा करें ॥ १॥

मन्त्र १—४ आ चुके हैं—अथर्व० २० । १४ । १—४ ॥

उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।
त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥ २ ॥

उप॑ । त्वा॒ । कर्म॑न् । ऊ॒तये॑ । सः । नः॒ । युवा॑ । उ॒ग्रः । च॒क्रा॒म॒ । यः । धृ॒षत् ॥ त्वाम् । इत् । हि । अ॒वि॒तार॑म् । व॒वृ॒महे॑ । सखा॑यः । इन्द्र॒ । सा॒न॒सिम् ॥ २ ॥

१—४ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । १४ । १—४ ॥

भाषार्थ—(कर्मन्) कर्म के बीच (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (सः) उस (यः) जिस (युवा) स्वभाव से बलवान्, (उग्रः) तेजस्वी और (धृष्नन्) निर्भय पुरुष ने (चक्राम) पैर बढ़ाया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (अविनारम्) उस रक्षक और (सानसिम्) दानी (त्वा) तुझ को, (त्वाम्) तुझ को (हि) ही (इत्) अवश्य (सखायः) हम मित्र लोग (उप) आदर से (ववृमहे) चुनते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रजारक्षण में बड़ा पराक्रमी हो, प्रजागण सब लोगों में से उसी को राजा बनावें ॥ २ ॥

यो नं इदमिंदं पुरा प्र वस्यं आनिनाय तमुं व स्तुषे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ ३ ॥

यः । नः । इदम्-इदम् । पुरा । प्र । वस्यः । आ-निनाय । तम् । ऊं इति । वः । स्तुषे ॥ सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥३

भाषार्थ—(यः) जो [पराक्रमी] (नः) हमारे लिये (इदमिदम्) इस–इस (वस्यः) उत्तम वस्तु को (प्र) अच्छे प्रकार (आनिनाय) लाया है, (तम् उ) उस ही (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] को, (सखायः) हे मित्रों ! (वः) तुम्हारी (ऊतये) रक्षा के लिये (स्तुषे) मैं सराहता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पहले ही से धीर वीर होवे, लोग उसकी बड़ाई कर के गुण ग्रहण करें ॥ ३ ॥

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत । आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥ ४ ॥

हरि-अश्वम् । सत्-पतिम् । चर्षणि-सहम् । सः । हि । स्म । यः । अमन्दत ॥ आ । तु । नः । सः । वयति । गव्यम् । अश्व्यम् । स्तोतृ-भ्यः । मघ-वा । शतम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (हि) ही (स्म) अवश्य [मनुष्य है], (यः) जिस ने (हर्यश्वम्) ले चलने वाले घोड़ों से युक्त, (सत्पतिम्)

सत्पुरुषों के रक्षक, (चर्षणीसहम्) मनुष्यों को नियम में रखने वाले [राजा] को (अमन्दत) प्रसन्न किया है। (सः) वह (मघवा) महाधनी (तु) तौ (नः) हम (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों को (शतम्) सौ [बहुत] (गव्यम्) गौओं का समूह और (अश्व्यम्) घोड़ों का समूह (आ वयति) लाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण आज्ञा मानकर शूर धर्मात्मा राजा को प्रसन्न रक्खें, जिस से वह उत्तम प्रबन्ध के साथ प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ४ ॥

मन्त्राः ५—१० परमेश्वरगुणोपदेशः—मन्त्र ५—१० परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् । धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ५ ॥

इन्द्राय । साम । गायत । विप्राय । बृहते । बृहत् ॥ धर्म-कृते । विपः-चिते । पनस्यवे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (विप्राय) बुद्धिमान्, (बृहते) महान्, (धर्मकृते) धर्म [धारण योग्य नियम] के बनाने वाले, (विपश्चिते) विशेष महाज्ञानी, (पनस्यवे) सब के लिये व्यवहार चाहने वाले, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] के लिये (बृहत्) बड़े (साम) साम [दुःखनाशक मोक्षज्ञान] का (गायत) तुम गान करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदद्वारा धर्म विधान पर चलकर परमात्मा की उपासना से बुद्धिमान् और व्यवहार कुशल होकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ॥ ५ ॥

मन्त्र ५—७ ऋग्वेद में हैं—८ । ९८ [सायण भाष्य ८७] । १-३ । सामवेद—उ० ३ । २ । तृच २२, मन्त्र ५, पू० ४ । १० । ८ ॥

५—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (साम) अ० ७ । ५४ । १ । दुःखनाशकं मोक्षज्ञानम् (गायत) पठत (विप्राय) मेधाविने (बृहते) महते (बृहत्) महत् (धर्मकृते) धर्मस्य धारणीयनियमस्य कर्त्रे (विपश्चिते) अ० ६ । ५२ । ३ । वि+प्र+चिती संज्ञाने—क्विप् । विशेषमहाज्ञानिने (पनस्यवे) पन स्तुतौ व्यवहारे च—असुन्—क्यच्—उ । सर्वेभ्यो व्यवहारमिच्छते ॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥ ६ ॥

त्वम्। इन्द्र। अभि-भूः। असि। त्वम्। सूर्यम्। अरोचयः॥ विश्व-कर्मा। विश्व-देवः। महान्। असि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वम्) तू (अभिभूः) विजयी (असि) है, (त्वम्) तू ने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयः) चमक दी है। तू (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा [सब का बनाने वाला], (विश्वदेवः) विश्वदेव [सब का पूजनीय] और (महान्) महान् [अति प्रबल] (असि) है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस महाबली परमात्मा की उपासना से अपने आत्मा को बलवान् करें ॥ ६ ॥

विभ्राजं ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥ ७ ॥

वि-भ्राजन्। ज्योतिषा। स्वः। अगच्छः। रोचनम्। दिवः॥ देवाः। ते। इन्द्र। सख्याय। येमिरे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (विभ्राजन्) चमकता हुआ तू (दिवः) सूर्य के (रोचनम्) चमकाने वाले (स्वः) अपने आनन्द स्वरूप को (अगच्छः) प्राप्त हुआ है,

---

६—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (अभिभूः) अभिभविता। विजेता (असि) (त्वम्) (सूर्यम्) रविमण्डलम् (अरोचयः) अदीपयः (विश्वकर्मा) सर्वस्य कर्ता (विश्वदेवः) सर्वैः स्तुत्यः (महान्) अतिप्रबलः (असि ॥

७—(विभ्राजन्) विविधं प्रकाशमानः (ज्योतिषा) स्वतेजसा (स्वः) स्वकीयं सुखस्वरूपम् (अगच्छः) प्राप्तवानसि (रोचनम्) प्रकाशकम् (दिवः) सूर्यस्य (देवाः) विद्वांसः (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन्

(देवाः) विद्वानों ने (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिये (येमिरे) उद्योग किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो प्रकाश स्वरूप परमात्मा अपनी महिमा से प्रत्येक वस्तु में चमकता है, उसकी उपासना से हम अपने आत्मा में प्रकाश करें ॥ ७ ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ८ ॥

तम् । ऊं इति । अभि । प्र । गायत । पुरु-हूतम् । पुरु-स्तुतम् ॥ इन्द्रम् । गीः-भिः । तविषम् । आ । विवासत ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानों !] (तम् उ) उस ही (पुरुहूतम्) बहुत पुकारे हुये, (पुरुष्टुतम्) बहुत बड़ाई किये हुये, (तविषम्) महान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (अभि) सब ओर से (प्र) भले प्रकार (गायत) गाओ, और (गीर्भिः) वाणियों से (आ) सब प्रकार (विवासत) सत्कार करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा सब से बड़ा है, उसी के गुणों को हृदय में धारण करके आत्मबल बढ़ाओ ॥ ८ ॥

मन्त्र ८—१० आचके हैं— अ० २० । ६१ । ४—६ ॥

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ९ ॥

यस्य । द्वि-बर्हसः । बृहत् । सहः । दाधार । रोदसी इति ॥ गिरीन् । अज्रान् । अपः । स्वः । वृष-त्वना ॥ ९ ॥

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ १० ॥

(सख्याय) मित्रत्वाय (येमिरे) नियमितवन्तः । उद्यतवन्तः ॥

८—१० । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ०२० । ६१ । ४—६ ॥

सः । राजसि । पुरु-स्तुत । एकः । वृत्राणि । जिघ्नसे ॥
इन्द्र । जैत्रा । श्रवस्या । च । यन्तवे ॥ १० ॥

भाषार्थ—(द्विबर्हसः) दोनों विद्या और पुरुषार्थ में बढ़े हुये (यस्य) जिस [परमात्मा] के (बृहत्) बड़े (सहः) सामर्थ्य ने (रोदसी) सूर्य और भूमि, (अज्रान) शीघ्रगामी (गिरीन्) मेघों, (अपः) जलों [समुद्र आदि] और (स्वः) प्रकाश को (वृषत्वना) बल के साथ (दाधार) धारण किया है ॥९॥ (पुरुष्टुत) हे बहुत स्तुति किये हुये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (सः) सो (एकः) अकेला तू (जैत्रा) जीतने वालों के योग्य धनों (च) और (श्रवस्या) यश के लिये हितकारी कर्मों को (यन्तवे) नियम में रखने के लिये (राजसि) राज्य करता है, और (वृत्राणि) रोकने वाले विघ्नों को (जिघ्नसे) मिटाता है ॥ १० ॥

भावार्थ—अकेला महाविद्वान् और महापुरुषार्थी परमात्मा सब को परस्पर धारण आकर्षण से चलाता हुआ अपने विश्वासी भक्तों को उनके पुरुषार्थ के अनुसार धन और कीर्ति देता है ॥ ९, १० ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१—९ ॥ १—३ इन्द्रो विश्वेदेवाश्च देवताः; ४—९ इन्द्रो देवता ॥

१—विराट् पङ्क्तिः; २, ३ निचृत् त्रिष्टुप्; ४—६, ९ उष्णिक्; ७, ८ निचृदुष्णिक् ॥

१—९ राजप्रजाधर्मोपदेशः—१९, राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ १ ॥

इमा । नु । कम् । भुवना । सीसधाम । इन्द्रः । च । विश्वे । च । देवाः ॥ यज्ञम् । च । नः । तन्वम् । च । प्र-जाम् । च । आदित्यैः । इन्द्रः । सह । चीक्लृपाति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमा) यह (भुवना) उत्पन्न पदार्थ, (च) और (इन्द्रः)

१—(इमा) इमानि (नु) क्षिप्रम् (कम्) सुखम् (भुवना) उत्पन्नानि

इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (च) और (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग हम (नु) शीघ्र (कम्) सुख को (सीसधाम) सिद्ध करें (आदित्यैः सह) अखण्ड ब्रह्मचारी विद्वानों के साथ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [मेल मिलाप आदि] (च) और (तन्वम्) शरीर (च) और (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] को (च) भी (चीक्लृपाति) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति राजा और सभासद् लोग संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सब की यथावत् रक्षा करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ पूर्वार्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५७ । १—५ यजुर्वेद—२५ । ४६ सामवेद—उ० ४ । १ । तृच २३ । मन्त्र ३ उत्तरार्द्ध ऋग्वेद में है—६ । १७ । १५ और सामवेद—पू० ५ । ७ । ८; मन्त्र १—३ आगे हैं—अ० २० । १२४ । ४—६ ॥

आ॒दि॒त्यैरिन्द्रः॒ सग॑णो म॒रुद्भि॑र॒स्माकं॑ भूत्वबि॒ता त॒नूना॑म् । ह॒त्वाय॑ दे॒वा असु॑रा॒न् यदाय॑न् दे॒वा दे॑व॒त्वम॑भि॒रक्ष॑माणाः ॥२॥

आ॒दि॒त्यैः । इन्द्रः॑ । स-ग॑णः । म॒रुत्-भिः॑ । अ॒स्माक॑म् । भू॒तु॒ । अ॒वि॒ता । त॒नूना॑म् ॥ ह॒त्वाय॑ । दे॒वाः । असु॑रान् । यत् । आय॑न् । दे॒वाः । दे॒व-त्वम् । अ॒भि-रक्ष॑माणाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सगणः) गणों [सुभट वीरों] के साथ वर्तमान (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (आदित्यैः) अखण्ड व्रतधारी (मरुद्भिः) शूर मनुष्यों के साथ (अस्माकम्) हमारे (तनूनाम्) शरीरों का (अविता)

भूतजातानि (सीसधाम) साधयेम (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभापतिः (च) (विश्वे) सर्वे (च) (देवाः) विद्वांसः सभासदः (यज्ञम्) संगतिकरण-व्यवहारम् (च) (नः) अस्माकम् (तन्वम्) शरीरम् (च) (प्रजाम्) सन्तानादि-रूपाम् (च) (आदित्यैः) अखण्डब्रह्मचारिभिः विद्वद्भिः (इन्द्रः) (सह) (चीक्लृपाति) कृपू सामर्थ्ये—लेट् । कल्पयेत् समर्थयेत् ॥

२—(आदित्यैः) अखण्डव्रतिभिः (इन्द्रः) [illegible] सभापतिः (सगणः) गणैः सुभटवीरैः सह वर्तमानः (मरुद्भिः) शूरमनुष्यैः (अस्माकम्) (भूतु) भवतु (अविता) रक्षकः (तनूनाम्) शरीराणाम् (हत्वाय) कत्वाछन्दसि

रक्षक (भुतु) होवे । (यत्) क्योंकि (असुरान्) असुरों [दुराचारियों] को (हत्वाय) मारकर (देवाः) विजय चाहने वाले (अभिरक्षमाणाः) सब ओर से रक्षा करते हुये (देवाः) विद्वानों ने (देवत्वम्) देवतापन [उत्तमपद] (आयन्) पाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शूर वीर विद्वानों के साथ प्रजा की रक्षा कर सके, वही अपने उत्तम कर्मों के कारण उत्तमपद सभापतित्व आदि के योग्य होवे ॥ २ ॥

प्रत्यञ्चमर्कमनयं॒ञ्छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ३ ॥

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । अनयन् । शचीभिः । आत् । इत् ।
स्वधाम् । इषिराम् । परि । अपश्यन् ॥ अया । वाजम् ।
देव-हितम् । सनेम । मदेम । शत-हिमाः । सु-वीराः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष पाने योग्य (अर्कम्) पूजनीय व्यवहार को (शचीभिः) अपने कर्मों से (अनयन्) उन [विद्वानों] ने प्राप्त कराया है, और (आत् इत्) तभी (इषिराम) चलाने वाली (स्वधाम्) आत्म धारण शक्ति को (परि) सब ओर (अपश्यन्) देखा है । (अया) इसी [नीति] से (शतहिमाः) सौ वर्षों जीते हुये (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले हम (देवहितम्) विद्वानों के हितकारी (वाजम्) विज्ञान को (सनेम) देवें और (मदेम)

प्रयोग श्छान्दसः । हत्वा । नाशयित्वा (देवाः) विजिगीषवः (असुरान्) सुरविरोधिनः । दुराचारिणः पुरुषान् (यत्) यतः (आयन्) इण गतौ—लङ् ॥ अगच्छन् । प्राप्नुवन् (देवाः) विद्वांसः (देवत्वम्) दिव्यपदम् (अभिरक्षमाणाः) सर्वतो रक्षन्तः ॥

३—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षेण गन्तव्यं प्रापणीयम् (अर्कम्) अर्चनीयं व्यवहारम् (अनयन्) प्रापयन् ते विद्वांसः (शचीभिः) स्वकर्मभिः (आत्) अनन्तरम् (इत्) एव (स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (इषिराम्) अ० ५ । १ । ६ । गमयित्रीम् (परि) सर्वतः (अपश्यन्) अवलोकितवन्तः (अया) अनया नीत्या (वाजम्) विज्ञानम् (देवहितम्) विद्वद्भ्यो हितकारिणम् (सनेम) विभजेम । दद्याम (मदेम) आनन्देम (शतहिमाः) शतवर्षजीविनः (सुवीराः)

आनन्द करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोग अपने उत्तम कर्मों से संसार का उपकार करते रहे हैं, वैसे ही हम श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्यों को वीर बनाकर आनन्द देवें ॥ ३ ॥

य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे । ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ४ ॥

यः । एकः । इत् । वि-दयते । वसु । मर्ताय । दाशुषे ॥ ईशानः । अप्रति-स्कुतः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (एकः) अकेला (इत्) ही (दाशुषे) दाता (मर्ताय) मनुष्य के लिये (वसु) धन (विदयते) बहुत प्रकार देता है, (अङ्ग) हे मित्र ! वह (ईशानः) समर्थ, (अप्रतिष्कुतः) बे रोक गतिवाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब में बड़ा उत्साही निर्भय शूर पुरुष हो, वही सभापति राजा होवे ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में है—१ । ८४ । ७—९; सामवेद—उ० ५ । २ । तृच २२; मन्त्र ७ साम०—पू० ४ । १० । ९ ॥

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् । कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ५ ॥

कदा । मर्तम् । अराधसम् । पदा । क्षुम्पम्-इव । स्फुरत् ॥ कदा । नः । शुश्रवत् । गिरः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ५ ॥

उत्तमवीरोपेताः ॥

४—(यः) पुरुषः (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (विदयते) विविधं ददाति (वसु) धनम् (मर्ताय) मनुष्याय (दाशुषे) दात्रे (ईशानः) समर्थः (अप्रतिष्कुतः) अ० २० । ४१ । १ । अप्रतिगतः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभापतिः (अङ्ग) हे मित्र ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे मित्र ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति आप] (कदा) कब (अराधसम्) आराधना न करने वाले (मर्तम्) मनुष्य को (पदा) पांव से (क्षुम्पम् इव) खुम्भी [गली लकड़ी से उगे हुये छत्राकार छोटे पौधे] के समान (स्फुरत्) नष्ट करेंगे और (कदा) कब (नः) हमारी (गिरः) वाणियों को (शुश्रवत्) सुनेंगे ॥ ५ ॥

भावार्थ--सभापति दुःखित प्रजा की पुकार सुनकर अनाज्ञाकारी दुष्ट को इस प्रकार गिरा देवे, जैसे खुम्भी वृक्ष पांव से कुचल जाता है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र निरुक्त में व्याख्यात है—५ । १६-१७ ॥

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति । उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ ६ ॥

यः । चित् । हि । त्वा । बहु-भ्यः । आ । सुत-वान् । आविवासति ॥ उग्रम् । तत् । पत्यते । शवः । इन्द्रः । अङ्ग ॥६

भाषार्थ—[हे प्रजागण !] (बहुभ्यः) बहुतों में से (यः चित् हि) जो कोई भी (सुतवान्) तत्त्वरस वाला [मनुष्य] (त्वा) तुझको (आ) निश्चय करके (आविवासति) भले प्रकार सेवा करता है, (तत्) उसी से (अङ्ग) हे मित्र ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (उग्रम्) भारी (शवः) बल (पत्यते) पाता है ॥ ६ ॥

५—(कदा) कस्मिन् काले (मर्तम्) मनुष्यम् (अराधसम्) अनाराधयन्तम्—निरु० ५ । १७ (पदा) पादेन (क्षुम्पम्) गलितकाष्ठोत्पन्नक्षुद्रवृक्षम् । अहिछत्रकम्—निरु० ५ । १६ (इव) यथा (स्फुरत्) स्फुरतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । अवस्फुरिष्यति । वधिष्यति (कदा) (नः) अस्माकम् (शुश्रवत्) श्रोष्यति—निरु० ५ । १७ (गिरः) वाणीः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभाध्यक्षो भवान् (अङ्ग) हे मित्र ॥

६—(यः चित्) यः कश्चित् (हि) एव (त्वा) त्वाम् । प्रजागणम् (बहुभ्यः) बहुमनुष्येभ्यः सकाशात् (आ) अवधारणे (सुतवान्) तत्त्वरसेन युक्तः (आविवासति) समन्तात् परिचरति (उग्रम्) प्रचण्डम् (तत्) तस्मात् कारणात् (पत्यते) प्राप्नोति (शवः) बलम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभापतिः (अङ्ग) हे मित्र ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा की सेवा करता है, वही बलवान् होकर ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

७—६ परमेश्वरगुणोपदेशः—७-६ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति । येना हंसि न्य१त्रिणं तमीमहे ॥ ७ ॥

यः । इन्द्र । सोम-पातमः । मदः । शविष्ठ । चेतति ॥ येन । हंसि । नि । अत्रिणम् । तम् । ईमहे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शविष्ठ) हे महाबली ! (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] [तेरा] (यः) जो (सोमपातमः) ऐश्वर्य का अत्यन्त रक्षक (मदः) आनन्द (चेतति) चेताने वाला है, और (येन) जिस [आनन्द] से (अत्रिणम्) खाऊ [स्वार्थी दुर्जन] को (नि हंसि) तू मार गिराता है, (तम्) उस [आनन्द] को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा स्वार्थी दुष्टों को दण्ड देकर श्रेष्ठों को सुख देता है, उस की उपासना सदा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—६ ऋग्वेद में हैं—८ । १२ । १—३ । मन्त्र ७ साम०—पू० ५ । १ । ४ ॥

येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् । येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८ ॥

येन । दश-ग्वम् । अध्रि-गुम् । वेपयन्तम् । स्वः-नरम् ॥ येन । समुद्रम् । आविथ । तम् । ईमहे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (येन) जिस [नियम] से (दशग्वम्)

७—(यः) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सोमपातमः) ऐश्वर्यस्य रक्षितृतमः (मदः) आनन्दः (शविष्ठ) हे शवस्वितम । बलवत्तम (चेतति) चेतयिता भवति (येन) मदेन (हंसि) नाशयसि (नि) नितराम् (अत्रिणम्) अत्तारम् । स्वार्थिनम् (तम्) मदम् (ईमहे) याचामहे ॥

८—(येन) नियमेन (दशग्वम्) दश+गम्लृ गतौ-ड्वप्रत्ययः । दशदिक्षु

दस दिशाओं में जाने वाले, (अध्रिगुम्) बे रोक गति वाले, (वेपयन्तम्) [वैरियों को] कंपाते हुये, (स्वर्णरम्) सुख पहुंचाने वाले [वीर] को और (येन) जिस [नियम] से (समुद्रम्) समुद्र के समान [गम्भीर पुरुष] को (आविथ) तू ने बचाया है, (तम्) उस [नियम] को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो आनन्दस्वरूप जगदीश्वर पुरुषार्थियों को सदा सहाय देता है, उसी की उपासना से पुरुषार्थ करके हम सुखी होवें ॥ ८ ॥

येन॒ सिन्धुं॑ म॒हीर॒पो रथाँ॑ इव प्रचो॒दयः॑ । पन्था॑मृ॒तस्य॒ यात॑वे॒ तमी॑महे ॥ ९ ॥

येन॑ । सिन्धु॑म् । म॒हीः । अ॒पः । रथा॑न्ऽइव । प्र॒ऽचो॒दयः॑ ॥ पन्था॑म् । ऋ॒तस्य॑ । यात॑वे । तम् । ई॒म॒हे॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे जगदीश्वर !] (येन) जिस [नियम] से (सिन्धुम्) समुद्र में (महीः) भारी (अपः) जलों को (रथान् इव) रथों के समान (प्रचोदयः) तू ने चलाया है, (ऋतस्य) सत्य के (पन्थाम्) मार्ग पर (यातवे) चलने के लिये (तम्) उस [नियम] को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार नियम से परमात्मा अन्तरिक्ष और पृथिवी के समुद्र में जगत् के उपकार के लिये जल भरता और रीता करता है, वैसे ही परमेश्वर की उपासना के साथ हम नियम पूर्वक पुरुषार्थी होकर उपकार करें ॥ ९ ॥

गन्तारम् (अध्रिगुम्) अ० २० । ३५ । १ । अधृतगमनम् । अनिवारितगतिम् (वेपयन्तम्) शत्रून् कम्पयन्तम् (स्वर्णरम्) सुखस्य नेतारं प्रापयितारम् (येन) नियमेन (समुद्रम्) समुद्रमिव गम्भीरं पुरुषम् (आविथ) त्वं ररक्षिथ (तम्) नियमम् (ईमहे) याचामहे ॥

९—(येन) नियमेन (सिन्धुम्) अन्तरिक्षपृथिवीस्थसमुद्रं प्रति (महीः) महतीः (अपः) जलानि (रथान्) (इव) यथा (प्रचोदयः) लुङि रूपम् । प्रेरितवानसि (पन्थाम्) पन्थानम् (ऋतस्य) सत्यस्य (यातवे) यातुम् । गन्तुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ६४ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३, ५, ६, विराडार्च्युष्णिक्; २, ४ उष्णिक् ॥
परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

एन्द्र नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः। गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः ॥ १ ॥

आ। इन्द्र। नः। गधि। प्रियः। सत्रा-जित्। अगोह्यः॥ गिरिः। न। विश्वतः। पृथुः। पतिः। दिवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (प्रियः) प्यारा, (सत्राजित्) सत्य से जीतने वाला, (अगोह्यः) न छिपने वाला तू (नः) हमको (आ) सब ओर से (गधि) प्राप्त हो, तू (गिरिः न) मेह के समान (विश्वतः) सब ओर से (पृथुः) फैला हुआ, (दिवः) प्राप्ति योग्य सुख का (पतिः) स्वामी है ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वहितकारी, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना से मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८। ९८ [सायण भाष्य ८ ७]। ४—६; सामवेद—उ० ५। १। तृच १९; मन्त्र १—साम०—पू० ५। १। ३ ॥

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी। इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २ ॥

अभि। हि। सत्य। सोम-पाः। उभे इति। बभूथ। रोदसी इति॥ इन्द्र। असि। सुन्वतः। वृधः। पतिः। दिवः ॥२॥

१—(आ) समन्तात् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (नः) अस्मान् (गधि) [illegible] प्राप्नुहि (प्रियः) हितकरः (सत्राजित्) सत्येन जेता (अगोह्यः) अगोपनीयः। सुप्रकटः (गिरिः) मेघः (न) इव (विश्वतः) सर्वतः (पृथुः) विस्तृतः (पतिः) स्वामी (दिवः) [illegible] सुखस्य ॥

भाषार्थ—(सत्य) हे सत्य स्वरूप ! (सोमपाः) हे ऐश्वर्य रक्षक ! (हि) निश्चय कर के (उभे) दोनों (रोदसी) सूर्य और भूमि को (अभि बभूथ) तू ने वश में किया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मन्] तू (सुन्वतः) तत्त्व रस निचोड़ने वाले पुरुष का (वृधः) बढ़ाने वाला, (दिवः) सुख का (पतिः) स्वामी (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी आदि लोकों के रचने वाले परमात्मा की उपासना से हम तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर के वृद्धि करें ॥ २ ॥

त्वं हि शश्व॑तीनामिन्द्र॑ दुर्ता पुरामसि । हुन्ता दस्योर्मनो॑र्वृधः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥

त्वम् । हि । शश्व॑तीनाम् । इन्द्र॑ । दुर्ता । पुराम् । असि ॥ हुन्ता । दस्योः । मनोः । वृधः । पतिः । दिवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वम्) तू (हि) ही [शत्रुओं की] (शश्वतीनाम्) सब (पुराम्) नगरियों का (दर्ता) तोड़ने वाला, (दस्योः) डाकू का (हन्ता) मारने वाला और (मनोः) ज्ञानी का (वृधः) बढ़ाने वाला, (दिवः) सुख का (पतिः) स्वामी (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब विघ्नों को मिटा कर अपने भक्तों की उन्नति कर के सुख देता है ॥ ३ ॥

२—(अभि बभूथ) अभिबभूविथ । अभिभूतवानसि (हि) निश्चयेन (सत्य) हे अविनाशिस्वरूप (सोमपाः) हे ऐश्वर्यरक्षक (उभे) द्वे (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (असि) भवसि (सुन्वतः) तत्त्वरसं संस्कुर्वतः पुरुषस्य (वृधः) वर्धयिता । अन्यद् गतम् ॥

३—(त्वम्) (हि) एव (शश्वतीनाम्) बह्वीनाम् । सर्वासाम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (दर्ता) विदारयिता (पुराम्) शत्रुनगरीणाम् (असि) (हन्ता) घातकः (दस्योः) परधनापहर्तुः (मनोः) मननशीलस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

एदु मध्वो मुदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥ ४ ॥

आ । इत् । ऊं इति । मध्वः। मुदिन्-तरम् । सिञ्च । वा । अध्वर्यो इति । अन्धसः ॥ एव । हि । वीरः । स्तवते । सदा-वृधः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अध्वर्यो) हे हिंसा न चाहने वाले पुरुष ! (मध्वः) ज्ञान [मधु विद्या] के (वा) और (अन्धसः) अन्न के (मदिन्तरम्) अधिक आनन्द देने वाले रस को (इत् उ) अवश्य ही (आ) सब ओर (सिञ्च) सींच, (सदावृधः) सदा बढ़ाने वाला (वीरः) वीर (एव) इस प्रकार (हि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष हिंसा कर्म छोड़ कर विद्या और अन्न आदि की प्राप्ति के तत्त्व सिद्धान्तों का प्रकाश करके वीरों के समान कीर्ति पावे ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—८ । २४ । १६—१८; कुछ भेद से सामवेद—उ० ८ । २ । । तृच १०; मन्त्र ४—साम०—पू० ४ । १० । ५ ॥

इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् । उदानंश शवसा न भन्दना ॥ ५ ॥

इन्द्र । स्थातः । हरीणाम् । नकिः । ते । पूर्व्य-स्तुतिम् ॥ उत् । आनंश । शवसा । न । भन्दना ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हरीणाम्) दुःख हरने वाले मनुष्यों में (स्थातः) ठह-

४—(आ) समन्तात् (इत्) अवश्यम् (उ) अवधारणे (मध्वः) मधुनः । निश्चितज्ञानस्य (मदिन्तरम्) नादयितृ । पा० ८ । २ । १७ । इति तरपो नुडागमः । मादयितृतरं रसम् (सिञ्च) सिक्तं कुरु (वा) चार्थे (अध्वर्यो) अ० १८ । ४ । १५ । हे अहिंसामिच्छुक (एव) एवम् (हि) निश्चयेन (वीरः) शूरः (स्तवते) स्तूयते (सदावृधः) सर्वदा वर्धयिता ॥

५—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (स्थातः) हे स्थितिशील (हरीणाम्)

रने वाले (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) प्राचीन बड़ाई को (नकिः) न किसी ने (शवसा) अपने बल से और (न) न (भन्दना) शुभ कर्म से (उत् आनंश) पाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—संसार के बीच एक परमात्मा ही सर्वशक्तिमान् और सर्व-दुःखनाशक है, उसी के उपासना से मनुष्य उपकार शक्ति बढ़ावे ॥ ५ ॥

तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः । अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधेन्यम् ॥ ६ ॥

तम् । वः । वाजानाम् । पतिम् । अहूमहि । श्रवस्यवः ॥ अप्रायु-भिः । यज्ञेभिः । ववृधेन्यम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (वाजानाम्) बलों के (पतिम्) स्वामी, (अप्रायुभिः) बिना भूल (यज्ञेभिः) पूजनीय व्यवहारों से (ववृधेन्यम्) बढ़ाने वाले [परमात्मा] को (श्रवस्यवः) कीर्ति चाहने वाले हम लोगों ने (अहूमहि) पुकारा है ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! सब बलों के दाता, सदा उपकार कर के बढ़ाने वाले परमात्मा की आराधना से हम सामर्थ्य बढ़ा कर कीर्ति पावें ॥ ६ ॥

हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । दुःखहर्तॄणां मनुष्याणां मध्ये (नकिः) नकश्चिदपि (ते) तव (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्व्यं पुराणनाम—घि० ३ । २७ । प्राचीनप्रशंसाम् (उत्) (आनंश) अशू व्याप्तौ—लिट् । प्राप्तवान् (शवसा) स्वबलेन (न) निषेधे (भन्दना) भदि कल्याणे सुखे च—युच्, विभक्तेराकारः । शुभकर्मणा ॥

६—(तम्) प्रसिद्धम् (वः) युष्मदर्थम् (वाजानाम्) बलानाम (पतिम्) स्वामिनम् (अहूमहि) ह्वयतेर्लुङ् । वयमाहूतवन्तः (श्रवस्यवः) कीर्तिकामाः (अप्रायुभिः) न + प्र + आङ् + युज् बन्धने, यद्वा युछ् निन्दने —डु । निर्दोषैः । निरालसैः । अप्रमादिभिः (यज्ञेभिः) पूजनीयव्यवहारैः (ववृधेन्यम्) वृञ्रणवः । उ० ३ । ६८ । वृधु वृद्धौ—एण्यः, सच कित् द्वित्वं च, अन्तर्गतण्यर्थः । वर्धयितारम् ॥

सूक्तम् ६५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ आर्षी गायत्री; २ निचृदुष्णिक्; ३ विराडार्ष्युष्णिक् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् । कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥ १ ॥

एतो इति । नु । इन्द्रम् । स्तवाम । सखायः । स्तोम्यम् । नरम् ॥ कृष्टीः । यः । विश्वाः । अभि । अस्ति । एकः । इत् ॥ १

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (नु) शीघ्र (एतो) आओ भी, (स्तोम्यम्) स्तुति योग्य, (नरम्) नेता [प्रेरक] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] की (स्तवाम) हम स्तुति करें, (यः) जो (एकः) अकेला (इत्) ही (विश्वाः) सब (कृष्टीः) मनुष्यों को (अभि अस्ति) वश में रखता है ॥ १ ॥

भावार्थ—हम सब मिलकर सर्वशक्तिमान् परमात्मा की स्तुति करके आनन्द पावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—गत सूक्त से आगे, ८ । २४ । १९—२१ । म० १ साम०—पू० ४ । १० । ७ ॥

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः । घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥ २ ॥

अगो-रुधाय । गो-इषे । द्युक्षाय । दस्म्यम् । वचः ॥ घृतात् । स्वादीयः । मधुनः । च । वोचत ॥ २ ॥

१—(एतो) आ, इत, उ । आगच्छतैव (नु) क्षिप्रम्) (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (स्तवाम) प्रशंसाम (सखायः)हे सुहृदः (स्तोम्यम्) स्तुतियोग्यम् (नरम्) नेतारम् । प्रेरकम् (कृष्टीः) मनुष्यप्रजाः (विश्वाः) सर्वाः (यः) (अभि अस्ति) अभिभवति । वशीकरोति (एकः) असहायः (इत्) एव ॥

यस्यामितानि वीर्या३ न राधः पर्येतवे । ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा ॥ ३ ॥

यस्य । अमितानि । वीर्या । न । राधः । परि-एतवे ॥ ज्योतिः । न । विश्वम् । अभि । अस्ति । दक्षिणा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अगोरुधाय) इष्टि को न रोकने वाले, (गविषे) स्तोताओं [गुण व्याख्याताओं] को चाहने वाले, (द्युक्षाय) व्यवहारों में गति वाले [उस परमेश्वर] के लिये (घृतात्) घृत से (च) और (मधुनः) मधु [रस विशेष] से (स्वादीयः) अधिक स्वादु और (दस्म्यम्) दर्शनीय [विचारणीय] (वचः) वचन (वोचत) तुम बोलो ॥ २ ॥ (यस्य) जिस [परमात्मा] के (वीर्या) वीर कर्म (अमितानि) बे नाप हैं, [जिसका] (राधः) धन (पर्येतवे) पार पाने योग्य (न) नहीं है, और [जिसकी] (दक्षिणा) दक्षिणा [दान-शक्ति], (ज्योतिः न) प्रकाश के समान (विश्वम् अभि) सब पर फैलकर (अस्ति) वर्तमान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! तुम परमेश्वर की स्तुति नम्रता पूर्वक करके अपना सामर्थ्य बढ़ाओ, वह जगदीश्वर अनन्तबली, अनन्त धनी और अनन्त दानी है ॥ २, ३ ॥

२—(अगोरुधाय) गमेर्डो । उ० २ । ६७ । गच्छतेर्डो, रुधिर् आवरणे—कप्रत्ययः । अदृष्टिरोधकाय (गविषे) गो+इषु इच्छायाम्-क्विप् । गौः स्तोतृनाम-निघ- ३ । १६ । स्तोतॄन् इच्छवे (द्युक्षाय) अ० २० । ६ । २ । व्यवहारेषु गतिशीलाय (दस्म्यम्) अ० २० । १७ । २ । दस्म—यत् । दर्शनार्हम् । विचारणीयम् (वचः) वचनम् (घृतात्) आज्यात् (स्वादीयः) स्वादुतरम् (मधुनः) रसविशेषात् (च) (वोचत) लोडर्थे लुङ्, अडभावः । ब्रूत ॥

३—(यस्य) इन्द्रस्य । परमेश्वरस्य (अमितानि) परिमाणरहितानि (वीर्या) वीरकर्माणि (न) निषेधे (राधः) धनम् (पर्येतवे) इण् गतौ—तवेन् । परिगन्तुं प्राप्तुं शक्यम् (ज्योतिः) तेजः (न) यथा (विश्वम्) सर्वं जगत् (अभि) अभीत्य । व्याप्य (अस्ति) वर्तते (दक्षिणा) दानशक्तिः ॥

सूक्तम् ६६ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडुष्णिक्; २ निचृदुष्णिक्; ३ आर्ष्युष्णिक् ॥

ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य लक्षणोपदेशः—ऐश्वर्यवान् पुरुष के लक्षणों का उपदेश ॥

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् । अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ १ ॥

स्तुहि । इन्द्रम् । व्यश्व-वत् । अनूर्मिम् । वाजिनम् । यमम् ॥ अर्यः । गयम् । मंहमानम् । वि । दाशुषे ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (व्यश्ववत्) विविध वेग वाले पुरुष के समान (अनूर्मिम्) बिना पीड़ाओं वाले, (वाजिनम) पराक्रमी, (यमम्) न्यायकारी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] की (स्तुहि) स्तुति कर। (अर्यः) स्वामी (दाशुषे) आत्मदानी भक्त के लिये (वि) विविध प्रकार (मंहमानम्) बढ़ते हुये (गयम्) धन सदृश है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पराक्रम करके भूख आदि पीड़ाओं से बचा रहता है, उस के गुणों को ग्रहण कर के मनुष्य सुखी होवें । विद्वानों ने छह पीड़ायें मानी हैं, जिन से बचने का मनुष्य उपाय करता रहे—[बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य, मनसः स्मृतौ । शोकमोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः ॥ १ ॥] प्राण की भूख और प्यास, मन की शोक और मोह, शरीर की जरा और मृत्यु, यह छह पीड़ायें कही गयी हैं ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—गतसूक्त से आगे, ८ । २४ । २२-२४ ॥

१—(स्तुहि) प्रशंस (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (व्यश्ववत्) वि+अशू व्याप्तौ-कन्; सादृश्ये वतिः । विविधवेगवान् पुरुष इव (अनूर्मिम्) ऊर्मिभिर्बुभुक्षापिपासादिषट्पीडाभीरहितम् (वाजिनम्) पराक्रमिणम् (यमम्) न्यायिनम् (आर्यः) स्वामी (गयम्) धनरूपम् (मंहमानम्) महि वृद्धौ—शानच् । वर्धमानम् (वि) विविधम् (दाशुषे), आत्मदानिने भक्ताय ॥

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम्। सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥ २ ॥

एव। नूनम्। उप। स्तुहि। वैयश्व। दशमम्। नवम् ॥ सु-विद्वांसम्। चर्कृत्यम्। चरणीनाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वैयश्व) हे विविध वेग वाले पुरुष! (दशमम्) प्रकाशमान [अथवा जीवन के दसवें काल तक] (नवम्) स्तुति योग्य [वा नवीन अर्थात् बलवान्], (सुविद्वांसम्) बड़े विद्वान् और (चरणीनाम्) चलने वाले मनुष्यों में (चर्कृत्यम्) अत्यन्त करने योग्य कर्मों में चतुर की (एव) निश्चय करके (नूनम्) अवश्य (उप) आदर से (स्तुहि) तू स्तुति कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष बड़े प्रतापी, जीवन के सौ वर्ष में से नब्बे वर्ष के ऊपर भी अर्थात् अन्त काल तक आत्मिक और शारीरिक बल वाले कर्मकुशल वीर होवें, उनके गुणों को सब मनुष्य ग्रहण करें ॥ २ ॥

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥ ३ ॥

वेत्थ। हि। निः-ऋतीनाम्। वज्र-हस्त। परि-वृजम् ॥

२—(एव) निश्चयेन (नूनम्) अवश्यम् (उप) पूजायाम् (स्तुहि) प्रशंस (वैयश्व) वि+अश्व—अण्। न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्। पा० ७। ३। ३। इति ऐकारागमः। अश्वो वेगः। हे विविधवेगवन् पुरुष (दशमम्) प्रथेरमच्। उ० ५। ६८। दशि भाषायां दीप्तौ च—अमच्, नकारलोपः। दीप्यमानम्। यद्वा दशानां पूरणः, डटि मुडागमः। पुरुषाणां शतायुष्यनियमात् तस्यायुषो दशधा विभागे नवत्यधिकायामवस्थायां वर्तमानम्। अतिवृद्धावस्थापर्यन्तम (नवम्) स्तुत्यम्। नवीनं बलवन्तम् (सुविद्वांसम्) अतिशयेन ज्ञानिनम् (चर्कृत्यम्) अ० ६। ६८। १। यङ्लुगन्तात् करोतेः—क, ततः साध्वर्थे—यत्। चर्कृतेषु अतिशयेन कर्तव्येषु कर्मसु कुशलम् (चरणीनाम्) अर्तिसृधृ०। उ० २। १०२। चर गतिभक्षणयोः—अनि। चरणीनां गमनशीलानां मनुष्याणाम् ॥

अहः-अहः । शुन्ध्युः । पुरिपदाम्-इव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वज्रहस्त) हे वज्र हाथ में रखने वाले ! (हि) निश्चय करके (परिपदाम्) विपत्तियों के (शुन्ध्युः इव) शोधने वाले के समान (अहरहः) दिन दिन (निर्ऋतीनाम्) महाविपत्तियों के (परिवृजम्) रोकने को (वेत्थ) तू जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शूर पराक्रमियों के समान विघ्नों को हटाकर प्रजा की रक्षा करे, उसका सब लोग आदर करें ॥ ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

सूक्तम् ६७ ॥

१—७ ॥ १ इन्द्रः; २ मरुतः; ३ अग्निः; ४ मरुतो माधवश्च; ५ अग्निः शुचिश्च; ६ इन्द्रो नभश्च; ७ द्रविणोदाश्च देवताः ॥ १ विराडष्टिः; २ सुराडत्यष्टिः; ३ अष्टिः; ४ जगती; ५ सुराडार्षी त्रिष्टुप्; ६ भुरिक् त्रिष्टुप्; ७ आर्षी जगती ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः । सुन्वान इत् सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः । सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥१॥

वनोति । हि । सुन्वन् । क्षयम् । परीणसः । सुन्वानः । हि । स्म । यजति । अव । द्विषः । देवानाम् । अव । द्विषः ॥

३—(वेत्थ) संहितिको दीर्घः । वेत्सि । जानासि (हि) एव (निर्ऋतीनाम्) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तीनाम् निरु० २ । ७ (वज्रहस्त) हे वज्रपाणे (परिवृजम्) वृजी वर्जने—घञर्थे क । परिवर्जनम् । निवारणम् (अहरहः) दिनंदिनम् (शुन्ध्युः) अ० २० । १९ । १ । शोधकः (परिपदाम्) विपदाम् । विपत्तीनाम् (इव) यथा ॥

सुन्वानः । इत् । सिसासति । सहस्रा । वाजी । अवृतः ॥
सुन्वानाय । इन्द्रः । ददाति । आ-भुवम् । रयिम् ।
ददाति । आ-भुवम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुन्वन्) तत्त्व निकालता हुआ पुरुष (हि) ही (परीणसः) पाने योग्य धन के (क्षयम्) घर को (वनोति) सेवता है [भोगता है], (सुन्वानः) तत्त्व निकालता हुआ पुरुष (हि) ही (स्म) अवश्य (द्विषः) वैरियों को (अव यजति) दूर करता है, (देवानाम्) विद्वानों के (द्विषः) वैरियों को (अव) दूर [करता है], (सुन्वानः) तत्त्व रस निकालता हुआ पुरुष (इत्) ही (वाजी) पराक्रमी और (अवृतः) बे रोक होकर (सहस्रा) सैकड़ों सुख (सिसासति) देना चाहता है। (सुन्वानाय) तत्त्व निकालते हुये पुरुष को (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (आभुवम्) सब ओर से पाने योग्य (रयिम्) धन (ददाति) देता है, (आभुवम्) सब ओर से रहने योग्य [धन] (ददाति) देता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्याओं का सार ग्रहण कर के शत्रुओं को मारता

१—(वनोति) छान्दसं परस्मैपदम्। वनुते। सेवते (हि) निश्चयेन (सुन्वन्) षुञ् अभिषवे—शतृ। तत्त्वरसं निष्पादयन् (क्षयम्) गृहम् (परीणसः) परि+णस कौटिल्ये गतौ प्राप्तौ च—क्विप्। नसतेर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा—निरु० ७। १७। परितः प्रापणीयस्य धनस्य (सुन्वानः) षुञ् अभिषवे—शानच् विद्यानां तत्त्वरसं निष्पादयन् (हि) एव (स्म) अवश्यम् (अव यजति) अवयजनं दूरीकरणम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ८। १३। दूरीकरोति (द्विषः) द्वेष इन्। शत्रून् (देवानाम्) विदुषाम् (अव) दूरे (द्विषः) (सुन्वानः) (इत्) एव (सिसासति) षणु दाने—सन्। सनितुं दातुमिच्छति (सहस्रा) सहस्राणि सुखानि (वाजी) पराक्रमी (अवृतः) अनिवारितः (सुन्वानाय) तत्त्वरसं निष्पादयते (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (ददाति) प्रयच्छति (आभुवम्) आङ्+भू प्राप्तौ—घञर्थे कप्रत्ययः। समन्तात् प्रापणीयम् (रयिम्) धनम् (ददाति) (आभुवम्) भू सत्तायाम्—घञर्थे क। सर्वतो भवनशीलम् ॥

है, वही वीर सब को सुख देता और परमात्मा का प्रीति पात्र होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १३३ । ७ ॥

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत् पुरोत जारिषुः । यद् वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् । अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥ २ ॥

मो इति । सु । वः । अस्मत् । अभि । तानि । पौंस्या । सना । भूवन् । द्युम्नानि । मा । उत । जारिषुः । अस्मत् । पुरा । उत । जारिषुः ॥ यत् । वः । चित्रम् । युगे-युगे । नव्यम् । घोषात् । अमर्त्यम् ॥ अस्मासु । तत् । मरुतः । यत् । च । दुस्तरम् । दिधृत । यत् । च । दुस्तरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुओं के मारने वाले वीरो ! (अस्मत्) हम पर से (वः) तुम्हारे (तानि) वे (सना) सनातन [वा सेवनीय] (पौंस्या) मनुष्य कर्म [वा बल] (मो षु अभि भूवन्] कभी भी न हट जावें, (उत) और [तुम्हारे] (द्युम्नानि) चमकते हुये यश वा धन (मा जारिषुः) कभी न घटें, (उत) और (अस्मत्) हम से (पुरा) आगे को (जारिषुः) बड़ाई योग्य होवें। और (यत्) जो (वः) तुम्हारा (चित्रम्) विचित्र [अद्भुत] कर्म (युगे युगे)

२—(मो) नैव (सु) सुष्ठु (वः) युष्माकम् (अस्मत्) अस्मत्तः (अभि) अभिभवे (तानि) प्रसिद्धानि (पौंस्या) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । पुंस्—ष्यञ्, छान्दसो वृद्ध्यभावः(?)। पुंसां कर्माणि । बलानि—निघ० २ । ६ (सना) सनातनानि । सेवनीयानि (भूवन्) अडभावः । अभूवन् । भवन्तु (द्युम्नानि) अ० ६ । ३५ । ३ । द्योतमानानि यशांसि धनानि वा (मा) निषेधे (उत) अपि (जारिषुः) जॄ वयोहानौ, अडभावः । अजारिषुः जरन्तु । जीर्णानि क्षीणानि भवन्तु (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (पुरा) अग्र-काले (उत) (जारिषुः) जॄ स्तुतौ । स्तुत्यानि भवन्तु (यत्) कर्म (वः) युष्माकम् (चित्रम्) अद्भुतम् (युगेयुगे) समये समये । सर्वदा (नव्यम्) स्तुत्यम् ।

युग युग में [समय समय पर] (घोषात्) घोषणा देने से (नव्यम्) स्तुति योग्य [वा नवीन] और (अमर्त्यम्) मनुष्यों में दुर्लभ है, (च) और (यत्) जो कुछ (दुस्तरम्) पाने में कठिन (च) और (यत्) जो कुछ (दुस्तरम्) पाने में कठिन है, (तत्) उस को (अस्मासु) हम में (दिधृत) धारण करो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सदा आपस में मिल कर बल, यश और धन बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १३६ । ८ ॥

अ॒ग्निं होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तं॒ वसुं॑ सू॒नुं सह॑सो जा॒तवे॑दसं॒ विप्रं॒ न जा॒तवे॑दसम् । य ऊ॒र्ध्वया॑ स्वध्व॒रो दे॒वो दे॒वाच्या॑ कृ॒पा । घृ॒तस्य॒ विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑ वष्टि शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य स॒र्पिषः॑ ॥३॥

अ॒ग्निम् । होता॑रम् । म॒न्ये॒ । दास्व॑न्तम् । वसु॑म् । सू॒नुम् । सह॑सः । जा॒त-वे॑दसम् । विप्र॑म् । न । जा॒त-वे॑दसम् ॥ यः । ऊ॒र्ध्वया॑ । सु॒-अ॒ध्व॒रः । । दे॒वः । दे॒वाच्या॑ । कृ॒पा ॥ घृ॒तस्य॑ । वि-भ्रा॑ष्टिम् । अनु॑ । व॒ष्टि॒ । शो॒चिषा॑ । आ॒जुह्वा॑नस्य । स॒र्पिषः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(होतारम्) ग्रहण करने वाले, (दास्वन्तम्) दान करने वाले, (वसुम्) श्रेष्ठ गुण वाले, (सहसः) बलवान् पुरुष के (सूनुम्) पुत्र, (जातवेदासम्) प्रसिद्ध विद्या वाले (विप्रम् न) बुद्धिमान् के समान (जातवेद-

---

नूतनम्—निघ० ३ । १८ (घोषात्) घुषिर् शब्दे घञ् । घोषणायाः । ख्यापनार्थमुच्चैः शब्दकारणात् (अमर्त्यम्) अमरणधर्मकम् । मर्त्येषु दुर्लभम् । नाशरहितम् (अस्मासु) (तत्) (मरुतः) हे शत्रुनाशका वीराः (यत्) यत् किञ्चित् (च) (दुस्तरम्) दुःखेन तरितुं प्राप्तुं योग्यम् (दिधृत) शपः श्लुः, अभ्यासस्य ह्रस्वं च छान्दसम्, सांहितिको दीर्घः । धरत । स्थापयत (यत्) (च) (दुस्तरम्) ॥

३—(अग्निम्) अग्निवद् वर्तमानम् (होतारम्) ग्रहीतारम् (मन्ये) जानामि (दास्वन्तम्) दातारम् (वसुम्) श्रेष्ठगुणवन्तम् (सूनुम्) पुत्रम् (सहसः) मतुपो लोपः । सहस्वतः । बलवतः (जातवेदसम्) प्रसिद्धविद्यम्

सम्) प्रसिद्ध विद्या वाले विद्वान् को (अग्निम्) उस अग्नि के समान (मन्ये) मैं मानता हूं। (यः) जो (देवः) प्रकाशमान, (स्वध्वरः) अच्छे प्रकार हिंसा रहित यज्ञ का साधने वाला [अग्नि] (ऊर्ध्वया) ऊंची (देवाच्या) गतिशील [वायु आदि देवताओं] को पहुंचने वाली (कृपा) शक्ति के साथ (आजुह्वानस्य) होमे हुये और (सर्पिषः) पिघले हुये (घृतस्य) घी की (शोचिषा) शुद्धि से (विभ्राष्टिम्) विविध प्रकाश को (अनु) लगातार (वष्टि) चाहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष विद्या प्राप्त कर के संसार में ऐसा उपकारी होवे, जैसे अग्नि घृत आदि से प्रज्वलित होकर वायु जल आदि को शुद्ध करके और सूर्य पार्थिव रस खींच कर वृष्टि द्वारा उपयोगी होता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१।१२७।१; यजुर्वेद—१५।४७; कुछ भेद से सामवेद—पू० ५।८।६ और उ० ६।१।१८ ॥

युक्षैः संमिश्ला॒ः पृष॑तीभिर्ऋ॒ष्टिभि॒र्याम॑ञ्छु॒भ्रासो॑ अ॒ञ्जिषु॑ प्रि॒या उ॒त। आ॒सद्या॑ ब॒र्हिर्भ॑रतस्य सूनवः पो॒त्रादा सोम॑ं पिबता दिवो नरः ॥ ४ ॥

युक्षैः। सम्-मिश्लाः। पृष॑तीभिः। ऋ॒ष्टि-भिः। याम॑न्। शु॒भ्रास॑ः। अ॒ञ्जिषु॑। प्रि॒याः। उ॒त ॥ आ॒-सद्य॑। ब॒र्हिः। भ॒र॒त॒स्य॒। सू॒न॒वः॒। पो॒त्रात्। आ। सोम॑म्। पि॒ब॒त॒। दि॒वः॒। न॒रः॒ ॥ ४ ॥

(विप्रम्) मेधाविनम् (न) इव (जातवेदसम्) प्रसिद्धविद्यम् (यः) अग्निः (ऊर्ध्वया) उन्नतया (स्वध्वरः) हिंसारहितस्य यज्ञस्य सुष्ठु साधकः (देवः) प्रकाशमानः (देवाच्या) देवान् गतिशीलान् वाय्वादीन् अञ्चति प्राप्नोतीति देवाची तया (कृपा) कृपू सामर्थ्ये—क्विप्। शक्त्या। (घृतस्य) आज्यस्य (विभ्राष्टिम्) भ्राज—क्तिन्। विविधां दीप्तिम् (अनु) निरन्तरम् (वष्टि) कामयते (शोचिषा) ईशुचिर् शौचे क्लेदे च—इति। प्रभया (आजुह्वानस्य) समन्ताद्धूयमानस्य (सर्पिषः) सरणशीलस्य। द्रवीभूतस्य ॥

भाषार्थ—(भरतस्य सूनवः) हे धारण करने वाले पुरुष के पुत्रो ! (दिवः) हे विजय चाहने वाले (नरः) नरो ! [नेता लोगो] (यज्ञैः) पूजनीय व्यवहारों से, (पृषतीभिः) सेचन क्रियाओं से और (ऋष्टिभिः) दो धारा तलवारों से (संमिश्लाः) अच्छे प्रकार मिले हुये [सजे हुये], (उत) और (यामन्) प्राप्त हुये समय पर (अञ्जिषु) कामना योग्य कर्मों में (शुभ्रासः) शोभायमान (प्रियाः) प्यारे तुम (बर्हिः) उत्तम आसन (आसद्य) पा कर (पोत्रात्) पवित्र आचरण से (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (आ) भले प्रकार (पिबत) पीओ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम घरानों में उत्पन्न होकर अपने पराक्रम युक्त पवित्र कर्मों से तत्त्व को ग्रहण करके आनन्द पावें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—२ । ३६ । २, ४, ५ ॥

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतुर्नि षदा योनिषु त्रिषु । प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि ॥ ५ ॥

आ । वक्षि । देवान् । इह । विप्र । यक्षि । च । उशन् । होतः ।

४—(यज्ञैः) पूजनीयव्यवहारैः (संमिश्लाः) अ० २० । ३८ । ५ । मिश्रयतेः—घञ् भावे । सर्वतो मिश्रिताः सज्जीकृताः (पृषतीभिः) अ० १३ । १ । २१ । पृषु सेचने—अति, ङीप् । सेचनक्रियाभिः (ऋष्टिभिः) अ० ४ । ३ । ७ । ऋषी गतौ—क्तिन् । उभयतो धारयुक्तैः खड्गैः (यामन्) यामनि । प्राप्ते काले (शुभ्रासः) शुभ्राः शोभमानाः (अञ्जिषु) खनिकष्यञ्यसि० । उ० ४ । १४० । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—इप्रत्ययः । कमनीयेषु कर्मसु (प्रियाः) प्रीतिकराः (उत) अपि (आसद्य) प्राप्य (बर्हिः) उत्तमासनम् (भरतस्य) भृमृदृशियजि० । उ० । ३ । ११० । डुभृञ् धारणपोषणयोः—अतच् । धारकस्य पुरुषस्य (सूनवः) पुत्राः (पोत्रात्) अ० २० २ । १ । पवित्र-व्यवहारात् (आ) समन्तात् (सोमम्) तत्त्वरसम् (पिबत) पानं कुरुत ! अनुभवत (दिवः) दिवु विजिगीषायाम्—क्विप् । हे जिगीषवः (नरः) नेतारः पुरुषाः ॥

नि । सुद । योनिषु । त्रिषु ॥ प्रति । वीहि । प्र-स्थितम् । सोम्यम् । मधु । पिब । आग्नीध्रात् । तव । भागस्य । तृप्णुहि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विप्र) हे बुद्धिमान् ! (होतः) हे दाता ! (इह) यहां पर (देवान्) दिव्य गुणों को (आ) अच्छे प्रकार (वक्षि) तू कहता है (च) और (यक्षि) तू देता है, सो (उशन्) कामना करता हुआ तू (त्रिषु) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान] (योनिषु) निमित्तों में (नि) निरन्तर (सद) स्थिर हो । (प्रस्थितम्) उपस्थित किये हुये (सोम्यम्) सोम [तत्त्व रस] से युक्त (मधु) निश्चित ज्ञान को (प्रति) प्रतिज्ञा पूर्वक (वीहि) प्राप्त हो, और (पिब) पान कर, और (आग्नीध्रात्) अग्नि की प्रकाश विद्या को आश्रय में रखने वाले व्यवहार से (तव) अपने (भागस्य) भाग की (तृप्णुहि) तृप्ति कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य कर्म उपासना और ज्ञान के साथ तत्त्व रस का ग्रहण करके पुरुषार्थी होकर तृप्त होवें ॥ ५ ॥

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः । तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत् पिब ॥ ६ ॥

एषः । स्यः । ते । तन्वः । नृम्ण-वर्धनः । सहः । ओजः । प्र-

५—(आ) समन्तात् (वक्षि) वच परिभाषणे—लट् । कथयसि (देवान्) दिव्यगुणान् (इह) अत्र (विप्र) मेधाविन् (यक्षि) यजसि । ददासि (च) (उशन्) कामयमानः (होतः) हे दातः (नि) नितराम् (सद) तिष्ठ (योनिषु) निमित्तेषु (त्रिषु) कर्मोपासनाज्ञानेषु (प्रति) प्रतिज्ञया (वीहि) वी गतौ—लोट् । प्राप्नुहि (प्रस्थितम्) उपस्थितम् (सोम्यम्) सोमेन तत्त्वरसेन युक्तम् (मधु) मधुविद्याम् । निश्चितज्ञानम् (पिब) अनुभव (आग्नीध्रात्) अ० २० । २ । २ । अग्नि प्रकाशविद्याशरणयुक्तव्यवहारात् (तव) स्वकीयस्य (भागस्य) अंशस्य (तृप्णुहि) तृप्तिं कुरु ॥

दिवि । बाह्वोः । हितः ॥ तुभ्यम् । सुतः । मघ-वन् । तुभ्यम् । आ-भृतः । त्वम् । अस्य । ब्राह्मणात् । आ । तृपत् । पिब ॥६॥

भाषार्थ—(एषः स्यः) यही (नृम्णवर्धनः) धन का बढ़ाने वाला [तत्त्व रस] (ते) तेरे (तन्वः) शरीर का (सहः) बल और (ओजः) पराक्रम होकर (प्रदिवि) उत्तम व्यवहार के बीच (बाह्वोः) तेरी दोनों भुजाओं पर (हितः) धरा गया है। (मघवन्) हे बड़े धनी ! (तुभ्यम्) तेरे लिये (सुतः) सिद्ध किया हुआ [तत्त्व रस] (तुभ्यम्) तुझ को (आभृतः) धारण किया गया है, (त्वम्) तू (ब्राह्मणात्) ब्रह्म [परमेश्वर] के ज्ञान से (आ) भले प्रकार (तृपत्) तृप्त होता हुआ (अस्य) इस [तत्त्व रस] का (पिब) पान कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पराक्रमी व्यवहार कुशल मनुष्य को परमेश्वरीय ज्ञान का उपदेश करके धन आदि की बढ़ती के लिये उत्साही करें ॥ ६ ॥

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते । अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ ७ ॥

यम् । ऊं इति । पूर्वम् । अहुवे । तम् । इदम् । हुवे । सः । इत् । ऊं इति । हव्यः । ददिः । यः । नाम । पत्यते ॥ अध्वर्युभिः । प्र-स्थितम् । सोम्यम् । मधु । पोत्रात् । सोमम् । द्रविणः-दः । पिब । ऋतु-भिः ॥ ७ ॥

६—(एषः स्यः) स एव (ते) तव (तन्वः) शरीरस्य (नृम्णवर्धनः) अ० ४ । २४ । ३ । धनवर्धकः (सहः) बलम् (ओजः) पराक्रमः (प्रदिवि) दिवु व्यवहारे—क्विप् । उत्तमव्यवहारे (बाह्वोः) भुजयोः (हितः) धृतः (तुभ्यम्) (सुतः) संस्कृतस्तत्त्वरसः (मघवन्) हे धनवन् (तुभ्यम्) (आभृतः) समन्ताद् धारितः (त्वम्) (अस्य) तत्त्वरसस्य (ब्राह्मणात्) ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ज्ञानात् (आ) समन्तात् (तृपत्) तृप्यन् सन् (पिब) पानं कुरु ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस [पराक्रमी] को (उ) ही (पूर्वम्) पहिले (अहुवे) मैं ने ग्रहण किया था, (तम्) उस [पुरुष] को (इदम्) अब (हुवे) मैं ग्रहण करता हूं, (सः इत्) वही (उ) निश्चय करके (हव्यः) ग्रहण करने योग्य है, (यः) जो (ददिः) दाता (नाम) नाम [होकर] (पत्यते) स्वामी होता है। (द्रविणोदः) हे धन देने वाले (पोत्रात्) पवित्र व्यवहार से (अध्वर्युभिः) हिंसा न चाहने वाले पुरुषों करके (प्रस्थितम्) उपस्थित किये हुये (सोम्यम्) ऐश्वर्य के लिये हितकारी (मधु) निश्चित ज्ञान को और (सोमम्) सोम [तत्त्वरस] को (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (पिब) तू पी ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सुपरीक्षित गुणी पराक्रमी मनुष्य को सदा उत्तम व्यवहारों के लिये नियुक्त करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१—१२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४—९ गायत्री; ३, ११ विराडार्षीगायत्री; १० निचृद् गायत्री; १२ आर्च्युष्णिक्छन्दः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

सुरूप-कृत्नुम् । ऊतये । सुदुघाम्-इव । गो-दुहे ॥ जुहूमसि । द्यवि-द्यवि ॥ १ ॥

७—(यम्) पराक्रमिणम् (उ) एव (पूर्वम्) पूर्वकाले (अहुवे) हु दानादानयोः— लङ् शपः लुक् । गृहीतवानस्मि (तम्) (इदम्) इदानीम् (हुवे) हु दानादानयोः । गृह्णामि (सः) (इत्) एव (उ) निश्चयेन (हव्यः) ग्रहीतुमर्हः (ददिः) दाता (यः) पुरुषः (नाम) प्रसिद्धौ (पत्यते) ईष्टे (अध्वर्युभिः) हिंसामनिच्छुभिः पुरुषैः (प्रस्थितम्) उपस्थितम् (सोम्यम्) ऐश्वर्याय हितम् (मधु) निश्चितज्ञानम् (पोत्रात्) पवित्रव्यवहारात् (सोमम्) तत्त्वरसम् (द्रविणोदः) ऋ० २० । २ । ४ । हे धनप्रद (पिब) अनुभव (ऋतुभिः) ॥

भाषार्थ—(सुरूपकृत्नुम्) सुन्दर स्वभावों के बनाने वाले [राजा] को (ऊतये) रक्षा के लिये (द्यविद्यवि) दिन दिन (जुहूमसि) हम बुलाते हैं, (इव) जैसे (सुदुघाम्) बड़ी दुधेल गौ को (गोदुहे) गौ दोहने वाले के लिये ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे दुधेल गौ को दूध दोहने के लिये प्रीति से बुलाते हैं, वैसे ही प्रजागण विद्या आदि शुभ गुणों के बढ़ाने वाले राजा का आश्रय लेकर उन्नति करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ आचुके हैं—अ० २० । ५७ । १—३ ॥

उप॑ नः॒ सव॒ना ग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब । गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ॥ २ ॥

उप॑ । नः॒ । सव॑ना । आ । ग॒हि॒ । सोम॑स्य । सो॒म॒ऽपाः॒ । पि॒ब॒ ॥ गो॒ऽदाः । इत् । रे॒वतः॑ । मदः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमपाः) हे ऐश्वर्य के रक्षक ! [राजन्] (नः) हमारे लिये (सवना) ऐश्वर्य युक्त पदार्थों को (उप) समीप से (आ गहि) तू प्राप्त हो और (सोमस्य) सोम [तत्त्व रस] का (पिब) पान कर, (रेवतः) धनवान् पुरुष का (मदः) हर्ष (इत्) ही (गोदाः) दृष्टि का देने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐश्वर्यवान् और दूरदर्शी होकर प्रसन्नता पूर्वक प्रजा को ज्ञानवान बनावे ॥ २ ॥

अथा॑ ते॒ अन्त॑मानां वि॒द्याम॑ सुमती॒नाम् । मा नो॒ अति॑ ख्य॒ आ ग॑हि ॥ ३ ॥

अथ॑ । ते॒ । अन्त॑मानाम् । वि॒द्याम॑ । सु॒ऽम॒ती॒नाम् ॥ मा । नः॒ । अति॑ । ख्यः॒ । आ । ग॒हि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अथ) और (ते) तेरी (अन्तमानाम्)

१—३ ॥ एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ५७ । १—३ ॥

अत्यन्त समीप रहने वाली (सुमतीनाम्) सुन्दर बुद्धियों का (विद्याम) हम ज्ञान करें। तू (नः) हमें (अति) छोड़कर (मा ख्यः) मत बोल, (आ गहि) तू आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब राजा पूर्ण रीति से प्रजा पालन करता है, प्रजागण उस को धार्मिक नीतियों से लाभ उठाकर उस से प्रीति करते हैं ॥ ३ ॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥

परा। इहि। विग्रम्। अस्तृतम्। इन्द्रम्। पृच्छ। विपःऽचितम् ॥ यः। ते। सखिऽभ्यः। आ। वरम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] तू (परा) समीप (इहि) जा, और (विग्रम्) बुद्धिमान्, (अस्तृतम्) अजेय, (विपश्चितम्) आप्त विद्वान्, (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] से (पृच्छ) पूंछ, (यः) जो [मनुष्य] (ते) तेरे (सखिभ्यः) मित्रों के लिये (आ) सब प्रकार (वरम्) श्रेष्ठ [मित्र] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि आप्त विद्वानों से प्रश्नोत्तर के साथ शङ्का निवृत्ति कर के सत्य का ग्रहण करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—१० ऋग्वेद में हैं—१। ४। ४—१० ॥

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥

४—(परा) समीपे (इहि) गच्छ (विग्रम्) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। ग्रह उपादाने—डप्रत्ययः। विविधं गृह्णात्यर्थान् यः स विग्रः। बेर्ग्रो वक्तव्यः। वा० पा० ५। ४। ११९। इति विपूर्वकनासिकाशब्दस्य ग्रःसमासान्तादेशः। णस कौटिल्ये—एवुल्। विगता नासिका कुटिला यस्य सः। विग्रइति मेधाविनाम—निघ० ३। १५। मेधाविनम् (अस्तृतम्) अहिंसितम्। अजेयम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं मनुष्यम् (पृच्छ) जिज्ञासस्व। प्रश्नं कुरु (विपश्चितम्) आप्तं विद्वांसम् (यः) विद्वान् (ते) तव (सखिभ्यः) मित्राणां हिताय (आ) समन्तात् (वरम्) श्रेष्ठं मित्रम् ॥

उत । ब्रुवन्तु । नः । निदः । निः । अन्यतः । चित् । आरत ॥
दधानाः । इन्द्रे । इत् । दुवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] में (इत्) ही (दुवः) सेवा को (दधानाः) धारण करते हुये पुरुष (उत) निश्चय कर के (नः) हमारे (निदः) निन्दकों से (ब्रुवन्तु) कहें—"(अन्यतः) दूसरे देश को (चित्) अवश्य (निः आरत) तुम निकल जाओ" ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में दृढ़ विश्वास कर के दुराचारियों को दण्ड देकर देश से निकाल दें ॥ ५ ॥

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥

उत । नः । सु-भगान् । अरिः । वोचेयुः । दस्म । कृष्टयः ॥
स्याम । इत् । इन्द्रस्य । शर्मणि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दस्म) हे दर्शनीय ! [परमात्मन्] (अरिः = अरयः) प्रेरणा करने वाले [वा वैरी] (कृष्टयः) मनुष्य (उत) भी (नः) हम को (सुभगान्) बड़े ऐश्वर्य वाला (वोचेयुः) कहें, [तौ भी] (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य

५—(उत) निश्चयेन (ब्रुवन्तु) कथयन्तु (नः) अस्माकम् (निदः) णिदि कुत्सायाम्—क्विप्, नुमभावः । निन्दकान् (निः) बहिर्भावे (अन्यतः) इतराभ्योऽपि दृश्यते । पा० । ५ । ३ । १४ । द्वितीयार्थे तसिल् । अन्यं देशम् (चित) अवश्यम् (आरत) ऋ गतौ—लुङ् लोडर्थे । गच्छत यूयम् (दधानाः) दधातेः शानच् । धारयन्तः (इन्द्रे) परमैश्वर्ययुक्ते परमेश्वरे (इत्) एव (दुवः) दुवस् परिचरणोपतापयोः—क्विप् । दुवस्यतिः परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । परिचर्याम् ॥

६—(उत) अपि च (नः) अस्मान् (सुभगान्) बह्वैश्वर्योपेतान् (अरिः) अच इः । उ० ४ । १३९ । ऋ गतिप्रापणयोः—इप्रत्ययः । बहुवचनस्यैकवचनम् । अरयः प्रेरकाः । नायकाः । शत्रवः (वोचेयुः) वच परिभाषणे-आशीर्लिङ् प्रथमस्य बहुवचने । लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इति विकरणस्थानेऽङ् प्रत्ययः । वच उम् । पा० ७ । ४ । २० । उमागमः । उकारान्तः । उपदिश्याम्तुः (दस्म)

वाले परमात्मा] की (इत्) ही (शर्मणि) शरण में (स्याम) हम रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—चाहे मनुष्य ऐसे बड़े हो जावें कि बड़े बड़े लोग और वैरी लोग भी उन्हें बड़ा जानें, तो भी वे अभिमान छोड़कर परमेश्वर की शरण में रहकर उन्नति करें ॥ ६ ॥

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् । पतयन्मन्दयत्सखम् ७

आ । ईम् । आशुम् । आशवे । भर । यज्ञ-श्रियम् । नृ-मादनम् ॥ पतयत् । मन्दयत्-सखम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र परमेश्वर !] (आशवे) वेग वाले [रथ आदि] के लिये (यज्ञश्रियम्) यज्ञ [संगतिकरण] से लक्ष्मी बढ़ाने वाले, (नृमादनम्) मनुष्यों को आनन्द देने वाले (आशुम्) वेग आदि गुण वाले [अग्नि, वायु आदि] पदार्थ और (ईम्) प्राप्ति योग्य जल को और (पतयत्) स्वामिपन देने वाले, (मन्दयत्सखम्) मित्रों को आनन्द देने वाले धन को (आ) सब प्रकार (भर) भर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि अग्नि वायु जल आदि पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सुखी होवें ॥ ७ ॥

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥

अ० २० । ७ । २ । हे दर्शनीय (अद्रयः) अ० ३ । २४ । ३ । मनुष्याः (स्याम) भवेम (इत्) एव (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (शर्मणि) सुखे । शरणे ॥

७—(आ) समन्तात् (ईम्) प्राप्तव्यं जलम्—निघ० १ । १२ । (आशुम्) कृवापा० । उ० १ । १ अशूङ् व्याप्तौ–उण् । वेगादिगुणवन्तमग्निवाय्वादिपदार्थ-समूहम् (आशवे) वेगादिगुणयुक्तरथादिहिताय (भर) देहि (यज्ञश्रियम्) संगतिकरणेन लक्ष्मीदातारम् (नृमादनम्) नृणां मनुष्याणां हर्षहेतुम् (पतयत्) पतिं करोति तदाचष्टे । वा० आ० ३ । १ । २६ । पति–णिच् ततः शतृ । पतित्वसम्पादकम् (मन्दयत्सखम्) मन्दयन्तः सखायो यस्मिंस्तद् धनम् ॥

अस्य । पीत्वा । शतक्रतो इति शत-क्रतो । घनः । वृत्राणाम् । अभवः । प्र ॥ आवः । वाजेषु । वाजिनम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [वीर पुरुष] (अस्य) इस [तत्त्व रस] का (पीत्वा) पान कर के तू (वृत्राणाम्) रोकने वाले शत्रुओं का (घनः) मारने वाला (अभवः) हुआ है और (वाजेषु) सङ्ग्रामों में (वाजिनम्) पराक्रमी वीर को (प्र) अच्छे प्रकार (आवः) तू ने बचाया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो वीर पुरुष वेदविद्या का रस चखता रहता है, वह परमेश्वर की कृपा से शत्रुओं को मारकर अपने वीर लोगों की रक्षा करता है ॥ ८ ॥

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥

तम् । त्वा । वाजेषु । वाजिनम् । वाजयामः । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ धनानाम् । इन्द्र । सातये ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों [असंख्य] वस्तुओं में बुद्धि वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (वाजेषु) सङ्ग्रामों के बीच (वाजिनम्) महाबलवान् (तम्) उस (त्वा) तुझ को (धनानाम्) धनों के (सातये) भोगने के लिये (वाजयामः) हम प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

८—(अस्य) सोमस्य । तत्त्वरसस्य (पीत्वा) पानं कृत्वा (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् (घनः) मूर्तौ घनः । पा० ३ । ३ । ७७ । हन्तेरप् मूर्तिभिन्नार्थेऽपि । हन्ता । घातुकः (वृत्राणाम्) आवरकाणां शत्रूणाम् (अभवः) (प्र) प्रकर्षेण (आवः) रक्षितवानसि (वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (वाजिनम्) पराक्रमिणं पुरुषम् ॥

९—(तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (वाजिनम्) महाबलवन्तम् (वाजयामः) वज गतौ, चुरादिः । प्राप्नुमः (शतक्रतो) शतेष्वसंख्यातेषु वस्तुषु क्रतुः प्रज्ञा यस्य तत्सम्बुद्धौ (धनानाम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सातये) सेवनाय । लाभाय ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालन से जितेन्द्रिय बलवान् होकर सब विघ्न हटाकर सुख भोगें ॥ ९ ॥

यो रायो३ऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

यः । रायः । अवनिः । महान् । सु-पारः । सुन्वतः । सखा ॥ तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (रायः) धन का (अवनिः) रक्षक वा स्वामी (महान्) [बड़ा गुणी वा बली], (सुपारः) भले प्रकार पार लगाने वाला, (सुन्वतः) तत्त्वरस निकालने वाले पुरुष का (सखा) मित्र है, [हे मनुष्यो !] (तस्मै) उस (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] के लिये (गायत) तुम गान करो ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर परमात्मा की उपासना से तत्त्व का ग्रहण करके पुरुषार्थ से धर्म का सेवन करें ॥ १० ॥

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत । सखायः स्तोमवाहसः ॥ ११ ॥

आ । तु । आ । इत । नि । सीदत । इन्द्रम् । अभि । प्र । गायत ॥ सखायः । स्तोम-वाहसः ॥ ११ ॥

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १२ ॥

पुरु-तमम् । पुरूणाम् । ईशानम् । वार्याणाम् । इन्द्रम् । सोमे । सचा । सुते ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(स्तोमवाहसः) हे बड़ाई के प्राप्त कराने वाले (सखायः)

१०—(यः) परमेश्वरः (रायः) धनस्य (अवनिः) अ० २० । ३५ । १० । रक्षकः । स्वामी (महान्) गुणेन बलेन वाधिकः (सुपारः) पार कर्मसमाप्तौ—पचाद्यच् । सुष्ठु पारयिता (सुन्वतः) तत्त्वरसं निष्पादयतः पुरुषस्य (सखा) प्रियः (तस्मै) (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (गायत) गानं कुरुत ॥

११—(आ इत) आगच्छत (तु) शीघ्रम् (आ) समुच्चये (नि षीदत)

मित्रो ! (तु) शीघ्र (आ इत) आओ, (आ) और (नि षीदत) बैठो, और (पुरूणाम्) पालन करने वालों के (पुरुतमम्) अत्यन्त पालन करने वाले, (वार्याणाम्) श्रेष्ठ पदार्थों वा धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले], (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] को (सचा) सदा मेल के साथ (सोमे) सोम [तत्त्वरस] (सुते) सिद्ध होने पर (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (गायत) गाओ ॥ ११, १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परस्पर उपकार के लिये धैर्य और प्रीति के साथ परमात्मा के गुणों के विचार से निश्चित सिद्धान्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ११, १२ ॥

मन्त्र ११, १२ ऋग्वेद में हैं—१ । ५ । १, २ सामवेद—उ० १ । २ । १० मन्त्र ११ साम०—पू० २ । ७ । १० ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१—१२ ॥ १—११ इन्द्रः; १२ मरुतो देवताः ॥ १, ३—५, ७, १२ निचृद् गायत्री; २, ८ ६, ११ गायत्री; ६ पाद निचृद् गायत्री; १० विराड् गायत्री ॥

१—८ पराक्रमिलक्षणोपदेशः—१—८ पराक्रमी मनुष्य के लक्षणों का उपदेश ॥

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् । गमद् वाजेभिरा स नः ॥ १ ॥

उपविशत (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (गायत) स्तुत (सखायः) हे सुहृदः (स्तोमवाहसः) अर्त्तिस्तुसुहु० उ० १ । १४० । स्तौतेर्मन् । वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । वह प्रापणे-असुन् स च णित् । स्तुतिप्रापकाः ॥

१२—(पुरुतमम्) पॄभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । पॄ पालनपूरणयोः—कु । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ इत्युत्वम्, अतिशायने तमप् । अतिशयेन पालकम् (पुरूणाम्) पालकानाम् (ईशानम्) स्वामिनम् (वार्याणाम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । वृङ् सम्भक्तौ वृञ् वरणे वा-ण्यत् वरणीयानां श्रेष्ठानां पदार्थानां धनानां वा (इन्द्रम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् । परमात्मानम् (सोमे) तत्त्वरसे (सचा) समवायेन (सुते) संस्कृते ॥

सः । घ । नः । योगे । आ । भुवत् । सः । राये । सः । पुरम्-ध्याम् ॥ गमत् । वाजेभिः । आ । सः । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः घ) [वही परमात्मा वा पुरुषार्थी मनुष्य] (नः) हमारे (योगे) मेल में, (सः सः) वही (राये) हमारे धन के लिये (पुरंध्याम्) नगरों के धारण करने वाली बुद्धि में (आ) सब प्रकार (भुवत्) होवे। (सः) वही (वाजेभिः) अन्नों वा बलों के साथ (नः) हम को (आ गमत्) सब प्रकार प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की उपासना से और आप्त पुरुषार्थी विद्वानों के सत्संग से बुद्धि को उत्तम बनाकर बल और धन की वृद्धि करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—८ ऋग्वेद में हैं—१ । ५ । ३—१०; मन्त्र १ सामवेद—उ० १ । २ । १० ॥

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ २ ॥

यस्य । सम्-स्थे । न । वृण्वते । हरी इति । समत्-सु । शत्रवः ॥ तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(संस्थे) संस्था [न्यायव्यवस्था] में (यस्य) जिस [वीर] के (हरी) पदार्थों के पहुंचाने वाले बल और पराक्रम को (समत्सु)

१—(सः) इन्द्रः परमेश्वरः पुरुषार्थी मनुष्यो वा (घ) एव (नः) अस्माकम् (योगे) संयोगे (आ) समन्तात् (भुवत्) आशिषि लिङि छान्दसं रूपम् । भूयात् (सः) (राये) धनलाभाय (सः) (पुरन्ध्याम्) अ० १६ । १० । २ । पुरां नगराणां धारिका बुद्धिः (गमत्) गमेर्लेटि शपो लुक्, अडागमः, यद्वा लिङर्थे लुङ् अडभावः । गच्छेत् प्राप्नुयात् (वाजेभिः) अन्नैर्बलैर्वा सह (आ) सर्वतः (सः) (नः) अस्मान् ॥ १ ॥

२—(यस्य) पुरुषस्य (संस्थे) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १३६ । सम्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क । संस्थायाम् । न्यायव्यवस्थायाम् (न)

भावार्थ—मनुष्य तीव्रबुद्धि होकर शीघ्र गुणकारी सिद्धान्तों का ग्रहण कर के सुखी होवें ॥ ५ ॥

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो । त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ६ ॥

त्वाम् । स्तोमाः । अवीवृधन् । त्वाम् । उक्था । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ त्वाम् । वर्धन्तु । नः । गिरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों व्यवहारों में बुद्धि वाले मनुष्य (त्वाम्) तुझ को (स्तोमाः) बड़ाई योग्य गुणों ने और (त्वाम्) तुझ को (उक्था) कहने योग्य कर्मों ने (अवीवृधन्) बढ़ाया है। (त्वाम्) तुझ को (नः) हमारी (गिरः) स्तुतियां (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—श्रेष्ठ कर्मी मनुष्य सदा विद्वानों के सत्संग से उपकार शक्ति बढ़ाते रहें ॥ ६ ॥

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम् । यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥ ७ ॥

अक्षित-ऊतिः। सनेत् । इमम् । वाजम् । इन्द्रः । सहस्रिणम् ॥ यस्मिन् । विश्वानि । पौंस्या ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अक्षितोतिः) अक्षय रक्षा वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] (इमम्) उस (सहस्रिणम्) सहस्रों सुख वाले

६—(त्वाम्) (स्तोमाः) स्तुत्यगुणाः (अवीवृधन्) वृधु वृद्धौ णिजन्तात् लुङ् । वर्धितवन्तः (त्वाम्) (उक्था) पातॄतुदिवचि० । उ० २ । ७ । वच परिभाषणे - थक् । वक्तव्यानि प्रशंसनीयानि कर्माणि (शतक्रतो) बहुव्यवहारेषु बुद्धियुक्त (त्वाम्) (वर्धन्तु) अन्तर्गतण्यर्थः । वर्धयन्तु (नः) अस्माकम् (गिरः) स्तुतयः ॥

७—(अक्षितोतिः) अक्षीणा वर्धमाना ऊती रक्षा ज्ञानं वा यस्य सः (सनेत्) षण संभक्तौ—विधिलिङ् । सेवेत (इमम्) वक्ष्यमाणम् (वाजम्) विज्ञानम् (इन्द्रः) महाप्रतापी मनुष्यः (सहस्रिणम्) अ० २० । १ । २ ।

(वाजम्) ज्ञान का (सनेत्) सेवन करे, (यस्मिन्) जिस में (विश्वानि) सब (पौंस्या) मनुष्य कर्म [वा बल] हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रतापी होकर सर्वोपकारी कार्य कर के सुखी होवे ॥७॥

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः । ईशानो यवया वधम् ॥ ८ ॥

मा । नः । मर्ताः । अभि । द्रुहन् । तनूनाम् । इन्द्र । गिर्वणः ॥ ईशानः । यवय । वधम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी मनुष्य] (मर्ताः) मनुष्य (नः) हमारी (तनूनाम्) उपकार क्रियाओं का (मा अभि द्रुहन्) कभी द्रोह न करें। तू (ईशानः) स्वामी होकर (वधम्) उन के वध [हनन व्यवहार] को (यवय) हटा ॥ ८ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् प्रतापी मनुष्य ऐसा प्रयत्न करे कि सब लोग वैर छोड़ कर परस्पर उपकारी होकर सुखी होवें ॥ ८ ॥

मन्त्राः ९—११ परमेश्वरगुणोपदेशः—९—११ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ९ ॥

असंख्यसुखयुक्तम् (यस्मिन्) ज्ञाने (विश्वानि) सर्वाणि (पौंस्या) अ० २० । ६७ । २ । मनुष्यकर्माणि । बलानि ॥

८—(मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (मर्ताः) मनुष्याः (अभि) सर्वतः (द्रुहन्) द्रुह जिघांसायाम्—लुङ्, अडभावः, छान्दसः शविकरणः । द्रोहं कुर्वन्तु (तनूनाम्) कृषिचमितनि० । उ०, १ । ८० तनु विस्तारे श्रद्धोपकरणयोश्च—ऊप्रत्ययः । उपकारक्रियाणाम् (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (गिर्वणः) म० ५ । स्तुतिभिः सेवनीय (ईशानः) समर्थः (यवय) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च । इति वार्तिकेन यवशब्दाद् धात्वर्थे—णिच्, टलोपः । पृथक् कुरु (वधम्) हन हिंसागत्योः—अप् । हननव्यवहारम् ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥ रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तस्थुषः) मनुष्य आदि प्राणियों और लोकों में (परि) सब ओर से (चरन्तम्) व्यापे हुये, (ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) हिंसा रहित [परमात्मा] को (रोचना) प्रकाशमान पदार्थ (दिवि) व्यवहार के बीच (युञ्जन्ति) ध्यान में रखते और (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमाणुओं से लेकर सूर्य आदि लोक और सब प्राणी सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता परमात्मा की आज्ञा को मानते हैं, उसी की उपासना से मनुष्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करें ॥ ९ ॥

मन्त्र ९—११ आ चुके हैं—अ० २० । २६ । ४—६ तथा ४७ । १०—१२ ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ १० ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । वि-पक्षसा । रथे । शोणा । धृष्णू इति । नृ-वाहसा ॥ १० ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमात्मा—म० ९] के (काम्या) चाहने योग्य, (विपक्षसा) विविध प्रकार ग्रहण करने वाले, (शोणा) व्यापक, (धृष्णू) निर्भय, (नृवाहसा) नेताओं [दूसरों के चलाने वाले सूर्य आदि लोकों] के चलाने वाले (हरी) दोनों धारण आकर्षण गुणों को (रथे) रमणीय जगत् के बीच (युञ्जन्ति) वे [प्रकाशमान पदार्थ—म० ९] ध्यान में रखते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के धारण आकर्षण सामर्थ्य में सूर्य आदि पिण्ड अन्य लोकों और प्राणियों को चलाते हैं, मनुष्य उन सब पदार्थों से उपकार लेकर उस ईश्वर को धन्यवाद दें ॥ १० ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ११

९—११ ॥ एते मन्त्रा गताः—अ० २० । २६ । ४—६ तथा ४७ । १०—१२ ॥

के॒तुम् । कृ॒ण्वन् । अ॒के॒तवे॑ । पेशः॑ । म॒र्याः॒ । अ॒पे॒शसे॑ ॥ सम् । उ॒षत्ऽभिः॑ । अ॒जा॒य॒थाः॒ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(मर्याः) हे मनुष्यों ! (अकेतवे) अज्ञान हटाने के लिये (केतुम्) ज्ञान को और (अपेशसे) निर्धनता मिटाने के लिये (पेशः) सुवर्ण आदि धन को (कृण्वन्) उत्पन्न करता हुआ वह [परमात्मा-म० ६, १०] (उषद्भिः) प्रकाशमान गुणों के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके परमात्मा को विचारते हुये सृष्टि के पदार्थों से उपकार लेकर ज्ञानी और धनी होवें ॥ ११ ॥

मन्त्र १२ राजप्रजाधर्मोपदेशः—मन्त्र १२ राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

आद॒ह स्व॒धामनु॒ पुन॑र्गर्भ॒त्वमे॑रि॒रे । दधा॑ना॒ नाम॑ य॒ज्ञिय॑म् १२

आत् । अह॑ । स्व॒धाम् । अनु॑ । पुन॑रिति॑ । ग॒र्भ॒ऽत्वम् । आ॒ऽई॒रि॒रे ॥ दधा॑नाः । नाम॑ । य॒ज्ञिय॑म् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(आत्) फिर (अह) अवश्य (स्वधाम् अनु) अपनी धारण शक्ति के पीछे (यज्ञियम्) सत्कार योग्य (नाम) नाम [यश] का (दधानाः) धारण करते हुये लोगों ने (पुनः) निश्चय कर के (गर्भत्वम्) गर्भपन [सारपन, बड़े पद] को (एरिरे) सब प्रकार से पाया है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जहां पर पूर्वोक्त प्रकार से न्याय युक्त स्वतन्त्रता के साथ लोग कार्य करते हैं, वहां पर सब पुरुष बड़ाई पाते हैं ॥ १२ ॥

यह मन्त्र, आ चुका है—अ० २० । ४० । ३ ॥

सूक्तम् ७० ॥

१—२० ॥ १, ३ मरुत इन्द्रश्च; २, ४, ५ मरुतः; ६—२० इन्द्रो देवता ॥ १—३, ५—७; ६, ११—१३, १६,२० गायत्री; ४, ८, १०, १४, १६, १७, निचृद् गायत्री; १५ पाद निचृद् गायत्री; १८ विराड् गायत्री छन्दः ॥

१—६ । राजप्रजाधर्मोपदेशः—१—६ राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

१२—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । ४० । ३ ॥

वीलु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्रिया अनु ॥ १ ॥

वीलु। चित्। आरुजत्नु-भिः। गुहा। चित्। इन्द्र। वह्निभिः॥ अविन्दः। उस्रियाः। अनु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी मनुष्य] (गुहा) गुहा [गुप्त स्थान] में (चित्) भी [शत्रुओं के] (वीलु) दृढ़ गढ़ को, (आरुजत्नुभिः) तोड़ डालने वाले (वह्निभिः) अग्नियों [आग्नेय शस्त्रों] से (चित्) निश्चय करके (उस्रियाः अनु) निवास करने वाली प्रजाओं के पीछे (अविन्दः) तू ने पाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी वीर मनुष्य आग्नेय शस्त्र बाण तोप भुषण्डी आदि से गुप्त स्थानों में छिपे वैरियों को नष्ट करके प्रजा की रक्षा करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में है—१। ६। ५—१०, मन्त्र १ सामवेद-उ० २। २। ७ ॥

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः। महामनूषत श्रुतम् ॥ २ ॥

देव-यन्तः। यथा। मतिम्। अच्छ। विदत्-वसुम्। गिरः। महाम्। अनूषत। श्रुतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवयन्तः) विजय चाहने वाले (गिरः) विद्वान् लोगों ने

१—(वीलु) वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५। १७। भृमृशीङ् तृ०। उ० १। ७। उप्रत्ययः। वीलु बलनाम—निघ० २। ६। दृढ़स्थानम्। दुर्गम् (चित्) अपि (आरुजत्नुभिः) कृहनिभ्यां क्त्नुः। उ० ३। ३०। आङ्+रुजो भङ्गे—क्त्नु प्रत्ययः अकारसहितः। समन्ताद् भञ्जद्भिः। सम्यग्भञ्जनशीलैः (गुहा) गुहायाम्। गुप्तस्थाने (चित्) निश्चयेन (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (वह्निभिः) वहिश्रिश्रु०। उ० ४। ५१। वह प्रापणे—नि। वोढृभिः। नेतृभिः पुरुषैः (अविन्दः) विद्लृ लाभे—लङ्। लब्धवानसि (उस्रियाः) अथ० २०। १६। ७। निवासशीलाः प्रजाः (अनु) अनुलक्ष्य ॥

२—(देवयन्तः) दिवु विजिगीषायाम् चुरादिः—शतृ। यद्वा देव-क्यच्,

(यथा) जैसे (विदद्वसुम्) धनों के प्रसिद्ध करने वाले (मतिम्) बुद्धिमान् की, [वैसे ही] (महाम्) महान् और (श्रुतम्) विख्यात पुरुष की (अच्छ) अच्छे प्रकार (अनूषत) स्तुति की है ॥ २ ॥

भावार्थ—विजयी विद्वान् लोग अनुभवी प्रसिद्ध पुरुषों से उत्तम गुण ग्रहण करते रहें ॥ २ ॥

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संजग्मा॒नो अबि॑भ्युषा । म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ ३ ॥

इन्द्रे॑ण । सम् । हि । दृक्ष॑से । स॒म्ऽज॒ग्मा॒नः । अबि॑भ्युषा ॥ म॒न्दू इति॑ । स॒मा॒नऽव॑र्चसा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजागण !] (अबिभ्युषा) निडर (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के साथ (हि) ही (संजग्मानः) मिलता हुआ तू (सम्) अच्छे प्रकार (दृक्षसे) दिखाई देता है । (समानवर्चसा) एक से तेज के साथ (मन्दू) तुम दोनों [राजा और प्रजा] आनन्द देने वाले हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में प्रजागण राजा से और राजा प्रजा से प्रसन्न रहते हैं, वही राज्य विद्या और धन में उन्नति करता है ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ आचुके हैं—अथ० २० । ४० । १, २ ॥

अ॒न॒व॒द्यैर॒भिद्यु॑भिर्म॒खः सह॑स्वदर्चति । ग॒णैरिन्द्र॑स्य॒ काम्यैः॥ ४ ॥

अ॒न॒व॒द्यैः । अ॒भिद्यु॑ऽभिः । म॒खः । सह॑स्वत् । अ॒र्च॒ति॒ ॥ ग॒णैः । इन्द्र॑स्य । काम्यैः॑ ॥ ४ ॥

शतृ । विजिगीषमाणाः । विजयमिच्छन्तः (यथा) येन प्रकारेण (मतिम्) क्तिन्कौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । मन ज्ञाने क्तिच् । मतयो मेधाविनाम निघ० ३ । १५ । मेधाविनम् (अच्छ) उत्तमरीत्या (विदद्वसुम्) विद ज्ञाने-शतृ । विदन्ति जानन्ति वसूनि धनानि यस्मात् तम् (गिरः) गॄ विज्ञापे स्तुतौ च—क्विप् । विद्वांसः (महाम्) नकारतकारलोपः । महान्तम् (अनूषत) अथ० २० १७ । १ । स्तुतवन्तः (श्रुतम्) विख्यातम् ॥

३, ४—मन्त्रौ व्याख्यातौ अथ० २० । ४० । १०२ ॥

भाषार्थ—(अनवद्यैः) निर्दोष, (अभिद्युभिः) सब ओर से प्रकाशमान और (काम्यैः) प्रीति के योग्य (गणैः) गणों [प्रजागणों] के साथ (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (मखः) यज्ञ [राज्य व्यवहार] (सहस्वत्) अति दृढ़ता से (अर्चति) सत्कार पाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब राजाकाज उत्तम विद्वान् लोगों के मेल से अच्छे प्रकार सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि। समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥

अतः। परि-ज्मन्। आ। गहि। दिवः। वा। रोचनात्। अधि ॥ सम्। अस्मिन्। ऋञ्जते। गिरः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अतः) इस लिये, (परिज्मन्) हे सर्वत्र गति वाले शूर! (दिवः) विजय की इच्छा से (वा) और (रोचनात्) प्रीति भाव से (अधि) ऊपर (आ गहि) आ, (अस्मिन्) इस [वचन] में (गिरः) हमारी स्तुतियां (सम्) ठीक ठीक (ऋञ्जते) सिद्ध होती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे आवश्यकता जताकर श्रेष्ठ प्रजागण धीर वीर पुरुष को उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करें ॥ ५ ॥

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥

इतः। वा। सातिम्। ईमहे। दिवः। वा। पार्थिवात्।

५—(अतः) अस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् (परिज्मन्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। परि+अज गतिक्षेपणयोः—मनिन्, अकारलोपः। हे सर्वतो गतिशील (आ गहि) आगच्छ (दिवः) दिवु विजिगीषायाम्—क्विप्। विजयेच्छायाः सकाशात् (वा) चार्थे (रोचनात्) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च युच्। प्रीतिभावात (अधि) उपरि (सम्) सम्यक् (अस्मिन्) वचसि (ऋञ्जते) ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा—निरु० ६। २१। प्रकर्षेण सिध्यन्ति (गिरः) स्तुतयः—निरु० १। १० ॥

अधि ॥ इन्द्रम् । महः । वा । रजसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इतः) इस लिये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े प्रतापी मनुष्य] के द्वारा (दिवः) प्रकाश से (वा) और (पार्थिवात्) पृथिवी के संयोग से (वा) और (महः) बड़े (रजसः) जल [अथवा वायु मण्डल] से (वा) निश्चय करके (सातिम्) दान [उपकार] को (अधि) अधिकार पूर्वक (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त प्रकार से विचार पूर्वक बड़े बड़े विद्वानों द्वारा विद्या ग्रहण कर के संसार के सब अग्नि आदि पदार्थों से उपकार लेकर उन्नति करें ॥ ६ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ॥ इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(गाथिनः) गाने वालों और (अर्किणः) विचार करने वालों ने (अर्केभिः) पूजनीय विचारों से (इन्द्रम्) सूर्य [के समान प्रतापी], (इन्द्रम्) वायु [के समान फुरतीले] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को और (वाणीः) वाणियें [वेदवचनों] को (इत्) निश्चय करके (बृहत्) बड़े ढंग से (अनूषत सराहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुनीतिज्ञ प्रतापी, उद्योगी राजा के और परमेश्वर

६—(इतः) अस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् (वा) च (सातिम्) ऊतियूतिजूतिसातिहेति० पा० ३ । ३ । ६७ । षणु दाने—क्तिन् । दानम् । उपकारम् (ईमहे) ईङ् गतौ शपो लुकि श्यनभावः । याचामहे—निघ० ३ । १९ (दिवः) प्रकाशात् (वा) च (पार्थिवात्) सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ । पा० ५ । १ । ४१ । पृथिवी अञ् प्रत्ययः संयोगविषये । । पृथिवीसंयोगात् (अधि) अधिकारपूर्वकम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं मनुष्यम् (महः) महतः (वा) अवधारणे (रजसः) उदकं रज उच्यते—निरु० ४ । १९ । जलात् । अन्तरिक्षात् । वायुमण्डलात् ॥

७—९ । एते मन्त्रा गताः—अथ० २० । ३८ । ४—६ तथा ४७ । ४—६ ॥

की दी हुई वेदवाणी के गुणों को विचारकर सब के सुख के लिये यथावत् उपाय करें ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—९ आचुके हैं—अथ० २० । ३८ । ४—६ तथा ४७ । ४—६ ॥

इन्द्र॒ इद्ध॑र्योः॒ सचा॒ संमि॑श्ल॒ आ व॑चो॒युजा॑ । इन्द्रो॑ व॒ज्री हि॑र॒ण्ययः॑ ॥ ८ ॥

इन्द्रः॑ । इत् । हर्योः॑ । सचा॑ । सम्ऽमि॑श्लः । आ । व॒चः॒ऽयुजा॑ ॥ इन्द्रः॑ । व॒ज्री । हि॒र॒ण्ययः॑ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वज्री) वज्रधारी, (हिरण्ययः) तेजोमय (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (इत्) ही (इन्द्रः) वायु [के समान] (सचा) नित्य मिले हुये (हर्योः) दोनों संयोग वियोग गुणों का (संमिश्लः) यथावत् मिलाने वाला (आ) और (वचोयुजा) वचन का योग्य बनाने वाला है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे पवन के आने जाने से पदार्थों में चलने, फिरने, ठहरने का और जीभ में बोलने का सामर्थ्य होता है, वैसे ही दण्ड दाता प्रतापी राजा के न्याय से सब लोगों में शुभ गुणों का संयोग और दोषों का वियोग होकर वाणी में सत्यता होती है ॥ ८ ॥

इन्द्रो॑ दी॒र्घाय॒ चक्ष॑स॒ आ सूर्यं॑ रोहयद्दि॒वि । वि गोभि॒रद्रि॑मैरयत् ॥ ९ ॥

इन्द्रः॑ । दी॒र्घाय॑ । चक्ष॑से । आ । सूर्य॑म् । रो॒ह॒य॒त् । दि॒वि ॥ वि । गोभिः॑ । अद्रि॑म् । ऐ॒र॒य॒त् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (दीर्घाय) दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये (दिवि) व्यवहार [वा आकाश] के बीच (गोभिः) वेद वाणियों द्वारा [वा किरणों वा जलों द्वारा] (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रेरक] और (अद्रिम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (आ रोहयत्) ऊंचा किया और (वि) विविध प्रकार (ऐरयत्) चलाया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से सूर्य आकाश में चलकर तापि

आदि गुणों से अनेक लोकों को धारण करता और किरणों द्वारा जल खींचकर फिर बरसाकर उपकार करता है, वैसे ही दूरदर्शी राजा अपने प्रताप और उत्तम व्यवहारों से सब प्रजा को नियम में रक्खे और कर लेकर उनका प्रतिपालन करे ॥ ६ ॥

म० १०—२० । परमेश्वरोपासनोपदेशः—म० १०-२० । परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च । उग्र उग्राभिरूतिभिः॥१०

इन्द्र । वाजेषु । नः । अव । सहस्र-प्रधनेषु । च ॥ उग्रः । उग्राभिः । ऊति-भिः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (उग्रः) उग्र [प्रचण्ड] तू (वाजेषु) पराक्रमों के बीच (च) और (सहस्रप्रधनेषु) सहस्रों बड़े धन वाले व्यवहारों में (उग्राभिः) उग्र [दृढ़] (ऊतिभिः) रक्षा साधनों के साथ (नः) हमें (अव) बचा ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा की प्रार्थना करके वीर पुरुष पराक्रमी और धनी होकर प्रजा का पालन करें ॥ १० ॥

मन्त्र १०—१६ ऋग्वेद में है—१ । ७ । ४-१०; म० १० सामवेद—पू० ६ । ११ । ४ तथा—उ० २ । १ । ८ ॥

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे । युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ११

इन्द्रम् । वयम् । महा-धने । इन्द्रम् । अर्भे । हवामहे ॥ युजम् । वृत्रेषु । वज्रिणम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (अर्भे) चलते हुये (महाधने) बहुत धन

१०—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (वाजेषु) पराक्रमेषु (नः) अस्मान् (अव) रक्ष (सहस्रप्रधनेषु) असंख्यप्रकृष्टधनयुक्तेषु व्यवहारेषु (च) समुच्चये (उग्रः) प्रचण्डः (उग्राभिः) प्रचण्डाभिः । दृढाभिः (ऊतिभिः) रक्षासाधनैः ॥

११-(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरम् (वयम्) (महाधने) महा-

प्राप्त कराने वाले संग्राम में [अथवा बहुत धन में] (युजम्) सहायकारी और (वृत्रेषु) रोकने वाले शत्रुओं पर (वज्रिणम्) वज्र धारी (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को, (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—युद्धों में तथा बहुत धन में वीर पुरुष—"हे इन्द्र जगदीश्वर ! हे इन्द्र जगदीश्वर"—ऐसा स्मरण करके अपना बल बढ़ावें और प्रयत्न करके शत्रुओं को हटावें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—पू० २ । ४ । ६ ॥

स नो॑ वृषन्न॒मुं च॒रुं स॑त्रादाव॒न्नपा॑ वृधि । अ॒स्मभ्य॒मप्र॑तिष्कुतः॥१२

सः । नः॒ । वृ॒ष॒न् । अ॒मुम् । च॒रुम् । स॒त्रा॒-दा॒व॒न् । अप॑ । वृ॒धि॒ ॥ अ॒स्मभ्य॑म् । अप्र॑ति-स्कुतः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे सुख बरसाने वाले ! (सत्रादावन्) हे सत्य ज्ञान देने वाले परमेश्वर ! (अप्रतिष्कुतः) बे रोक गति वाला (सः) सो तू (नः) हमारे लिये, (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अमुम्) उस (चरुम्) मेघ के समान ज्ञान को (अप वृधि) खोल दे ॥ १२

धने संग्रामनाम—निघ० २ । १७ । प्रभूतधननिमित्ते संग्रामे । यद्वा, महच्च तद् धनं च । प्रभूते धने (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरम् (अर्भे) अर्त्तगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । ऋ गतौ—भन् । गतिशीले (हवामहे) आह्वयामहे (युजम्) युजिर् योगे, युज समाधौ च —क्विप् । सहायकम् (वृत्रेषु) आवरकेषु शत्रुषु (वज्रिणम्) दण्डधारिणम् ॥

१२—(सः) परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (वृषन्) हे सुखवर्षक (अमुम्) प्रसिद्धम् (चरुम्) भृमृशीङ् तृचरि० । उ० १ । ७ । चर गतिभक्षणयोः—उप्रत्ययः । चरुर्मेघनाम निघ० १ । १० । मेघमिवोपकारकं ज्ञानम् (सत्रादावन्) सत्रा सत्यनाम—निघ० ३ । १० । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७२ । ददातेर्वनिप् । हे सत्यज्ञानस्य दातः (अप वृधि) वृञ् अच्छादने—लोट् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । श्नोर्लुक् श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिः । उत्पाटय । उद्घाटय (अस्मभ्यम्) (अप्रतिष्कुतः) अथ० २० । ४१ । १ । अप्रतिगतः ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर से मेघ समान उपकारी सत्यज्ञान को प्राप्त कर के सुखी होवे ॥ १२ ॥

यह मन्त्र सामवेद में है— उ० ८ । १ । २ ॥

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः । न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १३ ॥

तुञ्जे-तुञ्जे । ये । उत्-तरे । स्तोमाः । इन्द्रस्य । वज्रिणः ॥ न । विन्धे । अस्य । सु-स्तुतिम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणः) अत्यन्त पराक्रम वाले (इन्द्रस्य) इन्द्र [परम-ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] के (तुञ्जेतुञ्जे) दान दान में (ये) जो (उत्तरे) उत्तम उत्तम (स्तोमाः) स्तोत्र हैं, [उन से] (अस्य) उस की (सुष्टुतिम्) सुन्दर स्तुति (न विन्धे) मैं नहीं पाता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने प्राणियों के सुख के लिये अनन्त पदार्थ दिये हैं, अतएव मनुष्य उन की गणना करके उसकी स्तुति नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा । ईशानो अप्रतिष्कुतः १४

वृषा । यूथा-इव । वंसगः । कृष्टीः । इयर्ति । ओजसा ॥ ईशानः । अप्रति-स्कुतः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वृषा) बलवान् बैल (यूथा इव) जैसे अपने झुण्डों को, [वैसे ही] (वंसगः) सेवनीय पदार्थों का पहुंचाने वाला, (अप्रतिष्कुतः)

---

१३ (तुञ्जेतुञ्जे) तुजि हिंसायां पालने च—भावे घञ् । तुजस्तुञ्जतेर्दान-कर्मणः—निरु० ६ । १७ । दाने दाने—निरु० ६ । १८ (ये) (उत्तरे) उत्कृष्टाः (स्तोमाः) स्तोत्राणि (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो जगदीश्वरस्य (वज्रिणः) वीर्यवतः । प्रशस्तपराक्रमिणः (न) निषेधे (विन्धे) विद्लृ लाभे—लट्, दकारस्य धकारः । विन्दे । विन्दामि । प्राप्नोमि (अस्य) परमेश्वरस्य (सुष्टुतिम्) शोभनां स्तुतिम् ॥

१४—(वृषा) वीर्यवान् बलीवर्दः (यूथा) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । यु मिश्रणामिश्रणयोः-थक् । सजातीयसमुदायान् (इव) यथा (वंसगः)

वे रोक गति वाला (ईशानः) परमेश्वर (ओजसा) अपने बल से (कृष्टीः) मनुष्यों को (इयर्ति) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् बैल अपने झुण्ड को वश में रखता है, वैसे ही परमात्मा सब में व्यापकर मनुष्य आदि प्राणियों को अपने नियम में रखता है ॥ १४ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—उ० ८ । १ । २ ॥

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् १५

यः । एकः । चर्षणीनाम् । वसूनाम् । इरज्यति ॥ इन्द्रः । पञ्च । क्षितीनाम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (एकः) अकेला (चर्षणीनाम्) चलने वाले मनुष्यों और (वसूनाम्) श्रेष्ठ गुणों का (इरज्यति) स्वामी है, (इन्द्रः) वही इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] से सम्बन्ध वाले (क्षितीनाम्) चलते हुये लोकों का [स्वामी है] ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब प्राणियों, सब श्रेष्ठ गुणों और सब लोकों का स्वामी है, मनुष्य उसकी भक्ति से अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ १५ ॥

अ० १८ । ३ । ३६ । सेवनीयपदार्थानां प्रापयिता (कृष्टीः) अ० ३ । २४ । ३ । मनुष्यान्–निघ० २ । ३ (इयर्ति) ऋ गतौ—लट् शपः श्लुः । प्राप्नोति (ओजसा) बलेन (ईशानः) ईश ऐश्वर्ये—शानच् । परमेश्वरः (अप्रतिष्कुतः) म० १२ । अप्रतिगतः ॥

१५—(यः) परमेश्वरः (एकः) अद्वितीयः (चर्षणीनाम्) अ० १ । ५ । ४ । चरणशीलानां मनुष्याणाम्—निघ० २ । ३ (वसूनाम्) श्रेष्ठगुणानाम् (इरज्यति) इरज ईर्ष्यायाम्, कण्वादिः । इरज्यतिरैश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । ईष्टे (इन्द्रः) स परमेश्वरः (पञ्च) श्वन्नशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । पचि व्यक्तीकरणे–कनिन् । पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशपञ्चभूतसम्बद्धानाम् (क्षितीनाम्) क्षि निवासगत्योः—क्तिन् । क्षितिः पृथिवीनाम्– निघ० १ । १ । गतिशीलानां लोकानाम् ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः । अस्माकमस्तु केवलः ॥ १९ ॥

इन्द्रम् । वः । विश्वतः । परि । हवामहे । जनेभ्यः ॥
अस्माकम् । अस्तु । केवलः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मा] को (वः) तुम्हारे लिये और (विश्वतः) सब (जनेभ्यः) प्राणियों के लिये (परि) सब प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं। वह (अस्माकम्) हमारा (केवलः) सेवनीय (अस्तु) होवे ॥ १९ ॥

भावार्थ- सब मनुष्य सर्वहितकारी जगदीश्वर की आज्ञा में रह कर आनन्द पावें ॥ १९ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० २० । ३९ । १ ॥

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् । वर्षिष्ठमूतये भर १७

आ । इन्द्र । सानसिम् । रयिम् । स-जित्वानम् ॥
सदास-हम् ॥ वर्षिष्ठम् । ऊतये । भर ॥ १७ ॥

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै। त्वोतासो न्यर्वता १८

नि । येन । मुष्टि-हत्यया । नि । वृत्रा । रुणधामहै ॥
त्वा-ऊतासः । नि । अर्वता ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (सानसिम्) सेवनीय, (सजित्वानम्) जीतने वालों के साथ वर्तमान, (सदासहम्) सदा वैरियों के हराने वाले, (वर्षिष्ठम्) अत्यन्त बढ़े हुये

१९—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । ३९ । १ ॥

१७—(आ) समन्तात् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (सानसिम्) अ० २० । १४ । २ । षण संभक्तौ—असिप्रत्ययः । सेवनीयम् (रयिम्) धनम् (सजित्वानम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । जि जये—क्वनिप्, स दृश्य सभावः । जित्वभिर्जेतृभिः सह वर्तमानम् (सदासहम्) सर्वदा शत्रूणा-

(रयिम्) उस धन को (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (आ) सब ओर से (भर) भर ॥ १७ ॥ (येन) जिस [धन] के द्वारा (मुष्टिहत्यया) मुट्ठियों की मार [बाहुयुद्ध] से और (अर्वता) घुड़चढ़े दल से (वृत्रा) शत्रुओं को (त्वोतासः) तुझ से रक्षा किये गये हम (नि) निश्चय करके (नि) नित्य (नि रुणधामहै) रोकते रहें ॥ १८ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर पुरुषार्थ के साथ विद्याओं द्वारा धन बढ़ावें और शरीर और बुद्धिबल तथा अश्व आदि सेना को दृढ़ करके शत्रुओं को जीतें ॥ १७, १८ ॥

मन्त्र १७- २० ऋग्वेद में हैं—१ । ८ । १—४; मन्त्र १७ साम०—पू० २ । ४ । ५ ॥

इन्द्र॒ त्वोता॑स॒ आ व॒यं वज्रं॑ घ॒ना द॑दीमहि । जये॑म॒ सं यु॒धि स्पृधः॑ ॥ १९ ॥

इन्द्र॑ । त्वा-ऊ॑तासः । आ । व॒यम् । वज्र॑म् । घ॒ना । द॒दी॒म॒हि॒ ॥ जये॑म । सम् । यु॒धि । स्पृधः॑ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवाले परमात्मन्] (त्वोतासः) तुझ से रक्षा किये गये (वयम्) हम (वज्रम्) वज्र [बिजुली और अग्नि के शस्त्रों] और (घना) घनों [मारने के तलवार आदि हथियारों] को (आ ददी-

---

मभिर्भवितारम् (वर्षिष्ठम्) अ० ४ । ६ । ८ । वृद्ध—इष्ठन् । अतिशयेन वृद्धम् (ऊतये) रक्षायै (भर) धर ॥

१८—(नि) निश्चयेन (येन) धनेन (मुष्टिहत्यया) हनस्त च । पा० ३ । १ । १०८ । मुष्टि+हन हिंसागत्योः—क्यप् । मुष्टिप्रहारेण । बाहुयुद्धेन (नि) नितराम् (वृत्रा) शत्रून् (रुणधामहै) निरुणधाम । निरुद्धान् करवाम (त्वोतासः) त्वया ऊता रक्षिताः (नि) निश्चयेन (अर्वता) अश्वदलेन ॥

१९—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (त्वोतासः) त्वया रक्षिताः (वयम्) धार्मिकाः (वज्रम्) विद्युदग्निशस्त्रास्त्रसमूहम (घना) दृढानि युद्धसाधनानि लोहमुद्गरखड्गादीनि (आ ददीमहि) गृह्णीयाम (जयेम)

महि) ग्रहण करें और (युधि) युद्ध में (स्पृधः) ललकारते हुये शत्रुओं को (सम्) ठीक ठीक (जयेम) जीतें ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की शरण में रहकर वीर सेना और पुष्कल युद्ध सामग्री लेकर शत्रुओं को हरावें ॥ १६ ॥

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम् । सासह्याम पृतन्यतः ॥ २० ॥

वयम् । शूरेभिः । अस्तृ-भिः । इन्द्र । त्वया । युजा । वयम् ॥ससह्याम । पृतन्यतः ॥ २० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (वयम्) हम, (वयम्) हम (युजा त्वया) तुझ सहायक के साथ (अस्तृभिः) हथियार चलाने वाले (शूरेभिः) शूरों के द्वारा (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वाले बैरियों को (ससह्याम) हरा दें ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में दृढ़ विश्वास करके धर्मयुद्ध में युद्ध कुशल शूरों द्वारा बैरियों को जीत कर प्रजा पालन करें ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१—१६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १-४, ७, ६, ११—१३, १६ निचृद् गायत्री; २, ३, ५, ८, १०. १४, १५ गायत्री; ६ वर्धमाना गायत्री ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

अभिभवेम (सम्) सम्यक् (युधि) युद्धे (स्पृधः) स्पर्ध संघर्षे—क्विप् । बहुलं छन्दसि । पा० ६ । १ । ३४ । रेफस्य सम्प्रसारणमल्लोपश्च । स्पर्धमानान् । युद्धाय शब्दमानान् शत्रून् ॥

२०—(वयम्) सेनापतयः (शूरेभिः) शूरैः । वीरैः (अस्तृभिः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणदक्षैः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (त्वया) (युजा) सामर्थ्यसंयोजकेन । सहायकेन (वयम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् (ससह्याम) षह मर्षणे यङ्लुकि लिङि रूपम् । पुनः पुनः सहेमहि जयेम (पृतन्यतः अ० १ । २१ २ । आत्मनः पृतनां सेनामिच्छतः शत्रून् ॥

म॒हाँ इन्द्रः॑ प॒रश्च॒ नु म॑हि॒त्वम॑स्तु व॒ज्रिणे॑ । द्यौर्न प्र॑थि॒ना शवः॑ ॥ १ ॥

म॒हान् । इन्द्रः॑ । प॒रः । च॒ । नु । म॒हि॒-त्वम् । अ॒स्तु॒ । व॒ज्रिणे॑ ॥ द्यौः । न । प्र॒थि॒ना । शवः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् (च) और (परः) श्रेष्ठ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] (प्रथिना) फैलाव से (द्यौः न) सूर्य के प्रकाश के समान है, (नु) इस लिये (वज्रिणे) उस महापराक्रमी [परमेश्वर] के लिये (महित्वम्) महत्व और (शवः) बल (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर को धन्यवाद देते हुये विद्याओं द्वारा अपना ऐश्वर्य और बल बढ़ावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में हैं—२ । ८ । ५—१० और म० १—साम०—पू० २ । ८ । २ ॥

स॒मो॒हे वा॒ य आश॑त॒ नर॑स्तो॒कस्य॒ सनि॑तौ । विप्रा॑सो वा धिया॒यवः॑ ॥ २ ॥

स॒म्-ओ॒हे । वा॒ । ये । आश॑त । नरः॑ । तो॒कस्य॑ । सनि॑तौ ॥ विप्रा॑सः । वा॒ । धि॒या॒-यवः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (नरः) नर [नेता लोग] (समोहे) सङ्ग्राम

१—(महान्) शुभगुणैः पूजनीयः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (परः) उत्कृष्टः (च) (नु) अस्मात् कारणात् (महित्वम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मह पूजायाम्—इन्, भावे त्वप्रत्ययः । महत्वम् (अस्तु) (वज्रिणे) तस्मै महापराक्रमिणे परमेश्वराय (द्यौः) सूर्यप्रकाशः (न) यथा (प्रथिना) पृथु—इमनिच्, मकारलोपः । प्रथिम्ना । विस्तारेण (शवः) बलम् ॥

२—(समोहे) सम्+उहिर् अर्दने—घञ् । संग्रामे-निघ० २ । १७ (वा) चार्थे (ये) (आशत) अशू व्याप्तौ—लुङ्, च्लेर्लोपः, आडागमः ।

में (वा) और (तोकस्य) सन्तान के (सनितौ) सेवन [पोषण, अध्यापन आदि] में (आशत) लगे हैं, वे (विप्रासः) विद्वान् (वा) और (धियायवः) बुद्धि की कामना वाले हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य साङ्ग्रामिक नीति से प्रजा की रक्षा और सामान्य प्रबन्ध से विद्या की वृद्धि करें ॥ २ ॥

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते । उर्वीरापो न काकुदः ॥ ३ ॥

यः । कुक्षिः । सोम-पातमः । समुद्रः-इव । पिन्वते ॥ उर्वीः । आपः । न । काकुदः ॥ ३ ॥

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

एव । हि । अस्य । सूनृता । वि-रप्शी । गो-मती । मही ॥ पक्वा । शाखा । न । दाशुषे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (कुक्षिः) तत्त्व रस निकालने वाला, (सोमपातमः) ऐश्वर्य का अत्यन्त रक्षक मनुष्य (समुद्रः इव) समुद्र के समान (उर्वीः) भूमियों को और (काकुदः न) वेद वाणी जानने वाले के समान

व्याप्ता अभवन् (नरः) नेतारः (तोकस्य) अ० १।१३।२। तु वृद्धौ पूर्तौ च—कप्रत्ययः। सन्तानस्य—निघ० २। २ (सनितौ) षण सम्भक्तौ—क्तिन्। तितुत्रेष्वग्रहादीनामिति वक्तव्यम्। वा० पा० ७।२।६। इडागमः। सेवने। पोषणाध्यापनादौ (विप्रासः) विप्राः। मेधाविनः (वा) चार्थे (धियायवः) धि धारणे—कप्रत्ययः, टाप्। धीयते धार्यते सा धिया प्रज्ञा, ततः क्यच्, उप्रत्ययः। बुद्धिकामाः ॥

३—(यः) पुरुषः (कुक्षिः) प्लुषिकुषि शुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५। कुष निष्कर्षे—क्सि। तत्त्वनिष्कर्षकः (सोमपातमः) अतिशयेनैश्वर्यरक्षकः (समुद्रः) उदधिः (इव) यथा (पिन्वते) सिञ्चति (उर्वीः) पृथिवीः (आपः)

(आपः) शुभ कर्म को (पिन्वते) सींचता है॥ ३ ॥ (अस्य) उस [मनुष्य] की (सूनृता) अन्न वाली क्रिया (एव) निश्चय कर के (हि) भी (विरप्शी) स्पष्ट वाणी वाली, (गोमती) श्रेष्ठ दृष्टि वाली, (मही) सत्कार योग्य, (पक्वा) परिपक्क [फल फूल वाली] (शाखा न) शाखा के समान (दाशुषे) आत्मदानी पुरुष के लिये [होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विज्ञानी, ऐश्वर्यवान् दूरदर्शी सत्यवादी पुरुष ही प्रजा रक्षक होता है ॥ ३, ४ ॥

म० ४—६ आ चुके हैं अ० २० । ६० । ४—६

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते । सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥

एव । हि । ते । वि-भूतयः । ऊतयः । इन्द्र । मा-वते ॥ सद्यः । चित् । सन्ति । दाशुषे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (एव) निश्चय कर के (हि) ही (ते) तेरे (विभूतयः) अनेक ऐश्वर्य (मावते) मेरे तुल्य (दाशुषे) आत्मदानी के लिये (सद्यः चित्) तुरन्त ही (ऊतयः) रक्षा साधन (सन्ति) होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपना ऐश्वर्य श्रेष्ठ उपकारी पुरुषों की रक्षा में लगाता रहे ॥ ५ ॥

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या । इन्द्राय सोमपीतये ॥ ६ ॥

आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । आप्नोतेः—असुन् । शुभ-कर्म (न) यथा (काकुदः) सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । कै शब्दे—क्विप्+कु शब्दे—क्विप्, तुगागमः, तकारस्य दः । कां शब्दनं कौति वदति सा काकुत् । काकुत् इति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ तदधीते तद् वेद । पा० ४ । २ । ५९ । काकुद्-अण् । वेदवाणीवेत्ता ॥

४—६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ६० । ४-६ ॥

एव । हि । अस्य । काम्यां । स्तोमः। उक्थम् । च । शंस्यां॥ इन्द्राय । सोम-पीतये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एव) निश्चय करके (हि) ही (अस्य) उस [सभापति] के (काम्या) मनोहर और (शंस्या) प्रशंसनीय (स्तोमः) उत्तम गुण (च) और (उक्थम्) कहने योग्य कर्म (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये (सोम-पीतये) सोम रस पीने के निमित्त [हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—उत्तम गुणी पुरुष को सभापति बनाकर सब मनुष्य ऐश्वर्य वाले और तत्त्वज्ञान वाले होवें ॥ ६ ॥

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ अभिष्टि-रोजसा ॥ ७ ॥

इन्द्र । आ । इहि । मत्सि । अन्धसः । विश्वेभिः । सोमपर्व-भिः ॥ महान् । अभिष्टिः । ओजसा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ![परमऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (आ इहि) तू प्राप्त हो, और (विश्वेभिः) सब (सोमपर्वभिः) ऐश्वर्य के उत्सवों के साथ (अन्धसः) अन्न से (मत्सि) तृप्त कर, तू (ओजसा) बल से (महान्) महान् और (अभिष्टिः) सब प्रकार पूजनीय है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का सहाय लेकर आपस में मिलकर विद्या द्वारा ऐश्वर्य बढ़ाने और अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करें ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—१६ ऋग्वेद में हैं—१ । ९ । १—१०, मन्त्र ७ यजुर्वेद ३३ । २५ और सामवेद—पू० २ । ९ । ६ ॥

७—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (आ) समन्तात् (इहि) प्राप्नुहि (मत्सि) श्यनो लुक् । मादयस्व । हर्षय (अन्धसः) अन्नात् (विश्वेभिः) सर्वैः (सोमपर्वभिः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । सोम + पॄ पालनपूरणयोः—वनिप् । सोमस्य ऐश्वर्यस्य पर्वभिरुत्सवैः (महान्) उत्कृष्टः (अभिष्टिः) यजेः—क्तिन्, यद्वा इष गतौ-क्तिन् । एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ९४ । इति पररूपम् । सर्वतःपूजनीयः (ओजसा) बलेन ॥

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने। चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ ८ ॥

आ। ईम्। एनम्। सृजत। सुते। मन्दिम्। इन्द्राय। मन्दिने॥ चक्रिम्। विश्वानि। चक्रये॥ ८॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सुते) उत्पन्न जगत् में (मन्दिम्) आनन्द बढ़ाने वाले, (चक्रिम्) कार्य सिद्ध करने वाले (एनम्) इस (ईम्) प्राप्ति योग्य बोध को (मन्दिने) गतिशील, (विश्वानि) सब कर्मों के (चक्रये) कर चुकने वाले (इन्द्राय) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले मनुष्य के लिये (आ) सब प्रकार (सृजत) उत्पन्न करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग शिल्प विद्या से लेकर मोक्ष पर्यन्त ज्ञान का उपदेश करके सब मनुष्यों को कर्मवीर बनावें ॥ ८ ॥

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभि स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे। सचैषु सवनेष्वा ॥ ९ ॥

मत्स्व। सु-शिप्र। मन्दि-भिः। स्तोमेभिः। विश्व-चर्षणे॥ सचा। एषु। सवनेषु। आ॥ ९॥

भाषार्थ—(सुशिप्र) हे बड़े ज्ञानी ! (विश्वचर्षणे) हे सब गतिशील

८—(आ) समन्तात् (ईम्) प्राप्तव्यं बोधम् (एनम्) प्रसिद्धम् (सृजत) उत्पादयत। सम्पादयत (सुते) उत्पन्ने जगति (मन्दिम्) खनिकष्यज्यसिवसि०—उ० ४। १४०। मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—इप्रत्ययः। आनन्दयितारम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (मन्दिने) अ० २०। १७। ४। मोदयित्रे (चक्रिम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च। पा० ३। २। १७१। डुकृञ् करणे—किन्प्रत्ययः। कार्यकर्तारम् (विश्वानि) सर्वाणि कर्माणि अस्य चक्रये इति कृदन्तेन योगेऽपि। नलोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्। पा० २। ३। ६९। किकिनौ लिट् चेति किकिनोर्लिड्वद्भावेन षष्ठीनिषेधे द्वितीया (चक्रये) करोतेः किन् पूर्ववत्। कृतवते ॥

९—(मत्स्व) हर्षय (सुशिप्र) अ० २०। ४। १। सृप्लृ गतौ—रक

मनुष्यों के स्वामी! [वा सब के देखने वाले परमेश्वर] (मन्दिभिः) हर्ष देने वाले (स्तोमेभिः) स्तुति योग्य व्यवहारों के साथ (सचा) सदा मेल से (एषु) इन (सवनेषु) ऐश्वर्य वाले पदार्थों में (आ) अच्छे प्रकार (मत्स्व) आनन्दित कर ॥ ९ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ सर्वदर्शक परमेश्वर के गुणों को धारण करके मनुष्य दूरदर्शी और पुरुषार्थी होकर सब को सुखी करें ॥ ९ ॥

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत । अजोषा वृषभं पतिम् ॥ १० ॥

असृग्रम् । इन्द्र । ते । गिरः । प्रति । त्वाम् । उत् । अहासत ॥ अजोषाः । वृषभम् । पतिम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (अजोषाः) अत्यन्त प्रीति करने वाली [जिन से अधिक हितकारी दूसरा नहीं वे] (गिरः) वेदवाणियां (असृग्रम्) गति देने वाले, (वृषभम्) सुखों के बरसाने वाले [वा बलवान्] (पतिं त्वाम्) तुझ स्वामी को (प्रति) प्रत्यक्ष करके (उत् अहासत) ऊंची गयी हैं ॥ १० ॥

सृशब्दस्य शिभावः । सृपः सर्पणादिदमपीतरत् सृपमेतस्मादेव सर्पिर्वा तैलं वा······सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्—निरु० ६ । १७ ॥ हे बहुज्ञानयुक्त [मन्दिभिः] म० ८ । हर्षयितृभिः (स्तोमेभिः) स्तुत्यव्यवहारैः (विश्वचर्षणे) चर्षणयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । सर्वे चरणशीला मनुष्या यस्य तत्सम्बुद्धौ । हे सर्व-मनुष्यस्वामिन् । हे सर्वदर्शक—निघ० ३ । ११ (सचा) समवायेन (एषु) प्रत्यक्षेषु (सवनेषु) ऐश्वर्ययुक्तेषु पदार्थेषु (आ) समन्तात् ॥

१०—(असृग्रम्) अस गतिदीप्त्यादानेषु—ऋजिप्रत्ययः + रा दाने—क । गतिदातारम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (ते) तव (गिरः) वेद-वाण्यः (प्रति) प्रत्यक्षेण (त्वाम्) परमेश्वरम् (उत्) उत्कर्षेण (अहासत) ओहाङ् गतौ—लुङ् । प्राप्नुवन् (अजोषाः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—घञ्, टाप्-नास्ति अधिकप्रीतिकरा यस्याः सकाशात् सा अजोषा, यथा अनुत्तमः, अनुदारः, अमूलः इत्यादिपदानि । अत्यन्तहितकारिण्यः (वृषभम्) सुखवर्षकम् (पतिम्) स्वामिनम् ॥

भावार्थ—परमात्मा के प्रकाशित अनन्त हितकारी वेदों को विचार कर विद्वान् लोग उस को अद्वितीय अनन्त सामर्थ्य वाला जानकर सदा पुरुषार्थ, करें ॥ १० ॥

सं चौदय चित्रम॒र्वाग् राध॑ इन्द्र॒ वरे॑ण्यम् । अस॒दित् ते॑ वि॒भु प्र॒भु ॥ ११ ॥

सम् । चो॒द॒य॒ । चि॒त्रम् । अ॒र्वाक् । राधः॑ । इ॒न्द्र॒ । वरे॑ण्यम् ॥ अस॑त् । इत् । ते॒ । वि॒-भु । प्र॒-भु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (चित्रम्) अद्भुत, (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ (राधः) सिद्धि करने वाले धन को (अर्वाक्) सन्मुख (सम्) ठीक ठीक (चोदय) भेज, (ते) तेरा (इत्) ही (विभु) व्यापक और (प्रभु) प्रबल सामर्थ्य (असत्) है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ करके परमात्मा के अनन्त भण्डार से विचित्र पदार्थों को प्राप्त करके इष्ट सिद्धि करें ॥ ११ ॥

अ॒स्मान्त्सु तत्र॑ चोद॒येन्द्र॑ रा॒ये रभ॑स्वतः । तुवि॑द्युम्न॒ यश॑स्वतः ॥ १२ ॥

अ॒स्मान् । सु । तत्र॑ । चो॒द॒य॒ । इन्द्र॑ । रा॒ये । रभ॑स्वतः ॥ तुवि॑-द्युम्न । यश॑स्वतः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(तुविद्युम्न) हे अत्यन्त धन वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [परम

११—(सम्) सम्यक् (चोदय) प्रेरय । प्रापय (चित्रम्) अद्भुतम् (अर्वाक्) अभिमुखम् (राधः) सिद्धिकरं धनम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (वरेण्यम्) वृञ् एण्यः । उ० ३ । ९८ । वृञ् वरणे-एण्य । अतिश्रेष्ठम् (असत्) लडर्थे लेट् । अस्ति (इत्) एव (ते) तव (विभु) व्यापकम् (प्रभु) प्रबलं सामर्थ्यम् ॥

१२—(अस्मान्) धार्मिकान् (सु) सुष्ठु (तत्र) प्रसिद्धे श्रेष्ठकर्मणि

ऐश्वर्य वाले परमात्मन् (राये) धन के लिये (रभस्वतः) उपाय सोच कर आरम्भ करने वाले, (यशस्वतः) यश रखने वाले (अस्मान्) हम को (तत्र) वहां [श्रेष्ठ कर्म में] (सु) अच्छे प्रकार (चोदय) पहुंचा ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में विश्वास करके पहिले से विचार कर कार्य सिद्ध करें और कीर्तिमान होवें ॥ १२ ॥

सं गोम॑दिन्द्र॒ वाज॑वद॒स्मे पृ॒थु श्रवो॑ बृ॒हत् । वि॒श्वायु॑र्धे॒-ह्यक्षि॑तम् ॥ १३ ॥

सम् । गो-म॑त् । इ॒न्द्र॒ । वाज॑-वत् । अ॒स्मे इति॑ । पृ॒थु । श्रवः॑ । बृ॒हत् ॥ वि॒श्व-आयुः । धे॒हि॒ । अक्षि॑तम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (अस्मे) हम को (गोमत्) बहुत भूमि वाला, (वाजवत्) बहुत अन्न वाला, (पृथु) फैला हुआ, (बृहत्) बढ़ता हुआ, (विश्वायुः) पूरे जीवन तक रहने वाला, (अक्षितम्) अक्षय [न घटने वाला] (श्रवः) सुनने योग्य यश वा धन (सम्) अच्छे प्रकार (धेहि) दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा की भक्ति के साथ ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त करें और बहुत यश और धन पाकर चक्रवर्ती राजा होकर संसार को सुख दें और आप सुखी होवें ॥ १३ ॥

अ॒स्मे धे॑हि॒ श्रवो॑ बृ॒हद्द्यु॒म्नं स॑हस्र॒सात॑मम् । इन्द्र॒ ता र॒थिनी॒रिषः॑ ॥ १४ ॥

(चोदय) प्रेरय (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (राये) धनाय (रभस्वतः) रभ राभस्ये=कार्योपक्रमे—असुन्, मतुप् । उपायज्ञानपूर्वकारम्भयुक्तान् (तुविद्युम्न) बहुधनिन् (यशस्वतः) कीर्तिमतः ॥

१३—(सम्) सम्यक् (गोमत्) बहुभूमियुक्तम् (इन्द्र) परमेश्वर (वाजवत्) बह्वन्नवत् (अस्मे) अस्मभ्यम् (पृथु) विस्तृतम् (श्रवः) श्रवणीयं यशो धनं वा (बृहत्) वर्धमानम् (विश्वायुः) सर्वजीवनपर्याप्तम् (धेहि) देहि (अक्षितम्) अक्षीणम् । हानिरहितम् ॥

अस्मे इति । धेहि । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् ।
सहस्र-सातमम् ॥ इन्द्र । ताः । रथिनीः । इषः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (अस्मे) हम को (बृहत्) बढ़ता हुआ (श्रवः) सुनने योग्य धन और (सहस्रसातमम्) सहस्रों सुखों का देने वाला (द्युम्नम्) चमकता हुआ यश और (ताः) वे [प्रसिद्ध] (रथिनीः) रथों [यान विमान आदि] वाली (इषः) चलती हुयी सेनायें (धेहि) दे ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की प्रार्थना पूर्वक बहुत धन, कीर्ति और सेना के संग्रह से शत्रुओं का नाश करके सुख को प्राप्त होवें ॥ १४ ॥

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् । होम गन्तारमूतये ॥ १५ ॥

वसोः । इन्द्रम् । वसु-पतिम् । गीः-भिः । गृणन्तः ।
ऋग्मियम् ॥ होम । गन्तारम् । ऊतये ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(गीर्भिः) वेद वाणियों से (गृणन्तः) स्तुति करते हुये हम (वसुपतिम्) वसुओं [अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य वा सूर्यलोक, द्यौ वा आकाश, चन्द्रलोक और तारागणों] के स्वामी, (ऋग्मियम्)

१४—(अस्मे) अस्मभ्यम् (धेहि) देहि (श्रवः) श्रवणीयं धनम् (बृहत्) वर्धमानम् (द्युम्नम्) अ० ६ । ३५ । ३ । द्योतमानं यशः (सहस्रसातमम्) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । षणु दाने—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । नकारस्य आकारः, ततस्तमप् । अतिशयेन सहस्रसुखप्रदम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (ताः) प्रसिद्धाः (रथिनीः) बहुयानविमानादियुक्ताः (इषः) इष् गतौ—क्विप् । गतिशीलाः सेनाः ॥

१५—(वसोः) श्रेष्ठगुणस्य (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरम् (वसुपतिम्) अष्टवसूनामग्निपृथिव्यादीनां स्वामिनम् । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्चद्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः—दयानन्द भाष्ये, ऋक्० १ । ६ । ६ (गीर्भिः) वेदवाणीभिः (गृणन्तः) स्तुवन्तः (ऋग्-

स्तुति योग्य, (गन्तारम्) ज्ञान वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] को (वसोः) श्रेष्ठ गुण की (ऊतये) रक्षा के लिये (होम) बुलाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब ऐश्वर्य के दाता और न्यायकारी परमात्मा की प्रार्थना और उत्तम गुणों की धारणा से राज्य लक्ष्मी को प्राप्त होकर उन्नति करें ॥ १५ ॥

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृंहत एदुरिः । इन्द्राय शूषमर्चति ॥१६॥

सुते-सुते । नि-ओकसे । बृहत् । बृहते । आ । इत् । अरिः ॥ इन्द्राय । शूषम् । अर्चति ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अरिः) शत्रु (इत्) भी (सुतेसुते) उत्पन्न हुये उत्पन्न हुये पदार्थ में (न्योकसे) निश्चित स्थान वाले, (बृहते) महान् (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के (बृहत्) बढ़े हुये (शूषम्) बल को (आ) सब प्रकार (अर्चति) पूजता है १६ ॥

मियम्) अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । ऋच स्तुतौ—मक्, कुत्वं जश्त्वं च, ऋग्मः स्तुतिः,तदर्हति ऋग्मियः । पात्राद्घंश्च । पा०५ । १ । ६८ । अर्हार्थे-घन्, यद्वा बाहुलकात् घच् । ऋग्मियमृग्मन्तमिति वार्चनीयमिति वा पूजनीयमिति वा—निरु० ७ । २६ । स्तुतियोग्यम् (होम) ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च - लट् । बहुल छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । शपो लुक् । छन्दस्युभयथा । ३ । ४ । ११७ । उभयसंज्ञात्वे गुणसम्प्रसारणे, सकारलोपश्छान्दसः । आह्वयामः (गन्तारम्) गच्छतेः—तृन् । ज्ञातारम् (ऊतये) रक्षायै ॥

१६—(सुतेसुते) उत्पन्न उत्पन्ने पदार्थे (न्योकसे) अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च । उ० ४ । २१६ । उच समवाये—असुन्, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । ओक इति निवासनामोच्यते—निरु० ३ । ३ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । वा० पा० २ । ३ । ६२ निश्चितनिवासयुक्तस्य (बृहत्) वर्धमानम् (बृहते) महतः (आ) समन्तात् (इत्) एव (अरिः) शत्रुः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (शूषम्) पीयेरूषन् । उ० ४ । ७६ । शुष शोषणे-ऊषन् कित । शत्रुशोषकं बलम् निघ० २ । ६० (अर्चति) पूजयति ॥

भावार्थ—संसार में विचित्र पदार्थों की रचना और गुण देखकर वेद विरोधी नास्तिक भी परमात्मा के सामर्थ्य को मानकर उस की शरण लेता है ॥ १६ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदत्यष्टिः; २, ३ भुरिगष्टिश्छन्दः ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक् । तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि । इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥ १ ॥

विश्वेषु । हि । त्वा । सवनेषु । तुञ्जते । समानम् । एकम् । वृष-मन्यवः । पृथक् । स्व१रिति स्वः । सनिष्यवः । पृथक् ॥ तम् । त्वा । नावम् । न । पर्षणिम् । शूषस्य । धुरि । धीमहि ॥ इन्द्रम् । न । यज्ञैः । चितयन्तः । आयवः । स्तोमेभिः । इन्द्रम् । आयवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (विश्वेषु) सब (हि) ही (सवनेषु) ऐश्वर्य युक्त पदार्थों में (समानम्) एक रस व्यापक, (एकम्) एक, (स्वः) सुखस्वरूप (त्वा) तुझको (वृषमन्यवः) बलवान् के समान तेज वाले, और

१—(विश्वेषु) सर्वेषु (हि) निश्चयेन (त्वा) त्वाम् (सवनेषु) ऐश्वर्ययुक्तेषु पदार्थेषु (तुञ्जते) तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु—लट् । गृह्णन्ति (समानम्) एकरसव्यापकम् (एकम्) अद्वितीयम् (वृषमन्यवः) यजिमनि शुन्धि० । उ० ३ । २० । मन ज्ञाने दीप्तौ च—युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः

(सनिष्यवः) देने योग्य धन को चाहने वाले पुरुष (पृथक् पृथक्) अलग अलग (तुञ्जते) ग्रहण करते हैं। (नावम् न) नाव के समान (पर्षणिम्) पार लगाने वाले (तम्) उस (त्वा) तुझ (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा], (इन्द्रम) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (शूषस्य) बल की (धुरि) धुरी [धारण शक्ति] में (यज्ञैः) यज्ञों [श्रेष्ठ व्यवहारों] से और (स्तोमेभिः) प्रशंसनीय गुणों से (चितयन्तः) चिन्तवन करते हुये (आयवः) पुरुषार्थी (आयवः न) मनुष्यों के समान (धीमहि) हम धारण करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पुरुषार्थी लोगों के समान आनन्द स्वरूप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का सदा स्मरण करके अपना बल बढ़ाने के लिये प्रयत्न करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । १३१ । २, ३, ६ ॥

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः । यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि । आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमि-

---

क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा—निरु० १० । २६ । वृषस्य बलवतः पुरुषस्य तेज इव तेजो येषां ते (पृथक्) भिन्नप्रकारेण (स्वः) सुखस्वरूपम् (सनिष्यवः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । षणु दाने-इन् । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । सनि—क्यच् । सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ । वा० पा० ७ । १ । सुगागमः । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उप्रत्ययः । दातव्यधनमिच्छवः (पृथक्) (तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (नावम्) नौकाम् (न) इव (पर्षणिम्) अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । पृ पालनपूरणयोः—अनिप्रत्ययः षुगागमः । पारयितारम् (शूषस्य) बलस्य (धुरि) धृञ् धारणे - क्विप् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १०३ । इति उरादेशः । यानमुखे । धारणशक्तौ (धीमहि) दधातेः—लिङ् । धरेम (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (न) इव (यज्ञैः) श्रेष्ठव्यवहारैः (चितयन्तः) चिती संज्ञाने-णिच्, शतृ । गुणाभावः । चेतयन्तः । स्मरन्तः (आयवः) छन्दसीणः । । उ० १ । २ । इण् गतौ—उण् । गतिमन्तः पुरुषार्थिनः (स्तोमेभिः) प्रशंसनीयगुणैः (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (आयवः) मनुष्याः—निघ० २ । ३ ॥

न्द्र सचाभुवम् ॥ २ ॥

वि । त्वा । ततस्रे । मिथुनाः । अवस्यवः । व्रजस्य । साता । गव्यस्य । निःऽसृजः । सक्षन्तः । इन्द्र । निःऽसृजः ॥ यत् । गव्यन्ता । द्वा । जना । स्वः । यन्ता । सम्ऽऊहसि ॥ आविः । करिक्रत् । वृषणम् । सचाऽभुवम् । वज्रम् । इन्द्र । सचाऽभुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र !) हे इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (व्रजस्य) मार्ग के (साता) पाने में (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले (सक्षन्तः) गतिशील, (गव्यस्य) भूमि के लिये हित के (निःसृजः) नित्य उत्पन्न करने वाले और (निःसृजः) निरन्तर देने वाले (मिथुनाः) स्त्री पुरुषों के समूहों ने (त्वा) तुझको [तेरे गुणों को] (वि) विविध प्रकार (ततस्रे) फैलाया है। (यत्) क्योंकि, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमात्मन्] (वृषणम) बलवान्, (सचाभुवम्) नित्य मेल से रहने वाले, (सचाभुवम्) सेचन [वृद्धि] के साथ वर्तमान्) (वज्रम्) वज्र [दण्डगुण] को (आविः करिक्रत्) प्रकट करता हुआ तू (गव्यन्ता) वाणी [विद्या] को चाहने वाले, (स्वः) सुख को (यन्ता) प्राप्त

२—(वि) विविधम् (त्वा) त्वाम्। तव गुणम् (ततस्रे) तसु उपक्षये उन्दोपे च—लिट्। इरयो रे। पा० ६। ४। ७६। इति रेभावः। उत्क्षिप्तवन्तः। विस्तारितवन्तः (मिथुनाः) स्त्रीपुरुषसमूहाः (अवस्यवः) अ० २०। १४। १। रक्षाकामाः (व्रजस्य) व्रज गतौ+घञर्थे क। मार्गस्य (साता) विभक्तेर्डा। सातौ। लाभे (गव्यस्य) गवे पृथिव्यै हितस्य (निःसृजः) सृज विसर्गे-क्विप्। नितरां स्रष्टारो निष्पादयितारः (सक्षन्तः) सक्षतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। नैरुक्तो धातुः—शतृ। गच्छन्तः (इन्द्र) परमात्मन् (निःसृजः) निरन्तरदातारः (यत्) यतः (गव्यन्ता) गो—क्यच्, शतृ। गां वाणीं विद्यामिच्छन्तौ (द्वा) द्वौ (जना) जनौ। स्त्रीपुरुषौ (स्वः) सुखम् (यन्ता) यन्तौ। प्राप्नुवन्तौ (समूहसि) ऊह वितर्के। सम्यक् चेतयसि (आविः) प्राकट्ये (करिक्रत्) करोतेर्यङ्लुकि शतृ। भृशं कुर्वन् (वृषणम्) बलवन्तम् (सचाभुवम्) षच समवाये सेचने च—क्विप्+भू सत्तायाम्—क्विप्। समवा-

होने वाले (द्वा) दोनों (जना) जनों [स्त्री पुरुषों] को (समूहसि) यथावत् चेताता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष सबके सुख के लिये राज्य आदि प्राप्त करके शिष्ट सुखदायक, दुष्ट विनाशक परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनको वह जगदीश्वर उन्नति के लिये सदा उत्साह देता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र आगे है—अथ० २० । ७५ । १॥

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्य१र्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः । यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिञ्चिकेतसि । आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः ॥ ३ ॥

उतो इति । नः । अस्याः । उषसः । जुषेत । हि । अर्कस्य । बोधि । हविषः । हवीम-भिः । स्वः-साता । हवीम-भिः ॥ यत् । इन्द्र । हन्तवे । मृधः । वृषा । वज्रिन् । चिकेतसि ॥ आ । मे । अस्य । वेधसः । नवीयसः । मन्म । श्रुधि । नवीयसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे बीच में (उतो) निश्चय करके ही वह [जिज्ञासु पुरुष] (अस्याः) इस (उषसः) उषा [प्रभात वेला] का (जुषेत) सेवन करे और (हवीमभिः) ग्रहण करने योग्य व्यवहारों और (हवीमभिः) देने योग्य पदार्थों से (हि) ही (स्वर्षाता) सुख के सेवन में

येन वर्तमानम् (वज्रम्) दण्डगुणम् (इन्द्र) परमात्मन् (सचाभुवम्) सेचनेन वर्धनेन सह वर्तमानम्

३—(उतो) निश्चयेनैव (नः) अस्माकं मध्ये (अस्याः) दृश्यमानायाः (उषसः) प्रभातवेलायाः (जुषेत) सेवेत । सेवनं कुर्यात् (हि) अवधारणे (अर्कस्य) पूजनीयस्य परमात्मनः (बोधि) बुध अवगमने—लिङर्थे लुङ् प्रथमपुरुषस्यैकवचनम् । बोधं कुर्यात् (हविषः) आदानस्य । ग्रहणस्य (हवीमभिः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । हु दानादानयोः—

(अर्कस्य) पूजनीय परमात्मा के (हविषः) ग्रहण का (बोधि) बोध करे। (यत्) क्योंकि (वज्रिन्) हे दण्ड दाता (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (वृषा) सुखों का बरसाने वाला महा बलवान् तू (मृधः) हिंसक वैरियों के (हन्तवे) मारने को (चिकेतसि) जानता है, [इस लिये] (मे) मुझ (नवीयसः) अधिक नवीन [अभ्यासी ब्रह्मचारी] और (अस्य) उस (नवीयसः) अधिक स्तुति योग्य (वेधसः) बुद्धिमान् [आचार्य] के (मन्म) मनन योग्य कथन को (आ) अच्छे प्रकार (श्रुधि) सुन ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रातःकाल में प्रकाश बढ़ता जाता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम उत्तम व्यवहारों के लेने देने से परमात्मा की भक्ति बढ़ावें, वह जगदीश्वर विघ्ननाशक है, उस की उपासना नवीन अभ्यासी ब्रह्मचारी और सुबोध आचार्य आदि सब लोग करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्ष्यनुष्टुप्; २ विराडार्ष्यनुष्टुप्; ३ भुरिगार्ष्यनुष्टुप; ४ निचृज्जगती; ५, ६ निचृदार्षी त्रिष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि। त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥ १ ॥

तुभ्य॑ । इत् । इमा । सव॑ना । शूर । विश्वा॑ । तुभ्य॑म् । ब्रह्मा॑णि । वर्ध॑ना । कृणोमि । त्वम् । नृ-भिः । हव्यः॑ । विश्वधा॑ । असि ॥ १ ॥

मनिन्, ईडागमः । प्राज्ञव्यवहारैः (स्वर्षाता) विभक्तेर्डा । सुखस्य सेवने (हवीमभिः) दातव्यपदार्थैः (यत्) यतः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (हन्तवे) तवेन् प्रत्ययः । हन्तुं नाशयितुम् (मृधः) हिंसकान् शत्रून् (वृषा) सुखस्य वर्षकः । बलिष्ठः (वज्रिन्) हे दण्डदातः (चिकेतसि) कित ज्ञाने, जौहोत्यादिकः, लेटि अडागमः । जानासि (आ) समन्तात् (मे) मम (अस्य) तस्य (वेधसः) मेधाविनः (नवीयसः) नव–ईयसुन् । नवीनतरस्य । अभ्यासिनो ब्रह्मचारिणः (मन्म) मननीयं कथनम् (श्रुधि) शृणु (नवीयसः) नवतरस्य । स्तुत्यतरस्य । सुबोधाचार्यस्य ॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर ! [निर्भय मनुष्य] (तुभ्य) तेरे लिये (इत्) ही (इमा) इन (विश्वा) सब (सवना) ऐश्वर्य युक्त वस्तुओं को और (तुभ्यम्) तेरे लिये (वर्धना) उन्नति करने वाले (ब्रह्माणि) धनों वा अन्नों को (कृणोमि) मैं करता हूं । (त्वम्) तू (नृभिः) नेता मनुष्यों से (विश्वधा) सब प्रकार (हव्यः) ग्रहण करने योग्य (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति सब अधिकारियों की यथा योग्य पालना करता रहे, जिस से वे लोग सेवा करने में सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—७ । २२ । ७, ८ ॥

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र ।
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ २ ॥

नु । चित् । नु । ते । मन्यमानस्य । दस्म । उत् । अश्नुवन्ति ।
महिमानम् । उग्र । न । वीर्यम् । इन्द्र । ते । न । राधः ॥२॥

भाषार्थ—(दस्म) हे दर्शनीय ! (उग्र) हे तेजस्वी (इन्द्र) इन्द्र ! [राजन्] (मन्यमानस्य ते) तुझ महाज्ञानी की (न) न तो (महिमानम्) महिमा को और (न) न (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम और (राधः) धन को वे [अन्य-पुरुष] (नु चित्) कभी भी (नु) किसी प्रकार (उत्) अधिकता से (अश्नुवन्ति) पहुंचते हैं ॥ २ ॥

१—(तुभ्य) तुभ्यम् (इत्) एव (इमा) इमानि (सवना) ऐश्वर्ययुक्तानि वस्तूनि (शूर) निर्भय मनुष्य (विश्वा) सर्वाणि (तुभ्यम्) (ब्रह्माणि) धनानि अन्नानि वा (वर्धना) उन्नतिकराणि (कृणोमि) करोमि (त्वम्) (नृभिः) नेतृभिः पुरुषैः (हव्यः) ग्रहणीयः (विश्वधा) सर्वप्रकारेण (असि) ॥

२—(नु चित्) कदापि (नु) निश्चयेन (ते) तव (मन्यमानस्य) मन ज्ञाने—शानच् । विदुषः पुरुषस्य (दस्म) अ० २० । १७ । २ । हे दर्शनीय (उत) आधिक्ये (अश्नुवन्ति) प्राप्नुवन्ति (महिमानम्) महत्त्वम् (उग्र) तेजस्विन् (न) निषेधे (वीर्यम्) पराक्रमम् (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त राजन् (ते) तव (न) निषेधे (राधः) धनम् ॥

भावार्थ—जो मनुष्य महिमा और विद्या आदि शुभ गुणों, पराक्रम और धन में अधिक होवे, वह सभापति राजा होवे ॥ २ ॥

प्र वो॑ म॒हे म॑हि॒वृधे॑ भरध्वं॒ प्रचे॑तसे॒ प्र सु॑म॒तिं कृ॑णुध्वम् । विशः॑ पू॒र्वीः प्र च॑रा चर्षणि॒प्राः ॥ ३ ॥

प्र । वः॒ । म॒हे । म॒हि॒-वृधे॑ । भ॒र॒ध्व॒म् । प्र-चे॑तसे । प्र । सु॒-म॒तिम् । कृ॒णु॒ध्व॒म् ॥ विशः॑ । पू॒र्वीः । प्र । च॒र॒ । च॒र्ष॒णि॒-प्राः ३

भावार्थ—[हे विद्वानो !] (वः) अपने लिये (महे) महान् (महिवृधे) बड़ों के बढ़ाने वाले, (प्रचेतसे) उत्तम ज्ञानी [दूरदर्शी राजा) के लिये (सुमतिम्) सुन्दर मति को (प्र) अच्छे प्रकार (भरध्वम्) धारण करो और (प्र) सामने (कृणुध्वम्) करो । [हे सभापते !] (चर्षणिप्राः) मनुष्यों के मनोरथ पूरा करने वाला तू (पूर्वीः) प्राचीन (विशः) प्रजाओं को (प्र चर) फैला ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग चतुर नीतिज्ञ सभापति के आश्रय से अपनी उन्नति करें और सभापति उन लोगों के मेल से अपना और प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३१ । १० ॥

य॒दा वज्रं॒ हिर॑ण्य॒मिदथा॒ रथं॒ हरी॒ यम॑स्य॒ वह॑तो॒ वि सू॒रिभिः॑ । आ ति॑ष्ठति म॒घवा॒ सन॑श्रुत॒ इन्द्रो॒ वाज॑स्य दी॒र्घश्र॑वस॒स्पतिः॑ ॥ ४

य॒दा । वज्र॑म् । हिर॑ण्यम् । इत् । अथ॑ । रथ॑म् । हरी॒ इति॑ ।

३—(प्र) प्रकर्षेण (वः) युष्मभ्यम् । स्वीकीयार्थम् (महे) महते (महिवृधे) महीनां महतां वर्धकाय (भरध्वम्) धारयत (प्रचेतसे) प्रकृष्टज्ञानाय । दूरदर्शिने (प्र) (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (कृणुध्वम्) कुरुत (विशः) प्रजाः (पूर्वीः) प्राचीनाः पितापितामहादिभ्यः प्राप्ताः (प्र चर) प्रसारय (चर्षणिप्राः) अ० २० । ११ । ७ । मनुष्याणां मनोरथपूरकः ॥

यम् । अस्य । वहतः । वि । सूरि-भिः ॥ आ । तिष्ठति । मघ-वा । सन-श्रुतः । इन्द्रः । वाजस्य । दीर्घ-श्रवसः । पतिः॥४

भाषार्थ—(यदा) जब (अस्य) इस [सेनापति] के (यम्) जिस (हिरण्यम्) तेजोमय (वज्रम्) वज्र [दण्ड] (अथ) और (रथम्) रथ [राज्यव्यवहार] को (हरी) दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (सूरिभिः) प्रेरक विद्वानों के साथ (इत्) ही (वि) (विविध प्रकार (वहतः) ले चलते हैं। [तब उस पर] (मघवा) महाधनी, (सनश्रुतः) दान के लिये प्रसिद्ध, (दीर्घश्रवसः) बहुत यश वाले (वाजस्य) पराक्रम का (पतिः) स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (आ तिष्ठति) ऊंचा बैठता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब राजा विद्वानों से मिलकर धर्मयुक्त नीति के साथ राज्य को चलाता है, वह प्रजापालक महाधनी होकर बड़ी कीर्ति पाता है ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—१० । २३ । ३—५ ॥

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या॒३॒ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते । अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम् ॥ ५ ॥

सो इति । चित् । नु । वृष्टिः । यूथ्या । स्वा । सचा । इन्द्रः । श्मश्रूणि । हरिता । अभि । प्रुष्णुते ॥ अव । वेति ।

४—(यदा) यस्मिन् काले (वज्रम्) दण्डम् (हिरण्यम्) तेजोमयम् (इत्) एव (अथ) अनन्तरम् (रथम्) रथमिव रमणीयं राज्यव्यवहारम् (हरी) अश्वाविव बलपराक्रमौ (यम्) वज्रं रथं वा (अस्य) सेनापतेः (वहतः) नयतः (वि) विविधम् (सूरिभिः) अ० २० । ३४ । १७ । प्रेरकैर्विद्वद्भिः (आ तिष्ठति) आरोहति । उपरि वर्तते (मघवा) महाधनी (सनश्रुतः) षणु दाने—अच् । दानाय प्रसिद्धः (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापतिः (वाजस्य) पराक्रमस्य (दीर्घश्रवसः) बहुकीर्तियुक्तस्य (पतिः) स्वामी ॥

सु-क्षयम् । सुते । मधु । उत् । इत् । धूनोति । वातः । यथा । वनम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सो) वही (इन्द्रः) इन्द्र [बड़ा ऐश्वर्यवान् पुरुष] (वृष्टिः चित्) वृष्टि के समान (नु) निश्चय करके (सचा) नित्य मेल के साथ (स्वा) अपने (हरिता) स्वीकार करने योग्य (यूथ्या) समुदायों को (श्मश्रूणि) अपने शरीर में आश्रित अङ्गों [के समान] (अभि) सब प्रकार (प्रुष्णुते) सींचता है । और वह (सुते) उत्पन्न जगत् में (सुक्षयम् बड़े ऐश्वर्य वाले (मधु) निश्चित ज्ञान [मधु विद्या] को (इत्) अवश्य (अव वेति) पा लेता है और [पापों को] (उत्) (धूनोति) उखाड़ कर हिला देता है, (यथा) जैसे (वातः) पवन (वनम्) बन को ॥ ५ ॥

भावार्थ—वृष्टि के समान जो मनुष्य शरीर के अङ्गों के तुल्य प्रिय अपने लोगों पर उपकार करता है, वह संसार में ऐश्वर्य युक्त ज्ञान प्राप्त करके पापों को हटाकर आनन्द पाता है ॥ ५ ॥

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान । तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥ ६ ॥

यः । वाचा । वि-वाचः । मृध्र-वाचः । पुरु । सहस्रा । अशिवा ।

५—(सो) स एव (चित्) उपमार्थे (नु) निश्चयेन (वृष्टिः) जलवर्षा (यूथ्या) स्वार्थे यत् । यूथानि । सजातीयसमुदायान् (स्वा) स्वकीयानि (सचा) समवायेन (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् मनुष्यः (श्मश्रूणि) अ० ५ । १६ । १४ । शीङ् शयने-मनिन्, डित्+श्रिञ् सेवायाम्—डुन् । श्म शरीरम्...श्मश्रु लोम श्मनि श्रितं भवति—निरु० ३ । ५ । शरीरे श्रितान्यङ्गानि यथा (हरिता) अ० २० । ३० । ३ । स्वीकरणीयानि (अभि) सर्वतः (प्रुष्णुते) प्रुष स्नेहन-सेचनपूरणेषु—लट् । सिञ्चति । वर्धयति (अव वेति) वी गत्यादिषु । अधिगच्छति । प्राप्नोति (सुक्षयम्) क्षि ऐश्वर्ये—अच् । बह्वैश्वर्ययुक्तम् (सुते) उत्पन्ने जगति (मधु) निश्चितं ज्ञानम् । मधुविद्याम् (उत्) उत्कृष्य (इत्) एव (धूनोति) कम्पयति पापानि (वातः) वायुः (यथा) (वनम्) वृक्षसमूहम् ॥

जघान ॥ तत्-तत् । इत् । अस्य । पौंस्यम् । गृणीमसि । पिता-इव । यः । तविषीम् । वबृधे । शवः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [शूर] ने (वाचा) [अपनी सत्य] वाणी से (विवाचः) विरुद्ध बोलने वाले, (मृध्रवाचः) हिंसक वाणी वाले के (पुरु) बहुत (सहस्रा) सहस्रों (अशिवा) क्रूर कर्मों को (जघान) नष्ट किया है और (यः) जिस [शूर] ने (पिता इव) पिता के समान (तविषीम्) हमारी शक्ति और (शवः) पराक्रम को (वबृधे) बढ़ाया है, (अस्य) उस के (तत्तत्) उस उस (इत्) ही (पौंस्यम्) मनुष्यपन [वा बल] की (गृणीमसि) हम बड़ाई करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो वीर पुरुष दुराचारियों का नाश करके प्रजा को कष्ट से छुड़ाता है, प्रजागण उस गुणवान् पुरुष को ही मुखिया बनाकर प्रीति करते हैं ६

सूक्तम् ७४ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४, ५ निचृत् पथ्या पङ्क्तिः; २, ३, ६, ७ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि । आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ १ ॥

यत् । चित् । हि । सत्य । सोम-पाः । अनाशस्ताः-इव । स्मसि ॥ आ । तु । नः । इन्द्र । शंसय । गोषु । अश्वेषु । शुभ्रिषु । सहस्रेषु । तुवि-मघ ॥ १ ॥

६—(यः) वीरः (वाचा) सत्यवाण्या (विवाचः) विरुद्धवाणीयुक्तस्य (मृध्रवाचः) हिंसकवाणीयुक्तस्य (पुरु) बहूनि (सहस्रा) सहस्राणि (अशिवा) अभद्राणि । क्रूरकर्माणि (जघान) नाशितवान् (तत्तत्) सुप्रसिद्धम् (इत्) एव (अस्य) शूरस्य (पौंस्यम्) अ० २० । ६७ । २ । पुंसः कर्म । बलम् (गृणीमसि) वयं स्तुमः (पिता) (इव) (यः) शूरः (तविषीम्) अ० २० । ६ । २ । शक्तिम् (वबृधे) वर्धितवान् (शवः) बलम् ॥

भाषार्थ—(सत्य) हे सच्चे ! [सत्यवादी, सत्यगुणी] (सोमपाः) हे सोम [तत्त्व रस] पीने वाले ! [वा ऐश्वर्य के रक्षक राजन्] (यत् चित्) जो कभी (हि) भी (अनाशस्ताः इव) निन्दनीय कर्म वालों के समान (स्मसि) हम होवें। (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े प्रतापी राजन्] (तु) निश्चय करके (नः) हम को (सहस्रेषु) सहस्रों (शुभ्रिषु) शुभ गुण वाले (गोषु) विद्वानों और (अश्वेषु) कामों में व्यापक बलवानों में (आ) सब ओर से (शंसय) बड़ाई वाला कर ॥ १ ॥

भावार्थ—यदि धार्मिक लोगों से किसी कारण विशेष से अपराध हो जावे, नीतिज्ञ राजा यथायोग्य बर्ताव करके उन भूले भटकों को फिर सुमार्ग पर लावे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१ । २९ । १—७ ॥

शिप्रि॑न् वाजानां पते॒ शची॑व॒स्तव॑ दं॒सना॑ । आ तू० ॥ २ ॥

शिप्रि॑न् । वा॒जा॒ना॒म् । प॒ते॒ । शची॑-वः । तव॑ । दं॒सना॑ । ०॥२॥

भाषार्थ—(शिप्रिन्) हे बड़े ज्ञानी ! [वा दृढ़ जाबड़े आदि अङ्गों वाले] (वाजानां पते) हे अन्नों के स्वामी ! (शचीवः) हे उत्तम कर्म वाले ! [राजन्] (तव) तेरी ही (दंसना) दर्शनीय क्रिया है । (तुविमघ) हे महा-

१—(यत् चित्) यद्यपि (हि) एव (सत्य) हे यथार्थवादिन् । यथार्थगुणिन् (सोमपाः) हे तत्त्वरसस्य पानकर्तः । ऐश्वर्यरक्षक (अनाशस्ताः) अप्रशस्ताः । निन्दनीयकर्माणः (इव) यथा (स्मसि) भवामः (आ) समन्तात् (तु) निश्चयेन (नः) अस्मान् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (शंसय) प्रशस्तान् कुरु (गोषु) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । स्तोतृषु । विद्वत्सु (अश्वेषु) कर्मसु व्यापकेषु । बलवत्सु (शुभ्रिषु) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन । उ० ४ । ६५ । शुभ दीप्तौ—क्रिन् । शुभगुणयुक्तेषु (सहस्रेषु) बहुषु (तुविमघ) हे बहुधनवन् ॥

२—(शिप्रिन्) अ० २० । ४ । १ । हे बहुज्ञानिन् । हे दृढहनुयुक्त । हे दृढाङ्ग (वाजानाम्) अन्नानाम् (पते) स्वामिन् (शचीवः) अ० २० २१ । ३ । हे प्रशस्तकर्मन् (तव) (दंसना) ण्यासश्रन्थो युच् । पा० ३ । ३ । १०७ ।

धनी (इन्द्र) इन्द्र) ! [बड़े प्रतापी राजन्]...... [मन्त्र १] ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् राजा बड़ा ज्ञानी, धनी और सत्कर्मी होकर प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

नि ष्वा॑पया मिथू॒दृशा॑ स॒स्तामबु॑ध्यमाने । आ तू० ॥ ३ ॥

नि । स्वा॒प॒य॒ । मि॒थु॒-दृशा॑ । स॒स्ताम् । अबु॑ध्यमाने॒ इति॑०॥३॥

भाषार्थ—[हे राजन्] (मिथुदृशा) दोनों हिंसा दिखाने वाले [शरीर और मन] को (नि स्वापय) सुला दे, (अबुध्यमाने) बिना जगे हुये वे दोनों (सस्ताम्) सो जावें । (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! ......[मन्त्र १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुप्रबन्ध से सब प्रजा को सुबोध और निरालसी बनावे ॥ ३ ॥

स॒सन्तु॑ त्या अरा॑तयो॒ बोध॑न्तु शूर रा॒तयः॑ । आ तू० ॥ ४ ॥

स॒सन्तु॑ । त्याः । अरा॑तयः । बोध॑न्तु । शू॒र॒ । रा॒तयः॑ । ०॥४॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर ! [निर्भय] (त्याः) वे (अरातयः) दान न करने वाली शत्रु प्रजायें (ससन्तु) सो जावे, और (रातयः) दानी लोग (बोधन्तु) जागते रहें । (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! ...... [मन्त्र १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा अपने पराक्रम से दुष्टों को शिर न उठाने दे और धर्मात्मा दाता लोगों को उत्साही करे ॥ ४ ॥

दृसि दर्शनसंदशनयोर्भाषायां च—णिचि युच्, टाप् । दर्शनीयक्रिया वर्तते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(निष्वापय) नितरां सुप्ते कुरु (मिथुदृशा) पभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । मिथृ मेधाहिंसनयोः—कु + दृशेः—क्विप् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः । द्वे हिंसादर्शके शरीरमनसी (सस्ताम्) षस स्वप्ने । शयाताम् (अबुध्यमाने) अजागरिते । निद्रां प्राप्ते । अन्यद् गतम् ॥

४—(ससन्तु) शेरताम् (त्याः) ताः (अरातयः) अदानशीलाः शत्रुप्रजाः (बोधन्तु) जाग्रतु (शूर) हे वीर (रातयः) दातारः । अन्यद् गतम् ॥

समिन्द्र गर्द॒भं मृ॑ण नु॒वन्तं॑ पा॒पया॑मु॒या । आ तू० ॥ ५ ॥

सम् । इ॒न्द्र॒ । ग॒र्द॒भम् । मृ॒ण॒ । नु॒वन्त॑म् । पा॒पया॑ । अ॒मु॒या । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े प्रतापी राजन्] (अमुया) उस (पापया) पाप क्रिया के साथ (नुवन्तम्) स्तुति करते हुये (गर्दभम्) गदहे के [समान व्यर्थ रेंकने वाले निन्दक पुरुष] को (सम् मृण) मार डाल । (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! ...... [मन्त्र १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा गदहे के समान कटुवाची, मिथ्याभाषी दुर्जन को कुशिक्षा फैलने से रोके ॥ ५ ॥

पता॑ति कुण्डृ॒णाच्या॑ दू॒रं वातो॒ वना॒दधि॑ । आ तू० ॥ ६ ॥

पता॑ति । कु॒ण्डृ॒णाच्या॑ । दू॒रम् । वातः॑ । वना॑त् । अधि॑ । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कुण्डृणाच्या) रक्षा पहुंचाने वाली क्रिया के साथ (दूरम्) दूर तक (वनात् अधि) वन [उपवन वाटिका आदि] के ऊपर होता हुआ (वातः) पवन (पताति) चला करे । (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र... ...[मन्त्र १] ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा वन, उपवन, वाटिका आदि से प्रजा का स्वास्थ्य बढ़ावे ॥ ६ ॥

५—(सम्) सम्यक् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (गर्दभम्) कॄशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् । उ० ३ । १२२ । गर्द शब्दे—अभच् । खरमिव कटुभाषिणम् (मृण) मारय (नुवन्तम्) स्तुवन्तम् (पापया) पापक्रियया (अमुया) अनया प्रसिद्धया । अन्यद् गतम् ॥

६—(पताति) लेटि आडागमः । गच्छेत् । वहेत् (कुण्डृणाच्या) दिवेर्ऋ । उ० २ । ९९ । कुडि दाहे वैकल्ये रक्षणे च—ऋप्रत्ययः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । कुण्डृ+णश गतौ—अण् ङीप, क्षकारस्य चकारः । रक्षाप्रापिकया क्रियया (दूरम्) विप्रकृष्टदेशम् (वातः) वायुः (वनात्) वृक्षसमूहात् (अधि) उपरि गच्छन् । अन्यद् गतम् ॥

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्। आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ७ ॥

सर्वम्। परि-क्रोशम्। जहि। जम्भय। कृकदाश्वम् ॥ आ। तु। नः। इन्द्र। शंसय। गोषु। अश्वेषु। शुभ्रिषु। सहस्रेषु। तुवि-मघ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (सर्वम्) प्रत्येक (परिक्रोशम्) निन्दक, (कृकदाश्वम्) कष्ट देने वाले को (जहि) पहुंच और (जम्भय) मार डाल। (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र! [बड़े प्रतापी राजन्] (तु) निश्चय करके (नः) हम को (सहस्रेषु) सहस्रों (शुभ्रिषु) शुभ गुण वाले (गोषु) विद्वानों और (अश्वेषु) कामों में व्यापक बलवानों में (आ) सब ओर से (शंसय) बड़ाई वाला कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा गुणों में दोष लगाने वाले कुचाली हिंसकों को नष्ट करके प्रजा को सब प्रकार सुखी रक्खे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ भुरिगष्टिः; २ स्वराडष्टिः ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद् गव्यन्ता द्वा जना स्व१-र्यन्ता समूहसि। आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥ १ ॥

७—(सर्वम्) प्रत्येकम् (परिक्रोशम्) क्रुश आह्वाने शब्दे च—पचाद्यच्। परिक्रोशकम्। निन्दकम् (जहि) हन हिंसागत्योः। गच्छ। प्राप्नुहि (जम्भय) मारय (कृकदाश्वम्) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्। उ० ३। ४१। कृञ् हिंसायाम्—कक्। कृवापाजि०। उ० १। १। दाशृ दाने—उण्। अमि यणादेशः। पीडादातारम्। अन्यद् गतम् ॥

वि । त्वा । ततस्रे । मिथुनाः । अवस्यवः । व्रजस्य । साता । गव्यस्य । निः-सृजः । सक्षन्तः । इन्द्र । निः-सृजः ॥ यत् । गव्यन्ता । द्वा । जना । स्वः । यन्ता । सम्-ऊहसि ॥ आविः । करिक्रत् । वृषणम् । सचा-भुवम् । वज्रम् । इन्द्र । सचा-भुवम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (व्रजस्य) मार्ग के (साता) पाने में (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले, (सक्षन्तः) गतिशील, (गव्यस्य) भूमि के लिये हित के (निःसृजः) नित्य उत्पन्न करने वाले और (निःसृजः) निरन्तर देने वाले (मिथुनाः) स्त्री पुरुषों के समूहों ने (त्वा) तुझ को [तेरे गुणों को] (वि) विविध प्रकार (ततस्रे) फैलाया है । (यत्) क्योंकि, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमात्मन्] (वृषणम्) बलवान्, (सचाभुवम्) नित्य मेल से रहने वाले, (सचाभुवम्) सेचन [वृद्धि] के साथ वर्तमान (वज्रम्) वज्र [दण्डगुण] को (आविः करिक्रत्) प्रकट करता हुआ तू (गव्यन्ता) वाणी [विद्या] को चाहने वाले, (स्वः) सुख को (यन्ता) प्राप्त होने वाले (द्वा) दोनों (जना) जनों [स्त्री पुरुषों] को (समूहसि) यथावत् चेताता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष सब के सुख के लिये राज्य आदि प्राप्त करके शिष्टसुखदायक, दुष्टविनाशक परमात्मा की भक्ति करते हैं, उन को वह जगदीश्वर उन्नति के लिये सदा उत्साह देता है ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । १३१ । ३—५ । मन्त्र १ आचुका है—अथ० २० । ७२ । २ ॥

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः । शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते । महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥२॥

विदुः । ते । अस्य । वीर्यस्य । पूरवः । पुरः । यत् । इन्द्र । शारदीः । अव-अतिरः । ससहानः । अव-अतिरः ॥ शासः । तम् ।

इन्द्र । मर्त्यम् । अयज्युम् । शवसः । पते ॥ महीम् । अमुष्णाः । पृथिवीम् । इमाः । अपः । मन्दसानः । इमाः । अपः ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (पूरवः) मनुष्य (ते) तेरे (अस्य) उस (वीर्यस्य) सामर्थ्य का (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (यत्) जिस [सामर्थ्य] से (ससहानः) जीतते हुये तू ने (शारदीः) वर्ष भर में उत्पन्न होने वाली (पुरः) पालन सामग्रियों को (अवातिरः) उतारा है, (अवातिरः) उतारा है, (शवसःपते) हे बल के स्वामी (इन्द्र) इन्द्र ! [परमेश्वर] (तम्) उस (अयज्युम्) यज्ञ के न करने वाले (मर्त्यम्) मनुष्य को (शासः) तू ने शासन में किया है, और (मन्दसानः) आनन्द करते हुये तू ने (महीम्) बड़ी (पृथिवीम्) पृथिवी से (इमाः) इन [यज्ञ न करने वाली] (अपः) प्रजाओं को, (इमाः) इन (अपः) प्रजाओं को (अमुष्णाः) लूटा है ॥ २ ॥

२—(विदुः) विदन्ति । ज्ञानं कुर्वन्ति (ते) तव (अस्य) प्रसिद्धस्य (वीर्यस्य) सामर्थ्यस्य (पूरवः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । पूरी आप्यायने—उप्रत्ययः । पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः—निरु० ७ । २३ । मनुष्याः—निघ०२ । ३ (पुरः) पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्य पूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् । पालनसामग्रीः (यत्) येन सामर्थ्येन (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (शारदीः) शरद्—अण्, ङीप् । शरदि संवत्सरे भवाः (अवातिरः) अवतारितवानसि । दत्तवानसि (ससहानः) सहतेर्यङ्लुगन्ताच् चानश् । अभिभवन् । विजयन् (अवातिरः) दत्तवानसि (शासः) शासु अनुशिष्टौ—लुङ्, छान्दसं रूपम् । शासितवानसि । निगृहीतवानसि (तम्) (इन्द्र) (मर्त्यम्) मनुष्यम् (अयज्युम्) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । यजेः—युच् । अयष्टारम् । यज्ञविघातकम् (शवसः) बलस्य (पते) स्वामिन् (महीम्) महतीम् (अमुष्णाः) मुष स्तेये—लङ् । अपहृतवानसि । दुह्याच्पच्दण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् । कारिका, पा० १ । ४ । ५१ । इति मुष्णातेर्द्विकर्मकत्वात् पृथिवीमित्यस्य, अप इति अस्य पदस्य च कर्मकत्वम् (पृथिवीम्) भूमिम् । भूमेःसकाशात् (इमाः) दृश्यमानाः (अपः) प्रजाः (मन्दसानः) हृष्यन् त्वम् (इमाः) (अपः) प्रजाः ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने सामर्थ्य से अनन्त पदार्थ उत्पन्न करके सब का सदा पालन करता है, और अनाज्ञाकारी दुष्टों को अवश्य दण्ड देता है ॥ २ ॥

आदित् ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ । चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे । ते अन्यामन्यां नद्यं सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत ॥ ३ ॥

आत् । इत् । ते । अस्य । वीर्यस्य । चर्किरन् । मदेषु । वृषन् । उशिजः । यत् । आविथ । सखि-यतः । यत् । आविथ ॥ चकर्थ । कारम् । एभ्यः । पृतनासु । प्र-वन्तवे ॥ ते । अन्याम्-अन्याम् । नद्यम् । सनिष्णत । श्रवस्यन्तः । सनिष्णत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे महाबली ! [परमेश्वर] (आत्) इस लिये (इत्) ही (ते) तेरे (अस्य) उस (वीर्यस्य) सामर्थ्य को (चर्किरन्) उन्हों ने [मनुष्यों ने] वार वार जाना है, (यत्) जिस [सामर्थ्य] से (मदेषु) आनन्दों के बीच (उशिजः) शुभ गुण चाहने वाले बुद्धिमानों को (आविथ) तू ने बचाया है, (यत्) जिस [सामर्थ्य] से (सखियतः) तुझे मित्र के समान

३—(आत्) अतः (इत्) एव (ते) तव (अस्य) द्वितीयार्थे षष्ठी । तत् । वक्ष्यमाणम् (वीर्यस्य) सामर्थ्यम् (चर्किरन्) कॄ विक्षेपे हिंसायां विज्ञाने च, यङ्लुगन्तात् लङ्, अडभावः । ज्ञातवन्तः (मदेषु) हर्षेषु (वृषन्) बलिष्ठ । परमात्मन् (उशिजः) अ० २० । ११ । ४ । शुभगुणान् कामयमानान् मेधाविनः (यत्) येन वीर्येण (आविथ) रक्षितवानसि (सखियतः) उपमानादाचारे । पा० ३ । १ । १० । सखि—क्यच्, शतृ । न च्छन्दस्यपुत्रस्य । पा० ७ । ४ । ३५ । इति दीर्घनिषेधः त्वां सखायमिवाचरतः पुरुषान् (यत्) येन (आविथ) रक्षितवानसि (चकर्थ) कृतवानसि (कारम्) करोतेः—घञ् । यत्नम् (एभ्यः) पूर्वोक्तेभ्यः (पृतनासु) वीपतिभ्यां तनन् । उ० ३ । १५ । पृङ् व्यायामे—तनन्, कित्, टाप् । पृतनाः, मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ ।

समझते हुये लोगों को (आविथ) तू ने बचाया है। और (एभ्यः) इन [लोगों] के लिये (पृतनासु) मनुष्यों में (प्रवन्तवे) सेवन करने को (कारम्) यत्न (चकर्थ) तू ने किया है, (श्रवस्यन्तः) कीर्ति चाहने वाले (ते) वे (अन्यामन्याम्) अलग, अलग (नद्यम्) पूजने योग्य क्रिया को (सनिष्णत) सेवन करें, (सनिष्णत) सेवन करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमात्मा के सामर्थ्य का अनेक प्रकार अनुभव करके आपस में मिलकर तथा पृथक् पृथक् भी शुभ गुणों की प्राप्ति से सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी त्रिष्टुप्; २, ४—६ निचृत् त्रिष्टुप्; ३, ७, ८ विराट् त्रिष्टुप् ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

वने न वा यो न्यधायि चाकं छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् ॥१॥

वने । वा । यः । नि । अधायि । चाकन् । शुचिः । वाम् । स्तोमः । भुरणौ । अजीगरिति ॥ यस्य । इत् । इन्द्रः । पुरु-दिनेषु । होता । नृणाम् । नर्यः । नृ-तमः । क्षपा-वान् ॥१

मनुष्येषु (प्रवन्तवे) तुमर्थे तवेन्। प्रकर्षेण वनितुं सेवितुम् (ते) पूर्वोक्ताः (अन्यामन्याम्) भिन्नां भिन्नाम् (नद्यम्) णद अव्यक्ते शब्दे स्तुतौ च—पचाद्यच्, ङीप्। नदतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। नदः स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। नदीम्। पूजनीयां क्रियाम् (सनिष्णत) षण सम्भक्तौ—लेट्। लिङ्बहुलं लेटि। पा० ३। १। ३४। इति सिप्, इट् श्नाप्रत्ययश्च। आत्मनेपदेष्वनतः। पा० ७। १। ५। इति झस्य अदादेशे। श्नाभ्यस्तयोरातः। पा० ६। ४। ११२ इत्याकारलोपः। टेरेत्वाभावः। संभजेयुः। सेवन्ताम् (श्रवस्यन्तः) श्रवस्—क्यच्, शतृ। कीर्तिमिच्छन्तः (सनिष्णत) सेवन्ताम् ॥

भाषार्थ—(वने) वृक्ष पर (न) जैसे (चाकन्) प्रीति करने वाला (वा, यः=वायः) पक्षी का बच्चा (नि अधायि) रक्खा जाता है, [वैसे ही (भुरणी) हे दोनों पोषको ! [माता पिताओ] (शुचिः) पवित्र (स्तोमः) बड़ाई योग्य गुण ने (वाम्) तुम दोनों को (अजोगः) ग्रहण किया है। (यस्य) जिस [बड़ाई योग्य गुण] का (इत्) ही (होता) ग्रहण करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (पुरुदिनेषु) बहुत दिनों के भीतर (नृणाम्) नेताओं का (नृतमः) सब से बड़ा नेता, (नर्यः) मनुष्यों का हितकारी, (क्षपावान्) श्रेष्ठ रात्रियों वाला है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे चिड़िया चिरौटा बच्चे को घोंसले में धर कर पुष्ट और समर्थ करते हैं, वैसे ही स्त्री पुरुष सदा दिन रात उत्तम गुण ग्रहण करके अपने को और अपने सन्तानों को मुख्य कार्य कर्ता बनावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । २९ । १—८ ॥

हम ने (वा, यः) दो पदों के स्थान पर (वायः) एक पद मानकर अर्थ किया है। भगवान् यास्कमुनि ने इस मन्त्र पर—निरुक्त ६ । २८ । में

१—(वने) वनावयवे वृक्षे (न) यथा (वा, यः =वायः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतौ—इण् , डित् । वि—अण् अपत्यार्थे । पक्षिशावकः । वन इव वायो वेः पुत्रश्चायन्निति वा कामयमान इति वा । वेतिच य इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः—निरु० ६ । २८ (नि अधायि) निहितः । धृतः (चाकन्) कनी दीप्तिकान्तिगतिषु, यङ्लुगन्तात्—क्विप् । उत्सुककमनाः (शुचिः) पवित्रः (वाम्) युवां द्वौ (स्तोमः) स्तुत्यगुणः (भुरणी) भुरण धारणपोषणयोः—पचाद्यच् । हे भर्तारौ मातापितरौ (अजीगः) जिगर्ति नैरुकधातुः, यद्वा गॄ निगरणे—लङि, श्लिपि, इतश्चलोपे, रालस्य । पा० ८ । २ । २४ । सलोपः, रेफस्य विसर्जनीयः । प्रथमपुरुषस्य मध्यमः । गृहीतवान् प्राप्तवान् । अजीगः······अगारीर्जिगर्तिर्गिरतिकर्मा वा गृणातिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वा—निरु० ६ । ८ (यस्य) स्तोमस्य (इत्) एव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (पुरुदिनेषु) बहुदिवसेषु (होता) ग्रहीता (नृणाम्) नेतॄणाम् । शूराणां मध्ये (नर्यः) नृभ्यो हितः (नृतमः) नेतृतमः । शूरतमः (क्षपावान्) क्षप प्रेरणे—अच्, टाप् । प्रशस्तरात्रिमान् ॥

लिखा है—(वा और यः) शाकल्य ने [पद विभाग] किया है, किन्तु ऐसा होने पर आख्यात उदात्त होता और अर्थ भी पूरा न होता—अर्थात् जो (वा और यः) पदकार शाकल्य ऋषि ने पद विभाग किया है, वह दो पद होता तो [यद्वृत्तान्नित्यम् । पा० ८ । १ । ६६] इस सूत्र से (अधायि) क्रिया पद उदात्त होता, किन्तु वह अनुदात्त है, और (वा) का अर्थ कुछ न बनता और वृक्ष पर क्या रक्खा हुआ है, यह आकांक्षा बनी रहती। इस से (वा । यः ।) दो पद भूल से हैं (वायः) ऐसा एक पद ठीक है। सायणाचार्य और ग्रिफिथ महाशय ने भी (वायः) ही माना है॥

प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम् ।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नॄन् कुत्सेन रथो यो असत् ससवान् ॥२

प्र । ते । अस्याः । उषसः । प्र । अपरस्याः । नृतौ । स्याम । नृ-तमस्य । नृणाम् ॥ अनु । त्रि-शोकः । शतम् । आ । अवहत् । नॄन् । कुत्सेन । रथः । यः । असत् । ससु-वान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस और (अपरस्याः) दूसरी [आने वाली] (उषसः) उषा [प्रभात वेला] के (नृतौ) नृत्य [चेष्टा] में (नृणाम्) नेताओं के (नृतमस्य ते) तुझ सब से बड़े नेता के [भक्त रह कर] (प्र प्र) बहुत उत्तम (स्याम) हम होवें। (यः) जो (त्रिशोकः) तीन प्रकार [बिजुली, सूर्य और अग्नि] के प्रकाश वाला (रथः) रथ (असत् होवे, वह [रथ] (ससवान्) सेवन करता हुआ (शतम्) सौ (नॄन्) नेता पुरुषों को

२—(प्र प्र) अतिशयेन प्रकृष्टाः (ते) तव (अस्याः) वर्तमानायाः (उषसः) प्रभातवेलायाः (अपरस्याः) अन्यस्याः। आगामिन्याः (नृतौ) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । नृती गात्रविक्षेपे—इन्, कित् । नर्तने । चेष्टने (स्याम) भवेम (नृतमस्य) नेतृतमस्य (नृणाम्) नेतॄणां मध्ये (अनु) आनुकूल्येन (त्रिशोकः) ई शुचिर् क्लेदने शौचे च—घञ् । त्रयाणां सूर्यविद्युदग्नीनां शोकः प्रकाशो यस्मिन् सः (शतम्) (आ अवहत्) लिङर्थे लङ् । आवहेत् (नॄन्) नेतॄन् पुरुषान् (कुत्सेन) अ० ४ । २६ । ५ । कुस संश्लेषणे—सप्रत्ययः। ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्—निरु० ३ । ११ । संगतिशीलेन ऋषिणा

(कुत्सेन) मिलनसार ऋषि [सेनापति] के साथ (अनु) अनुकूल रीति से (आ अवहत्) लावे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे प्रभात वेला सूर्य द्वारा प्रकाश करती हुयी चली चलती है, वैसे ही मनुष्य अत्यन्त ज्ञानी पुरुष के आश्रय से बिजुली, सूर्य और अग्नि आदि पदार्थों के द्वारा यान विमान आदि बनाकर कार्य सिद्ध करें ॥ २ ॥

कस्ते मदं इन्द्र रन्त्यो भूद् दुरो गिरो अभ्यु१ग्रो वि धाव । कद् वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥

कः । ते । मदः । इन्द्र । रन्त्यः । भूत् । दुरः । गिरः । अभि । उग्रः । वि । धाव ॥ कत् । वाहः । अर्वाक् । उप । मा । मनीषा । आ । त्वा । शक्याम् । उप-मम् । राधः । अन्नैः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (कः) कौन सा (ते) तेरा (मदः) हर्ष (रन्त्यः [हमारे लिये] आनन्द दायक (भूत्) होवे, (उग्रः) तेजस्वी तू (गिरः) स्तुतियों को (अभि) प्राप्त होकर (दुरः) [हमारे] द्वारों पर (वि धाव) दौड़ता आ। (कत्) कब (वाहः) वाहन [घोड़ा रथ आदि] (मनीषा) बुद्धि के साथ (मा उप) मेरे समीप (अर्वाक्) सामने [होवे], और (उपमम्) समीपस्थ (त्वा) तुझ को (आ) प्राप्त

सेनापतिना (रथः) यानभेदः (यः) रथः (असत्) भवेत् (ससवान्) षण संभक्तौ—क्वसु। सेवमानः ॥

३—(कः) (ते) तव (मदः) हर्षः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (रन्त्यः) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। रमु क्रीडायाम्—तिप्रत्ययः। हितार्थे यत्। रन्तये रमणाय हितः। रमयिता। प्रीतिकरः (भूत्) भवेत् (दुरः) अस्माकं द्वाराणि (गिरः) स्तुतीः (अभि) अभिगत्य। प्राप्य (उग्रः) तेजस्वी (वि) विविधम् (धाव) धावु गतिशुद्ध्योः। शीघ्रमागच्छ (कत्) कदा (वाहः) वाहकः। अश्वरथादिकः (अर्वाक्) अभिमुखः (उप) उपेत्य

होकर (अन्नैः) अन्नों के सहित (राधः) धन (शक्याम्) पाने को समर्थ हो जाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण पुरुषार्थी धार्मिक राजा को आदर पूर्वक निमन्त्रण कर के उन्नति के उपायों का विचार करें ॥ ३ ॥

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन् कया धिया करसे कन्न आगन् । मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

कत् । ऊं इति । द्युम्नम् । इन्द्र । त्वाऽवतः । नॄन् । कया । धिया । करसे । कत् । नः । आ । अगन् ॥ मित्रः । न । सत्यः । उरुऽगाय । भृत्यै । अन्ने । समस्य । यत् । असन् । मनीषाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वावतः) तुझ जैसे का (द्युम्नम्) यश (नॄन्) नेताओं में (कत् उ) किस को है, (कया धिया) किस बुद्धि के साथ (करसे) तू कर्तव्य करेगा, (उरुगाय) हे बहुत कीर्ति वाले ! (कत्) कैसे (नः) हम को (सत्यः) सच्चे (मित्रः न) मित्र के समान (भृत्यै) पालने के लिये (आ अगन्) तू प्राप्त हुआ है, (यत्) क्योंकि (अन्ने) अन्न में (समस्य) सब की (मनीषाः) बुद्धियां (असन्) रहती हैं ॥४॥

(मा) माम् (मनीषा) प्रज्ञया (आ) आगत्य । प्राप्य (त्वा) त्वाम् (शक्याम्) प्राप्तुं शक्नुयाम् (उपमम्) समीपस्थम् (राधः) धनम् (अन्नैः) अदनीयपदार्थैः ॥

४—(कत्) कस्मै मनुष्याय (उ) एव (द्युम्नम्) अ० ६ । ३५ । ३ । द्योतमानं यशः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वावतः) त्वत्सदृशस्य (नॄन्) सप्तम्यर्थे द्वितीया । नेतृषु (कया) कीदृश्या (धिया) प्रज्ञया (करसे) करोतेर्लेट् । कर्तव्यं करिष्यसि (कत्) कथम् (नः) अस्मान् (आ अगन्) प्राप्तवानसि (मित्रः) सखा (न) यथा (सत्यः) सत्यशीलः (उरुगाय) अ० २ । १२ । १ । बहुकीर्ते (भृत्यै) भरणाय । पोषणाय (अन्ने) (समस्य) सर्वस्य (यत्) यतः (असन्) लेट् । भवन्ति (मनीषाः) बुद्धयः ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार में अत्यन्त कीर्ति पाकर अपना पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये प्रजा की रक्षा का विचार सच्चे हृदय से करता रहे ॥ ४ ॥

प्रेर॑य॒ सूरो॒ अर्थं॒ न पा॒रं ये अ॒स्य॒ काम॑ जनि॒धा इ॑व॒ ग्मन् ।
गिर॑श्च॒ ये ते॑ तुविजात पू॒र्वीर्नर॑ इन्द्र प्रति॒शिक्ष॒न्त्यन्नैः॑ ॥ ५ ॥

प्र । ई॒र॒य॒ । सूरः॑ । अर्थ॑म् । न । पा॒रम् । ये । अ॒स्य॒ । काम॑म् । ज॒नि॒धाः-इ॑व । ग्मन् ॥ गिरः॑ । च॒ । ये । ते॒ । तु॒वि॒-जा॒त॒ । पू॒र्वीः । नरः॑ । इ॒न्द्र॒ । प्र॒ति॒-शिक्ष॑न्ति । अन्नैः॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तुविजात) हे बहुत प्रकार से प्रसिद्ध (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सूरः न) सूर्य के समान तू [उन को] (अर्थम्) पाने योग्य (पारम्) पार की ओर (प्र ईरय) आगे बढ़ा (ये) जो (जनिधाः इव) वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नियों के धारण करने वाले के समान (अस्य) उस [तेरे] (कामम्) मनोरथ को (ग्मन्) प्राप्त होते हैं, (च) और (ये) जो (नरः) नेता लोग (ते) तेरे लिये (पूर्वीः) सनातन (गिरः) वाणियों [विद्याओं] को (अन्नैः) अन्नों के साथ (प्रतिशिक्षन्ति) समर्पण करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य वीरसू पत्नी का प्रयत्न पूर्वक आदर करते हैं, वैसे ही राजा हितैषी नेता पुरुषों की उन्नति में तत्पर रहे ॥ ५ ॥

५—(प्र) प्रकर्षेण (ईरय) गमय (सूरः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । षू प्रेरणे—क्रन् । सूर्यः (अर्थम्) उषिकुषिगर्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । ऋ गतौ—थन् । अरणीयं प्रापणीयम् (न) यथा (पारम्) परतीरम् (ये) पुरुषाः (अस्य) त्वदीयस्य (कामम्) मनोरथम् (जनिधाः) अ० २ । ३० । ५ । जनि+दधातेः—क्विप् । जनीनां वीरपुत्रजनयित्रीणां पत्नीनां धर्तारः (इव) यथा (ग्मन्) अगमन् । प्राप्नुवन्ति (गिरः) वाणीः । विद्याः (च) (ये) (ते) तुभ्यम् (तुविजात) बहुप्रसिद्ध (पूर्वीः) सनातनीः (नरः) नेतारः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (प्रतिशिक्षन्ति) शिक्षतिर्दानकर्मा—निघ० ३ । २० । प्रत्यक्षं ददति । समर्पयन्ति (अन्नैः) ॥

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन ।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन् भवन्तु पीतये मधूनि ॥६॥

मात्रे इति । नु । ते । सुमिते इति सु-मिते । इन्द्र । पूर्वी इति । द्यौः । मज्मना । पृथिवी । काव्येन ॥ वराय । ते । घृत-वन्तः । सुतासः । स्वाद्मन् । भवन्तु । पीतये । मधूनि ॥६॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नु) निश्चय करके (ते) तेरी (मात्रे) दो मात्रायें [उपाय शक्तियां] (सुमिते) अच्छे प्रकार नापी गयीं [जांची गयीं], (पूर्वी) सनातनी हैं कि तू (मज्मना) अपने बल से और (काव्येन) बुद्धिमत्ता से (द्यौः) चमकते हुये सूर्य [के समान] और (पृथिवी) फैली हुई पृथिवी [के समान] है। (ते) तेरे (वराय) वर [इष्टफल] के लिये (घृतवन्तः) प्रकाशमान (सुतासः) निचोड़े हुये तत्त्व रस हैं (मधूनि) निश्चित ज्ञान रस (पीतये) पीने के लिये (स्वद्मन्) स्वादिष्ठ (भवन्तु) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दो उपायों अर्थात् पराक्रम और बुद्धि से सूर्य और भूमि के समान उपकारी होता है, उस की इष्ट सिद्धि के लिये संसार के सब पदार्थ उपयोगी होते हैं ॥ ६ ॥

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥७॥

६—(मात्रे) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । माङ् माने—त्रन्। द्वे मानकर्त्र्यौ यत्नशक्ती (नु) निश्चयेन (ते) तव (सुमिते) सुपरिमिते (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (पूर्वी) सनातन्यौ (द्यौः) द्योतमानः सूर्यो यथा (मज्मना) अ० १३ । १ । १४ । शोधकेन बलेन (पृथिवी) विस्तृता भूमिर्यथा (काव्येन) कविकर्मणा । बुद्धिमत्तया (वराय) इष्टफलप्राप्तये (ते) तव (घृतवन्तः) दीप्तिमन्तः (सुतासः) निष्पादितास्तत्त्वरसाः (स्वाद्मन्) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । ष्वद स्वाद वा आस्वादने—मनिण् विभक्तेर्लुक् । स्वाद्मानि । स्वादिष्ठानि (भवन्तु) (पीतये) पानाय । ग्रहणाय (मधूनि) निश्चितज्ञानानि ॥

आ । मध्वः । अस्मै । अ॒सि॒च॒न् । अम॑त्रम् । इन्द्रा॑य । पू॒र्णम् । सः । हि । स॒त्य-रा॑धाः ॥ सः । व॒वृ॒धे॒ । वरि॑मन् । आ । पृ॒थि॒व्याः । अ॒भि । क्रत्वा॑ । नर्यः॑ । पौंस्यैः॑ । च॒ ॥ ७ ॥

भावार्थ—(अस्मै) इस (इन्द्राय) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले मनुष्य] के लिये (मध्वः) मधुर रस [उत्तम ज्ञान] का (पूर्णम्) पूरा (अमत्रम्) पात्र (आ) सब ओर से (असिचन्) उन्हों ने [विद्वानों ने] सींचा है,(हि) क्योंकि (सः) वह (सत्यराधाः) सच्चे साधक धन वाला है । (सः) वह (नर्यः) नरों का हितकारी (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरिमन्) फैलाव में (क्रत्वा) अपनी बुद्धि से (च) और (पौंस्यैः) मनुष्य कर्मों से (अभि) सब प्रकार (आ) पूरा पूरा (ववृधे) बढ़ा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वानों का सिद्धान्त है कि पराक्रमी मनुष्य पूरा ज्ञानी होकर अपनी बुद्धि और कर्मों से परोपकार करता हुआ अभीष्ट वर अर्थात् मोक्ष सुख पाता है ॥ ७ ॥

व्या॑नु॒ळिन्द्रः॒ पृत॑नाः स्वो॒जा आस्मै॑ यतन्ते स॒ख्याय॒ पू॒र्वीः ।
आ स्मा॒ रथं॒ न पृत॑नासु तिष्ठ॒ यं भ॒द्रया॑ सुम॒त्या चो॒दया॑से ॥ ८

वि । आ॒नु॒ट् । इन्द्रः॑ । पृत॑नाः । सु-ओजाः॑ । आ । अ॒स्मै॒ । य॒त॒न्ते॒ । स॒ख्याय॑ । पू॒र्वीः ॥ आ । स्म॒ । रथ॑म् । न । पृत॑-ना॒सु॒ । ति॒ष्ठ॒ । यम् । भ॒द्रया॑ । सु-म॒त्या । चो॒दया॑से ॥ ८ ॥

७—(आ) समन्तात् (मध्वः) मधुनः । मधुररसस्य । उत्तमज्ञानस्य (अस्मै) (असिचन्) असिञ्चन् । सिक्तवन्तः (अमत्रम्) पात्रम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (पूर्णम्) (सः) (हि) यस्मात् कारणात् (सत्य-राधाः) सत्यं राधः साधकं धनं यस्य सः (सः) (ववृधे) वृद्धिं चकार (वरिमन्) वरिमनि । उरुत्वे । विस्तारे (आ) समन्तात् (पृथिव्याः) भूमेः (अभि) सर्वतः (क्रत्वा) क्रतुना । प्रज्ञया (नर्यः) नृभ्यो हितः (पौंस्यैः) अ० २० । ६७ । २ । मनुष्यकर्मभिः (च) ॥

भाषार्थ—(स्वोजाः) सुन्दर बल वाला (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाला पुरुष] (पृतनाः) मनुष्यों में (वि आनट्) फैल गया है, (अस्मै) इस की (सख्याय) मित्रता के लिये (पूर्वीः) सब [मनुष्य] (आ यतन्ते) यत्न करते रहते हैं । [हे राजन् !] (न) अब (पृतनासु) मनुष्यों के बीच (स्म) अवश्य (रथम्) रथ पर (आतिष्ठ) तू चढ़, (यम्) जिस [रथ] को (भद्रया) कल्याणी (सुमत्या) सुमति के साथ (चोदयासे) तू चलावेगा ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो धर्मात्मा पुरुष सब में प्रबल और सुबोध होता है, सब मनुष्य उसके मित्र बन जाते हैं और वह तभी रथ रूपी राजकाज आदि व्यवहार को उत्तम रीति से चलाता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ७७ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ; २ निचृत् पङ्क्तिः; ३, ५ त्रिष्टुप् ; ७, ८ विराट् त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

आ सुत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः ।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥१॥

आ । सुत्यः । यातु । मघ-वान् । ऋजीषी । द्रवन्तु । अस्य । हरयः । उप । नः ॥ तस्मै । इत् । अन्धः । सुसुम । सु-दक्षम् । इह । अभि-पित्वम् । करते । गृणानः ॥ १ ॥

८—(वि आनट्) व्याप्नोति (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (पृतनाः) मनुष्यान्—निघ० २ । ३ (स्वोजाः) शोभनबलः (आ) समन्तात् (अस्मै) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । अस्य । इन्द्रस्य (यतन्ते) यत्नं कुर्वन्ति (सख्याय) सखित्वाय मित्रभावाय (पूर्वीः) समस्ता मनुष्यप्रजाः (स्म) अवश्यम् (रथम्) रथरूपं राज्यव्यवहारम् (न) सम्प्रति (पृतनासु) मनुष्येषु (आ तिष्ठ) आरोह (यम्) रथम् (भद्रया) कल्याण्या (सुमत्या) शोभनया बुद्ध्या (चोदयासे) लेटि रूपम् । चोदयेः । प्रेरयेः ॥

भाषार्थ—(सत्यः) सच्चा [सत्यवादी, सत्यकर्मी], (मघवान्) महाधनी, (ऋजीषी) सरल स्वभाव वाला [राजा] (आ यातु) आवे, और (अस्य) इस [राजा] के (हरयः) मनुष्य (नः) हमारे (उपद्रवन्तु) पास आवें। (तस्मै) उस के लिये (इत्) ही (सुदक्षम्) सुन्दर बल वाला (अन्धः) अन्न (सुषुम) हमने सिद्ध किया है, (गृणानः) उपदेश करता हुआ वह (इह) यहां (अभिपित्वम्) मेल मिलाप (करते) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और राजा के पुरुष धर्मात्मा होकर प्रेम से प्रजा का पालन करें, और प्रजागण भी ऐश्वर्य बढ़ाकर उस से प्रीति करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—४। १६। १—८॥

अव॑ स्य शू॒राध्व॑नो॒ नान्ते॒ऽस्मिन् नो॑ अ॒द्य सव॑ने म॒न्दध्यै॑ ।
शंसा॑त्यु॒क्थमु॒शने॑व वे॒धाश्चि॑कि॒तुषे॑ असु॒र्या॑य॒ मन्म॑ ॥ २ ॥

अव॑ । स्य॒ । शू॒र॒ । अध्व॑नः । न । अन्ते॑ । अ॒स्मिन् । नः॒ । अ॒द्य । सव॑ने । म॒न्दध्यै॑ ॥ शंसा॑ति । उ॒क्थम् । उ॒शना॑-इव । वे॒धाः । चि॒कि॒तुषे॑ । अ॒सु॒र्या॑य । मन्म॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर! [राजन्] (अद्य) अब (अस्मिन्) इस (अन्ते) पास वाले (सवने) ऐश्वर्य में (मन्दध्यै) आनन्द करने के लिये (नः)

१—(आ यातु) आगच्छतु (सत्यः) सत्यवादी। सत्यकर्मी (मघवान्) धनवान् (ऋजीषी) अर्जेर्ऋज च। उ० ४। २८। अर्ज संचये—ईषन्, कित्, ऋजादेशः, यद्वा, ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु ईषन्, कित्, ऋजीष—इनि। ऋजुस्वभावः। सरलस्वभावः (द्रवन्तु) गच्छन्तु (अस्य) राज्ञः (हरयः) मनुष्याः (उप) (नः) अस्मान् (तस्मै) राज्ञे (इत्) एव (अन्धः) अन्नम् (सुषुम) अ० २०। ३। १। वयं निष्पादितवन्तः (सुदक्षम्) शोभनबलयुक्तम् (इह) (अभिपित्वम्) अ० २०। २५। ६। संगमम् (करते) कुर्यात् (गृणानः) उपदिशन् ॥

२—(अव स्य) षो अन्तकर्मणि—लोट्। विनाशय (शूर) हे निर्भय राजन् (अध्वनः) मार्गान् (न) निषेधे (अन्ते) समीपस्थे (अस्मिन्) (नः)

हमारे (अध्वनः) मार्गों को (न) मत (अव स्य) विनष्ट कर । (उशना इव) चाहने योग्य पुरुष के समान (वेधाः) बुद्धि मान् पुरुष (चिकितुषे) ज्ञानवान् (असुर्याय) प्राणियों के हितकारी के लिये (उक्थम्) कहने योग्य कर्म और (मन्म) मनन योग्य ज्ञान को (शंसाति) कहे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा उपाय करे कि सब लोग बे रोक स्वतन्त्र होकर संसार के पदार्थों से उन्नति करें और विद्वान् लोग मिलकर प्राणियों के हित के लिये विचार करते रहें ॥ २ ॥

कविर्न निण्यं विदथानि साधन् वृषा यत् सेकं विपिपानो अर्चात् । दिव इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः ॥ ३ ॥

कविः । न । निण्यम् । विदथानि । साधन् । वृषा । यत् । सेकम् । वि-पिपानः । अर्चात् ॥ दिवः । इत्था । जीजनत् । सप्त । कारून् । अह्ना । चित् । चक्रुः । वयुना । गृणन्तः ॥३॥

भाषार्थ—(कविः न) जैसे बुद्धिमान् पुरुष (विदथानि) जानने योग्य कर्मों को (साधन्) सिद्ध करता हुआ (निण्यम्) गूढ़ अर्थ को, [वैसे ही] (यत्) जो (वृषा) सुखों का बरसाने वाला बलवान् [राजा] (सेकम्) सिञ्चन [वृद्धि के प्रयत्न] को (विपिपानः) विशेष करके रक्षा करता हुआ

अस्माकम् (अद्य) इदानीम् (सवने) ऐश्वर्ये (मन्दध्यै) तुमर्थे सेसेनसे-असेन्० । पा० ३ । ४ । ६ । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—अध्यैप्रत्ययः मन्दितुमानन्दितुम् (शंसति) कथयेत् (उक्थम्) वक्तव्यं प्रशंसनीयं कर्म (उशना) अ० २० । २५ । ५ । कमनीयः पुरुषः (इव) यथा (वेधाः) मेधावी (चिकितुषे) अ० ४ । ३० । २ । कित ज्ञाने—क्वसु । ज्ञानिने (असुर्याय) अ० २० । ५८ । ४ । प्राणिभ्यो हितकराय (मन्म) मननीयं ज्ञानम् ॥

३—(कविः) मेधावी (न) यथा (निण्यम्) अ० ६ । १० । १५ । निर् + णीञ् प्रापणे—यक्, टिलोपो रेफलोपश्च । अन्तर्हितं गूढमर्थम् (विदथानि) ज्ञातव्यानि कर्माणि (साधन्) साधयन् (वृषा) सुखानां वर्षकः । बलिष्ठः (यत्) यः (सेकम्) सिञ्चनम् । वृद्धिप्रयत्नम् (विपिपानः) पा रक्षणे-कानच ।

(अर्चात्) सत्कार करे, वह (इत्था) इस प्रकार से (सप्त) सात (कारून्) काम करने वालों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख, और एक मुख, इन सात] को (दिवः) व्यवहार कुशल (जीजनत्) उत्पन्न करे, (चित्) जैसे (गृणन्तः) उपदेश करते हुये पुरुषों ने (अह्ना) दिन के साथ (वयुनानि) जानने योग्य कर्मों को (चक्रुः) किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा बुद्धिमानों के समान गूढ़ विचार वाला और सृष्टि करने वाला होता है, वह सब के शरीर और बुद्धि को व्यवहार कुशल करके पहिले महात्माओं के सदृश अद्भुत कर्मों को दिन के प्रकाश के समान प्रकट करता है ॥ ३ ॥

मन्त्र में (कारु) पद ऋषि आदि वाचक है। यजुर्वेद ३४। ५५ का वचन है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) शरीर में सात ऋषि रक्खे हुये हैं। [सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी] सात ऋषि छह इन्द्रियां और सातवीं विद्या [बुद्धि] है—निरु० १२। ३७ (कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि । कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम] किसने [मनुष्य के] मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दो कान, दोनों नथने, दोनों आंखें और एक मुख—अथ० १०। २। ६ ॥

स्वर्ऽ१ यद् वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः ।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ४ ॥

स्वः । यत् । वेदि । सु-दृशीकम् । अर्कैः । महि । ज्योतिः । रुरुचुः । यत् । ह । वस्तोः ॥ अन्धा । तमांसि । दुधिता । वि-चक्षे । नृ-भ्यः । चकार । नृ-तमः । अभिष्टौ ॥ ४ ॥

विशेषेण स्तन् (अर्चात्) सत्कुर्यात् (दिवः) दिवु व्यवहारे—क्विप् । व्यवहारकुशलान् (इत्था) अनेन प्रकारेण (जीजनत्) लिङर्थे लुङ् । अजीजनत् । जनयेत् (सप्त) सप्तसंख्याकान् (कारून्) कृवापा० । उ० १ । १ । करोतेः—उण् । कार्यकर्तॄन् सप्तऋषीन् । अ० ४ । ११ । ६ । सप्त होतॄन् । अ० ४ । २४ । ३ (अह्ना) दिवसेन (चित्) यथा (चक्रुः) कृतवन्तः (वयुनानि) अ० २ । २८ । २ । ज्ञातव्यानि कर्माणि (गृणन्तः) उपदिशन्तः ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (अर्कैः) पूजनीय विचारों से (सुदृशीकम्) उत्तम प्रकार से देखने योग्य, (महि) बड़ा (ज्योतिः) प्रकाशमय (स्वः) सुख (वेदि) जाना गया है, और (यत्) जिस [सुख] से (ह) निश्चय करके (वस्तोः) दिन [के समान] (रुरुचुः) वे [विद्वान् जन] प्रकाशित हुये हैं। [उस सुख के लिये] (नृतमः) सब से बड़े नेता पुरुष ने (अभिष्टौ) सब प्रकार मिलाप में (नृभ्यः) नेता लोगों के निमित्त (विचक्षे) विशेष करके देखने के अर्थ (अन्धा) भारी (तमांसि) अन्धकारों को (दुधिता) नष्ट (चकार) किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस सुख को महात्मा लोगों ने बड़े विचारों से अनुभव करके हृदय का आवरण हटाया है, उस सुख को सुनीतिज्ञ राजा सूर्य के प्रकाश के समान विद्वानों में बढ़ाकर प्रजा पालन करे ॥ ४ ॥

व॒व॒क्ष इन्द्रो॒ अमि॑तमृजी॒ष्यु॒१॒भे आ प॑प्रौ॒ रोद॑सी महि॒त्वा ।
अत॑श्चिदस्य महि॒मा वि रे॑च्य॒भि यो विश्वा॒ भुव॑ना ब॒भूव॑ ॥५॥

व॒व॒क्षे । इन्द्रः॑ । अमि॑तम् । ऋ॒जी॒षी । उ॒भे इति॑ । आ । प॒प्रौ॒ । रोद॑सी॒ इति॑ । म॒हि॒-त्वा ॥ अतः॑ । चि॒त् । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मा । वि । रे॒चि॒ । अ॒भि । यः । विश्वा॑ । भुव॑ना । ब॒भूव॑ ॥ ५ ॥

४—(स्वः) सुखम् (यत्) (वेदि) अवेदि । ज्ञातम् (सुदृशीकम्) [illegible]ः कीकच्कक्कणौ । उ० ४ । २४ । दृशेः—कीकच् । सुष्ठु दर्शनीयम् (अर्कैः) [illegible]नीयविचारैः (महि) महत् (ज्योतिः) प्रकाशमयम् (रुरुचुः) दीप्तियुक्ता [illegible]भूवुः, ते विद्वांसः (यत्) येन सुखेन (ह) निश्चयेन (वस्तोः) दिनम् । दिनप्रकाशो यथा (अन्धा) अन्धानि । निबिडानि (तमांसि) अन्धकारान् (दुधिता) दुहिर् अर्दने—क, हस्य धः । दुहितानि । नाशितानि (विचक्षे) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—क्विप् । विशेषेण दर्शनाय (नृभ्यः) नेतृभ्यः (चकार) कृतवान् (नृतमः) अतिशयेन नेता (अभिष्टौ) यजेः क्तिन् । सर्वतः संगतौ ॥

भाषार्थ—(ऋजीषी) सरल स्वभाव वाले (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] ने (अमितम्) बेनाप सामर्थ्य को (ववक्ते) पाया है, और (महित्वा) अपनी महिमा से (उभे) दोनों (रोदसी) सूर्य और भूमि को (आ) सब प्रकार (पप्रौ) भर दिया है। (अतः) इस कारण से (चित्) ही (अस्य) इस [जगदीश्वर] की (महिमा) महिमा (वि) विशेष करके (रेचि) अधिक हुई है, (यः) जो (विश्वा) सब (भुवना) लोकों में (अभि बभूव) व्यापक हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अपने अतोल बल से अनन्त संसार को धारण कर रहा है, उसी के गुण जानकर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ५ ॥

विश्वा॑नि श॒क्रो नर्या॑णि वि॒द्वान॒पो रि॑रेच॒ सखि॑भि॒र्निका॑मैः ।
अश्मा॑नं चि॒द् ये बि॑भि॒दुर्वचो॑भिर्व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥६॥

विश्वा॑नि । श॒क्रः । नर्या॑णि । वि॒द्वान् । अ॒पः । रि॒रे॒च॒ । सखि॑-भिः । नि-का॑मैः ॥ अश्मा॑नम् । चि॒त् । ये । बि॒भि॒दुः । वचः॑-भिः । व्र॒जम् । गो-म॑न्तम् । उ॒शिजः॑ । वि । व॒व्रु॒रिति॑ व॒व्रुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) विद्वान् (शक्रः) शक्ति वाले [इन्द्र मनुष्य] ने

५—(ववक्ते) वहतेर्लिडर्थे लेट्। सिब्बहुलं लेटि। पा० ३ । १ । ३४ इति सिप्। बहुलं छन्दसि। पा० २ । ४ । ७६। इति शपः श्लुः। ढत्वकत्वषत्वानि। लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७ । १ । ४१। इति तलोपः। वहते, गतिकर्मा—निघ० २ । १४। उवाह। प्राप (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो जगदीश्वरः (अमितम्) अपरिमितं सामर्थ्यम् (ऋजीषी) म० १। सरलस्वभावः (उभे) द्वे (आ) समन्तात् (पप्रौ) पूरितवान् (रोदसी) सूर्यभूमी (महित्वा) महत्त्वेन (अतः) अस्मात् कारणात् (चित्) एव (महिमा) (अस्य) ईश्वरस्य (वि) विशेषेण (रेचि) अरेचि। अधिकोऽभवत् (अभि) अभीत्य। व्याप्य (यः) ईश्वरः (विश्वा) सर्वाणि (भुवना) भुवनानि (बभूव) ॥

६—(विश्वानि) सर्वाणि (शक्रः) शक्तिमान् राजा (नर्याणि)

(निकामैः) निश्चित कामना वाले (सखिभिः) मित्रों के साथ (विश्वानि) सब (नर्याणि) नेताओं के हितकारी (अपः) कर्मों को (रिरेच) फैलाया है। (ये) जिन [बुद्धिमानों] ने (वचोभिः) अपने वचनों से (अश्मानम्) व्यापक विघ्न [अथवा मेघ के समान अन्धकार फैलाने वाले शत्रु] को (चित्) निश्चय कर के (बिभिदुः) तोड़ा फोड़ा है, (उशिजः) उन बुद्धिमानों ने (गोमन्तम्) वेदवाणी वाले (व्रजम्) मार्ग को (वि वव्रुः) खोल दिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सत्यवादी पराक्रमी मित्रों के साथ अज्ञान का नाश कर के विद्या की वृद्धि से प्रजा पालन करे ॥ ६ ॥

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन् प्रावत् ते वज्रं पृथिवी सचेताः।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवं छवसा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

अपः । वृत्रम् । वव्रि-वांसम् । परा । अहन् । प्र । आवत् । ते । वज्रम् । पृथिवी । स-चेताः ॥ प्र । अर्णांसि । समुद्रियाणि । ऐनोः । पतिः । भवन् । शवसा । शूर । धृष्णो इति ॥ ७

भावार्थ—(धृष्णो) हे साहसी (शूर) शूर पुरुष ! (शवसा) बल के साथ (पतिः) स्वामी (भवन्) होते हुये तू ने (अपः) कर्म के (वव्रिवांसम्) रोकने वाले (वृत्रम्) अन्धकार को (परा अहन्) मार फेंका है, (सचेताः)

नेतृभ्यो हितानि (विद्वान्) (अपः) बहुवचनस्यैकवचनम्। अपांसि कर्माणि (रिरेच) रिचिर् विरेचने। व्यक्तीकृतवान् (सखिभिः) मित्रैः (निकामैः) निश्चितकामनायुक्तैः (अश्मानम्) व्यापकं विघ्नम्। मेघमिवान्धकारकरं शत्रुम् (चित्) निश्चयेन (ये) मेधाविनः (बिभिदुः) छिन्नभिन्नं कृतवन्तः (वचोभिः) वचनैः (व्रजम्) मार्गम् (गोमन्तम्) वेदवाणीयुक्तम् (उशिजः) शुभगुणान् कामयमाना मेधाविनः (वि वव्रुः) विवृतं व्यक्तं कृतवन्तः ॥

७—(अपः) कर्म-निघ० २।१ (वृत्रम्) अन्धकारम् (वव्रिवांसम्) वृणोतेः—क्वसु। आवरकम् (परा) दूरे (अहन्) मध्यमपुरुषस्य प्रथमः। अहः। नाशितवानसि (प्र) प्रकर्षेण (आवत्) अव रक्षणादानादिषु—लङ्। गृहीतवती (ते) तव (वज्रम्) दण्डम्। शासनम् (पृथिवी) (सचेतः)

सचेत (पृथिवी) भूमि ने (ते) तेरे (वज्रम्) वज्र [शासन] को (प्र) अच्छे प्रकार (आवत्) माना है, और तू ने (समुद्रियाणि) समुद्र के योग्य (अर्णांसि) बहते हुये जलों को (प्र) आगे को (ऐनोः) चलाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी राजा कर्म प्रधान होकर प्रजा को शासन में रक्खे और खेती आदि सींचने के लिये नदी नालों को पहाड़ों से समुद्र तक पहुंचावे ॥ ७ ॥

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते। स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ८ ॥

अपः। यत्। अद्रिम्। पुरु-हूत। दर्दः। आविः। भुवत्। सरमा। पूर्व्यम्। ते ॥ सः। नः। नेता। वाजम्। आ। दर्षि। भूरिम्। गोत्रा। रुजन्। अङ्गिरः-भिः। गृणानः ॥८॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये [राजन् !] (यत्) जब तू (अपः) जलों को (अद्रिम्) पहाड़ से (दर्दः) तोड़े, [तब] (ते) तेरी (सरमा) चलने योग्य सरल नीति (पूर्व्यम्) सनातन व्यवहार को (आविः भुवत्) प्रकट करे। (सः) सो तू (नः) हमारा (नेता) नेता होकर, (गोत्रा) पहाड़ों को [मार्ग के लिये] (रुजन्) तोड़ता हुआ और

चेतनावती (प्र) प्रकर्षेण (अर्णांसि) गतिमन्ति जलानि (समुद्रियाणि) समुद्रार्हाणि (ऐनोः) इण् गतौ, अन्तर्गतण्यर्थः—लङ्, आडागमो वृद्धिश्च, छान्दसः श्नुः। अगमयः। प्रेरितवानसि (पतिः) स्वामी (भवन्) सन् (शवसा) बलेन (शूर) वीर (धृष्णो) दृढात्मन् ॥

८—(अपः) जलानि (यत्) यदा (अद्रिम्) अद्रिसकाशात् पर्वतात् (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (दर्दः) दॄ विदारणे—लुङ् लिङर्थे। विदारयेः (आविः) प्राकट्ये (भुवत्) अन्तर्गतण्यर्थः। भावयेत्। कुर्यात् (सरमा) अ० ९। ४। १३। सृ गतौ—अमप्रत्ययः, टाप्। सरमा पदनाम—निघ० ५। ५। सरणीया। प्राप्तव्या सरला नीतिः (पूर्व्यम्) पुराणं व्यवहारम् (ते) तव (सः) स त्वम् (नः) अस्माकम् (नेता) नायकः (वाजम्) बलम् (आ दर्षि)

(अङ्गिरोभिः) विद्वानों के साथ (गृणानः) उपदेश करता हुआ (भूरिम्) बहुत (वाजम्) पराक्रम को (आ दर्षि) आदर करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब राजा उत्तम नीति से पहाड़ों से नदी नाले निकाल कर प्रजा को खेती शिल्प आदि व्यवहारों से प्रसन्न रखता है, वह विद्वानों के साथ आने जाने के लिये मार्गों को खोल कर आदर के साथ सामर्थ्य बढ़ाता है ॥८॥

सूक्तम् ७८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजावर्तनोपदेशः—राजा और प्रजा के वर्ताव का उपदेश ॥

तद् वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने । शं यद् गवे न शाकिने ॥ १ ॥

तत् । वः । गाय । सुते । सचा । पुरु-हूताय । सत्वने ॥ शम् । यत् । गवे । न । शाकिने ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वः) अपने लिये (सुते) उत्पन्न संसार के बीच (सचा) नित्य मिलाप के साथ (पुरुहूताय) बहुतों से बुलाये गये, (शाकिने) शक्तिमान् (सत्वने) वीर राजा के लिये (तत्) उस कर्म को (गाय) तुम गाओ, (यत्) जो (न) अब (गवे) भूमि के लिये (शम्) सुखदायक [होवे] ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पुरुषार्थी राजा का उत्साह सर्वहितकारी काम करने के लिये बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

अ० २० । ५२ । ३ । लोडर्थे लट् । आद्रियस्व (भूरिम्) प्रभूतम् (गोत्रा) गोत्रान् । शैलान् (रुजन्) भञ्जन् (अङ्गिरोभिः) विद्वद्भिः (गृणानः) उपदिशन् ॥

१—(तत्) प्रसिद्धं कर्म (वः) युष्मभ्यम् (गाय) गायत यूयम् (सुते) उत्पन्ने जगति (सचा) नित्यसम्बन्धेन (पुरुहूताय) बहुविधाहूताय (सत्वने) अ० ५ । २० । ८ । वीराय राज्ञे (शम्) सुखप्रदम् (यत्) कर्म (गवे) भूम्यै (न) सम्प्रति (शाकिने) शक्तिमते ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—६ । ४५ । २२—२४ सामवेद—उ० ८ । २ । तृच ४ । मन्त्र १ साम० पू० २ । ३ । १ ॥

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः । यत् सीमुप श्रवद् गिरः ॥ २ ॥

न । घ । वसुः । नि । यमते । दानम् । वाजस्य । गो-मतः ॥ यत् । सीम् । उप । श्रवत् । गिरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसुः) बसाने वाला राजा (गोमतः) उत्तम विद्या से युक्त (वाजस्य) बल के (दानम्) दान को (न घ) कभी नहीं (नि यमते) रोके, (यत्) जब कि वह (गिरः) हमारी वाणियों को (सीम्) सब प्रकार (उप श्रवत्) सुन लेवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा के क्लेशों को ध्यान में रखकर उत्तम विद्या देकर उन का बल बढ़ावे ॥ २ ॥

कुवित्संस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् । शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥

कुवित्-संस्य । प्र । हि । व्रजम् । गो-मन्तम् । दस्यु-हा । गमत् ॥ शचीभिः । अपः । नः । वरत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दस्युहा) डाकुओं का मारने वाला राजा (कुवित्सस्य) बहुत दानी पुरुष के (हि) ही (गोमन्तम्) उत्तम विद्याओं से युक्त (व्रजम्)

२—(न) निषेधे (घ) एव (वसुः) वासयिता (नि) नितराम् (यमते) यमु उपरमे । उपरतं निरुद्धं कुर्यात् (दानम्) (वाजस्य) बलस्य (गोमतः) प्रशस्तविद्यायुक्तस्य (यत्) यदा (सीम्) सर्वतः (उप) समीपे (श्रवत्) शृणुयात् (गिरः) वाणीः ॥

३—(कुवित्सस्य) कुवित् बहुनाम—निघ० ३ । १, षणु दाने—डप्रत्ययः । बहुदानशीलस्य (प्र) प्रकर्षेण (हि) एव (व्रजम्) मार्गम् (गोमन्तम्)

मार्ग पर (प्र) अच्छे प्रकार (गमत्) चले और (शचीभिः) बुद्धियों वा कर्मों के साथ (नः) हम को (अप) आनन्द से (वरत्) स्वीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दानी विद्वानों की नीति को मानकर श्रेष्ठों की सदा रक्षा करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९९ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २ स्वराडार्षी बृहती ॥
राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा। शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ १ ॥

इन्द्र । क्रतुम् । नः । आ । भर । पिता । पुत्रेभ्यः । यथा ॥ शिक्ष । नः । अस्मिन् । पुरु-हूत । यामनि । जीवाः । ज्योतिः । अशीमहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन्] तू (नः) हमारे लिये (क्रतुम्) बुद्धि (आ भर) भर दे, (यथा) जैसे (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों [सन्तानों] के लिये। (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये [राजन् !] (अस्मिन्) इस (यामनि) समय वा मार्ग में (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दे, [जिस से] (जीवाः) हम जीव लोग (ज्योतिः) प्रकाश को (अशीमहि) पावें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा उत्तम उत्तम विद्यालय, शिल्पालय आदि खोलकर प्रजा का हित करे जैसे पिता सन्तानों का हित करता है,जिस से लोग अज्ञान के अन्धकार से छूट कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त होवें ॥ १ ॥

मन्त्र १ आ चुका है-अ० १८ । ३ । ६७ ॥

प्रशस्तविद्याभियुक्तम् (दस्युहा) दस्यूनां दुष्टचोराणां नाशकः (गमत्) गच्छेत् (शचीभिः) प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा (अप) आनन्दे (नः) अस्मान् (वरत्) वृणुयात् । स्वीकुर्यात् ॥

१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १८ । ३ । ६७ ॥

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्योऽमाशिवासो अव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥ २ ॥

मा । नः । अज्ञाताः । वृजनाः । दुः-आध्यः । मा । अशिवासः । अव । क्रमुः ॥ त्वया । वयम् । प्र-वतः । शश्वतीः । अपः । अति । शूर । तरामसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नः) हम को (मा) न तौ (अज्ञाताः) अनजाने हुये (वृजनाः) पापी, (दुराध्यः) दुष्ट बुद्धि वाले, और (मा) न (अशिवासः) अकल्याणकारी लोग (अव क्रमुः) उल्लंघन करें। (शूर) हे शूर (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (प्रवतः) नीचे देशों [खाई, सुरङ्ग आदि] और (शश्वतीः) बढ़ते हुये (अपः) जलों को (अति) लांघ कर (तरामसि) पार हो जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि गुप्त दुराचारी लोग प्रजा को न सतावें और नौका, यान, विमान आदि से अपने लोग कठिन मार्गों को सुख से पार करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३२ । २७; सामवेद—उ० ६ । ३ । ६ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराट् पथ्या बृहती; २ ब्राह्मी गायत्री छन्दः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

२—(मा) निषेधे (नः) अस्मान् (अज्ञाताः) अविदिताः । गुप्ताः (वृजनाः) पापिनः (दुराध्यः) दुर्+आङ्+ध्यै चिन्तायाम्—क्विप् । दुराधियः । दुष्टाभिप्रायाः (मा) निषेधे (अशिवासः) अकल्याणकराः (अव क्रमुः) अवक्रम्यन्तु । उल्लङ्घयन्तु (त्वया) (वयम्) (प्रवतः) निम्नान् देशान् (शश्वतीः) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—अति, अभ्यासवकारलोपे इकारस्य अकारः । वर्धमानाः । बह्वीः—निघ० ३ । १ (अपः) जलानि (अति) अतीत्य (शूर) निर्भय (तरामसि) उल्लङ्घेमहि ॥

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः ।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥

इन्द्र । ज्येष्ठम् । नः । आ । भर । ओजिष्ठम् । पपुरि । श्रवः ॥ येन । इमे इति । चित्र । वज्र-हस्त । रोदसी इति । आ । उभे इति । सु-शिप्र । प्राः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारे लिये (ज्येष्ठम्) अति श्रेष्ठ, (ओजिष्ठम्) अत्यन्त बल देने वाला, (पपुरि) पालन करने वाला (श्रवः) यश (आ) सब ओर से (भर) धारण कर (येन) जिस [यश] से, (चित्र) हे अद्भुत स्वभाव वाले, (वज्रहस्त) हे वज्र हाथ में रखने वाले ! (सुशिप्र) हे दृढ़ जावड़ों वाले ! (इमे) इन (उभे) दोनों (रोदसी) अन्तरिक्ष और भूमि को (आ प्राः) तू ने भर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—दृढ़ स्वभाव और दृढ़ शरीर वाला राजा आकाश और भूमि पर चलने के लिये उपाय करके यशस्वी होवे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—६ । ४६ । ५, ६, मन्त्र १ सामवेद-पू० ६। १०।१॥

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन् देवेषु हूमहे । विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान् सुषहान् कृधि ॥ २ ॥

त्वाम् । उग्रम् । अवसे । चर्षणि-सहम् । राजन् । देवेषु । हूमहे ॥ विश्वा । सु । नः । विथुरा । पिब्दना । वसो इति ।

१—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (ज्येष्ठम्) अतिशयेन प्रशस्तम् (नः) अस्मभ्यम् (आ) समन्तात् (भर) धर (ओजिष्ठम्) अतिशयेन बलप्रदम् (पपुरि) आदृगमहन० । पा० ३ । २ । १७१ । पॄ पालनपूरणयोः—किन् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् । पालकम् । पोषकम् (श्रवः) यशः (येन) यशसा (इमे) दृश्यमाने (चित्र) अद्भुतस्वभाव (वज्रहस्त) शस्त्रास्त्रपाणे (रोदसी) अन्तरिक्षभूमी (आ) (उभे) (सुशिप्र) दृढहनो (प्राः) पूरितवानसि ॥

अमित्रान् । सु-सहान् । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (देवेषु) विद्वानों में (अवसे) रक्षा के लिये (उग्रम्) तेजस्वी, (चर्षणिसहम्) मनुष्यों के वश में रखने वाले (त्वाम्) तुझ को (हूमहे) हम पुकारते हैं । (वसो) हे बसाने वाले ! (नः) हमारे (विश्वा) सब (विथुरा) क्लेशों को (पिब्दना) खण्डन योग्य और (अमित्रान्) वैरियों को (सुसहान्) सहज में हारने योग्य (सु) सर्वथा (कृधि) कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा सदा ऐसा उपाय करे कि जिससे प्रजा के सब बाहिरी और भीतरी क्लेश दूर होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी बृहती; २ निचृत् सतः पङ्क्तिः ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

यद् द्याव॑ इन्द्र ते श॒तं श॒तं भूमी॑रु॒त स्युः ।
न त्वा॑ वज्रिन्त्स॒हस्रं॒ सूर्या॒ अनु॒ न जा॒तम॑ष्ट॒ रोद॑सी ॥ १ ॥

यत् । द्याव॑ः । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । श॒तम् । भूमीः॑ । उ॒त । स्युरिति॑ स्युः ॥ न । त्वा॒ । व॒ज्रि॒न् । स॒हस्र॑म् । सूर्याः॑ । अनु॑ । न । जा॒तम् । अ॒ष्ट॒ । रोद॑सी॒ इति॑ ॥१ ॥

२—(त्वाम्) (उग्रम्) तेजस्विनम् (अवसे) रक्षणाय (चर्षणिसहम्) मनुष्याणां सोढारम् । अभिभवितारं वशीकर्तारम् (राजन्) ऐश्वर्यवन् (देवेषु) विद्वत्सु (हूमहे) आह्वयामः (विश्वा) सर्वाणि (सु) सर्वथा (नः) अस्माकम् (विथुरा) अ० ७ । ६५ । १ । व्यथ ताडने—उरच्, कित् । व्यथनानि । क्लेशान् (पिब्दना) कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । अपि+दाप् लवने दो अवखण्डने वा क्यु । आतो लोप इटि च । पा० ६ । ४ । ६४ । आकारलोपः, बकारोपजनः । अपिदनानि । अवखण्डनीयानि (वसो) हे वासयितः (अमित्रान्) शत्रून् (सुसहान्) सुखेन अभिभवनीयान् (कृधि) कुरु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जो (शतम्) सौ (द्यावः) अन्तरिक्ष [वायु लोक], (उत) और (शतम्) सौ (भूमीः) भूमि लोक (ते) तेरे [सामने] (स्युः) होवें, [तौ वे सब] और (न) न (सहस्रम्) सहस्र (सूर्याः) सूर्य लोक और (रोदसी) दोनों अन्तरिक्ष और भूमि लोक [मिल कर] और (न) न (जातम्) उत्पन्न हुआ जगत्, (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [परमात्मन्] (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (अष्ट) पा सके हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब असंख्य लोक और पदार्थ अलग अलग होकर अथवा सब मिलकर परमात्मा की महिमा का पार नहीं पा सकते ॥ १ ॥

यह दोनों मन्त्र ऋग्वेद में हैं—८ । ७० [सायणभाष्य ५६] । ५, ६ । सामवेद—उ० २ । २ । ११; और आगे है—अथ० २० । ६२ । २०, २१ । मन्त्र १ सा०—पू० ३ । ६ । ६ ॥

कठोपनिषद् का वचन है—वल्ली ५ श्लोक १५ [न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति] उस पर न सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा और तारे, न ये बिजुलियां चमकती हैं, [फिर] यह अग्नि कहां, उसे ही चमकते हुये के पीछे सब चमकता है, उस की चमक से यह सब विविध प्रकार चमकता है ॥

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः ॥२॥

आ । पप्राथ । महिना । वृष्ण्या । वृषन् । विश्वा । शविष्ठ ।

१—(यत्) यदि (द्यावः) अन्तरिक्षलोकाः । वायुलोकाः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (ते) तवाग्रे (शतम्) बहुसंख्याकाः (शतम्) (भूमीः) भूमयः (उत) अपि च (स्युः) भवेयुः (न) निषेधे (त्वा) त्वाम् (वज्रिन्) दण्डधारिन् । शासनकर्तः परमात्मन् (सहस्रम्) अगणिताः (सूर्याः) सूर्यलोकाः (अनु) निरन्तरम् (न) निषेधे (जातम्) उत्पन्नं जगत् (अष्ट) अशू व्याप्तौ—लुङ्, अडभावः, बहुवचनस्यैकवचनम् । आष्ट । आशत । व्याप्तवन्तः (रोदसी) अन्तरिक्षभूमी ॥

शवसा ॥ अस्मान् । अव । मघ-वन् । गो-मति । ब्रजे । वज्रिन् । चित्राभिः । ऊति-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे शूर ! (शविष्ठ) हे अत्यन्त बली ! [परमात्मन्] (महिना) अपने बड़े (शवसा) बल से (विश्वा) सब (वृष्ण्या) शूर के योग्य बलों को (आ) सब ओर से (पप्राथ) तू ने भर दिया है। (मघवन्) हे महाधनी ! (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [शासक परमेश्वर] (गोमति) उत्तम विद्या वाले (ब्रजे) मार्ग में (चित्राभिः) विचित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अस्मान्) हमें (अव) बचा ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा से प्रार्थना करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर यथावत् पालन करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुपरिष्टाद् बृहती; २ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाजनकर्तव्योपदेशः—राज पुरुषों और प्रजा जनों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय । स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । यावतः । त्वम् । एतावत् । अहम् । ईशीय ॥ स्तोतारम् । इत् । दिधिषेय । रदवसो इति रद-वसो । न । पाप-त्वाय । रासीय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रदवसो) हे धनों के खोदने वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र !

२—(आ) समन्तात् (पप्राथ) प्रा—लिट्। पूरितवानसि (महिना) महता (वृष्ण्या) अ० । ४ । ४ । ४ । वृष्णे बलवते हितानि बलानि (वृषन्) हे शूर (विश्वा) सर्वाणि (शविष्ठ) बलिष्ठ (शवसा) बलेन (अस्मान्) (अव) रक्ष (मघवन्) धनवन् (गोमति) प्रशस्तविद्यायुक्ते (ब्रजे) मार्गे (वज्रिन्) दण्डधारिन् शासक (चित्राभिः) अद्भुताभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः ॥

१—(यत्) यावता धनेन (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (यावतः)

[बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू (यावतः) जितने धन का [स्वामी है, [उस में से] (अहम्) मैं (एतावत्) इतने का (ईशीय) स्वामी हो जाऊँ, (यत्) जितने से (स्तोतारम्) गुण व्याख्याता [विद्वान्] को (इत्) अवश्य (दिधिषेय) पोषण करूं और (पापत्वाय) पाप होने के लिये [उसको] (न) न (रासीय) दूं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा परस्पर ऐसी प्रीति रक्खें कि सब लोग विद्वान् होवें और पदार्थों के गुण जानकर धर्म से एक दूसरे का पालन करें और कभी पाप कर्म न करें ॥ १ ॥

दोनों मन्त्र ऋग्वेद में हैं—७ । ३२ । १८, १९ । साम० उ० ६, । २ । ६, मन्त्र १ सा०— पू० ४ । २ । ८ ॥

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे । नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥ २ ॥

शिक्षेयम् । इत् । महु-यते । दिवे-दिवे । रायः । आ । कुहचित्-विदे ॥ नहि । त्वत् । अन्यत् । मघ-वन् । नः । आप्यम् । वस्यः । अस्ति । पिता । चन ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! [राजन्] (महयते) सत्कार करने वाले (कुहचिद्विदे) कहीं भी विद्यमान पुरुष के लिये (इत्) अवश्य (रायः) धनों को (दिवेदिवे) दिन दिन (आ) सब प्रकार से (शिक्षेयम्)

यत्परिमाणस्य धनस्य (त्वम्) ईशिषे इति शेषः, तस्मात् इति च (एतावत्) षष्ठ्या लुक् । एतावतो धनस्य (अहम्) (ईशीय) ईश्वरः स्वामी भवेयम् (स्तोतारम्) गुणव्याख्यातारं विद्वांसम् (इत्) अवश्यम् (दिधिषेय) धि धारणे-सन्, विधिलिङ् आत्मनेपदं छान्दसम् । धर्तुमिच्छेयम् । धरेयम् (रदवसो) रद विलेखने-अच् । रदति उत्खनति वसूनि धनानि यस्तत् सम्बुद्धौ (न) निषेधे (पापत्वाय) पापस्य भावाय (रासीय) दद्याम् ॥

२—(शिक्षेयम्) शिक्षतिर्दानकर्मा-निघ० ३ । २० । दद्याम् (इत्) अवश्यम् (महयते) पूजयते । सत्कुर्वते (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (रायः) धनानि (आ) समन्तात् (कुहचिद्विदे) विद सत्तायाम्-क्विप् । क्वापि विद्यमानाय जनाय

मैं दूं, (त्वत्) तुझ से (अन्यत्) दूसरा (नः) हमारा (आप्यम्) पाने योग्य (वस्यः) श्रेष्ठ वस्तु और (पिता) पिता (चन) भी (नहि) नहीं (अस्ति) है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब स्थानों के सुपात्रों को धन देकर विद्यावृद्धि करें और पूरे राजभक्त होकर सर्वहितकारी कर्म करते रहें ॥ २ ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी बृहती; २ आर्षी पङ्क्तिः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्र॑ त्रि॒धातु॑ श॒र॒णं त्रि॒वरू॑थं स्वस्ति॒मत् । छ॒र्दिर्य॑च्छ म॒घ-व॑द्भ्यश्च॒ मह्यं॑ च या॒वया॑ दि॒द्युमे॑भ्यः ॥ १ ॥

इन्द्र॑ । त्रि॒-धातु॑ । श॒र॒णम् । त्रि॒-वरू॑थम् । स्व॒स्ति॒-मत् ॥ छ॒र्दिः । य॒च्छ॒ । म॒घव॑त्-भ्यः । च॒ । मह्य॑म् । च॒ । य॒वय॑ । दि॒द्युम् । ए॒भ्यः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्रिधातु) तीन [सोना, चांदी, लोहे) धातुओं वाला, (त्रिवरूथम्) तीन [शीत, ताप और वर्षा ऋतुओं] में उत्तम, (शरणम्) शरण [आश्रय] के योग्य और (स्वस्तिमत्) बहुत सुख वाला (छर्दिः) घर (मघवद्भ्यः) धन वालों को (च) और (मह्यम्) मुझ को [अर्थात् एक-एक को] (यच्छ) दे, (च)

(नहि) (त्वत्) त्वत्तः (अन्यत्) भिन्नं वस्तु (मघवन्) धनवन् (नः) अस्माकम् (आप्यम्) प्रापणीयम् (वस्यः) वसीयः । वसुतरम् ॥श्रेष्ठतरम् (अस्ति) (पिता) पालयिता (चन) अपि ॥

१—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (त्रिधातु) त्रिभिः सुवर्णरजतलोह-धातुभिर्युक्तम् (शरणम्) आश्रययोग्यम् (त्रिवरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । वृञ् वरणे—ऊथन् । त्रिषु शीततापवर्षासु वरणीयमुत्तमम् (स्वस्तिमत्) बहुसुखयुक्तम् (छर्दिः) अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । २ । १०८ । छर्द सन्दीपने वमने च—इसि । गृहम्—निघ० ३ । ४ (यच्छ) देहि (मघवद्भ्यः) धनयुक्तेभ्यः (च) (मह्यम्) राजभक्ताय (च) (यवय) संयोजय (दिद्युम्)

और (एभ्यः) इन सब के लिये (दिद्युम्) प्रकाश को (यवय) संयुक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा का कर्तव्य है कि मनुष्यों के निवास स्थान और सभा स्थान आदि ऐसे उत्तम बनवावे कि जिन में सब को मिलकर और प्रत्येक पुरुष को आवश्यक पदार्थ सुरक्षित रहने से सब ऋतुओं में सुख मिले और स्वास्थ्य बढ़ने से धन की वृद्धि होवे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—६ । ४६ । ६, १० । मन्त्र १ सामवेद-पू० ३ । ८ । ४ ॥

ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया ।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव ॥ २ ॥

ये । गव्यता । मनसा । शत्रुम् । आ-दभुः । अभि-प्रघ्नन्ति । धृष्णु-या ॥ अध । स्म । नः । मघ-वन् । इन्द्र । गिर्वणः । तनू-पाः । अन्तमः । भव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (धृष्णुया) निर्भय मनुष्य (गव्यता) भूमि चाहने वाले (मनसा) मन से (शत्रुम्) बैरी को (अभिप्रघ्नन्ति) घेर लेते हैं और (आदभुः) मार डालते हैं, (मघवन्) हे महाधनी ! (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (अध स्म) अवश्य ही (नः) हमारे (तनूपाः) शरीरों का रक्षक और (अन्तमः) अत्यन्त समीप वाला (भव) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो शूर वीर पुरुष राज्य की वृद्धि चाहने वाले शत्रु नाशक होवें, राजा उनके विश्वास से प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

अ० १ । २ । ३ । द्युत दीप्तौ—क्विप्, तलोपः । प्रकाशम् (एभ्यः) सर्वेभ्यः ॥

२—(ये) जनाः (गव्यता) गो—क्यच्, शतृ । गां भूमिमिच्छता (मनसा) चित्तेन (शत्रुम्) (आदभुः) लडर्थे लिट् । आदेभुः । समन्ताद् घ्नंसन्ति (अभिप्रघ्नन्ति) हन हिंसागत्योः । सर्वतः प्रगच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (धृष्णुया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्याच् । धृष्णवः । प्रगल्भाः (अध) अवश्यम् (स्म) एव (नः) अस्माकम् (मघवन्) हे बहुधनयुक्त (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (गिर्वणः) हे स्तुतिभिः सेवनीय (तनूपाः) शरीराणां रक्षकः (अन्तमः) अन्तिकतमः । अतिसमीपस्थः (भव) ॥

सूक्तम् ८४ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् गायत्री; २, ३ गायत्री छन्दः ॥

सभापतिकर्तव्योपदेशः—सभापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥

इन्द्र । आ । याहि । चित्रभानो इति चित्र-भानो । सुताः । इमे । त्वा-यवः ॥ अण्वीभिः । तना । पूतासः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(चित्रभानो) हे विचित्र प्रकाश वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] (आ याहि) तू आ, (इमे) यह (त्वायवः) तुझ को मिलने वाले [वा तुझे चाहने वाले], (अण्वीभिः) सूक्ष्म क्रियाओं से (पूतासः) शोधे हुये, (तना) विस्तृत धन वाले (सुताः) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सभापति की आज्ञा में रहकर विज्ञान युक्त क्रियाओं से उत्तम उत्तम पदार्थ सिद्ध करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद—१ । ३ । ४—६ । यजुर्वेद २० । ८७—८९ । सामवेद—उ० ४ । २ । तृच ५ ॥

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥

० धिया । इषितः । विप्र-जूतः । सुत-वतः ॥ उप । ब्रह्माणि । वाघतः ॥ २ ॥

१—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सभापते (आ याहि) आगच्छ (चित्रभानो) अद्भुतदीप्ते (सुताः) निष्पादिततत्त्वरसाः (इमे) दृश्यमानाः (त्वायवः) अ० २० । १८ । ४ । त्वां प्राप्ताः । त्वां कामयमानाः (अण्वीभिः) अणुशब्दः सूक्ष्मवाचकः । वोतो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । अनेन ङीषि प्राप्ते छान्दसो ङीन्, नित्वादाद्युदात्तः । सूक्ष्माभिः क्रियाभिः (तना) धननाम—निघ० २ । १० । विभक्तेराकारः । विस्तृतधनयुक्ताः (पूतासः) शोधिताः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] (धिया) कर्म से (इषितः) बढ़ाया गया, और (विप्रजूतः) बुद्धिमानों से वेगवान् किया गया तू (सुतवतः) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस वाले (वाघतः) बुद्धिमान् पुरुषों को और (ब्रह्माणि) धनों को (उप=उपेत्य) प्राप्त होकर (आ याहि) आ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि अपने उत्तम कर्म और विद्वानों की शिक्षा से विज्ञानी बुद्धिमानों के साथ धन की वृद्धि करे ॥ २ ॥

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥

इन्द्र । आ । याहि । तूतुजानः । उप । ब्रह्माणि । हरि-वः ॥ सुते । दधिष्व । नः । चनः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हरिवः) हे उत्तम मनुष्यों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (तूतुजानः) शीघ्रता करता हुआ तू (ब्रह्माणि) धनों को (उप) प्राप्त होकर (आ याहि) आ। और (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस में (नः) हमारे लिये (चनः) अन्न को (दधिष्व) धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम विद्वानों के साथ रहकर धर्म से धन

२—(इन्द्र) (आ याहि) (धिया) कर्मणा—निघ० २ । १ (इषितः) प्रेरितः (विप्रजूतः) जू इति सौत्रो धातुः गतौ—क्त । मेधाविभिः प्रेरिते वेगयुक्तः कृतः (सुतवतः) निष्पादिततत्त्वरसयुक्तान् (उप) उपेत्य (ब्रह्माणि) धनानि (वाघतः) अ० २० । १६ । २ । मेधाविनः पुरुषान्—निघ० ३ । १५ ॥

३—(इन्द्र) (आ याहि) (तूतुजानः) अ० २० । ३५ । १२ । त्वरमाणः (उप) उपेत्य (ब्रह्माणि) धनानि (हरिवः) हे प्रशस्तमनुष्ययुक्त (सुते) निष्पादिते तत्त्वरसे (दधिष्व) अ० २० । ६ । ५ । धत्स्व । धारय (नः) अस्मान् (चनः) चायतेरन्ने ह्रस्वश्च । उ० ४ । २०० । चायृ पूजादौ—असुन् चकाराद् नुडागमो यलोपो ह्रस्वश्च । चन इत्यन्ननाम निरु० ६ । १६ । अन्नम्—निघ० ४ । ३ ॥

प्राप्त करते हैं, वे ही दूसरों को ज्ञानी और धनी बनाकर यश पाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ उपरिष्टाद् बृहती; २ निचृदार्षी पङ्क्तिः; ३ विराट् पथ्या बृहती; ४ स्वराडार्षी बृहती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

मा चिदुन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ १ ॥

मा । चित् । अन्यत् । वि । शंसत । सखायः । मा । रिषण्यत ॥ इन्द्रम् । इत् । स्तोत । वृषणम् । सचा । सुते । मुहुः । उक्था । च । शंसत ॥ १ ॥

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥

अव-क्रक्षिणम् । वृषभम् । यथा । अजुरम् । गाम् । न । चर्षणि-सहम् ॥ वि-द्वेषणम् । सम्-वनना । उभयम्-करम् । मंहिष्ठम् । उभयाविनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (अन्यत् चित्) और कुछ भी (मा वि शंसत) मत बोलो, और (मा रिषण्यत) मत दुखी हो (च) और (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस के बीच (मुहुः) बार बार (उक्था) कहने योग्य बचनों को (शंसत) कहो, [अर्थात्] (वृषणम्) महाबलवान्, (वृषभं यथा) जल बरसाने वाले मेघ के समान (अवक्रक्षिणम्) कष्ट हटाने वाले, और (गाम् न) [रसों को चलाने वाले और आकाश में चलने वाले] सूर्य के समान

१—(मा) निषेधे (चित्) अपि (अन्यत्) भिन्नं वस्तु (वि) विविधम् (शंसत) उच्चारयत (सखायः) हे सुहृदः (मा) निषेधे (रिषण्यत) रिषण हिंसायां दैन्ये च—यक् कण्ड्वादेराकृतिगणत्वात्। हिंसिता दुःखिता भवत (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (इत्) एव (स्तोत) स्तुत यूयम्

(अजुरम्) सब के चलाने वाले,(चर्षणिसहम्) मनुष्यों के वश में रखने वाले, (विद्वेषणम्) निग्रह [ताड़ना] और (संवननम्) अनुग्रह [पोषण], (उभयंकरम्) दोनों के करने वाले, (उभयाविनम्) दोनों [स्थावर और जङ्गम] के रक्षक, (मंहिष्ठम्) अत्यन्त दानी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (इत्) ही (सचा) मिला करके (स्तोत) स्तुति करो ॥ १, २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा को छोड़कर किसी दूसरे को बड़ा जानकर अपनी अवनति न करें, सदा उसी हो विपत्ति नाशक, सर्वपोषक के गुणों को ग्रहण करके आनन्द पावें ॥ १, २ ॥

भगवान् यास्क मुनि ने कहा है—गौ सूर्य है वह रसों को चलाता है, अन्तरिक्ष में चलता है—निरुक्त २ । १४ ।

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १ । १—४ । मन्त्र १, २ सामवेद—उ० ६ । १ । ५, मन्त्र १—पू० ३ । ५ । १० ॥

[illegible] त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
[illegible] ब्रह्मेदिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम् ॥ ३ ॥

(वृषणम्) [illegible] (सचा) समवायेन संघीभूय (सुते) निष्पादिते तत्त्वरसे (मुहुः) पुनःपुनः (उकथा) कथनीयानि वचनीयानि (च) (शंसत) कथयत ॥

२—(अवक्रक्षिणम्) अव रक्षणहिंसादिषु—अच् । वृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । कृष विलेखने—सप्रत्ययः । [illegible] चतुर्थस्यान्यतरस्याम् । पा० ६ । १ । ५९ । अमागमः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ अव + कक्ष—इनि । अवस्य दुःखस्य विलेखकं [illegible] (वृषभम्) वृषभो वर्षिताऽपाम्—निरु० ४ । ८ । जलवर्षकं मेघम् (यथा) (अजुरम्) मन्दिवाशिमथि० । उ० १ । ३८ । अज [illegible]—उरच् । सर्वप्रेरकम् (गाम्) गमेः—डो प्रत्ययः । गौरादित्यो भवति गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । आदित्यम् (न) यथा (चर्षणिसहम्) [illegible] वशीकर्तारम् ([illegible]) वैरिभावम् । निग्रहम् । [illegible] (संवननम्) संवननम् । सम्यक् सेवनम् । अनुग्रहम् । पोषणम् (उभयंकरम्) उभयोर्विद्वे[illegible] कर्तारम् (मंहिष्ठम्) दातृतमम् ([illegible]) अ० ५ । २५ । ६ । उभय + अव रक्षणे—इनि । उभयोः [illegible] रक्षकम् ॥

यत् । चित् । हि । त्वा । जनाः । इमे । नाना । हवन्ते । ऊतये ॥ अस्माकम् । ब्रह्म । इदम् । इन्द्र । भूतु । ते । अहा । विश्वा । च । वर्धनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) क्योंकि (चित्) निश्चय करके (हि) ही (त्वा) तुझ को (इमे) यह (जनाः) मनुष्य (नाना) नाना प्रकार से (ऊतये) रक्षा के लिये (हवन्ते) पुकारते हैं—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर] (इदम्) अब (अस्माकम्) हमारे (ब्रह्म) धन (भूतु) होवे (ते) तेरी (विश्वा अहा) सब दिनों (च) ही (वर्धनम्) बढ़ती है ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब प्राणी परमात्मा की प्रार्थना करके अपनी रक्षा करते हैं, हम भी निरन्तर भक्ति करके उसके अनन्त कोश से पुरुषार्थ पूर्वक धन आदि प्राप्त करके अपनी वृद्धि करें ॥ ३ ॥

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥ ४ ॥

वि । तर्तूर्यन्ते । मघ-वन् । विपः-चितः । अर्यः । विपः । जनानाम् ॥ उप । क्रमस्व । पुरु-रूपम् । आ । भर । वाजम् । नेदिष्ठम् । ऊतये ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! [परमेश्वर] (विपश्चितः) बड़े ज्ञानी (विपः) प्रेरक बुद्धिमान् लोग (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (अर्यः =

३—(यत्) यतः (चित्) निश्चयेन (हि) (त्वा) (जनाः) मनुष्याः (इमे) वर्तमानाः (नाना) विविधम् (हवन्ते) आह्वयन्ति (ऊतये) रक्षणाय (अस्माकम्) (ब्रह्म) धनम् (इदम्) इदानीम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (भूतु) भवतु (ते) तव (अहा) दिनानि (विश्वा) सर्वाणि (च) अवधारणे (वर्धनम्) वृद्धिः ॥

४—(वि) विविधम् (तर्तूर्यन्ते) तॄ अभिभवे यङ्लुकि छान्दसं रूपम्। तातिरति । भृशं तरन्ति। अभिभवन्ति (मघवन्) हे धनवन् परमेश्वर (विप-

अरीन्) वैरियों को (वि) विविध प्रकार (तर्तूर्यन्ते) बार बार हराते हैं। (उप क्रमस्व) तू [हमें] पराक्रमी कर, और (ऊतये) तृप्ति के लिये (पुरुरूपम्) बहुत प्रकार वाले (वाजम्) बल को (नेदिष्ठम्) अति समीप (आ) सब प्रकार से (भर) भर ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य बुद्धिमानों के समान परमात्मा को हृदय में धारण करके पराक्रम के साथ वैरियों को जीतें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू । स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणा । ते । ब्रह्म-युजा । युनज्मि । हरी इति । सखाया । सध-मादे । आशू इति ॥ स्थिरम् । रथम् । सु-खम् । इन्द्र । अधि-तिष्ठन् । प्र-जानन् । विद्वान् । उप । याहि । सोमम् ॥ १

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (ते) तेरे लिये (ब्रह्मणा) अन्न के साथ (ब्रह्मयुजा) धन के संग्रह करने वाले, (आशू) शीघ्र चलने वाले, (हरी) दोनों जल और अग्नि को (सखाया) दो मित्रों

श्चितः) बहुज्ञानिनः (अर्यः) द्वितीयायाः प्रथमा यणादेशश्च । अरयः । अरीन् (विपः) विप क्षेपे—क्विप् । विपो मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । प्रेरका मेधाविनः (जनानाम्) मनुष्याणां मध्ये (उप क्रमस्व) पराक्रमयुक्तान् कुरु (पुरुरूपम्) बहुविधम् (आ) समन्तात् (भर) धर (वाजम्) बलम् (नेदिष्ठम्) अन्तिक—इष्ठन् । अतिसमीपम् (ऊतये) तर्पणाय ॥

१—(ब्रह्मणा) अन्नेन (ते) तुभ्यम् (ब्रह्मयुजा) धनस्य संयोजकौ संग्राहकौ (युनज्मि) संयोजयामि (हरी) जलाग्नी (सखाया) सुहृदाविव (सधमादे) समानस्थाने (आशू) शीघ्रगामिनौ (स्थिरम्) दृढम् (रथम्) यानविमान-

के तुल्य (सधमादे) चौरस स्थान में (युनज्मि) मैं संयुक्त करता हूं, (स्थिरम्) दृढ़, (सुखम्) सुख देने वाले [इन्द्रियों के लिये अच्छे हितकारी] (रथम्) रथ पर (अधितिष्ठन्) चढ़ता हुआ, (प्रजानन्) बड़ा चतुर (विद्वान्) विद्वान् तू (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप याहि) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि जल अग्नि आदि पदार्थों के द्वारा रथों अर्थात् यान विमानों को चलाकर देश देशान्तरों में जाकर विद्या और धर्म से ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—३ । ३५ । ४ और इस का अर्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य के आधार पर किया गया है । निरुक्त ३ । १३ में (सुख) शब्द का अर्थ [अच्छा हितकारी इन्द्रियों के लिये] है ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१—७ ॥ १—६ इन्द्रः ; ७ इन्द्राबृहस्पती देवते ॥ १, २, ६, ७ निचृत् त्रिष्टुप् ; ३ विराट् त्रिष्टुप् ४, ५ त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थिलक्षणोपदेशः—पुरुषार्थी के लक्षण का उपदेश ॥

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् । गौराद् वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥ १ ॥

अध्वर्यवः । अरुणम् । दुग्धम् । अंशुम् । जुहोतन । वृषभाय । क्षितीनाम् ॥ गौरात् । वेदीयान् । अव-पानम् । इन्द्रः । विश्वाहा । इत् । याति । सुत-सोमम् । इच्छन् ॥ १ ॥

भावार्थ—(अध्वर्यवः) हे हिंसा न चाहने वाले पुरुषो ! (अरुणम्) प्राप्ति योग्य, (दुग्धम्) पूरे किये हुये (अंशुम्) भाग को (क्षितीनाम्)

समूहम् (सुखम्) सुखं कस्मात् सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः—निरु० ३ । १३ । इन्द्रियेभ्यो हितं सुखप्रदम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (अधितिष्ठन्) आरोहन् (प्रजानन्) बहुबुध्यमानः (विद्वान्) (उप) (याहि) प्राप्नुहि (सोमम्) ऐश्वर्यम् ॥

१—(अध्वर्यवः) अ० ७ । ७३ । ५ । अहिंसामिच्छवः । याजकाः (अरुणम्) ऋ गतिप्रापणयोः- उनन् । प्रापणीयम् (दुग्धम्) प्रपूर्णम् (अंशुम्)

मनुष्यों में (वृषभाय) बलवान् के लिये (जुहोतन) दान करो। (अवपानम्) रक्षा साधन को (गौरात्) गौर [हरिण विशेष] से (वेदीयान्) अधिक जानने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (विश्वाहा) सब दिनों (इत्) ही (सुतसोमम्) तत्त्व रस सिद्ध करने वाले पुरुष को (इच्छन्) चाहता हुआ (याति) चलता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि बलवान् पुरुष को आदर पूर्वक ग्रहण करें, वह चतुर मनुष्य रक्षा साधनों को औरों से अधिक जानता है, जैसे हरिण व्याधाओं से बचने के उपाय को जानता है ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । ९८ । १—७

यद् द॑धि॒षे प्र॒दिवि॒ चार्वन्नं॑ दि॒वेदि॑वे पी॒तिमिद॑स्य वक्षि। उ॒त हृ॒दोत मन॑सा जुषा॒ण उ॑श॒न्निन्द्र॒ प्रस्थि॑तान् पाहि॒ सोमा॑न् ॥२

यत् । द॒धि॒षे । प्र॒-दिवि॑ । चारु॑ । अन्न॑म् । दि॒वे-दि॑वे । पी॒तिम् । इत् । अ॒स्य॒ । व॒क्षि॒ ॥ उ॒त । हृ॒दा । उ॒त । मन॑सा । जु॒षा॒णः । उ॒शन् । इ॒न्द्र॒ । प्र-स्थि॑तान् । पा॒हि॒ । सोमा॑न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (यत्) जिस (चारु) उत्तम (अन्नम्) अन्न को (प्रदिवि) पिछले समय में (दधिषे)

अंश विभाजने-कु । विभागम् (जुहोतन) दत्त (वृषभाय) श्रेष्ठाय बलयुक्ताय (क्षितीनाम्) क्षितियो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्याणां मध्ये (गौरात) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । गुङ् अव्यक्तशब्दे—रन् । यद्वा । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । गुरी उद्यमने—घञ्, वृद्धिः पृषोदरादित्वात् । हरिणविशेषात् (वेदीयान्) तुश्छन्दसि । पा० ५ । ३ । ५९ । वेतृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृलोपः । वेतृतरः । विद्वत्तरः (अवपानम्) रक्षासाधनम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (विश्वाहा) विश्वान्यहानि (इत्) एव (याति) गच्छति (सुतसोमम्) सुतः संस्कृतः सोमस्तत्त्वरसो येन तम् (इच्छन्) कामयमानः ॥

२—(यत्) (दधिषे) धारितवानसि (प्रदिवि) प्रगते दिने काले (चारु) मनोहरम् (अन्नम्) भक्षणीयं पदार्थम् (दिवेदिवे) प्रतिदिनम्

तू ने धारण किया था, (अस्य) उस [अन्न] के (पीतिम्) पान वा भोग को (दिवेदिवे) प्रतिदिन (इत्) ही (वष्टि) तू उपदेश करता है, (उत) और (हृदा) हृदय से (उत) और (मनसा) मनन से (प्रस्थितान्) उपस्थित (सोमान्) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों को (जुषाणः) सेवन करता हुआ और (उशन्) चाहता हुआ तू (पाहि) रक्षित कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ज्ञान और पदार्थों को प्राप्त होकर सब के सुख के लिये प्रयत्न करे ॥ २ ॥

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥ ३ ॥

जज्ञानः । सोमम् । सहसे । पपाथ । प्र । ते । माता । महिमानम् । उवाच ॥ आ । इन्द्र । पप्राथ । उरु । अन्तरिक्षम् । युधा । देवेभ्यः । वरिवः । चकर्थ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (जज्ञानः) उत्पन्न होते हुये तू ने (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (सहसे) बल के लिये (पपाथ) पान किया है और (ते) तेरी (माता) ने [तेरे] (महिमानम्) महत्त्व को (प्र) अच्छे प्रकार (उवाच) कहा है । तू ने (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ) सब ओर से (पप्राथ) भर दिया और

(पीतिम्) पानं भोगं वा (इत्) एव (अस्य) अन्नस्य (वष्टि) वच परिभाषणे– लट् । उपदिशसि (उत) अपि च (हृदा) हृदयेन (उत) (मनसा) मननेन (जुषाणः) सेवमानः (उशन्) कामयमानः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् पुरुष (प्रस्थितान्) उपस्थितान् (पाहि) रक्ष (सोमान्) ऐश्वर्ययुक्तान् पदार्थान् ॥

३—(जज्ञानः) जायमानः (सोमम्) तत्त्वरसम् (सहसे) बलाय (पपाथ) पा पाने रक्षणे च-लिट् । पीतवानसि (प्र) प्रकर्षेण (ते) तव (माता) माननीया जननी (महिमानम्) तव भाविमहत्त्वम् (उवाच) कथयामास (आ) समन्तात् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (पप्राथ) प्रा पूरणे—लिट् । पूरितवानसि (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (युधा) युद्धेन (देवेभ्यः)

(युधा) युद्ध से (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (वरिवः) सेवनीय धन (चकर्थ) उत्पन्न किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—पहिले ही पहिले माता उत्तम शिक्षा से मनुष्य में उत्तम संस्कार उत्पन्न करे, तब वह मनुष्य विद्वान् बलवान् और धनवान् होकर संसार में कीर्ति पाता है ॥ ३ ॥

यद् योधया महतो मन्यमानान् साक्षाम तान् बाहुभिः शाशदानान् । यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥ ४ ॥

यत् । योधयाः । महतः । मन्यमानान् । साक्षाम । तान् । बाहु-भिः । शाशदानान् ॥ यत् । वा । नृ-भिः । वृतः । इन्द्र । अभि-युध्याः । तम् । त्वया । आजिम् । सौश्रवसम् । जयेम ॥४

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी शूर] (यत्) जो तू (महतः मन्यमानान्) अपने को बड़े मानने वालों से [हमको] (योधयाः) लड़ावे, (तान्) उन (शाशदानान्) तीक्ष्ण स्वभाव वालों को (बाहुभिः) अपनी भुजाओं से (साक्षाम) हम हरावें । (यत् वा) अथवा (नृभिः) नरों से (वृतः) अङ्गीकार किया हुआ (अभियुध्याः) तू युद्ध करे, (त्वया) तेरे साथ [होकर] (तम्) उस (सौश्रवसम्) बड़े यश वा अन्न देने

विद्वद्भ्यः (वरिवः) अ० २० । ११ । ७ । वरणीयं धनम् (चकर्थ) कृतवानसि ॥

४—(यत्) यदि (योधयाः) योधयेः । युद्धं कारयेः—अस्मान् (महतः) पूजनीयान् (मन्यमानान्) जानतः पुरुषान् (साक्षाम) सहेम । अभिभवेम (तान्) (बाहुभिः) भुजैः (शाशदानान्) अ० १ । १० । १ । शद्लृ शातने—यङ्लुकि शानच् । तीक्ष्णस्वभावान् (यत् वा) यद्वा । अथवा (नृभिः) नेतृभिः (वृतः) स्वीकृतः (इन्द्र) महाप्रतापिन् शूर (अभियुध्याः) अभियुध्येथाः (तम्) प्रसिद्धम् (त्वया) शूरेण सह (आजिम्) सङ्ग्रामम् (सौश्रवसम्) शोभनस्य

वाले (अजिम्) सङ्ग्राम को (जयेम) हम जीतें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य सङ्कल्प के साथ आप कर्म कुशल हो कर और दूसरों को कर्म कुशल बनाकर संसार में विजय प्राप्त करें ॥ ४ ॥

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥५॥

प्र । इन्द्रस्य । वोचम् । प्रथमा । कृतानि । प्र । नूतना । मघ-वा । या । चकार ॥ यदा । इत् । अदेवीः । असहिष्ट । मायाः । अथ । अभवत् । केवलः । सोमः । अस्य ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] के (प्रथमा) पहिले और (नूतना) नवीन (कृतानि) कर्मों को, (या) जो (मघवा) उस महाधनी ने (चकार) किये हैं, (प्र प्र) बहुत अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं । (यदा) जब (इत्) ही (अदेवीः) अदेवी [विद्वानों के विरुद्ध, आसुरी] (मायाः) मायाओं [छल कपट क्रियाओं] को (असहिष्ट) उस ने जीत लिया है, (अथ) तब ही (सोमः) सोम [अमृत रस अर्थात् मोक्ष सुख] (अस्य) उस [पुरुषार्थी] का (केवलः) सेवनीय (अभवत्) हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य प्राचीन और नवीन विद्वानों ने सिद्धान्तों के विचार कर दुष्कर्मों का नाश करता है, तब वह मोक्ष सुख पाता है ॥ ५ ॥

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६ ॥

श्रवसो यशसोऽन्नस्य वा हेतुम् (जयेम) ॥

५—(प्र प्र) अतिप्रकर्षेण (इन्द्रस्य) महाप्रतापिनो वीरस्य (वोचम्) कथयानि (प्रथमा) प्रथमानि । पुरातनानि (कृतानि) कर्माणि (नूतना) नूतनानि । नवीनानि (मघवा) धनवान् (या) यानि कर्माणि (चकार) कृतवान् (यदा) (इत्) एव (अदेवीः) विदुषां विरुद्धाः । आसुरीः (असहिष्ट) अभ्यभूत् (मायाः) छलकपटक्रियाः (अथ) अनन्तरमेव (अभवत्) (केवलः) सेवनीयः (सोमः) अमृतरसः । मोक्षानन्दः (अस्य) वीरस्य ॥

तव॑ । इदम् । विश्व॑म् । अभितः॑ । पुशुव्य॑म् । यत् । पश्य॑सि । चक्ष॑सा । सूर्य॑स्य ॥ गवा॑म् । असि । गो-प॑तिः । एकः॑ । इन्द्र । भक्षीमहि । ते । प्र-य॑तस्य । वस्वः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी मनुष्य] (इदम्) यह (विश्वम्) सब (पशव्यम्) पशुओं [दोपाये और चौपाये जीवों] के लिये हित कर्म (तव) तेरा है, (यत्) जिस को (सूर्यस्य) सूर्य की (चक्षसा) दृष्टि से (अभितः) सब ओर को (पश्यसि) तू देखता है । (एकः) अकेला तू (गवाम्) विद्वानों की (गोपतिः) विद्याओं का रक्षक (असि) है, (ते) तेरे (प्रयतस्य) उत्तम नियम वाले (वस्वः) धन का (भक्षीमहि) हम सेवन करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सूर्य के समान सब ओर को दूरदर्शी होकर सर्व हितकारी होता है, वही विद्या के प्रचार से विद्वानों को सुख देता है ॥ ६ ॥

बृह॑स्पते युवमिन्द्र॑श्च वस्वो॑ दिव्यस्ये॑शाथे उत पार्थि॑वस्य ।
धत्तं र॒यिं स्तु॑वते की॒रये॑ चिद्यूयं पा॑त स्वस्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥७॥

बृह॑स्पते । युवम् । इन्द्रः॑ । च । वस्वः॑ । दिव्यस्य॑ । ईशाथे इति॑ । उत । पार्थि॑वस्य ॥ धत्तम् । रयिम् । स्तुवते । कीरये॑ । चित् । यूयम् । पात । स्वस्ति-भिः॑ । सदा॑ । नः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक

६—(तव) (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) सर्वम् (अभितः) सर्वतः (पशव्यम्) पशुभ्यो द्विपच्चतुष्पद्भ्यो जीवेभ्यो हितं कर्म (यत्) (पश्यसि) निरीक्षसे (चक्षसा) दृष्ट्या (सूर्यस्य) प्रेरकस्यादित्यस्य (गवाम्) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । विदुषाम् (असि) (गोपतिः) गवां विद्यानां रक्षकः (एकः) अद्वितीयः (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (भक्षीमहि) अ० १४ । २ । ५ । भजेमहि, सेविषीमहि (ते) तव (प्रयतस्य) यम—क्त । प्रकृष्टनियमयुक्तस्य (वस्वः) वसुनः । धनस्य ॥

७—अयं मन्त्रो गतः—अ० २० । १७ । १२ ॥

विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य) आकाश के (उत) और (पार्थिवस्य) पृथिवी के (वस्वः) धन के (ईशाथे) स्वामी हो। (स्तुवते) स्तुति करते हुये (कीरये) विद्वान् को (रयिम्) धन (चित्) अवश्य (धत्तम्) तुम दोनों दो, [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों के साथ (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् मन्त्री और पराक्रमी राजा और सब शूर पुरुष आकाशस्थ वायु वृष्टि आदि, और पृथिवीस्थ अन्न सुवर्ण आदि का सुप्रबन्ध करके प्रजा की रक्षा करें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० २० । १७ । १२ और चौथे पाद के लिये देखो—अ० २० । ३७ । ११ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१—६ ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ १—३, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४ विराडार्षी त्रिष्टुप् ; ५ त्रिष्टुप् ॥

विद्वत्कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यस्तुस्तम्भु सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहुस्पतिस्त्रिषधुस्थो रवेण । तं प्रुत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ १ ॥

यः । तुस्तम्भ । सहसा । वि । ज्मः । अन्तान् । बृहुस्पतिः । त्रि-सुधुस्थः । रवेण ॥ तम् । प्रुत्नासः । ऋषयः । दीध्यानाः । पुरः । विप्राः । दुधिरे । मुन्द्र-जिह्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (त्रिषधस्थः) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान] के साथ स्थित (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्याओं के रक्षक पुरुष] ने

१—(यः) विद्वान् (तस्तम्भ) दृढीकृतवान् (सहसा) बलेन (वि) विविधम् (ज्मः) जमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन् । उ० १ । १५८ । जमु अदने गतौ च—कनिन्, अकारलोपः । डाबुभाभ्यामन्यत-

(सहसा) अपने बल से और (रवेण) उपदेश से (ज्मः) पृथिवी के (अन्तान्) अन्तों [सीमाओं] को (वि) विविध प्रकार (.तस्तम्भ) दृढ़ किया है। (तम्) उस (मन्द्रजिह्वम्) आनन्द देने वाली जिह्वा वाले विद्वान् को (प्रत्नासः) प्राचीन, (दीध्यानाः) प्रकाशमान [तेजस्वी], (विप्राः) बुद्धिमान् (ऋषयः) ऋषियों [वेदों के अर्थ जानने वालों] ने (पुरः) आगे (दधिरे) धरा है॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कर्म, उपासना, ज्ञान में तत्पर होकर पृथिवी भर को आनन्द देता है, ऋषि लोग उस सत्यवादी को मुखिया करते हैं॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—४ । ५० । १—६ ॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥

धुन-इतयः । सु-प्रकेतम् । मदन्तः । बृहस्पते । अभि । ये । नः । ततस्रे ॥ पृषन्तम् । सृप्रम् । अदब्धम् । ऊर्वम् । बृहस्पते । रक्षतात् । अस्य । योनिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्याओं के रक्षक] (ये) जिन (धुनेतयः) शीघ्र गति वाले, (सुप्रकेतम्) सुन्दर ज्ञान से (मदन्तः) प्रसन्न होते हुये [विद्वानों ने] (नः) हम को (अभि) सब ओर (ततस्रे)

स्याम् । पा० ४ । १ । १३ । इति डाप् । ज्मा पृथिवीनाम—निघ० १ । १—निरु० १२ । ४३ । आतो धातोः । पा०६ । ४ । १४० । इत्यत्र आत इति योगविभागादाकारलोपः । पृथिव्याः (अन्तान्) सीमाः । दिग्देशान् (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः पुरुषः (त्रिषधस्थः) त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः सह स्थितः (रवेण) उपदेशेन (तम्) (प्रत्नासः) प्राचीनाः (ऋषयः) वेदार्थवेत्तारः (दीध्यानाः) अ० २ । ३४ । ३ । दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानाः (पुरः) पुरस्तात् । अग्रे (विप्राः) मेधाविनः (दधिरे) धारितवन्तः (मन्द्रजिह्वम्) आनन्दप्रदजिह्वायुक्तम् ॥

२—(धुनेतयः) तृषिशुषिरसिभ्यः कित् । उ० ३ । १२ । धुञ् कम्पने नप्रत्ययः, कित् + इण् गतौ क्तिन् । शीघ्रगतयः (सुप्रकेतम्) यथा तथा । शोभनेन ज्ञानेन (मदन्तः) हृष्यन्तः (बृहस्पते) महतीनां विद्यानां रक्षक

फैलाया है [प्रसिद्ध किया है]। (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़े गुणों के स्वामी] (पृषन्तम्) सींचने वाले, (सृप्रम्) ज्ञान वाले, (अदब्धम्) नष्ट न किये हुये, (ऊर्वम्) दोषनाशक (अस्य) उन [विद्वानों] के (योनिम्) कारण [वेदशास्त्र] को (रक्षतात्) तू रक्षित रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस वेदज्ञान में महात्मा लोग मग्न होकर दूसरों को सुख पहुंचाते हैं, विद्वान् लोग उस वेद की रक्षा कर के अर्थात् आज्ञा में चलकर आनन्द पावें ॥ २ ॥

बृह॑स्पते॒ या प॑र॒मा प॑रा॒वदत॒ आ त॑ ऋत॒स्पृशो॒ नि षे॑दुः ।
तुभ्यं॑ खा॒ता अ॑व॒ता अद्रि॑दुग्धा॒ मध्व॑ श्चोतन्त्य॒भितो॑ वि॒र॒प्शम् ॥३॥

बृह॑स्पते । या । प॒र॒मा । प॒रा॒ऽवत् । अतः॑ । आ । ते॒ । ऋ॒त॒ऽस्पृशः॑ । नि । से॒दुः॒ ॥ तुभ्य॑म् । खा॒ताः । अ॒व॒ताः । अद्रि॑ऽदुग्धाः । मध्वः॑ । श्चो॒त॒न्ति॒ । अ॒भितः॑ । वि॒ऽर॒प्शम् ॥३॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्याओं के रक्षक] (या) जो (ते) तेरी (परमा) उत्तम नीति (परावत्) उत्तम विद्या वाले राज्य में है, [उस नीति में] (ऋतस्पृशः) सत्य* का स्पर्श करने वाले लोग (आ) सब ओर से (नि षेदुः) बैठे हैं, (अतः) इस लिये (अद्रिदुग्धाः)

(अभि) सर्वतः (ये) विद्वांसः (नः) अस्मान् (ततस्रे) अ० २० । ७२ । २ । विस्तारितवन्तः । प्रसिद्धान् कृतवन्तः (पृषन्तम्) सिञ्चन्तम् (सृप्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । सृप्लृ गतौ—रक् । ज्ञानवन्तम् (अदब्धम्) अहिंसितम् । अनाशितम् (ऊर्वम्) उर्वी हिंसायाम्—पचाद्यच् । दोषनाशकम् (बृहस्पते) बृहतां गुणानां स्वामिन् (रक्षतात्) रक्ष (अस्य) बहुवचनस्यैकवचनम् । एषां विदुषाम् (योनिम्) कारणं वेदशास्त्रम् ॥

३—(बृहस्पते) बृहतीनां विद्यानां रक्षक (या) (परमा) उत्कृष्टा नीतिः (परावत्) परावति । उत्कृष्टविद्यायुक्ते राज्ये (अतः) अस्मात् कारणात् (आ) समन्तात् (ते) तव (ऋतस्पृशः) सत्यस्य स्पर्शनशीलाः पुरुषाः (नि षेदुः) निषण्णा भवन्ति (द्रुरम्) (खाताः) निखाताः (अवताः

मेघ से भरे गये, (खाताः) खोदे गये, (मध्वः) मीठे [मीठे जल वाले] (अवताः) कुए (तुभ्यम्) तेरे लिये (विरप्शम्) महान् संसार को (अभितः) सब ओर से (श्चोतन्ति सींचते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—चतुर राजा की सुन्दर नीति से विद्वान् लोग संसार को इस प्रकार आनन्द पहुंचाते हैं, जैसे मेघ के जल कूप आदि द्वारा उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

बृह॒स्पति॑ः प्रथ॒मं जाय॑मानो म॒हो ज्योति॑षः पर॒मे व्यो॑मन् ।
स॒प्तास्य॑स्तुविजा॒तो रवे॑ण॒ वि स॒प्तर॑श्मिरधम॒त् तमां॑सि ॥ ४ ॥
बृह॒स्पति॑ः । प्र॒थ॒मम् । जाय॑मानः । म॒हः । ज्योति॑षः । प॒र॒मे । वि-ओ॑मन् ॥ स॒प्त-आ॑स्यः । तु॒वि॒-जा॒तः । रवे॑ण । वि । स॒प्त-र॑श्मिः । अ॒ध॒म॒त् । तमां॑सि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के रक्षक पुरुष] ने (महः) बड़े (ज्योतिषः) तेज के (परमे) उत्तम (व्योमन्) विविध प्रकार रक्षणीय स्थान में (प्रथमम्) पहिले पद पर (जायमानः) प्रकट होते हुये (तुविजातः) बहुत प्रसिद्ध होकर (रवेण) अपने उपदेश से (सप्तास्यः) सात मुख वाले अग्नि और (सप्तरश्मिः) सात किरणों वाले सूर्य के समान (तमांसि) अन्धकारों को (वि अधमत्) बाहिर हटाया है ॥ ४ ॥

भृमृदृशियजि० । उ० ३ । ११० । अव गतिरक्षणादिषु—अतच् । कूपाः—निघ० ३ । २३ (अद्रिदुग्धाः) मेघेन पूरिताः (मध्वः) मधवः । मधुरजलयुक्ताः (श्चोतन्ति) सिञ्चन्ति (अभितः) सर्वतः (विरप्शम्) महान्तं संसारम् ॥

४—(बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षक (प्रथमम्) प्रधाने पदे (जायमानः) प्रादुर्भवन् (महः) महतः (ज्योतिषः) प्रकाशस्य (परमे) उत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५ । १७ । ६ । विविधरक्षणीये स्थाने (सप्तास्यः) सप्त ज्वाला आस्यानि यस्य सः काली करालयादिजिह्वायुक्तोऽग्निर्यथा—मुण्डकोपनिषदि—१ । २ । ४ (तुविजातः) बहुप्रसिद्धः (रवेण) उपदेशेन (वि) बहिर्भावे (सप्तरश्मिः) शुक्लनीलपीतादिकिरणयुक्तः सूर्यो यथा (अधमत्) धमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अगमयत् (तमांसि) अन्धकारान् ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि सात प्रकार की ज्वालाओं से और सूर्य सात प्रकार की किरणों से अन्धकार हटाकर पदार्थों को दिखाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और आत्मा से विद्यायें ग्रहण करके अज्ञान हटाकर विद्या का प्रकाश करें ॥ ४ ॥

अग्नि के सात मुख वा जिह्वायें [अर्थात् ज्वालायें ये हैं—मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक १ खण्ड २ श्लोक ४ [काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥] काले वर्ण वाली, कराली, मन का सा वेग रखने वाली, रक्त वर्ण वाली, जो गहरे धुयें के वर्ण वाली है, चिनगारियों वाली और चमकती हुई झिलमिलाती हुई सब रूपों अर्थात् रंगों वाली, यह [अग्नि की] सात जिह्वायें हैं ॥

सूर्य की सात किरणें इस प्रकार हैं—शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्रवर्ण ॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥५॥

सः । सु-स्तुभा । सः । ऋक्वता । गणेन । वलम् । रुरोज । फलि-गम् । रवेण ॥ बृहस्पतिः । उस्रियाः । हव्य-सूदः । कनिक्रदत् । वावशतीः । उत् । आजत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सः सः) उसी ही [वीर पुरुष] ने (सुष्टुभा) बड़ी स्तुति वाले (ऋकता) पूजनीय वाणी वाले (गणेन) समुदाय के साथ (फलिगम्) फूट डालने वाले [वा मेघ के समान अंधकार के फैलाने वाले] (वलम्) हिंसक बैरी को (रवेण) शब्द [धर्म घोषणा]

५—(सः सः) स एव (सुष्टुभा) स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४—क्विप्। शोभनस्तुतिमता (ऋकता) ऋच स्तुतौ—क्विप्, मतुप्, मस्य वः। अयस्मयादीनि छन्दसि। पा० १। ४। २०। पदत्वात् कुत्वं भत्वाज् जश्त्वाभावः। ऋग् वाङ् नाम—निघ० १। ११। पूजनीयवाणीयुक्तेन (गणेन) समुदायेन (वलम्) हिंसकं शत्रुम् (रुरोज) बभञ्ज (फलिगम्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। ञि फला विशरणे—इन् + गमेर्डः, अन्तर्गतण्यर्थः।

(रुरोज) भङ्ग किया है। (हव्यसूदः) देने वा लेने योग्य पदार्थों की प्रतिज्ञा करने वाले, (कनिक्रदत्) बल से पुकारते हुये (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के रक्षक मनुष्य] ने (वावशतीः) अत्यन्त कामना करती हुयी (उस्रियाः) रहने वाली प्रजाओं को (उत् आजत्) ऊंचा किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् सभापति राजा अज्ञान फैलाने वाले शत्रुओं का नाश करके विद्या और धन की वृद्धि से प्रजा का पालन करे ॥ ५ ॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥

एव । पित्रे । विश्व-देवाय । वृष्णे । यज्ञैः । विधेम । नमसा । हविः-भि ॥ बृहस्पते । सु-प्रजाः । वीर-वन्तः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—(विश्वदेवाय) सबों से स्तुति योग्य, (वृष्णे) बलवान् (पित्रे) पिता [के समान पालन करने वाले पुरुष] को (एव) निश्चय करके (नमसा) अन्न के साथ (यज्ञैः) मेल मिलापों और (हविर्भिः) देने योग्य पदार्थों से (विधेम) हम सेवा करें । (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्याओं के रक्षक पुरुष] (सुप्रजाः) श्रेष्ठ प्रजाओं वाले और (वीरवन्तः)

फलिगो मेघनाम—निघ० १ । १० । भेदस्य प्रापकम् । मेघमिवान्धकारस्य प्रसारकम् (रवेण) शब्देन । धर्मघोषणया (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षकः (उस्रियाः) अ० २० । १६ । ६ । निवासशीलाः प्रजाः (हव्यसूदः) षूद क्षरणे, अङ्गीकारे, प्रतिज्ञायां मारणे च—अच् । हव्यानां दानव्यग्राह्यपदार्थानां प्रतिज्ञाकरः (कनिक्रदत्) अ० २ । ३० । ५ । भृशमाह्वयन्तम् (वावशतीः) वश कान्तौ यङ्लुकि—शतृ; ङीप् । भृशं कामयमानाः (उत्) उपरिभागे (आजत्) अ० २० । १६ । ५ । अगमयत् ॥

६—(एव) निश्चयेन (पित्रे) पितृवत्पालकाय (विश्वदेवाय) सर्वेषां स्तुत्याय (वृष्णे) बलवते (यज्ञैः) संगतिकरणैः (विधेम) परिचरेम (नमसा) अन्नेन सह (हविर्भिः) दातव्यपदार्थैः (बृहस्पते) बृहतीनां विद्यानां रक्षक (सुप्रजाः) श्रेष्ठप्रजावन्तः (वीरवन्तः) वीरपुरुषयुक्ताः (वयम्)

वीर पुरुषों वाले होकर (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रजागण प्रजा पालक नीतिज्ञ सभापति राजा का यथावत् आदर करके धनी और बलवान् होवें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ८९ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३, ७, ८, ११ त्रिष्टुप्; २, ५ निचृत् त्रिष्टुप्; ४, ६ विराट् त्रिष्टुप्; ९ भुरिक् त्रिष्टुप्; १० निचृदार्षी त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम् ॥ १ ॥

अस्ताऽइव । सु । प्रऽतरम् । लायम् । अस्यन् । भूषन्ऽइव । प्र । भर । स्तोमम् । अस्मै ॥ वाचा । विप्राः । तरत । वाचम् । अर्यः । नि । रमय । जरितः । सोमे । इन्द्रम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जरितः) हे स्तोता विद्वान् ! (प्रतरम्) अधिक उत्तम (लायम्) हृदयवेधी तीर को (सु) अच्छे प्रकार (अस्यन्) छोड़ते हुये (अस्ता इव) धनुर्धारी के समान तू (अस्मै) इस [शूर] के लिये (स्तोमम्) स्तुति को (भूषन् इव) सजाता हुआ जैसे (प्र भर) आगे धर, और (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] को (सोमे) तत्त्व रस में (नि) निरन्तर (रमय) आनन्द दे, (विप्राः) हे बुद्धिमानो ! (वाचा) [अपनी सत्य] वाणी से (अर्यः)

(स्याम) (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) अनेकधनानाम्) ॥

१—(अस्ता) बाणक्षेप्ता । धानुष्कः (इव) यथा (सु) सुष्ठु (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (लायम्) लीङ् श्लेषणे—घञ् । संश्लेषिणं हृदयवेधिनं शरम् (अस्यन्) क्षिपन् (भूषन्) अलंकुर्वन् (इव) यथा (प्र भर) अग्रे धर (स्तोमम्) स्तुतिम् (अस्मै) इन्द्राय (वाचा) स्वसत्यवाण्या (विप्राः) हे मेधाविनः (तरत) अभिभवत (वाचम्) मिथ्यावाणीम् (अर्यः) अरेः शत्रोः (नि) नितराम् (रमय) आनन्दय (जरितः) हे स्तोतः (सोमे) तत्त्वरसे

वैरी की (वाचम्) [असत्य] वाणी को (तरत) तुम दबाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम धनुर्धारी प्रेम से कार्य सिद्धि के लिये अपने अच्छे बाण को छोड़ता है, वैसे ही विद्वान् लोग पृथक् पृथक् होकर तथा सब मिलकर प्रीति के साथ प्रतापी वीर के उत्तम गुणों को जानकर तत्त्व की ओर प्रवृत करें और मिथ्यावादी वैरी को हराकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ४२ । १—११ ॥

दोहे॑न॒ गामुप॑ शिक्षा॒ सखा॑यं॒ प्र बो॑धय जरितर्जा॒रमिन्द्र॑म् ।
कोशं॒ न पू॒र्णं वसु॑ना॒ न्यृ॑ष्ट॒मा च्या॑वय मघ॒देया॑य॒ शूर॑म् ॥२॥

दोहे॑न । गाम् । उप॑ । शि॒क्ष॒ । सखा॑यम् । प्र । बो॒ध॒य॒ । ज॒रि॒त॒रिति॑ । जा॒रम् । इन्द्र॑म् ॥ कोश॑म् । न । पू॒र्णम् । वसु॑ना । नि-ऋ॑ष्टम् । आ । च्य॒व॒य॒ । म॒घ॒-देया॑य । शूर॑म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जरितः) हे स्तुति करने वाले विद्वान् ! (दोहेन) दूध दोहने के लिये (गाम्) गाय को [जैसे, वैसे] (जारम्) स्तुति योग्य (सखायम्) मित्र (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े प्रतापी पुरुष] को (उप शिक्ष) तू ग्रहण कर और (प्र) अच्छे प्रकार (बोधय) जगा (वसुना) धन से (पूर्णम्) भरे हुये (कोशं न) कोश [धनागार] के समान (न्यृष्टम्) निश्चय को प्राप्त हुये (शूरम्) शूर को (मघदेयाय) पूजनीय पदार्थ के दान के लिये (आ च्यवय) आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अन्न आदि देकर प्रीति के साथ गाय से दूध लेते हैं, वैसे

(इन्द्रम्) महाप्रतापिनं मनुष्यम् ॥

२—(दोहेन) दुग्धदोहनार्थम् (गाम्) धेनुम् (उप शिक्ष) शिक्षतिर्दानकर्मा—निघ० ३ । २० । उप पूर्वक आदाने । गृहाण (सखायम्) प्रियम् (प्र बोधय) प्रबुद्धं जागृतं कुरु (जरितः) हे स्तोतः (जारम्) जॄ स्तुतौ—घञ्, अर्शआद्यच् । स्तुतियोग्यम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं पुरुषम् (कोशम्) धनागारम् (न) यथा (पूर्णम्) पूरितम् (वसुना) धनेन (न्यृष्टम्) ऋषी गतौ—क्त । निश्चयगतम् (आ) अभिमुखम् (च्यवय) गमय (मघदेयाय) पूजनीयपदार्थस्य दानाय (शूरम्) वीरम् ॥

मनुष्य आदर सत्कार के साथ कर्मवीर पुरुष से पूजनीय व्यवहार की शिक्षा ग्रहण करें ॥ २ ॥

किमुङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि । अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ ३ ॥

किम् । अङ्ग । त्वा । मघ-वन् । भोजम् । आहुः । शिशीहि । मा । शिशयम् । त्वा । शृणोमि ॥ अप्नस्वती । मम । धीः । अस्तु । शक्र । वसु-विदम् । भगम् । इन्द्र । आ । भर । नः ॥ ३

भाषार्थ—(अङ्ग) हे (मघवन्) धन वाले [पुरुष !] (किम्) किस लिये (त्वा) तुझ को (भोजम्) पालन करने वाला (आहुः) वे [विद्वान्] कहते हैं ? (मा) मुझ को (शिशीहि) सचेत कर, (त्वा) तुझ को (शिशयम्) उद्योगी (शृणोमि) मैं सुनता हूं । (शक्र) हे शक्तिमान् ! (मम) मेरी (धीः) बुद्धि (अप्नस्वती) कर्म वाली (अस्तु) होवे, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (नः) हमारे लिये (वसुविदम्) धन पहुंचाने वाला (भगम्) ऐश्वर्य (आ) सब ओर से (भर) भर ॥ ३ ॥

भावार्थ—कीर्तिमान् प्रधान पुरुष ऐसा प्रयत्न करे कि सब लोग बुद्धिमान् होकर कर्मवीर होवें ॥ ३ ॥

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके । अत्रा

३—(किम्) किमर्थम् (अङ्ग) सम्बोधने (त्वा) त्वाम् (मघवन्) धनवन् (भोजम्) पालकम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (शिशीहि) अ० २० । ३७ । ८ । तीक्ष्णीकुरु । सचेतसं कुरु (मा) माम् (शिशयम्) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ६६ । शश प्लुतगतौ—कयन्, अकारस्य इकारः । उद्योगिनम् (त्वा) (शृणोमि) (अप्नस्वती) कर्मवती (मम) (धीः) प्रज्ञा (अस्तु) (शक्र) हे शक्तिमन् (वसुविदम्) धनस्य लम्भकम् (भगम्) ऐश्वर्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (आ) समन्तात् (भर) भर (नः) अस्मभ्यम् ॥

युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥ ४ ॥

त्वाम् । जनाः । मम-सत्येषु । इन्द्र । सम्-तस्थानाः । वि । ह्वयन्ते । सम्-ईके ॥ अत्र । युजम् । कृणुते । यः । हविष्मान् । न । असुन्वत । सख्यम् । वष्टि । शूरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ममसत्येषु) अपने अपने उद्देश्य को सत्य मानने वाले सङ्ग्रामों के बीच (समीके) भिड़ के (संतस्थानाः) सजकर खड़े हुये (जनाः) लोग (त्वाम्) तुझ को (वि) विविधप्रकार (ह्वयन्ते) पुकारते हैं । (अत्र) यहां पर (शूरः) शूर पुरुष [उस मनुष्य को] (युजम्) साथी (कृणुते) बनाता है, (यः) जो (हविष्मान्) भक्ति वाला है, और (असुन्वता) तत्त्व रस के न निकालने वाले के साथ (सख्यम्) मित्रता (न) नहीं (वष्टि) चाहता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जहां पर दो पक्ष वाले आपस में अपने अपने उद्देश्य के लिये लड़ते हों, बुद्धिमान् पुरुष मध्यस्थ होकर धर्म्मात्मा का सहाय करे ॥ ४ ॥

पदपाठ के (असुन्वत) पद में भूल दीखती है, ऋग्वेद का (असुन्वता) पद पाठ संहिता के अनुकूल है, उसी के अनुसार हमने अर्थ किया है ॥

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् । तस्मै शत्रून्त्सुतुकान् प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान् युवति

४—(त्वाम्) (जनाः) (ममसत्येषु) ममप्रयोजनं सत्यम्—इति ब्रुवाणा योद्धारः सन्ति यत्र । ममसत्यं संग्राम नाम—निघ० २ । १७ । सङ्ग्रामेषु (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (संतस्थानाः) तिष्ठतेः—कानच् । सम्यक् तिष्ठन्तः (वि) विविधम् (ह्वयन्ते) आह्वयन्ति (समीके) अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । सम्+इण गतौ—ईकच् । आद्गुणः । सङ्गमे । संग्रामे—निघ० २ । १७ (अत्र) अस्मिन् विषये (युजम्) सखायम् (कृणुते) कुरुते (यः) पुरुषः (हविष्मान्) भक्तिमान् (न) निषेधे (असुन्वत) असुन्वता—ऋग्वेदपदपाठो यथा । तत्त्वरसं निष्पादयता (सख्यम्) सखित्वम् (वष्टि) कामयते (शूरः) निर्भयः ॥

हन्ति वृत्रम् ॥ ५ ॥

धनंम् । न । स्पन्द्रम् । बहुलम् । यः । अस्मै । तीव्रान् । सोमान् । आ-सुनोति । प्रयस्वान् ॥ तस्मै । शत्रून् । सु-तुकान् । प्रातः । अह्नः । नि । सु-अष्ट्रान् । युवति । हन्ति । वृत्रम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रयस्वान्) अन्न वाला पुरुष (अस्मै) इस [वीर] को (बहुलम्) बहुत से (स्पन्द्रम्) शीघ्र प्राप्त होने वाले (धनम् न) धन के समान (तीव्रान्) तीव्र (सोमान्) सोम [तत्त्व रसों] को (आसुनोति) सिद्ध करता है। (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (सुतुकान्) बड़े हिंसक, (स्वष्ट्रान्) तीक्ष्ण शस्त्रों वाले (शत्रून्) वैरियों को (अह्नः) दिन के (प्रातः) प्रातः काल में [अर्थात् प्रकाश रूप से] (नि युवति) वह [वीर] हटा देता है और (वृत्रम्) धन को (हन्ति) प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजागण धन, मन और विद्याबल से प्रधान पुरुष की सहायता करें, वह वीर भी उसी प्रकार दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ॥ ५ ॥

यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे । आराच्चित् सन् भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् ॥ ६ ॥

५—(धनम्) (न) यथा (स्पन्द्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । स्पदि किञ्चिच्चलने गतौ च—रक् । स्पन्दनशीलम् । शीघ्रं प्रापणीयम् (बहुलम्) प्रभूतम् (यः) पुरुषः (अस्मै) वीराय (तीव्रान्) (सोमान्) तत्त्वरसान् (आसुनोति) निष्पादयति । संस्करोति (प्रयस्वान्) अन्नवान्—निघ० २ । ७ (तस्मै) पुरुषाय (शत्रून्) (सुतुकान्) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । तु गतिवृद्धिहिंसासु—कक् । बहुहिंसकान् (प्रातः) प्रभातकाले यथा (अह्नः) दिनस्य (नि) नितराम् (स्वष्ट्रान्) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । अशू व्याप्तौ—क्त्र, टाप् । सुष्ठु अष्ट्रास्ताडन्यो येषां तान् । तीक्ष्णायुधान् (युवति) पृथक् करोति (हन्ति) गच्छति—निघ० २ । १४ । प्राप्नोति (वृत्रम्) धनम्—निघ० २ । १० ॥

यस्मिन् । वयम् । दधिम । शंसम् । इन्द्रे । यः । शिश्राय । मघ-वा । कामम् । अस्मे इति ॥ आरात् । चित् । सन् । भयताम् । अस्य । शत्रुः । नि । अस्मै । द्युम्ना । जन्या । नमन्ताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस (इन्द्रे) इन्द्र [बड़े प्रतापी वीर] में (शंसम्) अपनी इच्छा को (वयम्) हम ने (दधिम) रक्खा था और (यः) जिस (मघवा) धनवान् ने (अस्मे) हम में (कामम्) अपनी कामना को (शिश्राय) आश्रय दिया था । (आरात्) दूर (चित्) भी (सन्) रहता हुआ (शत्रुः) शत्रु (अस्य) उस का (भयताम्) भय माने, और (अस्मै) उस के लिये (जन्या) लोगों के हितकारी (द्युम्नानि) प्रकाशमान यश (नि) नित्य (नमन्ताम्) नमते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जहां पर प्रजागण और प्रधान वीर पुरुष परस्पर हित के लिये प्रयत्न करते हैं, वहां पर शत्रु लोग दुराचार नहीं करते, और सब लोग उन्नति करके यशस्वी होते हैं ॥ ६ ॥

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन । अस्मे धेहि यवमद् गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥ ७ ॥

आरात् । शत्रुम् । अप । बाधस्व । दूरम् । उग्रः । यः ।

६—(यस्मिन्) (वयम्) प्रजागणाः (दधिम) धृतवन्तः (शंसम्) शंसि इच्छायाम्—घञ् । आशंसाम् । आकाङ्क्षाम् (इन्द्रे) परमप्रतापिनि वीरे (यः) (शिश्राय) आश्रितवान् । स्थापितवान् (मघवा) धनवान् (कामम्) अभिलाषम् (अस्मे) अस्मासु (आरात्) दूरे (चित्) अपि (सन्) भवन् (भयताम्) बिभेतु । भयं प्राप्नोतु (अस्य) वीरस्य (शत्रुः) (नि) नितराम् (अस्मै) वीराय (द्युम्ना) द्योतमानानि यशांसि (जन्या) जनहितानि (नमन्ताम्) प्रह्वीभवन्तु ॥

शम्बः । पुरु-हूत । तेन ॥ अस्मे इति । धेहि । यव-मत् । गो-मत् । इन्द्र । कृधि । धियम् । जरित्रे । वाज-रत्नाम् ॥ ७

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये ! [वीर] (यः) जो (शम्बः) तेरा वज्र (उग्रः) प्रचण्ड है, (तेन) उस से (शत्रुम्) शत्रु को (आरात्) दूर से (दूरम्) दूर (अप बाधस्व) हटा दे। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े प्रतापी वीर] (अस्मे) हम को (यवमत्) अन्न वाला (गोमत्) विद्याओं और गौओं वाला धन (धेहि) दे और (जरित्रे) स्तोता [गुण प्रसिद्ध करने वाले] के लिये (धियम्) बुद्धि को (वाजरत्नाम्) बलों और सुवर्ण आदि रत्नों वाली (कृधि) कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—वीर प्रधान पुरुष अपने प्रचण्ड दण्डदान से शत्रुओं को हटाकर प्रजागणों को विद्या द्वारा पराक्रमी और धनाढ्य बनावे ॥ ७ ॥

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन् तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम् । नाह दामानं मघवा नि यंसन् नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥ ८ ॥

प्र । यम् । अन्तः । वृष-सवासः । अग्मन् । तीव्राः । सोमाः । बहुल-अन्तासः । इन्द्रम् ॥ न । अह । दामानम् । मघ-वा । नि । यंसत् । नि । सुन्वते । वहति । भूरि । वामम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े प्रतापी मनुष्य] को

७—(आरात्) दूरात् (शत्रुम्) (अप बाधस्व) अपगमय (दूरम्) (उग्रः) प्रचण्डः (यः) (शम्बः) अ० ६। २। ६। शम्ब इति वज्रनाम, शमयतेर्वा शातयतेर्वा—निरु० ५। २४। वज्रः (पुरुहूत) हे बहुविधाहूत (तेन) वज्रेण (अस्मे) अस्मभ्यम् (धेहि) देहि (यवमत्) अन्नयुक्तम् (गोमत्) गोभिर्विद्याभिर्धेनुभिश्च युक्तं धनम् (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् वीर (कृधि) कुरु (धियम्) प्रज्ञाम् (जरित्रे) स्तोत्रे (वाजरत्नाम्) वाजैर्बलैः सुवर्णादिरत्नैश्च युक्ताम् ॥

८—(प्र) प्रकर्षेण (यम) (अन्तः) मध्ये । हृदये (वृषसवासः)

(वृषसवासः) बलवानों को ऐश्वर्य देने वाले, (तीव्राः) तीक्ष्ण स्वभाव वाले और (बहुलान्तासः) बहुत ज्ञान को अन्त [सिद्धान्त] में रखने वाले (सोमाः) सोम [तत्त्वरस] (अन्तः) भीतर [हृदय में] (प्र अग्मन्) प्राप्त हो गये हैं। (मघवा) वह धनवान् पुरुष (अह) निश्चय करके (दामानम्) दान को (न) नहीं (नि यंसत्) रोक सकता है वह (सुन्वते) तत्त्व रस निचोड़ने वाले को (भूरि) बहुत (वामम्) उत्तम धन (नि) नित्य (वहति) पहुंचाता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निश्चित सिद्धान्तों पर दृढ़ होकर चले, उस वीर से दूसरे विद्वान् शिक्षा लेकर बहुत धन प्राप्त करें ॥ ८ ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले। यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ९

उत । प्र-हाम् । अति-दीवा । जयति । कृतम्-इव । श्व-घ्नी । वि । चिनोति । काले ॥ यः । देव-कामः । न । धनम् । रुणद्धि । सम् । इत् । तम् । रायः । सृजति । स्वधाभिः ॥९॥

भाषार्थ—(उत) और (अतिदीवा) बड़ा व्यवहार कुशल पुरुष (प्रहाम्) उपद्रवी पुरुष को (जयति) जीत लेता है, (श्वघ्नी) धन नाश करने वाला ज्वारी (काले) [हार के] समय पर (इव) ही (कृतम्) अपने काम का (वि चिनोति) विवेक करता है। (यः) जो (देवकामः) शुभ गुणों का चाहने वाला (धनम्) धन को [शुभ काम में] (न) नहीं (रुणद्धि) रोकता है, (रायः) अनेक धन (तम्) उसको (इत्) ही (स्वधाभिः) आत्म

वृषभ्यो बलवद्भ्यः सवाः ऐश्वर्याणि येभ्यः सकाशात् ते तथाभूताः (अग्मन्) प्राप्तवन्तः (तीव्राः) तीक्ष्णाः (सोमाः) तत्त्वरसाः (बहुलान्तासः) बहुलं बहुज्ञानम् अन्ते सिद्धान्ते येषां ते (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं पुरुषम् (न) निषेधे (अह) एव (दामानम्) ददातेः—मनिन्। दानम् (मघवा) धनवान् (नि) (यंसत्) यमु उपरमे—लेट्। उपरतं निरुद्धं कुर्यात् (नि) नित्यम् (सुन्वते) तत्त्वं निष्पादयते पुरुषाय (वहति) प्रापयति (भूरि) प्रभूतम् (वामम्) वननीयं धनम् ॥

मन्त्रौ ९, १० व्याख्यातौ–अ० ७। ५०। ६, ७॥

धारण शक्तियों के साथ (सम् सृजति) मिलते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्रतापी पुरुष दुष्ट को जीतकर उसे उसके दोष का निश्चय करा देता है, शुभ गुण चाहने वाला उदारचित्त मनुष्य अनेक धन और आत्म-बल पाता है ॥ ९ ॥

मन्त्र ९, १० आ चुके हैं—अ० ७ । ५० । ६ । ७ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे ।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ १० ॥

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुः-एवाम् । यवेन । वा । क्षुधम् । पुरु-हूत । विश्वे ॥ वयम् । राज-सु । प्रथमाः । धनानि । अरिष्टासः । वृजनीभिः । जयेम ॥ १० ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत बुलाये गये राजन् ! (विश्वे) हम सब लोग (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्मति वाली (अमतिम्) कुमति को (तरेम) हटावें, (वा) जैसे (यवेन) जौ आदि अन्न से (क्षुधम्) भूख को । (वयम्) हम लोग (राजसु) राजाओं के बीच (प्रथमाः) पहिले और (अरिष्टासः) अजेय होकर (वृजनीभिः) अनेक वर्जन शक्तियों से (धनानि) अनेक धनों को (जयेम) जीतें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा कुमति हटाकर प्रशंसनीय गुण प्राप्त करके अनेक धन प्राप्त करें ॥ १० ॥

मन्त्र १० कुछ भेद से और मन्त्र ११ आ चुके हैं—अ० २० । १७ । १०,११ और आगे हैं—अ० २० । ९४ । १०,११ । मन्त्र १० की टिप्पणी देखो ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः । इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ ११ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्-तरस्मात् । अधरात् । अघ-योः ॥ इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखि-भ्यः । वरीयः । कृणोतु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े शूरों का रक्षक सेनापति] (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से, (उत्तरस्मात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतने वाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र [वह बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरीयः) विस्तीर्ण स्थान (कृणोतु) करे, (सखा) जैसे मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥११॥

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७। ५१। १। मन्त्र १०, ११ की टिप्पणी भी ऊपर देखो ॥

सूक्तम् ८० ॥

१—२ ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षण का उपदेश ॥

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्। द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ १ ॥

यः। अद्रि-भित्। प्रथम-जाः। ऋत-वा। बृहस्पतिः। आङ्गिरसः। हविष्मान् ॥ द्विबर्ह-ज्मा। प्राघर्म-सत्। पिता। नः। आ। रोदसी इति। वृषभः। रोरवीति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अद्रिभित्) पहाड़ों को तोड़ने वाला, (प्रथमजाः) मुख्य पद पर प्रकट होने वाला, (ऋतवा) सत्यवान्, (आङ्गिरसः) विद्वान् पुरुष का पुत्र (हविष्मान्) देने लेने योग्य पदार्थों वाला (बृहस्पतिः)

११—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७। ५१। १ ॥

१—(यः) (अद्रिभित्) शैलानां छेत्ता (प्रथमजाः) मुख्यपदे प्रादुर्भूतः (ऋतवा) ऋत—मत्वर्थे वनिप्। सत्यवान् (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षको राजा (आङ्गिरसः) अङ्गिरसो विदुषः पुरुषस्य पुत्रः (हविष्मान्)

बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक राजा] है, वह (द्विबर्हज्मा) दोनों [विद्या और पुरुषार्थ] से प्रधानता पाने वाला, (प्राघर्मसत्) अच्छे प्रकार सब ओर से प्रताप का सेवन करने वाला (नः) हमारा (पिता) पालने वाला है, [जैसे] (वृषभः) जल बरसाने वाला मेघ (रोदसी) आकाश और पृथिवी में (आ) व्यापकर (रोरवीति) बल से गरजता है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि पहाड़ आदि कठिन स्थानों में मार्ग करके प्रजा का पालन करे, जैसे मेघ गर्जन के साथ वृष्टि करके संसार का उपकार करता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—६ । ७३ । १—३ । चौथा पाद आचुका है—अ० १८ । ३ । ६१ ॥

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार । घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूँरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२

जनाय । चित् । यः । ईवते । ऊं इति । लोकम् । बृहस्पतिः । देव-हूतौ । चकार ॥ घ्नन् । वृत्राणि । वि । पुरः । दर्दरीति । जयन् । शत्रून् । अमित्रान् । पृत्-सु । सहन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के

दातव्यग्राह्यपदार्थयुक्तः (द्विबर्हज्मा) बर्ह प्राधान्ये—घञ् । जमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० १ । १५६ । जमु गतौ—कनिन्, अकारलोपः । द्वाभ्यां विद्यापुरुषार्थाभ्यां बर्हं प्राधान्यं जमति प्राप्नोति यः सः (प्राघर्मसत्) प्र+आ+घर्म+षण सम्भक्तौ-क्विप् । गमादीनामिति वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । ४ । ४० । अनुनासिकलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । तुगागमः । प्रकर्षेण समन्तात् प्रतापस्य सेवनकर्ता (पिता) पालकः) (नः) अस्माकम् (आ) व्याप्य (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (वृषभः) वर्षिताऽपाम्—निरु० ४ । ८ । मेघः (रोरवीति) भृशं रौति । अभिगर्जति ॥

२—(जनाय) (चित) अवश्यम् (यः) (ईवते) गतिमते (उ) एव

रक्षक राजा] ने (चित् उ) अवश्य ही (ईवते) गतिमान् (जनाय) मनुष्य के लिये (देवहूतौ) विद्वानों के बुलावे में (लोकम्) दर्शनीय स्थान (चकार) किया है। वह (वृत्राणि) धनों को (घ्नन्) पाता हुआ और (अमित्रान्) सताने वाले (शत्रून्) वैरियों को (पृत्सु) सङ्ग्रामों में (जयन्) जीतता हुआ और (सहन्) हराता हुआ (पुरः) [उनके] दुर्गों को (वि दर्दरीति) तोड़ डालता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो वीर राजा विद्वान् उद्योगी जनों का आदर करता है, वह धनवान् होकर और शत्रुओं को जीतकर प्रजा को पालता है ॥ २ ॥

बृह॒स्पति॒: सम॑जय॒द् वसू॑नि म॒हो व्र॒जान् गोम॑तो दे॒व ए॒षः ।
अ॒पः सिषा॑स॒न्त्स्व१॒रप्र॑तीतो बृह॒स्पति॒र्हन्त्य॒मित्र॑म॒र्कैः ॥ ३ ॥

बृह॒स्पति॑: । सम् । अ॒ज॒य॒त् । वसू॑नि । म॒हः । व्र॒जान् । गो-म॑तः । दे॒वः । ए॒षः ॥ अ॒पः । सिसा॑सन् । स्व१॒: । अप्र॑ति-इतः । बृह॒स्पति॑: । हन्ति॑ । अ॒मित्र॑म् । अ॒र्कैः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवः) विजय चाहने वाले (एषः) इस (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के रक्षक पुरुष] ने (वसूनि) धनों को और (महः) बड़े, (गोमतः) विद्याओं से युक्त (व्रजान्) मार्गों को (सम् अजयत्) जीत लिया है, (अपः) कर्म और (स्वः) सुख को (सिसासन्) पूरे करने की

(लोकम्) दर्शनीयं स्थानम् (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः (देवहूतौ) देवानामाह्वाने (चकार) कृतवान् (घ्नन्) गच्छन् । प्राप्नुवन् (वृत्राणि) धनानि (वि) विशेषेण (पुरः) शत्रूणां नगराणि । दुर्गाणि (दर्दरीति) भृशं विदृणाति (जयन्) (शत्रून्) (अमित्रान्) अम पीडने—इत्रन् । पीडकान् (पृत्सु) पृतनासु । संग्रामेषु (सहन्) अभिभवन्॥

३—(बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षको राजा (सम्) सम्यक् (अजयत्) जयेन प्राप्तवान् (वसूनि) धनानि (महः) महतः । विशालान् (व्रजान्) मार्गान् (गोमतः) विद्यायुक्तान् (देवः) विजिगीषुः (एषः) प्रत्यक्षः (अपः) कर्म (सिसासन्) षो अन्तकर्मणि—सनि, शतृ । समाप्तिं

इच्छा करता हुआ, (अप्रतीतः) बे रोक (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक राजा] (अर्कैः) वज्रों [शस्त्रों] से (अमित्रम्) सताने वाले को (हन्ति) नाश करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो विजय चाहने वाला पुरुष धन और विद्याओं को बढ़ा लेता है, वह अपने सुकर्म से दुष्टों को हराकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१—१२ ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ १ विराट् त्रिष्टुप्; २—७, ११ निचृत् त्रिष्टुप्; ८—१०, १२ त्रिष्टुप् ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों के उपदेश ॥

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्। तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥ १ ॥

इमाम् । धियम् । सप्त-शीर्ष्णीम् । पिता । नः । ऋत-प्रजाताम् । बृहतीम् । अविन्दत् ॥ तुरीयम् । स्वित् । जनयत् । विश्व-जन्यः । अयास्यः । उक्थम् । इन्द्राय । शंसन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (पिता) पिता [मनुष्य] ने (ऋतप्रजाताम्) सत्य [अविनाशी परमात्मा] से उत्पन्न हुई (सप्तशीर्ष्णीम्) [दो कान, दो नथने, दो आखें, और एक मुख—अ० १० । २ । ६] सात गोलकों में शिर [आश्रय]

कर्तुमिच्छन् (स्वः) सुखम् (अप्रतीतः) अप्रतिगतः (बृहस्पतिः) (हन्ति) नाशयति (अमित्रम्) पीडकं पुरुषम् (अर्कैः) अर्को वज्रनाम—निघ० २ । २० । वज्रैः । शस्त्रैः ॥

१—(इमाम्) प्रत्यक्षाम् (धियम्) प्रज्ञाम् (सप्तशीर्ष्णीम्) शीर्षंश्छन्दसि । पा० । ६ । १ । ६० । शीर्षन्निति शब्दान्तरं शिरःशब्देन समानार्थम्, ङीप । कर्णौ नासिके चक्षुणी मुखम्—अ० १० । २ । ६ । इति सप्तसु छिद्रेषु

रखने वाली; (इमाम्) इस (बृहतीम्) बड़ी (धियम्) बुद्धि को (अविन्दत्) पाया है। और (विश्वजन्यः) उस सब मनुष्यों के हितकारी (अयास्यः) शुभ कर्मों में स्थिति रखने वाले मनुष्य ने (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] की (स्वित्) ही (शंसन्) स्तुति करते हुये (तुरीयम्) बल युक्त (उक्थम्) वचन को (जनयत्) प्रकट किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा की जिस सत्य वेदवाणी को पूर्वज लोग परम्परा से परीक्षा करके ग्रहण करते आये हैं, विद्वान् लोग उसी वेदवाणी पर चलकर परमेश्वर की स्तुति करते हुये अपने आत्मा को बढ़ावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ६७ । १—१२ ॥

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

ऋतम् । शंसन्तः । ऋजु । दीध्यानाः । दिवः । पुत्रासः । असुरस्य । वीराः ॥ विप्रम् । पदम् । अङ्गिरसः । दधानाः । यज्ञस्य । धाम । प्रथमम् । मनन्त ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋतम्) सत्य ज्ञान की (शंसन्तः) स्तुति करते हुये, (ऋजु) ठीक ठीक (दीध्यानाः) ध्यान करते हुये, (दिवः) विजय चाहने वाले (असुरस्य) बुद्धिमान् पुरुष के (वीराः) वीर (पुत्रासः) पुत्र (विप्रम्)

शिर आश्रयो यस्यास्ताम् (पिता)जनकः (नः)अस्माकम् (ऋतप्रजाताम्) सत्यात् परमेश्वरात् प्रादुर्भूताम् (बृहतीम्) महतीम् (अविन्दत्) लब्धवान् (तुरीयम्) तुर वेगे—क । घच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । तुर-छप्रत्ययः, तत्र भव इत्यर्थे । बलयुक्तम् (स्वित्) अवधारणे (जनयत्) अजनयत् । प्रकटीकृतवान् (विश्वजन्यः) सर्वजनहितः पुरुषः (अयास्यः) इण् गतौ—अच् + आस उपवेशने-क्यप्, टाप् । अयेषु शुभकर्मसु आस्या स्थितिर्यस्य सः (उक्थम्) वचनम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (शंसन्) स्तुतिं कुर्वन् ॥

२—(ऋतम्) सत्यज्ञानम् (शंसन्तः) स्तुवन्तः (ऋजु) सरलम् । यथार्थम् (दीध्यानाः) ध्यै चिन्तायाम्—कानच् । तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । ध्यायन्तः(दिवः) विजिगीषोः (पुत्रासः) पुत्राः

विविध प्रकार पूर्ण (पदम्) पद [पाने योग्य वस्तु] को (दधानाः) धारण करते हुये (अङ्गिरसः) ज्ञानी ऋषियों ने (यज्ञस्य) पूजनीय व्यवहार के (प्रथमम्) मुख्य (धाम) स्थान [परब्रह्म] को (मनन्त) पूजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—सत्यग्राही ऋषि महात्मा लोग माता पिता आदि विद्वानों से उत्तम शिक्षा पाकर परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान में लवलीन होकर आत्मा की उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥३॥

हंसैः-इव । सखि-भिः । वावदत्-भिः । अश्मन्-मयानि । नहना । वि-अस्यन् ॥ बृहस्पतिः । अभि-कनिक्रदत् । गाः । उत । प्र । अस्तौत् । उत् । च । विद्वान् । अगायत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हंसैः इव) हंसों के समान [विवेकी] (वावदद्भिः) स्पष्ट बोलते हुये (सखिभिः) मित्र पुरुषों द्वारा (अश्मन्मयानि) व्याप्ति वाले (नहना) बन्धनों [कठिन विघ्नों] को (व्यस्यन्) हटाते हुये, (अभिकनिक्रदत्) सब ओर उपदेश करते हुये (विद्वान्) विद्वान् (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े विद्वानों के स्वामी परमात्मा] ने (गाः) वेदवाणियों को (प्र अस्तौत्)

(असुरस्य) प्रज्ञायुक्तस्य (वीराः) विक्रान्ताः (विप्रम्) विविधपूरकम् (पदम्) प्रापणीयं वस्तु (अङ्गिरसः) ज्ञानिनः । ऋषयः (दधानाः) धारयन्तः (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (धाम) धारकं स्थानम् (प्रथमम्) मुख्यम् (मनन्त) मन्यतेरर्चतिकर्मा—निघ० १ । ४ । अमनन्त । अस्तुवन्त ॥

३—(हंसैरिव) हंसपक्षिवद्विवेकिभिः (सखिभिः) मित्रैः (वावदद्भिः) वद व्यक्तायां वाचि—यङ्लुकि शतृ । स्पष्टं कथयद्भिः (अश्मन्मयानि) अशू व्याप्तौ—मनिन् । व्याप्तिमन्ति (नहना) बन्धनानि । विघ्नकर्माणि (व्यस्यन्) विक्षिपन् । शिथिलयन् (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां रक्षकः (अभिकनिक्रदत्) क्रदि आह्वाने रोदने च—यङ्लुकि, शतृ । आभिमुख्येन भृशमुपदिशन् (गाः) वेदवाणीः (उत) अपि (प्र अस्तौत्) प्रस्तुतवान् (उत्)

प्रस्तुत किया है [सामने रक्खा है] (उत च) और भी (उत् अगायत्) ऊंचा गाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस पक्षपात रहित परमात्मा ने प्रलय के भारी अन्धकार को मिटाकर विवेकी प्यारे भक्त ऋषियों द्वारा संसार के सुख के लिये वेदों को प्रकाशित किया है, उस जगदीश्वर की उपासना से अपने आत्मा में सब लोग प्रकाश करें ॥ ३ ॥

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ । बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥ ४ ॥

अवः । द्वाभ्याम् । परः । एकया । गाः । गुहा । तिष्ठन्तीः । अनृतस्य । सेतौ ॥ बृहस्पतिः । तमसि । ज्योतिः । इच्छन् । उत् । उस्राः । आ । अकः । वि । हि । तिस्रः । आवरित्यावः ॥४

भाषार्थ—(तमसि) अन्धकार के बीच (ज्योतिः) प्रकाश (इच्छन्) चाहता हुआ (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों का स्वामी परमेश्वर] (द्वाभ्याम्) दोनों [प्रलय और सृष्टि की अवस्थाओं] से और (एकया) एक [स्थिति की अवस्था] से (अनृतस्य) असत्य [अज्ञान] के (सेतौ) बन्धन में (गुहा) गुहा [गुप्त वा अज्ञान दशा] के बीच (अवः) नीचे और (परः) ऊपर (तिष्ठन्तीः) ठहरी हुयीं (गाः) वेदवाणियों को और (तिस्रः) तीनों (उस्राः) [सूर्य, अग्नि और बिजुली रूप] प्रकाशों को (हि) निश्चय करके

उच्चैः (च) (विद्वान्) (अगायत्) उपदिष्टवान् ॥

४—(अवः) अवस्तात् । नीचैः (द्वाभ्याम्) द्वित्वयुक्ताभ्यां प्रलयसृष्ट्यवस्थाभ्याम् (परः) परस्तात् । उच्चैः (एकया) एकत्वयुक्तया स्थित्यवस्थया (गाः) वेदवाणीः (गुहा) गुहायाम् । अज्ञातदशायाम् (तिष्ठन्तीः) वर्तमानाः (अनृतस्य) असत्यस्य । अज्ञानस्य (सेतौ) बन्धे (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामी परमेश्वरः (तमसि) अन्धकारे । प्रलये (ज्योतिः) प्रकाशम् (इच्छन्) कामयमानः (उत्) उत्तमतया (उस्राः) वस निवासे-रक् । उस्रा रश्मिनाम-निघ० १ । ५ । सूर्याग्निविद्युद्रूपप्रकाशान (आ अकः) आकारे

(उत्) उत्तम रीति से (आ अकः) आकार में लाया और (वि आवः) प्रकट किया ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ प्रलय, सृष्टि और स्थिति के अनादि चक्र से प्रलय की अवस्था में सूक्ष्म रूप से रहते हैं, वे परमात्मा की इच्छा से आकार पाकर संसार में प्रकट होते हैं ॥ ४ ॥

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५ ॥

वि-भिद्य । पुरम् । शयथा । ईम् । अपाचीम् । निः । त्रीणि । साकम् । उद्-धेः । अकृन्तत् ॥ बृहस्पतिः । उषसम् । सूर्यम् । गाम् । अर्कम् । विवेद । स्तनयन्-इव । द्यौः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (शयथा) सोती हुयी (अपाचीम्) औंधे मुख वाली (ईम्) प्राप्त हुई (पुरम्) पूर्ति [वा नगरी] को (विभिद्य) तोड़ डालकर (त्रीणि) तीनों [धामों अर्थात् स्थान, नाम, और जाति जैसे मनुष्य पशु आदि—निरु० ९ । २८] को (साकम्) एक साथ (उदधेः) जल वाले समुद्र से (निः अकृन्तत्) छांट लिया, (द्यौः) उस प्रकाशमान [परमात्मा] ने (स्तनयन् इव) गरजते हुये बादल के समान

कृतवान् (हि) निश्चयेन (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (वि आवः) वृणोतेर्लुङि मन्त्रे घसेति च्लेर्लुक् । बहुलं छन्दसीत्यडागमः । विवृत्तवान् । प्रकाशितवान् ॥

५—(विभिद्य) विदार्य (पुरम्) पूर्तिं नगरीं वा (शयथा) शीङ्शपिरुगमि० । उ० ३ । ११३ । शीङ् शयने—अथप्रत्ययः । विभक्तेराकारः । शयथाम् । शयनयुक्ताम् (ईम्) प्राप्ताम् (अपाचीम्) पराङ्मुखीम् (निः) पृथग्भावे (त्रीणि) धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ९। २८ (साकम्) युगपत् (उदधेः) जलाधारात् । समुद्रात् (अकृन्तत्) छिन्नवान् । निर्गमितवान् (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां रक्षकः परमेश्वरः (उषसम्) उषः किच्च । उ० ४ । २३४ । उष दाहे—असि कित् । दाहकम् (सूर्यम्) आदित्यमण्डलम् (गाम्) पृथिवीम् (अर्कम्) अर्क तापे स्तुतौ च—घञ् । अन्नम्—निरु०

होकर (उपलम्) तपाने वाले (सूर्यम्) सूर्य को, (गाम्) भूमि को और (अर्कम्) उष्णता देने वाले अन्न को (विवेद) जनाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ परमाणु रूप से प्रलय के बीच बीजरूप में गड़बड़ पड़े थे, उन को परमात्मा ने जल द्वारा आकार युक्त कर के सूर्य, पृथिवी, अन्न आदि उत्पन्न किये हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रो॑ वुलं र॑क्षितारं॒ दुघा॑नां कुरेणे॑व॒ वि च॑कर्ता॒ रवे॑ण । स्वेदा॑ञ्जिभिराशिर॑मि॒च्छमा॒नोऽरो॑दयत् पु॒णिमा गा अ॑मु॒ष्णात् ॥ ६ ॥

इन्द्रः॑ । वुलम् । र॒क्षि॒तार॑म् । दु॒घा॑नाम् । क॒रेण॑-इव । वि । च॒कर्त॒ । रवे॑ण ॥ स्वेदा॑ञ्जि-भिः । आ॒-शिर॑म् । इ॒च्छमा॑नः । अरो॑दयत् । प॒णिम् । आ । गाः । अ॒मु॒ष्णा॒त् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] ने (दुघानाम्) पूर्तियों के (रक्षितारम्) रख लेने वाले [रोकने वाले] (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (करेण इव) हाथ से जैसे [वैसे] (रवेण) अपने शब्द [वेद] से (वि चकर्त) काट डाला है। और (स्वेदाञ्जिभिः) मोक्ष के प्रकट करने वाले व्यवहारों से (आशिरम्) परिपक्वता को (इच्छमानः) चाहते हुये उस ने

---

५ । ४ (विवेद) विज्ञापितवान् (स्तनयन्) गर्जयन् मेघः (इव) यथा (द्यौः) प्रकाशमानः परमेश्वरः ॥

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (वलम्) हिंसकं विघ्नम् (रक्षितारम्) रक्षकम् । निरोधकमित्यर्थः (दुघानाम्) दुह प्रपूरणे-कप्, टाप् । पूरयित्रीणां शक्तीनाम् (करेण) हस्तेन (इव) यथा (वि) विविधम् (चकर्त) कृती छेदने—लिट् । चिच्छेद (रवेण) शब्देन वेदेन (स्वेदाञ्जिभिः) ञिष्विदा स्नेहनमोचनमोहनेषु अव्यक्तशब्दे गात्रप्रक्षरणे च—घञ् + अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-इन् । मोचनस्य मोक्षस्य व्यक्तीकरणव्यवहारैः (आशिरम्) अ० २० । २२ । ६ । आङ् + श्रीञ् पाके—क्विप्, शिर् इत्यादेशः । परिपक्वत्वम् (इच्छमानः) कामयमानः (अरोदयत्) रोदनं कारितवान् (पणिम्) कुव्यव-

(पणिम्) कुव्यवहारी पुरुष को (अरोदयत्) रुलाया है और (गाः) प्रकाशों को [उस से] (आ) सर्वथा (अमुष्णात्) छीन लिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—यहां (इन्द्र) शब्द (बृहस्पति) अर्थात् परमात्मा का वाचक है। परमात्मा वेदद्वारा मोक्षमार्ग बताकर सुखों के रोकने वाले विघ्नों को मिटाता है और अधर्मी पापियों को घोर अन्धकार में डालता है ॥ ६ ॥

स ईँ सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

सः । ईम् । सत्येभिः । सखि-भिः । शुचत्-भिः । गो-धायसम् । वि । धन-सैः । अदर्दरित्यदर्दः ॥ ब्रह्मणः । पतिः । वृष-भिः । वराहैः । घर्म-स्वेदेभिः । द्रविणम् । वि । आनट् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सः) उस (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड के (पतिः) स्वामी [परमेश्वर] ने (सत्येभिः) सत्य (सखिभिः) मित्ररूप, (शुचद्भिः) प्रकाशमान, (धनसैः) धन देने वाले, (वृषभिः) बलवान्, (वराहैः) उत्तम आहार [भोजनादि] देने वाले, (घर्मस्वेदेभिः) ताप और भाप रखने वाले गुणों से (ईम्) प्राप्त हुये (गोधायसम्) वज्र रखने वाले [शत्रु] को (अदर्दः) फाड़ डाला और (द्रविणम्) धन को (वि आनट्) प्राप्त किया है ॥ ७ ॥

हारिणं पुरुषम् (आ) समन्तात् (गाः) रश्मीन्। प्रकाशान् (अमुष्णात्) अपहृतवान् ॥

७—(सः) (ईम्) प्राप्तम् (सत्येभिः) सत्यशीलैः (सखिभिः) मित्रभूतैः (शुचद्भिः) दीप्यमानैः (गोधायसम्) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च । उ० ४ । २२७ । गो+दधातेः—असि, णित्। गोर्वज्रस्य धारकं शत्रुम् (धनसैः) षणु दाने—उ। धनदातृभिः (अदर्दः) दॄ विदारणे—यङ्लुगन्ताल्लङि रूपम्। भृशं विदारितवान् (ब्रह्मणः) प्रवृद्धस्य ब्रह्माण्डस्य (पतिः) स्वामी (वृषभिः) बलवद्भिः (वराहैः) अ० ८ । ७ । २३ । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । वर+आङ्+हञ् हरणे—डप्रत्ययः । वरः श्रेष्ठ आहारो भोजनादिकं येभ्यस्तैः । वराहारदातृभिः (घर्मस्वेदेभिः) घर्मस्तापः स्वेदो वाष्पश्च येभ्यस्तादृशगुणैः (द्रविणम्) धनम् (वि) विविधम् (आनट्) अ० १८ । ३ । ६५ । आनशे । प्राप्तवान् ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने सत्य आदि गुणों से सब क्लेशों को हटा-कर हमें धन आदि देकर आनन्द देता है ॥ ७ ॥

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः ।
बृहस्पतिर्मिथोअवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८॥

ते । सत्येन । मनसा । गो-पतिम् । गाः । इयानासः । इषणयन्त । धीभिः ॥ बृहस्पतिः । मिथः-अवद्यपेभिः । उत् । उस्रियाः । असृजत । स्वयुक्-भिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सत्येन) सच्चे (मनसा) मन से (धीभिः) कर्मों द्वारा (गाः) वेद वाणियों को (इयानासः) पा लेने वाले (ते) उन [विद्वानों] ने (गोपतिम्) वेद वाणी के स्वामी [परमात्मा] को(इषणयन्त) खोजा है, [कि] (बृहस्पतिः) उस बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] ने (उस्रियाः) निवास करने वाली प्रजाओं को (मिथोअवद्यपेभिः) आपस में पाप से बचाने वाले (स्वयुग्भिः) आत्मा के साथी कर्मों से (उत्) उत्तम रीति पर (असृजत) सृजा है ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग वेदवाणी द्वारा उत्तम उत्तम कर्म करके परमात्मा को खोजते हैं कि उसने मनुष्य आदि सृष्टि को उनके पूर्व जन्मों के कर्म फलों के अनुसार उत्पन्न किया है ॥ ८ ॥

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ॥९॥

८—(ते) विद्वांसः (सत्येन) यथार्थेन (मनसा) चित्तेन (गोपतिम्) वेदवाणीस्वामिनम् (गाः) वेदवाणीः (इयानासः) इण् गतौ—कानच्, असुक् च । प्राप्तवन्तः (इषणयन्त) इषु इच्छायाम्-क्यु । तत् करोति तदाचष्टे । वा० पा० ३ । १ । २६ । इषण—णिच्, लङ्, अडभावः । इषणामिच्छां कृतवन्तः(धीभिः) कर्मभिः (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामी (मिथोअवद्यपेभिः) पातेः कप्रत्ययः । मिथः परस्परम् अवद्याद् निन्द्यात् पापाद् रक्षकैः (उत्) उत्तमतया (उस्रियाः) अ० २० । १६ । ६ । निवासशीलाः प्रजाः (असृजत) अजनयत् (स्वयुग्भिः) युजिर् योगे—क्विप् । स्वेन आत्मना सह युक्तैः कर्मभिः ॥

तम् । वर्धयन्तः । मति-भिः । शिवाभिः । सिंहम्-इव । नानदतम् । सध-स्थे ॥ बृहस्पतिम् । वृषणम् । शूर-सातौ । भरे-भरे । अनु । मदेम । जिष्णुम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(शिवाभिः) कल्याणी (मतिभिः) बुद्धियों के साथ (नानदतम्) बल से दहाड़ते हुये (सिंहम् इव) सिंह के समान (वृषणम्) बलवान् (जिष्णुम्) विजयी (तम्) उस (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] को (सधस्थे) सभा स्थान में (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुये हम (शूरसातौ) शूरों करके सेवने योग्य (भरेभरे) सङ्ग्राम सङ्ग्राम में (अनु मदेम) आनन्द पाते रहें ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य आपस में मिलकर परमात्मा के गुणों का निश्चय करके आत्मा की उन्नति करते हुये आनन्द पावें ॥ ९ ॥

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म। बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा १०

यदा । वाजम् । असनत् । विश्व-रूपम् । आ । द्याम् । अरुक्षत् । उत्-तराणि । सद्म ॥ बृहस्पतिम् । वृषणम् । वर्धयन्तः । नाना । सन्तः । बिभ्रतः । ज्योतिः । आसा ॥१०

भाषार्थ—(यदा) जब उस [परमात्मा] ने (विश्वरूपम्) सब संसार में रूप करने वाले (वाजम्) बल को (असनत्) सेवन किया, और (द्याम्)

९—(तम्) प्रसिद्धम् (वर्धयन्तः) स्तुवन्तः (मतिभिः) बुद्धिभिः (शिवाभिः) कल्याणीभिः (सिंहम्) (इव) (नानदतम्) भृशं शब्दायमानम् (सधस्थे) सभास्थाने (बृहस्पतिम्) बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामिनम् (वृषणम्) बलवन्तम् (शूरसातौ) शूरैः संभजनीये (भरेभरे) रणे रणे (अनु) निरन्तरम (मदेम) हृष्येम (जिष्णुम्) विजेतारम् ॥

१०—(यदा) (वाजम्) बलम् (असनत्) सेवितवान् (विश्वरूपम्) सर्वस्मिन् संसारे रूपं यस्मात् तम (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (आ अरुक्षत्)

चमकते हुये सूर्य को और (उत्तराणि) अधिक उत्तम (सद्म) लोकों को (आ अरुहत्) ऊंचा किया। [तब] (वृषणम्) उस बलवान् (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] को (आसा) मुख से (नाना) नाना प्रकार (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुये (सन्ताः) सन्त लोग [सत्पुरुष] (ज्योतिः) ज्योति को (बिभ्रतः) धारण करने वाले [हुये हैं] ॥ १० ॥

भावार्थ—जब परमात्मा सूर्य आदि लोकों को उत्पन्न करके अपना सामर्थ्य दिखाता है, तब योगी जन उस जगदीश्वर की स्तुति करते हुये अपने आत्मा को प्रकाश युक्त करते हैं ॥ १० ॥

स॒त्यामा॒शिषं॑ कृणुता वयो॒धै की॒रिं चि॒द्ध्यव॑थ॒ स्वेभि॒रेवैः॑।
प॒श्चा मृधो॒ अप॑भवन्तु॒विश्वा॒स्तद्रो॑दसी शृणुतं विश्व॒मिन्वे॑ ११

स॒त्याम् । आ॒-शिष॑म् । कृ॒णु॒त॒ । व॒यः॒-धै । की॒रिम् । चि॒त् । हि । अव॑थ । स्वेभिः॑ । एवैः॑ ॥ प॒श्चा । मृधः॑ । अप॑ । भ॒व॒न्तु॒ । विश्वाः॑ । तत् । रो॒द॒सी॒ इति॑ । शृ॒णु॒त॒म् । वि॒श्व॒मि॒न्वे॒ इति॑ वि॒श्व॒म्-इ॒न्वे ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वयोधै) जीवन धारण करने के लिये (आशिषम्) मेरी प्रार्थना को (सत्याम्) सत्य (कृणुत) करो, (कीरिम्) स्तुति करने वाले को (स्वेभिः) अपने (एवैः) उद्योगों से तुम (चित् हि) अवश्य ही (अवथ) बचाते हो। (विश्वा) सब (मृधः) सताने वाली

आरोहितवान्। उत्पादितवानित्यर्थः (उत्तराणि) उत्तमतराणि (सद्म) सद्मानि। लोकान् (बृहस्पतिम्) परमात्मानम् (वृषणम्) बलवन्तम् (वर्धयन्तः) स्तुवन्तः (नाना) विविधप्रकारेण (सन्तः) सत्पुरुषाः (बिभ्रतः) धारयन्तः (ज्योतिः) प्रकाशम् (आसा) आस्येन। मुखेन ॥

११—(सत्याम्) यथार्थाम् (आशिषम्) प्रार्थनाम् (कृणुत) कुरुत (वयोधै) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै। पा० ३। ४। १०। वयस् + दधातेः—कैप्रत्ययस्तुमर्थे। जीवनं धारयितुम् (कीरिम्) अ० २०। १७। १२। स्तोतारम् (चित्) अवश्यम् (हि) एव (अवथ) रक्षथ (स्वेभिः) आत्मीयैः (एवैः)

सेनायें (पश्चा) पीछे (अप भवन्तु) हटजावें (तत्) इस को, (विश्वमिन्वे) हे सब में व्यापक (रोदसी) आकाश और भूमि ! (शृणुतम्) दोनों सुनो ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर प्रजा की रक्षा करें ॥ ११ ॥

इन्द्रो॑ म॒ह्ना मह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑ ।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात् स॒प्त सिन्धू॑न् दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥१२

इन्द्रः॑ । म॒ह्ना । म॒ह॒तः । अ॒र्ण॒वस्य॑ । वि । मू॒र्धान॑म् । अ॒भि॒न॒त् । अ॒र्बु॒दस्य॑ ॥ अह॑न् । अहि॑म् । अरि॑णात् । स॒प्त । सिन्धू॑न् । दे॒वैः । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वी॒ इति॑ । प्र । अ॒व॒त॒म् । नः॒ ॥१२॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (मह्ना) अपनी महिमा से (महतः) विशाल (अर्णवस्य) गति वाले [वा जल वाले] (अर्बुदस्य) हिंसक [अथवा मेघ के समान अन्धकार करने वाले वैरी] के (मूर्धानम्) शिर को (वि अभिनत्) तोड़ दिया है, वह [परमात्मा] (अहिम्) सब ओर चलने वाले मेघ में (अहन्) व्यापा है, और उस ने (सप्त) सात (सिन्धून्) बहते हुये समुद्रों [के समान भूर आदि सात अवस्था वाले सब लोकों] को (अरिणात्) चलाया है, (द्यावापृथिवी) हे आकाश और भूमि ! (देवैः) उत्तम गुणों के साथ (नः) हम को (प्र अवतम्) दोनों बचालो ॥१२

गमनैः। उद्योगैः (पश्चा) पश्चात् (मृधः) हिंसिकाः सेनाः (अप) दूरे (भवन्तु) (विश्वाः) सर्वाः (तत्) वचनम् (रोदसी) हे आकाशभूमी (शृणुतम्) (विश्वमिन्वे) अ० २०। ३५। ४। हे सर्वव्यापिके ॥

१२—(इन्द्रः) परमात्मा (मह्ना) महिम्ना। महत्त्वेन (महतः) विशालस्य (अर्णवस्य) गतियुक्तस्य, उदकयुक्तस्य (वि) विशेषेण (मूर्धानम्) शिरः (अभिनत्) अच्छिनत् (अर्बुदस्य) अर्ब गतौ हिंसायां च—उदच् प्रत्ययः। हिंसकस्य। मेघस्येव अन्धकारविस्तारकस्य शत्रोः (अहन्) व्याप्तवान् (अहिम्, अरिणात, सप्त, सिन्धून्) एते व्याख्याताः—अ० २०। ३४। ३ (देवैः) उत्तमगुणैः (द्यावापृथिवी) हे आकाशभूमी (प्र) प्रकर्षेण (अवतम्) रक्षतम् (नः) अस्मान् ॥

भावार्थ—भूर, भुवः आदि सात अवस्थाओं के लिये अ० २० । ३४ । ३ । देखो और मिलाओ। परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से बड़े बड़े विघ्नों को हटाकर समस्त संसार की रक्षा करता है, उसी जगदीश्वर की कृपा से धर्मात्मा लोग बलवान् होकर दुष्टों को मिटाकर आनन्द पाते हैं ॥ १२ ॥

सूक्तम् ९२ ॥

१—२१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ निचृद् गायत्री; ३ गायत्री; ४, ६, ९, १०, १२ निचृदनुष्टुप्; ५ भुरगार्ष्युष्णिक्; ७ विराडनुष्टुप्; ८ पङ्क्तिः; ११ अनुष्टुप्; १३ निचृत् पङ्क्तिः; १४ पथ्या बृहती; १५ विराडार्षी बृहती; १६ भुरिगार्ष्यनुष्टुप्; १७ निचदार्षी पङ्क्तिः; १८ निचृत्पथ्या बृहती; १९ सतः पङ्क्तिः २० विराडार्षी बृहती; २१ निचृत् सतः पङ्क्तिः ॥

१—३ राजप्रजाधर्मोपदेशः—१—३ राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

अ॒भि प्र गोप॑तिं गि॒रेन्द्र॑मर्च॒ यथा॑ वि॒दे । सू॒नुं स॒त्यस्य॒ सत्प॑तिम् ॥ १ ॥

अ॒भि । प्र । गो-प॑तिम् । गि॒रा । इन्द्र॑म् । अ॒र्च॒ । यथा॑ । वि॒दे ॥ सू॒नुम् । स॒त्यस्य॑ । सत्-प॑तिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (गोपतिम्) पृथिवी के पालक, (सत्यस्य) सत्य के (सूनुम्) प्रेरक, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को, (यथा) जैसा (विदे) वह है, (गिरा) स्तुति के साथ (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (अर्च) तू पूज ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे राजा उत्तम गुण वाला हो, वैसे ही मनुष्यों को उसकी यथार्थ बड़ाई करनी चाहिये ॥

मन्त्र १—१५ । ऋग्वेद में हैं—८ । ६९ [सायणभाष्य ५८] । ४—१८ । मन्त्र १—३ आचुके हैं अथर्व० २० । २२ । ४—६ ॥

आ हर॑यः ससृज्रि॒रेऽरु॑षी॒रधि॑ ब॒र्हिषि॑ । यत्रा॒भि सं॒नवा॑महे ॥२॥

आ । हर॑यः । स॒सृ॒ज्रि॒रे । अरु॑षीः । अधि॑ । ब॒र्हिषि॑ ॥ यत्र॑ ।

१—३—आख्याताः—अ० २० । २२ । ४—६ ॥

अभि । सम्-नवामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हरयः) दुःख हरने वाले मनुष्य (अरुषीः) गति शील [प्रजाओं] को (बर्हिषि) बढ़ती के स्थान में (अधि) अधिकार पूर्वक (आ-ससृज्रिरे) लाये हैं, (यत्र) जहां पर [तुझ राजा को] (अभि) सब ओर से (संनवामहे) हम मिलकर सराहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस राजा की सुनीति से विद्या द्वारा उन्नति होवे, प्रजा सहित विद्वान् जन उस के गुणों का गान करें ॥ २ ॥

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु । यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥

इन्द्राय । गावः । आ-शिरम् । दुदुह्रे । वज्रिणे । मधु ॥ यत् । सीम् । उप-ह्वरे । विदत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणे) वज्रधारी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के लिये (गावः) [वेद वाणीयों ने (आशिरम्) सेवने वा पकाने योग्य पदार्थ [दूध, दही, घी आदि] को और (मधु) मधुविद्या [यथार्थ ज्ञान] को (दुदुह्रे) भर दिया है । (यत्) जब कि उसने [इन वेदवाणियों को] (उपह्वरे) अपने पास (सीम्) सब प्रकार (विदत्) पाया ॥ ३ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् पुरुष वेदवाणियों से सुशिक्षित होकर दूध आदि, भोग्य पदार्थ प्राप्त करके यथार्थ ज्ञान बढ़ावे ॥ ३ ॥

मन्त्राः ४—२१ परमात्मगुणोपदेशः—मन्त्र ४-२१ परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।
मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥ ४ ॥

उत् । यत् । ब्रध्नस्य । विष्टपम् । गृहम् । इन्द्रः । च । गन्वहि ॥
मध्वः । पीत्वा । सचेवहि । त्रिः । सप्त । सख्युः । पदे ॥४॥

भाषार्थ—(यत्) जब (अभ्रस्य) नियम करने वाले [वा महान्, परमेश्वर] के (विष्टपम्) सहारे [अर्थात्] (गृहम्) शरण को (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला आचार्य] (च) और [मैं ब्रह्मचारी] (उत्) ऊंचे होकर (गन्वहि) हम दोनों प्राप्त करें। (त्रिः) तीन बार [सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों सहित] (सप्त) सात [भूर् भुवः आदि सात अवस्थाओं वाले संसार] के (मध्वः) निश्चित ज्ञान का (पीत्वा) पान करके (सख्युः) सखा [मित्र, परमात्मा] के (पदे) पद [प्राप्ति योग्य मोक्ष सुख] में (सचेवहि) हम दोनों सींचे जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—आचार्य और जिज्ञासु ब्रह्मचारी परमात्मा की शरण लेकर सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों द्वारा भूर्, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य इन सात अवस्थाओं से सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को जानकर मोक्ष पद प्राप्त करके सदा वृद्धि करें ॥ ४ ॥

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ ५ ॥

अर्चत । प्र । अर्चत । प्रिय-मेधासः । अर्चत ॥
अर्चन्तु । पुत्रकाः । उत । पुरम् । न । धृष्णु । अर्चत ॥५॥

भाषार्थ—(प्रियमेधासः) हे प्यारी [हितकारिणी] बुद्धि वाले पुरुषो! (धृष्णु) निर्भय (पुरं न) गढ़ के समान [उस परमेश्वर] को (अर्चत)

४—(उत्) उच्चैः (यत्) यदा (अभ्रस्य) अ० ७ । २२ । २ । नियामकस्य । महतः परमेश्वरस्य (विष्टपम्) अ० १० । १० । ३१ । आश्रयम् (गृहम्) शरणम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवानाचार्यः (च) अहं ब्रह्मचारी च (गन्वहि) आवां प्राप्नुयाव (मध्वः) मधुनः । यथार्थज्ञानस्य (पीत्वा) पानं कृत्वा । अनुभूय (सचेवहि) षच समवाये सेके च । सिक्तौ प्रवृद्धौ भवेव (त्रिः) त्रिवारं सत्त्वरजस्तमोगुणैः (सप्त) भूर्, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, इति सप्तावस्थाविशेषसम्बन्धिनः संसारस्य (सख्युः) सर्वमित्रस्य परमेश्वरस्य (पदे) प्राप्तव्ये मोक्षसुखे ॥

५—(अर्चत) पूजयत—इन्द्रं परमात्मानम् (प्र) प्रकर्षेण (अर्चत) (प्रियमेधासः) अ० २० । १० । २ । प्रियमेध—असुक् जसि । प्रिया हितकरी

पूजो, (प्र) अच्छे प्रकार (अर्चत) पूजो, (अर्चत) पूजो, (अर्चत) पूजो, (उत) और (पुत्रकाः) गुणी सन्तानें [उस को] (अर्चन्तु) पूजें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि वे अपने पुत्र पुत्रियों सहित प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक कर्म में परमात्मा की शक्ति को निहार कर आत्मा की उन्नति करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में भी है—पू० ४ । ८ । ३ ॥

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् ।

पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥ ६ ॥

अव । स्वराति । गर्गरः । गोधा । परि । सनिस्वनत् ॥

पिङ्गा । परि । चनिस्कदत् । इन्द्राय । ब्रह्म । उत्ऽयतम् ॥६॥

भाषार्थ—(इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के लिये (उद्यतम्) ऊंचे किये हुये (ब्रह्म) वेदज्ञान का (गर्गरः) गर्गर [सारंगी आदि बाजा] (अव स्वराति) स्वर आलापे, (गोधा) गोधा [वीणा आदि बाजा] (परि सनिष्वणत्) बोल बोले, और (पिङ्गा) पिङ्गा [धनुष की दृढ़ डोरी] (परि चनिष्कदत्) टङ्कार करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि घर के बीच उत्सवों में और युद्ध क्षेत्र के बीच संग्रामों में परमात्मा का स्मरण भली भांति करते रहें ॥ ६ ॥

मेधा प्रज्ञा-येषां तत्सम्बुद्धौ (अर्चत) (अर्चन्तु) पूजयन्तु (पुत्रकाः) अनुकम्पायाम् । पा० ५ । ३ । ७६ । पुत्र—कप्रत्ययः । गुणिनः सन्तानाः (उत) अपि च (पुरम्) दुर्गम् (न) यथा (धृष्णु) निर्भयम् (अर्चत) ॥

६—(अव स्वराति) निश्चयेन शब्दयेत् (गर्गरः) अ० ४ । १५ । १२ । गॄ शब्दे-गप्रत्ययः + रा दाने-कप्रत्ययः । गर्गरस्य कलशस्य ध्वनियुक्तो वाद्यविशेषः (गोधा) अ० ४ । ३ । ६ । गुध परिवेष्टने-घञ् टाप् । वीणादिवाद्यविशेषः (परि) सर्वतः (सनिष्वणत्) स्वन शब्दे, यङ्लुकि लेट् । भृशं ध्वनिं कुर्यात् (पिङ्गा) अ० ८ । ६ । ६ । पिजि बले दीप्तौ च—अच् , कुत्वम् । दृढा धनुर्ज्या (परि) (चनिष्कदत्) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—यङ्लुकि लेट् । गतिं कुर्यात् टङ्कारयेत् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते परमात्मने (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (उद्यतम्) ऊर्ध्वीकृतम् ॥

आ यत् पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥ ७ ॥

आ । यत् । पतन्ति । एन्यः । सु-दुघाः । अनप-स्फुरः ॥
अप-स्फुरम् । गृभायत । सोमम् । इन्द्राय । पातवे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (एन्यः) गति वाली, (सुदुघाः) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करने वाली, (अनपस्फुरः) निश्चल बुद्धियां (आ पतन्ति) आ जावें, [तब] (अपस्फुरम्) अत्यन्त बढ़े हुये (सोमम्) उत्पन्न करने वाले परमात्मा को (इन्द्राय) बड़े ऐश्वर्य की (पातवे) रक्षा के लिये (गृभायत) तुम ग्रहण करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब में गति वाली उत्तम बुद्धि को प्राप्त होकर परमेश्वर का आश्रय लेकर अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ७ ॥

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत । वरुण इदिह क्षयत् तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥ ८ ॥

अपात् । इन्द्रः । अपात् । अग्निः । विश्वे । देवाः । अमत्सत ॥
वरुणः । इत् । इह । क्षयत् । तम् । आपः । अभि । अनूषत ।
वत्सम् । संशिश्वरीः-इव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [प्रतापी सूर्य] ने [पृथिवी आदि के जल को] (अपात्) पिया है, (अग्निः) अग्नि ने [काठ हव्य आदि के रस को]

७—(आ पतन्ति) आगच्छन्ति (यत्) यदा (एन्यः) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इण् गतौ-निप्रत्ययः, ङीप् । एन्यो नदीनाम—निघ० १ । १३ । गतिशीलाः (सुदुघाः) सुष्ठु कामानां प्रपूरयित्र्यः (अनपस्फुरः) अन् अप+स्फुर संचलने—क्विप् । निश्चला बुद्धयः(अपस्फुरम्) अप+स्फुर संचलने वृद्धौ च क्विप् । अत्यन्तं प्रवृद्धम् (गृभायत) गृह्णीत (सोमम्) उत्पादकं परमात्मानम् (इन्द्राय) ऐश्वर्यम् (पातवे) पातुम् । रक्षितुम् ॥

८—(अपात्) पा पाने—लुङ् । पीतवान् पृथिव्यादिजलम् (इन्द्रः) प्रतापी सूर्यः (अपात्) पीतवान् काष्ठहव्यादिरसम् (अग्निः) प्रसिद्धः (विश्वे)

(अपात्) पिया है, [उस से] (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार करने वाले प्राणी (अमत्सत) तृप्त हुये हैं। (इह) इस [सब कर्म] में (वरुणः) श्रेष्ठ परमात्मा (इत्) ही (क्षयत्) समर्थ हुआ है, (तम्) उस [परमात्मा] को (आपः) प्राप्त प्रजाओं ने (अभि) सब प्रकार (अनूषत) [प्रीति से] सराहा है, (इव) जैसे (संशिश्वरीः) मिलती हुयी गौयें (वत्सम्) बछड़े को [प्रीति करती हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के नियम से सूर्य जल को खींच कर वृष्टिद्वारा अन्न आदि उत्पन्न करने में, और आग लकड़ी, घी आदि पदार्थों को जलाकर अशुद्धि हटाने और भोजन आदि बनाने में उपकार करता है, उस परमेश्वर से सब मनुष्य आपा छोड़कर इस प्रकार प्रीति करें, जैसे गौ आपा छोड़कर अपने छोटे बच्चे से प्रीति करती है ॥ ८ ॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ ९ ॥

सु-देवः । असि । वरुण । यस्य । ते । सप्त । सिन्धवः ॥
अनु-क्षरन्ति । काकुदम् । सूर्म्यम् । सुषिराम्-इव ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे श्रेष्ठ परमात्मन् ! तू (सुदेवः) बड़ा देव [अति प्रकाशमान वा दानी] (असि) है, (यस्य ते) जिस तेरे (काकुदम्) तालू को (सप्त) सात (सिन्धवः) बहते हुये समुद्र [अर्थात् भूर्, भुवः, स्वः,

(देवाः) व्यवहारिणः प्राणिनः (अमत्सत) मदी हर्षे । तृप्ता अभवन् (वरुणः) श्रेष्ठः परमात्मा (इत्) एव (इह) अस्मिन् सर्वस्मिन् कर्मणि (क्षयत्) क्षि ऐश्वर्ये । समर्थोऽभवत् (तम्) वरुणम् (आपः) प्राप्ताः प्रजाः (अभि) (अनूषत) अ० २० । १७ । १ । अस्तुवन् (वत्सम्) गोशिशुम् (संशिश्वरीः) स्नामदि-पद्यर्त्ति० । उ०४ । ११३ सम् + शश प्लुतगतौ—वनिप् । अकारस्य इकारः । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । संशश्वर्यः संगच्छमाना गावः (इव) यथा ॥

९—(सुदेवः) कल्याणदेवः । अतिप्रकाशमानः । महाधनी (असि) (वरुण) हे श्रेष्ठ परमात्मन् (यस्य) (ते) तव (सप्त) सप्तसंख्याकाः (सिन्धवः) स्यन्दमानाः समुद्राः । भूर्भुवरादिमवस्थाविशेषयुक्ताः सर्वेलोकाः

महः, जनः, तपः, सत्य, इन सात अवस्थाओं वाले सब लोक] (अनुक्षरन्ति) निरन्तर सींचते हैं, (इव) जैसे (सूर्म्यम्) बड़े वेग वाले (सुषिराम्) झरने को [जल सींचते हैं] ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र के लिये—अ० २० । ३४ । ३ और निरुक्त ५ । २७ भी देखो । जिस परमात्मा की आज्ञा में यह सब बड़े छोटे लोक इस प्रकार झुकते हैं, जैसे जल दूर दूर से एकत्र होकर सोते में झुक कर गिरते हैं, हे मनुष्यो ! तुम अभिमान छोड़कर उसी जगदीश्वर के सामने झुको ॥ ९ ॥

यो व्यतीँरफाणयत् सुयुक्ताँ उप दाशुषे ।

तक्वो नेता तदिद् वपुरुपमा यो अमुच्यत ॥ १० ॥

यः । विऽअतीन् । अफाणयत् । सुऽयुक्तान् । उप । दाशुषे ॥ तक्वः नेता । तत् । इत् । वपुः । उपऽमा । यः । अमुच्यत ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमात्मा] ने (व्यतीन्) विविध प्रकार चलते रहने वाले, (सुयुक्तान्) बड़े योग्य पदार्थों को (दाशुषे) आत्मदानी [भक्त] के लिये (उप) सुन्दर रीति से (अफाणयत्) सहज में उत्पन्न किया है और (यः) जिस [परमात्मा] ने (उपमा) पास रहने वाले को (अमुच्यत) [दुःखों से] मुक्त किया है, (तत् इत्) वही (वपुः) बीज बोने वाला [ब्रह्म]

(अनुक्षरन्ति) निरन्तरं सिञ्चन्ति (काकुदम्) तालु—निरु० ५ । २६ (सूर्म्यम्) कल्याणोर्मिम् । सुवेगवतीम् (सुषिराम्) इषिमदिमुदि० । उ० १ । ५१ । शुष शोषणे—किरच्, टाप्, शस्य सः । जलनिसरणच्छिद्रम् । स्रोतः (इव) यथा ॥

१०—(यः) परमात्मा (व्यतीन्) अत सातत्यगमने-इन् । विविधसदा-गमनशीलान् (अफाणयत्) फण गतौ अनायासेनोत्पत्तौ च—णिच् । फणति-र्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अना यासेनोत्पादितवान् (सुयुक्तान्) सुयोग्यान् पदार्थान् (उप) पूजायाम् (दाशुषे) आत्मदानिने । उपासकाय (तक्वः) कृगृशृवृञ्भ्यो वः । उ०१ । १५५ । तकतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ वप्रत्ययः । व्यापकः (नेता) (तत्) (इत्) एव (वपुः) अर्तिपृवपि० । उ० २ । ११७ । डुवप बीजतन्तुसन्ताने—उसि । बीजोत्पादकं ब्रह्म (उपमा) विभक्तेराकारः ।

(तकः) व्यापक (नेता) नेता [अगुआ परमात्मा] है ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने अपने सहज स्वभाव से अनोखे अनोखे पदार्थ रचकर अपने विवेकी भक्तों को परम आनन्द दिया है, सब मनुष्य उस सर्वशक्तिमान् की उपासना करके सुखी होवें ॥ १० ॥

अतीदु॑ श॒क्र ओ॑हत॒ इन्द्रो॒ विश्वा॒ अति॒ द्विषः॑ ।
भि॒नत् क॒नीन॑ ओद॒नं प॒च्यमा॑नं प॒रो गि॒रा ॥ ११ ॥

अति॑ । इत् । ऊं॒ इति॑ । श॒क्रः । ओ॒ह॒ते॒ । इन्द्रः॑ । विश्वाः॑ । अति॑ । द्विषः॑ ॥ भि॒नत् । क॒नीनः॑ । ओ॒द॒नम् । प॒च्यमा॑नम् । प॒रः । गि॒रा ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शक्रः) शक्तिमान् (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (इत्) ही (उ) अवश्य (अति) तिरस्कार करके (विश्वाः) सब (द्विषः) विरोध करने वाली प्रजाओं को (अति) सर्वथा (ओहते) मारता है, [जैसे] (कनीनः) चमकता हुआ सूर्य (गिरा) वाणी [गर्जन] से (पच्यमानम्) पचाये गये [ताड़े गये] (ओदनम्) मेघ को (परः) दूर (भिनत्) छिन्न भिन्न करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हमारे सब विघ्नों को दूर कर देता है जैसे सूर्य मेघ को छिन्न भिन्न करके प्रकाश करता है ॥ ११ ॥

अ॒र्भ॒को न कु॑मा॒र॒कोऽधि॑ तिष्ठ॒न्नवं॒ रथ॑म् ।

उपमे अन्तिकनामा—निघ० २ । १६ । उपमं निकटस्थम् । उपासकम् (यः) परमात्मा (अमुञ्चत) मुक्तवान् दुःखेभ्यः ॥

११—(अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (इत्) एव (उ) अवश्यम् (शक्रः) शक्तिमान् (ओहते) उहिर् अर्दने । नाशयति (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (विश्वाः) सर्वाः (अति) सर्वथा (द्विषः) द्वेष्ट्रीः प्रजाः (भिनत्) भिनत्ति (कनीनः) कनतिः कान्तिकर्मा—निघ० २ । ६—ईन प्रत्ययः । प्रकाशमानः सूर्यः (ओदनम्) मेघम्—निघ० १ । १० (पच्यमानम्) ताड्यमानमित्यर्थः (परः) परस्तात् । दूरे (गिरा) शब्देन । गर्जनेन ॥

स पंक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम् ॥ १२ ॥

अर्भकः । न । कुमारकः । अधि । तिष्ठत् । नवम् । रथम् ॥
सः । पक्षत् । महिषम् । मृगम् । पित्रे । मात्रे । विभु-क्रतुम् १२

भाषार्थ—(न) जैसे (कुमारकः) खिलाड़ी (अर्भकः) बालक (नवम्) नवे (रथम्) रथ पर (अधि तिष्ठत्) चढ़े। [वैसे ही] (सः) वह [जिज्ञासु] (मात्रे) माता के लिये और (पित्रे) पिता के लिये (महिषम्) महान्, (मृगम्) खोजने योग्य (विभुक्रतुम्) व्यापक कर्म वाले [परमात्मा] को (पक्षत्) ग्रहण करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे छोटा बालक रथ आदि क्रीड़ा वस्तुओं में प्रीति करता है, वैसे ही जिज्ञासु पुरुष माता पिता की प्रसन्नता के लिये महान् परमात्मा में प्रीति कर के अपना जीवन सुधारे ॥ १२ ॥

आ तू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम्। अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम् ॥ १३ ॥

आ । तु । सु-शिप्र । दम्-पते । रथम् । तिष्ठ । हिरण्ययम् ॥
अध । द्युक्षम् । सचेवहि । सहस्र-पादम् । अरुषम् । स्वस्ति-गाम् । अनेहसम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सुशिप्र) हे बड़े ज्ञानी! (दम्पते) हे दमनरक्षक [जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी] (हिरण्ययम्) प्रकाशमय [ज्ञानरूपी] (रथम्)

१२—(अर्भकः) बालकः (न) यथा (कुमारकः) कुमार क्रीडायाम्—वुन्। क्रीडकः (अधि तिष्ठत्) आरोहेत् (नवम्) नवीनम् (रथम्) यानम् (सः) जिज्ञासुः (पक्षत्) परिगृह्णीयात् (महिषम्) महान्तम् (मृगम्) मृग्यम्। अन्वेषणीयम् (पित्रे) पितृप्रसादाय (मात्रे) मातृप्रसादाय (विभुक्रतुम्) व्यापककर्माणं परमात्मानम् ॥

१३—(आ तिष्ठ) आरोह (तु) क्षिप्रम् (सुशिप्र) अ० २०। ७१। ६। हे बहुज्ञानयुक्त ब्रह्मचारिन् (दम्पते) दमु उपशमे—क्विप्। हे दमनरक्षक जितेन्द्रिय (रथम्) (हिरण्ययम्) तेजोमयं ज्ञानरूपम् (अध) अनन्तरम्

रथ पर (तु) शीघ्र (आ तिष्ठ) चढ़। (अध) फिर (द्युक्षम्) व्यवहारों में समर्थ, (सहस्रपादम्) सहस्रों [असीम] गति शक्ति वाले, (अरुषम्) व्यापक, (स्वस्तिगाम्) आनन्द पहुंचाने वाले, (अनेहसम्) निर्दोष परमात्मा को (सचेवहि) हम दोनों [आचार्य और ब्रह्मचारी] मिल जावें] ॥ १३ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी ब्रह्म विद्या में पूरी निष्ठा करता है, तब आचार्य और ब्रह्मचारी परमात्मा के आश्रय में पूरा आनन्द पाते हैं ॥ १३ ॥

तं घे॑मि॒त्था न॑म॒स्विन॒ उप॑ स्व॒राज॑मासते ।

अर्थं॑ चिदस्य॒ सुधि॑तं॒ यदेत॑व आव॒र्तय॑न्ति दा॒वने॑ ॥ १४ ॥

तम् । घ॒ । ई॒म् । इ॒त्था । न॒म॒स्विनः॑ । उप॑ । स्व॒-राज॑म् । आस॒ते ॥ अर्थ॑म् । चि॒त् । अ॒स्य॒ । सु-धि॑तम् । यत् । एत॑वे । आ-व॒र्तय॑न्ति । दा॒वने॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (घ) ही (ईम्) प्राप्ति योग्य (स्वराजम्) स्वराजा [अपने आप राजा परमेश्वर] को (इत्था) इस प्रकार (नमस्विनः) नमस्कार करने वाले लोग (उप आसते) पूजते हैं, (यत्) जब कि वे (अस्य) उस [परमात्मा] का (चित्) ही (सुधितम्) भले प्रकार रक्खा हुआ (अर्थम्) पाने योग्य धन (एतवे) पाने के लिये और (दावने) दान के लिये [उस परमात्मा] को (आवर्तयन्ति) सामने वर्तमान करते हैं ॥ १४ ॥

(द्युक्षम्) अ० २० । ४ । २ । दिवु व्यवहारे—क्विप्+क्षि ऐश्वर्ये—ड । व्यवहारेषु समर्थम् (सचेवहि) आवामाचार्यब्रह्मचारिणौ संगच्छेवहि । संगतौ भवेव (सहस्रपादम्) अ० ७ । ४१ । २ । असीमगतिशक्तियुक्तम् (अरुषम्) अर्तिपृवपि० । २ । ११७ । ऋ गतौ—उसि । व्यापकम् (स्वस्तिगाम्) आनन्दस्य गमयितारं प्रापकम् (अनेहसम्) निर्दोषं परमात्मानम् ॥

१४—(तम्) (घ) एव (ईम्) प्राप्यम् (इत्था) इत्थम् । अनेन प्रकारेण (नमस्विनः) नमस्कारयुक्ताः (उप आसते) सेवन्ते (स्वराजम्) स्वयं राजानं शासकम् (अर्थम्)अरणीयं प्रापणीयं धनम् (चित्) एव (अस्य) परमात्मनः (सुधितम्) सुष्ठु स्थापितम् (यत्) यदा (एतवे) एतुम् प्राप्तुम् (आवर्तयन्ति) अभिमुखं वर्तमानं कुर्वन्ति (दावने) दानाय ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अपने आप सब का राजा है, सब लोग उस की आज्ञा मानकर विविध प्रकार धन प्राप्त करके सुपात्रों का सहाय करें ॥ १४ ॥

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम् ।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत ॥ १५ ॥
अनु । प्रत्नस्य । ओकसः । प्रिय-मेधासः । एषाम् ॥ पूर्वाम् ।
अनु । प्र-यतिम् । वृक्त-बर्हिषः । हित-प्रयसः । आशत ॥१५॥

भावार्थ—(एषाम) इन प्राणियों के बीच (प्रियमेधासः) प्यारी बुद्धि वाले, (वृकबर्हिषः) हिंसा त्यागने वाले (हितप्रयसः) हितकारी अन्न वाले पुरुषों ने (प्रत्नस्य) सनातन (ओकसः) आश्रय [परमात्मा] के (अनु) पीछे होकर (पूर्वाम्) पहिली (प्रयतिम्) प्रयत्न रीति को (अनु) निरन्तर (आशत) पाया है ॥ १५ ॥

भावार्थ—इन प्राणियों के बीच सर्वहितैषी विद्वान् लोग परमात्मा का आश्रय लेकर आनन्द पावें ॥ १५ ॥

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥ १६ ॥
यः । राजा । चर्षणीनाम् । याता । रथेभिः । अध्रि-गुः ॥
विश्वासाम् । तरुता । पृतनानाम् । ज्येष्ठः । यः । वृत्र-हा ।
गृणे ॥ १६ ॥

भावार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का

१५—(अनु) अनुकृत्य (प्रत्नस्य) पुराणस्य (ओकसः) आश्रयस्य परमेश्वरस्य (प्रियमेधासः) हितकरमेधायुक्ताः (एषाम्) मनुष्याणां मध्ये (पूर्वाम्) प्रथमाम् (अनु) निरन्तरम् (प्रयतिम्) यती प्रयत्ने—इन् । प्रयत्नरीतिम् (वृकबर्हिषः) अ० २० । ५२ । १ । त्यक्तहिंसाः (हितप्रयसः) हितकरान्नयुक्ताः (आशत) प्राप्तवन्तः ॥

१६—(यः) परमेश्वरः (राजा) ऐश्वर्यवान् (चर्षणीनाम्) मनुष्या-

(राजा) राजा (रथेभिः) रथों [के समान रमणीय लोकों] के साथ (अध्रिगुः) बेरोक (याता) चलने वाला, और (यः) जो (विश्वासाम्) सब (पृतनानाम्) शत्रु सेनाओं का (तरुता) हराने वाले, (ज्येष्ठः) अति श्रेष्ठ (वृत्रहा) अन्धकार नाशक है, [उस को] (गृणे) मैं स्तुति करता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब मनुष्य आदि प्राणियों और सूर्य आदि लोकों का स्वामी है, हम उसके गुणों को ग्रहण कर के सब कष्टों से बचें ॥१६॥

मन्त्र १६—२१ ऋग्वेद में है—८ । ७० [सायणभाष्य ५६] । १—६ । मन्त्र १६, १७ सामवेद—उ० ३ । १ । १५, मन्त्र १६ साम० । पू० ३ । ८ । १; मन्त्र १६, १७ आगे हैं—अ० २० । १०५ । ४, ५ ॥

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥१७ ॥

इन्द्रम् । तम् । शुम्भ । पुरु-हन्मन् । अवसे । यस्य । द्विता । वि-धर्तरि ॥ हस्ताय । वज्रः । प्रति । धायि । दर्शतः । महः । दिवे । न । सूर्यः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(पुरुहन्मन्) हे बहुत ज्ञानी ऋषि ! (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] का (शुम्भ) भाषण कर, (यस्य) जिसके (द्विता) दोनों धर्म [अनुग्रह और निग्रह गुण] (विधर्तरि) बुद्धिमान् जन

णाम् (याता) गन्ता (रथेभिः) रथसदृशै रमणीयलोकैः सह (अध्रिगुः) अ० २० । ३५ । १ । अधृतगमनः । अनिवारितगतिः (विश्वासाम्) सर्वासाम् (तरुता) ग्रसितस्कभितस्तभितो० । पा० ७ । २ । ३४ । इकारस्य उकारः । तरिता । अभिभविता (पृतनानाम्) शत्रुसेनानाम् (ज्येष्ठः) अतिश्रेष्ठः । अतिवृद्धः (यः) (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (गृणे) स्तौमि तम् ॥

१७—(इन्द्रम्) परमेश्वरम् (तम्) (शुम्भ) शुम्भ हिंसाभाषणभासनेषु । भाषस्व । वर्णय (पुरुहन्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । पुरु+हन हिंसागत्योः—मनिन् । पुरु बहु हन्ति गच्छति जानातीति पुरुहन्मा तत्सम्बुद्धौ । हे. बहुज्ञानिन् । ऋषे (अवसे) रक्षणाय (यस्य) परमेश्वरस्य

पर (अवसे) रक्षा के लिये और [जिस का] (दर्शतः) दर्शनीय (महः) महान् (वज्रः) वज्र [दण्ड सामर्थ्य] (हस्ताय) हाथ [अर्थात् हमारे बाहु-बल] के लिये (प्रति) प्रत्यक्ष (धायि) धारण किया गया है, (न) जैसे (सूर्यः) सूर्य (दिवे) प्रकाश के लिये है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा अति प्रत्यक्ष रूप से दुष्टों को दण्ड देता है और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है, ऐसा निश्चय करके विद्वान् लोग सदा ईश्वर की आज्ञा में रहकर सुखी होवें ॥ १७ ॥

नकिष्टं कर्मणा नशद् यश्चकार सदावृधम् ।

इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्ण्वोजसम् ॥ १८ ॥

नकिः । तम् । कर्मणा । नशत् । यः । चकार । सदा-वृधम् ॥

इन्द्रम् । न । यज्ञैः । विश्व-गूर्तम् । ऋभ्वसम् । अधृष्टम् । धृष्णु-ओजसम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ(यः) जिस [परमात्मा] ने (सदावृधम्) सदा बढ़ाने वाले व्यवहार को (चकार) बनाया है, (तम्) उस (विश्वगूर्तम्) सबों को उद्यम में लगाने वाले, (ऋभ्वसम्) बुद्धिमानों को ग्रहण करने वाले, (अधृष्टम्) अजेय, (धृष्ण्वोजसम्) निर्भय बल वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (नकिः) न कोई (कर्मणा) कर्म से और (न) न

(द्विता) द्वित्वम् । निग्रहानुग्रहरूपं गुणद्वयम् (विधर्तरि) मेधाविनि जने—निघ० ३ । १५ (हस्ताय) अस्माकं बाहुबलाय (वज्रः) दण्डसामर्थ्यम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (धायि) अधारि (दर्शतः) दर्शनीयः (महः) मह—अच् । महान् (दिवे) प्रकाशाय (न) यथा (सूर्यः) ॥

१८—(नकिः) न कश्चित् (तम्) प्रसिद्धम् (कर्मणा) (नशत्) प्राप्नुयात् (यः) परमेश्वरः (चकार) रचितवान् (सदावृधम्) सदावर्धकं व्यवहारम् (इन्द्रम्) (न) निषेधे (यज्ञैः) दानैः (विश्वगूर्तम्) अ० २० । ३५ । ६ । विश्वं सर्वं जगद् गूर्णम् उद्यतम् उद्यमे कृत येन तम् (ऋभ्वसम्) ऋभुर्मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ + असु ग्रहणे—अच् । ऋभूणां मेधाविनां ग्रहीतारम् (अधृष्टम्) अजेयम् (धृष्ण्वोजसम) धर्षकबलम् । निर्भयपरा-

(यज्ञैः) दानों से (नशत्) पा सकता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सृष्टि आदि अद्भुत कर्मों को करता है, और सब को पालता है, कोई भी प्राणी उस अनन्तकर्मा और अनन्तदानी परमेश्वर के समान नहीं हो सकता है ॥

मन्त्र १८, १९ सामवेद में भी हैं—उ० ४। २। ८, मन्त्र १८—साम० पू० ३। ६ १॥

अषाळ्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन् महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामीं अनोनवुः ॥ १९ ॥

अषाळ्हम् । उग्रम् । पृतनासु । ससहिम् । यस्मिन् । महीः । उरु-ज्रयः ॥ सम् । धेनवः । जायमाने । अनोनवुः । द्यावः । क्षामः । अनोनवुः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन् जायमाने) जिस [परमात्मा] के प्रकट होने पर (महीः) पृथिवियां (उरुज्रयः) बहुत चलने वाली होती हैं, (अषाळ्हम्) उस अजेय, (उग्रम्) तेजस्वी, और (पृतनासु) सङ्ग्रामों में (ससहिम्) जिताने वाले [परमेश्वर] को (धेनवः) वाणियों ने (सम्) मिलकर (अनोनवुः) अत्यन्त सराहा है, (द्यावः) सूर्यों और (क्षामः) भूमियों ने (अनोनवुः) अत्यन्त सराहा है ॥ १९ ॥

क्रमयुक्तम् ॥

१९—(अषाळ्हम्) षह मर्षणे अभिभवे—क्त, ओकारस्य आकारः। असोढम्। अनभिभूतम् (उग्रम्) तेजस्विनम् (पृतनासु) सङ्ग्रामेषु (ससहिम्) अ० ३। १८। ५। अभिभवितारम् । विजयकारकम् (यस्मिन्) परमात्मनि (महीः) पृथिव्यः (उरुज्रयः) ज्रयतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। वातेर्डिच्च। उ० ४। १३४। ज्रि गतौ—इण्, डित्। बहुगतिशीलाः (सम्) एकीभूय (धेनवः) प्रीणयित्र्यो वाचः (जायमाने) प्रकटीभूयमाने (अनोनवुः) णु स्तुतौ—यङ् लुकि लङ्। भृशमस्तुवन् (द्यावः) सूर्याः (क्षामः) पृथिव्यः (अनोनवुः) ॥

भावार्थ—जब परमात्मा अपने सामर्थ्य को प्रकट करता है, तब सब पृथिवी आदि लोक उत्पन्न होते हैं, और उस की अद्भुत महिमा को सूर्य पृथिवी आदि लोकों में देख कर सब प्राणी आनन्द पाते हैं ॥ १६ ॥

यद् द्याव॑ इन्द्र ते श॒तं श॒तं भूमी॑रु॒त स्युः ।
न त्वा॑ वज्रिन्त्स॒हस्रं॒ सूर्या॒ अनु॒ न जा॒तम॑ष्ट॒ रोद॑सी ॥ २० ॥

यत् । द्याव॑: । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । श॒तम् । श॒तम् । भूमी॑: । उ॒त । स्यु॒रिति॑ स्युः ॥ न । त्वा॒ । व॒ज्रि॒न् । स॒हस्र॑म् । सूर्या॑: । अनु॑ । न । जा॒तम् । अ॒ष्ट॒ । रोद॑सी॒ इति॑ ॥ २० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जो (शतम्) सौ (द्यावः) अन्तरिक्ष [वायु लोक], (उत) और (शतम्) सौ (भूमीः) भूमि लोक (ते) तेरे [सामने] (स्युः) होवें, [न वे सब] और (न) न (सहस्रम्) सहस्र (सूर्याः) सूर्य लोक और (रोदसी) दोनों अन्तरिक्ष और भूमि लोक [मिलकर) और (न) न (जातम्) उत्पन्न हुआ जगत्, (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [परमात्मन्] (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (अष्ट) पा सके हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—सब असंख्य लोक और पदार्थ अलग अलग होकर अथवा सब मिलकर परमात्मा की महिमा का पार नहीं पा सकते ॥ २० ॥

मन्त्र २०, २१ आ चुके हैं—अ० २० । ८१ । १, २ ॥

आ प॑प्राथ महि॒ना वृष्ण्या॑ वृषन् विश्वा॑ शविष्ठ॒ शव॑सा ।
अ॒स्माँ अ॑व मघवन् गोम॑ति व्र॒जे वज्रि॑ञ् चि॒त्राभि॑रू॒तिभि॑: ॥२१॥

आ । प॒प्राथ॒ । म॒हि॒ना । वृष्ण्या॑ । वृ॒ष॒न् । विश्वा॑ । श॒वि॒ष्ठ॒ । शव॑सा ॥ अ॒स्मान् । अ॒व॒ । म॒घ॒-व॒न् । गो-म॑ति । व्र॒जे । वज्रि॑न् । चि॒त्राभि॑: । ऊ॒ति-भि॑: ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे शूर ! (शविष्ठ) हे अत्यन्त बली ! [परमात्मन्]

२०, २१—व्याख्यातौ—अ० २० । ८१ । १, २ ॥

(महिना) अपने बड़े (शवसा) बल से (विश्वा) सब (वृष्ण्या) शूर के योग्य बलों को (आ) सब ओर से (पप्राथ) तू ने भर दिया है। (मघवन्) हे महाधनी ! (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [शासक परमेश्वर] (गोमति) उत्तम विद्या वाले (व्रजे) मार्ग में (चित्राभिः) विचित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अस्मान्) हमें (अव) बचा ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा से प्रार्थना करके सब पदार्थों से उपकार ले कर यथावत् पालन करें ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४ निचृद् गायत्री; २ गायत्री; ३ स्वराडार्ची गायत्री; ५—८ विराडार्षी गायत्री ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—पमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥

उत् । त्वा । मन्दन्तु । स्तोमाः । कृणुष्व । राधः । अद्रिवः ॥ अव । ब्रह्म-द्विषः । जहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे अन्न वाले ! [वा वज्र वाले परमेश्वर !] (त्वा) तुझ को (स्तोमाः) स्तुति करने वाले लोग (उत्) अच्छे प्रकार (मदन्तु) प्रसन्न करें, तू [हमारे लिये] (राधः) धन (कृणुष्व) कर, (ब्रह्मद्विषः) वेद द्वेषियों को (अव जहि) नष्ट कर दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के गुणों को जानकर विद्याधन और सुवर्ण आदि धन बढ़ावें और अधर्मियों का नाश करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में है—८ । ६४ [सायणभाष्य ५३] । १—३ और कुछ भेद से सामवेद में हैं—उ०६ । १ । तृच ३ और मन्त्र १ साम०—पू०३ । १ । १ ॥

१—(उत्) उत्तमतया (त्वा) (मदन्तु) तर्पयन्तु (स्तोमः) स्तावकाः (कृणुष्व) कुरु (राधः) विद्यासुवर्णादिधनम् (अद्रिवः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन । उ० ४ । ६५ । अद भक्षणे—क्रिन । हे अन्नवन् । वज्रिन् (अव जहि) विनाशय (ब्रह्मद्विषः वेदद्वेषिणः ॥

प्रदा पुणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि । नहि त्वा कश्चन प्रति ॥ २ ॥

प्रदा । पुणीन् । अराधसः । नि । बाधस्व । महान् । असि ॥ नहि । त्वा । कः । चन । प्रति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (पदा) अपनी व्याप्ति से (अराधसः) आराधना न करने वाले (पणीन्) कुव्यवहारी पुरुषों को (नि बाधस्व) रोकता रह, तू (महान्) महान् (असि) है। (कः चन) कोई भी (त्वा प्रति) तेरे समान (नहि) नहीं है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वव्यापक होकर दुष्टों का नाश और धर्मात्माओं की रक्षा करता है ॥ २ ॥

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ३

त्वम् । ईशिषे । सुतानाम् । इन्द्र । त्वम् । असुतानाम् ॥ त्वम् । राजा । जनानाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (सुतानाम्) उत्पन्न हुये पदार्थों का, और (त्वम्) तू (असुतानाम्) न उत्पन्न हुये [परमाणु रूप] पदार्थों का (ईशिषे) स्वामी है, (त्वम्) तू (जनानाम्) उत्पन्न होने वालों का (राजा) राजा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही परमाणुओं के संयोग वियोग से भूत, भविष्यत् और वर्तमान सृष्टि का स्वामी है ॥ ३ ॥

२—(पदा) पद गतौ स्थैर्ये च—क्विप् । गत्या । व्याप्त्या (पणीन्) कुव्यवहारिणः पुरुषान् (अराधसः) अराधसमनाराधयन्तम्—निरु० ५ । १७ । अनाराधनाशीलान् (नि) नितराम् (बाधस्व) विलोडय । अपवृणु (महान्) (असि) (नहि) (कश्चन) कश्चिदपि (त्वा प्रति) त्वया सदृशः ॥

३—(त्वम्) (ईशिषे) ईश्वरो भवसि (सुतानाम्) उत्पन्नानां पदार्थानाम् (इन्द्र) हे परमेश्वर (त्वम्) (असुतानाम्) अनुत्पन्नानां परमाणुरूपपदार्थानाम् (त्वम् (राजा) (जनानाम्) अनिष्पन्नानाम् ॥

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते । भेजानासः सुवीर्यम् ४

ईङ्खयन्तीः । अपस्युवः । इन्द्रम् । जातम् । उप । आसते ॥
भेजानासः । सु-वीर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ईङ्खयन्तीः) चेष्टा करती हुई, (अपस्युवः) काम चाहने वाली, (सुवीर्यम्) बड़े सामर्थ्य को (भेजानासः) सेवन करती हुई प्रजायें (जातम्) प्रकट हुये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (उप आसते) उपासना करती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह सब पदार्थ परमेश्वर के नियम से चेष्टा करते हुये और अपना कर्तव्य करते हुये उस जगदीश्वर की आज्ञा में रहते हैं ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—८ ऋग्वेद में हैं १० । १५३ । १—५; मन्त्र ४ सामवेद पू० २ । ६ । १॥

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन् वृषेदसि ५

त्वम् । इन्द्र । बलात् । अधि । सहसः । जातः । ओजसः ५॥
त्वम् । वृषन् । वृषा । इत् । असि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वम्) तू (बलात्) बल से, (ओजसः) पराक्रम [धैर्य] और (सहसः) जयशीलता से (अधि) अधिक करके (जातः) प्रसिद्ध है । (वृषन्) हे बलवान् ! (त्वम्) तू (वृषा इत्) बलवान् ही (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से सब को अपने वश में रखता है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में भी है—पू० २ । ३ । ६ ॥

४—(ईङ्खयन्तीः) ईखि गतौ—शतृ । गच्छन्त्यः । चेष्टमानाः (अपस्युवः) अपः कर्मात्मन इच्छन्त्यः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (जातम्) प्रादुर्भूतम् (उप आसते) परिचरन्ति (भेजानासः) छान्दसं रूपम् । भजमानाः (सुवीर्यम्) शोभनं बलम् ॥

५—(त्वम्) (इन्द्र) (बलात्) (अधि) अधिकृत्य (सहसः) अभिभवनात् । जयशीलत्वात् (जातः) प्रसिद्धः (ओजसः) पराक्रमात् । धैर्यात् (त्वम्) (वृषन्) हे बलवन् (वृषा) बलवान् (इत्) एव (असि) ॥

त्वमिन्द्राभि वृत्रहा व्यं१ न्तरिक्षमतिरः । उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ६ ॥

त्वम् । इन्द्र । असि । वृत्र-हा । वि । अन्तरिक्षम् । अतिरः ॥ उत् । द्याम् । अस्तभ्नाः । ओजसा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्) (त्वम्) तू (वृत्रहा) अन्धकार नाशक (असि) है, (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि अतिरः) तू ने फैलाया है, और (ओजसा) पराक्रम के साथ (द्याम्) चमकते हुये सूर्य को (उत्) उत्तम रीति से (अस्तभ्नाः) थांभा है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही आकर्षण नियम से सूर्य आदि लोकों को अपने अपने स्थान पर आकाश में स्थिर रखता है ॥ ६ ॥

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः । वज्रं शिशान ओजसा ॥ ७ ॥

त्वम् । इन्द्र । स-जोषसम् । अर्कम् । बिभर्षि । बाह्वोः ॥ वज्रम् । शिशानः । ओजसा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (ओजसा) पराक्रम से (वज्रम) वज्र को (शिशानः) तीक्ष्ण करता हुआ (त्वम्) तू (सजोषसम्) प्रीति युक्त [वा विचारवान्] (अर्कम्) पूजनीय विद्वान् को (बाह्वोः) दोनों भुजाओं पर [जैसे] (बिभर्षि) धारण करता है ॥ ७ ॥

६—(त्वम्) इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन (असि) (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (वि अतिरः) तॄ तरणे—लङ्, अदादित्वम् । विस्तारितवानसि (उत्) उत्तमतया (द्याम्) द्योतमानं सूर्यम् (अस्तभ्नाः) स्तम्भितवानसि (ओजसा) पराक्रमेण ॥

७—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सजोषसम्) प्रीत्या विचारेण वा सह वर्तमानम् (अर्कम्) पूजनीयं पण्डितम् (बिभर्षि) धारयसि (बाह्वोः) भुजयोः (वज्रम्) (शिशानः) निश्यन् । तीक्ष्णीकुर्वन् (ओजसा) पराक्रमेण ॥

भावार्थ—परमात्मा दुष्टों का नाश करता हुआ आज्ञाकारी विचारशील विद्वानों को अपने प्रेम की गोद में बिठा कर बढ़ाता है ॥ ७ ॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा । स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥

त्वम् । इन्द्र । अभि-भूः । असि । विश्वा । जातानि । ओजसा ॥ सः । विश्वाः । भुवः । आ । अभवः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (ओजसा) पराक्रम से (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न वस्तुओं को (अभिभूः) वश में रखने वाला (असि) है, (सः) सो तू (विश्वाः) सब (भुवः) भूमियों को (आ) सब ओर से (अभवः) प्राप्त हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब संसार को वश में रखकर सब स्थानों में व्यापक है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ८४ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी त्रिष्टुप्; २, १० निचृत् त्रिष्टुप्; ३, ११ त्रिष्टुप्; ४, ६, ७, ६, विराड् जगती; ५ भुरिक् त्रिष्टुप्; ८ निचृज्जगती ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् । प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन ॥१॥

आ । यातु । इन्द्रः । स्व-पतिः । मदाय । यः । धर्मणा । तूतुजानः । तुविष्मान् ॥ प्र-त्वक्षाणः । अति । विश्वा । सहांसि । अपारेण । महता । वृष्ण्येन ॥ १ ॥

८—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (अभिभूः) अभिभविता । वशीकर्ता (असि) (विश्वा) सर्वाणि (जातानि) उत्पन्नानि भूतानि (ओजसा) पराक्रमेण (सः) स त्वम् (विश्वाः) सर्वाः (भुवः) भूमीः (आ) समन्तात् (अभवः) भू प्राप्तौ । प्राप्तवानसि ॥

भाषार्थ—(स्वपतिः) धन का स्वामी वा स्वयं स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (मदाय) हमारे आनन्द के लिये (आ यातु) आवे, (यः) जो [राजा] (धर्मणा) धर्म के साथ (तूतुजानः) फुरतीला, (तुविष्मान्) वृद्धि वाला और (अपारेण) अपने अपार (महता) बड़े (वृष्ण्येन) साहस से [बैरियों के] (विश्वा) सब (सहांसि) जीतने वाले बलों को (अति) सर्वथा (प्रत्वक्षमाणः) रेतने वाला [छीलने वाला] है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा परस्पर सहाय करके शत्रुओं का नाश करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ४४ । १-११ ॥

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ ।
शीभं राजन् सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि॥२॥
सु-स्थामा । रथः । सु-यमा । हरी इति । ते । मिम्यक्ष । वज्रः । नृ-पते । गभस्तौ ॥ शीभम् । राजन् । सु-पथा । आ । याहि । अर्वाङ् । वर्धाम । ते । पपुषः । वृष्ण्यानि ॥२

भाषार्थ—(नृपते) हे नरपति ! [मनुष्यों के स्वामी] (ते) तेरा (रथः) रथ (सुष्ठामा) दृढ़ बैठकों वाला है, (हरी) दोनों घोड़े (सुयमा) अच्छे साधे हुये हैं, (गभस्तौ) हाथ में (वज्रः) वज्र (मिम्यक्ष) प्राप्त हुआ

१—(आ यातु) आगच्छतु (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (स्वपतिः) धनपतिः स्वयं पतिर्वा (मदाय) अस्माकं हर्षाय (यः) इन्द्रः (धर्मणा) शास्त्रोक्तव्यवहारेण (तूतुजानः) त्वरमाणः (तुविष्मान्) वृद्धिमान् (प्रत्वक्षमाणः) प्रकर्षेण तनू कुर्वन् (अति) सर्वथा (विश्वा) सर्वाणि (सहांसि) अभिभवशीलानि बलानि (अपारेण) पाररहितेन (महता) प्रवृद्धेन (वृष्ण्येन) वृषकर्मणा । साहसेन ॥

२—(सुष्ठामा) दृढावस्थानयुक्तः (रथः) (सुयमा) सुयमौ । सुशिक्षितौ (हरी) अश्वौ (ते) तव (मिम्यक्ष) म्यक्षतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४, लिट् । प्राप्तो बभूव (वज्रः) आयुधम् (नृपते) नृणां पालक राजन् (गभस्तौ) बाहौ । हस्ते (शीभम्) अथ० ३ । १३ । २ । शीघ्रम् (राजन्)

है। (राजन्) हे राजन् ! (सुपथा) सुन्दर मार्ग से (शीभम्) शीघ्र (अर्वाङ्) सामने होकर (आ याहि) आ, (पपुषः ते) तुझ रक्षक के (वृष्ण्यानि) बलों को (वर्धाम) हम बढ़ावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा रथ, अश्व आदि सेना सजाकर वैरियों पर चढ़ाई करे, प्रजागण सहाय करके उसका बल बढ़ावें ॥ २ ॥

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम् ।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ॥ ३ ॥

आ । इन्द्र-वाहः । नृ-पतिम् । वज्र-बाहुम् । उग्रम् । उग्रासः । तविषासः । एनम् ॥ प्र-त्वक्षसम् । वृषभम् । सत्य-शुष्मम् । आ । ईम् । अस्म-त्रा । सध-मादः । वहन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नृपतिम्) मनुष्यों के स्वामी, (वज्रबाहुम्) भुजा पर वज्र रखने वाले, (उग्रम्) प्रचण्ड (प्रत्वक्षसम्) [शत्रुओं के] रेत डालने वाले, (वृषभम्) सुख की बरसा करने वाले, (ईम्) प्राप्ति योग्य (एनम्) इस (सत्यशुष्मम्) सच्चे बल रखने वाले [राजा] को (उग्रासः) प्रचण्ड, (तविषासः) बलवान् (सधमादः) मिलकर उत्सव मनाने वाले, (इन्द्रवाहः)

(सुपथा) शोभनेन मार्गेण (आ याहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (वर्धाम) वर्धयाम (ते) तव (पपुषः) पा रक्षणे—कसु । रक्षकस्य (वृष्ण्यानि) बलानि ॥

३—(आ) समन्तात् (इन्द्रवाहः) वह प्रापणे—णिव । इन्द्रस्य वोढारोऽश्वगजादयः (नृपतिम्) (वज्रबाहुम्) हस्ते वज्रयुक्तम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (उग्रासः) उग्राः (तविषासः) तवेर्णिद्वा । उ० १ । ४८ । तव वृद्धौ—टिषच् कसुक् च । तविषाः । बलवन्तः (एनम्) (प्रत्वक्षसम्) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । प्र + त्वक्षू तनूकरणे—असि । शत्रूणां प्रकर्षेण तनूकर्तारम् (वृषभम) सुखस्य वर्षकम् (सत्यशुष्मम्) यथार्थबलो-

ऐश्वर्यवान् राजा के वाहन [घोड़ा हाथी आदि] (अस्मत्रा) हमारे बीच में (आ आ वहन्तु) अवश्य ही लावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा अपने बलवान् सैनिकों के साथ शत्रुओं के मारने को उद्यत होवे ॥ ३ ॥

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज स्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे ॥ ४

एव । पतिम् । द्रोण-साचम् । स-चेतसम् । ऊर्जः । स्कम्भम् । धरुणे । आ । वृष-यसे ॥ ओजः । कृष्व । सम् । गृभाय । त्वे इति । अपि । असः । यथा । के-निपानाम् । इनः । वृधे ४

भाषार्थ—[हे राजन् !] (एव) इस प्रकार से (पतिम्) पालन करने वाले, (द्रोणसाचम्) ज्ञान से सींचने वाले, (सचेतसम्) सचेत, (ऊर्जः) बल के (स्कम्भम्) खम्भे रूप पुरुष से (धरुणे) धारण करने में (आ) सब प्रकार (वृषयसे) तू बलवान् के समान आचरण करता है। तू (ओजः) पराक्रम को (कृष्व) कर और (त्वे) अपने में [उस को] (सम् गृभाय) एकत्र कर, (अपि) और (केनिपानाम्) आत्मा में झुकने वाले बुद्धिमानों के (इनः यथा) स्वामी के समान (वृधे) बढ़ती के लिये (असः) तू वर्तमान हो ॥४॥

प्रेतम् (आ) समन्तात् (ईम्) प्राप्तव्यम् (अस्मत्रा) अस्मासु (सधमादः) सहमादयन्तः (वहन्तु) प्रापयन्तु ॥

४—(एव) एवम् (पतिम्) पालकम् (द्रोणसाचम्) कृवृजृसिद्रु० । उ०३ । १० । द्रु गतौ—नप्रत्ययः + षच समवाये सेचने च—ण्वि । ज्ञानेन सेक्तारम् (सचेतसम्) चेतसा युक्तम् (ऊर्जः) बलस्य (स्कम्भम्) स्तम्भं यथा (धरुणे) धारणे (आ) समन्तात् (वृषयसे) वृषन्—क्यङ् । वृषेव बलवानिवाचरसि (ओजः) बलम् (कृष्व) कुरुष्व (सम् गृभाय) सं गृहाण (त्वे) त्वयि (अपि) निश्चय (असः) भवेः (यथा) सादृश्ये (केनिपानाम्) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । के + नि + पत्लृ पतने—डप्रत्ययः । के आत्मनि पतन्ति केनिपाः । आकेनिपो मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । मेधाविनाम् (इनः) स्वामी (वृधे) वर्धनाय ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वीर बुद्धिमान् पुरुषों के साथ दया करके बल बढ़ावे और प्रजा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ॥ ५ ॥

गमन्। अस्मे इति। वसूनि। आ। हि। शंसिषम्। सु-आशिषम्। भरम्। आ। याहि। सोमिनः॥ त्वम्। ईशिषे। सः। अस्मिन्। आ। सत्सि। बर्हिषि। अनाधृष्या। तव। पात्राणि। धर्मणा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्मे) हम को (वसूनि) अनेक धन (आ गमन्) आवें, (हि) क्योंकि (शंसिषम्) मैं कहता हूं, (सोमिनः) शान्त स्वभाव वाले के (स्वाशिषम्) सुन्दर आशीर्वाद वाले (भरम्) पोषण व्यवहार को (आ) सब प्रकार (याहि) तू प्राप्त हो। (त्वम्) तू (ईशिषे) स्वामी है, (सः) सो तू (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) उत्तम आसन पर (आ) आकर (सत्सि) बैठ (तव) तेरे (पात्राणि) रक्षा साधन (धर्मणा) धर्म के साथ (अनाधृष्या) अजेय हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की सम्मति से सिंहासन पर विराजकर उत्तम साधनों से रक्षा करके धन की वृद्धि करे ॥ ५ ॥

५—(आ गमन्) आगच्छन्तु (अस्मे) अस्मभ्यम् (वसूनि) धनानि (हि) यतः (शंसिषम्) शंस कथने—लुङ्। कथयामि (स्वाशिषम्) शोभनाशीर्वादयुक्तम् (भरम्) पोषणम् (आ) समन्तात् (याहि) प्राप्नुहि (सोमिनः) शान्तस्वभावयुक्तस्य (त्वम्) (ईशिषे) ईश्वरो भवसि (सः) स त्वम् (अस्मिन्) (आ) आगत्य (सत्सि) सीद (बर्हिषि) उत्तमासने (अनाधृष्या) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्यप्। धर्षितुमशक्यानि। अजेयानि (तव) (पात्राणि) रक्षासाधनानि (धर्मणा) शास्त्रविहितव्यवहारेण ॥

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥६॥

पृथक् । प्र । आयन् । प्रथमाः । देव-हूतयः । अकृण्वत । श्रवस्यानि । दुस्तरा ॥ न । ये । शेकुः । यज्ञियाम् । नावम् । आ-रुहम् । ईर्मा । एव । ते । नि । अविशन्त । केपयः॥६॥

भाषार्थ—(प्रथमाः) मुखिया, (देवहूतयः) विद्वानों के बुलाने वाले पुरुष (पृथक्) अलग अलग [अर्थात् कोई वीरता, कोई विद्यावृद्धि आदि गुण से] (प्र) आगे (आयन्) गये हैं. और उन्हों ने (दुस्तरा) दुस्तर [बड़े कठिन] (श्रवस्यानि) यश के कर्म (अकृण्वत) किये हैं । (ये) जो (यज्ञियाम्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान] की (नावम्) नाव पर (न आरुहं शेकुः) नहीं चढ़ सके हैं, (ते) वे (केपयः) दुराचारी (ईर्मा) मार्ग में (एव) ही (नि अविशन्त) टिक रहे हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की शिक्षा से अनेक कठिन कामों को पूरा करके यश बढ़ावें, और दुष्कर्मियों के समान श्रेष्ठ कर्मों को छोड़कर निन्द-नीय कर्मों में न पड़ें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ५ । २५ में भी व्याख्यात है ॥

६—(पृथक्) नाना प्रकारेण, केचद् वीरत्वेन केचद् विद्यावृद्ध्यादिना (प्र) प्रकर्षेण (आयन्) इण् गतौ—लङ् । अगच्छन् (प्रथमाः) मुख्याः (देवहूतयः) विदुषामाह्वातारः (अकृण्वत) अकुर्वन (श्रवस्यानि) श्रवणी-यानि यशांसि (दुस्तरा) दुःखेन तरणीयानि (न) निषेधे (ये) पुरुषाः (शेकुः) शक्ता बभूवुः (यज्ञियाम्) यज्ञसम्बन्धिनीम् (नावम्) नौकाम् (आरु-हम्) शकि णमुल्कमुलौ । पा० ३ । ४ । १२ । रोहतेः कमुल् तुमर्थे । आरोढुम् (ईर्मा) इषियुधीन्धि उ० १ । १४५ । ईर् गतौ—मक् , विभक्तेर्डा । ईर्मे गन्तव्ये मार्गे (एव) अवधारणे (ते) पुरुषाः (नि अविशन्त) निवेशं स्थितिस्थानं प्राप्नुवन् (केपयः) कु+पय गतौ—क्विप् , कुशब्दस्य के इत्यादेशः । केपयः कपूया भवन्ति कपूयमिति पुनाति कर्म कुत्सितं दुष्पूयं भवति—निरु० ५ । २४ । कुत्सितगतयः । दुराचारिणः ॥

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे । इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥ ७ ॥

एव । एव । अपाक् । अपरे । सन्तु । दुः-ध्यः । अश्वाः । येषाम् । दुः-युजः । आ-युयुज्रे ॥ इत्था । ये । प्राक् । उपरे । सन्ति । दावने । पुरूणि । यत्र । वयुनानि । भोजना ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(एव) ऐसे (एव) ही (अपरे) वे दूसरे [वेद विरोधी] (दूढ्यः) दुर्बुद्धि लोग (अपाक्) नीच गति में (सन्तु) होवें, (येषाम्) जिन के (दुर्युजः) कठिनाई से जुतने वाले [अति प्रबल] (अश्वाः) घोड़े (आयुयुज्रे) बांध दिये गये [हठरा दिये गये] हैं । (इत्था) इसी प्रकार (प्राक्) उत्तम गति में (सन्तु) वे होवें, (ये) जो लोग (उपरे) निवृत्ति [विषयों के त्याग] में (दावने) दान के लिये हैं, (यत्र) जिस [दान] में (पुरूणि) बहुत से (वयुनानि) कर्म और (भोजनानि) पालन साधन धन आदि हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—दुर्बुद्धि वेद विरोधी मनुष्य बहुत प्रयत्न करने पर भी श्रेष्ठ कर्म नहीं कर सकते, और जो पुरुष कुविषयों को छोड़कर वेदाज्ञा में आत्म-दान करते हैं, वे अनेक प्रकार धन आदि प्राप्त करके संसार में उत्तम गति भोगते हैं ॥ ७ ॥

७—(एव) एवम् (एव) अवधारणे (अपाक्) अ + अञ्चु गतौ—क्विन्, यथा भवति तथा । अधोगतौ (अपरे) अन्ये वेदविरोधिनः (सन्तु) (दूढ्यः) दुर्धियः । दुर्बुद्धयः (अश्वाः) तुरङ्गाः (येषाम्) (दुर्युजः) युज संयमने—क्विन् । दुर्योजनीयाः । अतिप्रबलाः (आयुयुज्रे) युज संयमने—कर्मणि लिट् । सम्यग् बद्धाः स्थितिं प्राप्ता बभूवुः (इत्था) अनेन प्रकारेण (ये) (प्राक्) प्रकृष्टगमने (उपरे) उप + रमतेर्ड प्रत्ययः । उपरतौ निवृत्तौ । विषयत्यागे (सन्ति) (दावने) ददातेः—वनिप् । दानाय (पुरूणि) बहूनि (यत्र) यस्मिन् दाने (वयुनानि) कर्माणि (भोजना) भोजनानि । पालन-साधनानि धनानि—निघ० २ । १ ॥

गिरीँरज्रान् रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददुन्तरिक्षाणि कोपयत्। समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥ ८ ॥

गिरीन्। अज्रान्। रेजमानान्। अधारयत्। द्यौः। क्रन्दत्। अन्तरिक्षाणि। कोपयत् ॥ समीचीने इति सम्-ईचीने। धिषणे इति। वि। स्कभायति। वृष्णः। पीत्वा। मदे। उक्थानि। शंसति ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(क्रन्दत्) पुकारता हुआ (द्यौः) प्रकाशमान् परमात्मा (अज्रान्) चलते हुये और (रेजमानान्) कांपते हुये (गिरीन्) मेघों को (अधारयत्) धारण करता और (अन्तरिक्षाणि) आकाशस्थ लोकों को (कोपयत्) प्रकाशित करता, (समीचीने) आपस में मिले हुये (धिषणे) दोनों सूर्य और भूमि को (वि) विविध प्रकार (स्कभायति) थांभता और (वृष्णः) ऐश्वर्यों को (पीत्वा) ग्रहण करके (मदे) आनन्द में (उक्थानि) कहने योग्य वचनों का (शंसति) उपदेश करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा भाफ रूप मेघ को धारण करके वृष्टि करता, जगत् को रचता, सूर्य, भूमि आदि लोकों को आकर्षण द्वारा दृढ़ रखता और ऋषियों द्वारा वेदों का उपदेश करता है, सब मनुष्य उसी की उपासना करें ॥ ८ ॥

८—(गिरीन्) मेघान् (अज्रान्) अ० २० । ६१ । ५ । शीघ्रगमनान् (रेजमानान्) कम्पयमानान् (अधारयत्) धारयति (द्यौः) प्रकाशमानः परमात्मा (क्रन्दत्) क्रदि आह्वाने रोदने च—शतृ । क्रन्दन् । आह्वयन् (अन्तरिक्षाणि) आकाशस्थलोकान् (कोपयत्) कुप द्युतौ क्रोधे च । दीपयति । प्रकाशयति (समीचीने) संगच्छमाने (धिषणे) अ० २० । ३१ । ५ । द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० । सूर्यभूमिलोकौ (वि) विविधम् (स्कभायति) स्तम्नाति स्तम्भियति (वृष्णः) वृषु सेचने ऐश्वर्ये च—कनिन् । ऐश्वर्याणि (पीत्वा) गृहीत्वा (मदे) आनन्दे (उक्थानि) कथनीयानि वचनानि (शंसति) उपदिशति ॥

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन् बोध्याभगः ८

इमम्। बिभर्मि। सु-कृतम्। ते। अङ्कुशम्। येन। आ-रुजासि। मघ-वन्। शफ-आरुजः॥ अस्मिन्। सु। ते। सवने। अस्तु। ओक्यम्। सुते। इष्टौ। मघ-वन्। बोधि। आ-भगः॥ ८॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! (इमम्) इस (सुकृतम्) दृढ़ बने हुये (अङ्कुशम्) अङ्कुश को (ते) तेरे लिये (बिभर्मि) मैं रखता हूं, (येन) जिस [कारण] से (शफारुजः) शान्ति भंजकों को (आरुजासि) तू नष्ट करे। (अस्मिन्) इस (सवने) ऐश्वर्य के बीच (ते) तेरा (ओक्यम्) निवास (सु) भले प्रकार (अस्तु) होवे, (इष्टौ) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान] के बीच (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस में, (मघवन्) हे महाधनी ! (आभगः) बड़ा ऐश्वर्य (बोधि) जाना जाता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग राजा की रक्षा के लिये अङ्कुश आदि हथियार धारण कर के शत्रुओं को हटाकर ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ८ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

८—(इमम्) दृश्यमानम् (बिभर्मि) धरामि (सुकृतम्) दृढनिर्मितम् (ते) तुभ्यम् (अङ्कुशम्) आयुधविशेषम् (येन) कारणेन (आरुजासि) आरुजसि। आभिमुख्येन पीडयसि (मघवन्) हे धनवन् (शफारुजः) अ० ८। ३। २१। शम शान्तौ—अच्, मस्य फः, शफ+आ+रुजो भङ्गे—क्विप्। शान्तिसम्भञ्जकान् (अस्मिन्) (सु) सुष्ठु (ते) तव (सवने) ऐश्वर्यै (अस्तु) (ओक्यम्) ओकः। निवासः (सुते) संस्कृते तत्त्वरसे (इष्टौ) यज्ञे। देवपूजादिव्यवहारे (मघवन्) (बोधि) अबोधि। ज्ञायते (आभगः) समन्ताद् ऐश्वर्यम् ॥

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुः-एवाम् । यवेन । क्षुधम् । पुरु-हूत । विश्वाम् ॥ वयम् । राज-भिः । प्रथमाः । धनानि । अस्माकेन । वृजनेन । जयेम ॥ १० ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये! [राजन्] (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गति वाली (अमतिम्) कुमति [वा कङ्गाली] को और (यवेन) अन्न से (विश्वाम्) सब (क्षुधम्) भूख को (तरेम) हम हटावें। (वयम्) हम (राजभिः) राजाओं के साथ (प्रथमाः) प्रथम श्रेणी वाले होकर (धनानि) अनेक धनों को (अस्माकेन) अपने (वृजनेन) बल से (जयेम) जीतें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके विद्याओं द्वारा कुमति और निर्धनता हटाकर भोजन पदार्थ प्राप्त करें और अपने भुज बल से महाधनी होकर राजाओं के साथ प्रथम श्रेणी वाले होवें ॥ १० ॥

मन्त्र १०, ११ आ चुके हैं—अ० २० । १७ । १०, ११ । और कुछ भेद से—२० । ८६ । १०, ११ ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ११

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्-तरस्मात् । अधरात् । अघ-योः ॥ इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखि-भ्यः । वरिवः । कृणोतु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े शूरों का रक्षक सेनापति] (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से (उत्तरस्मात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतने वाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरिवः) सेवनीय धन

१०, ११—मन्त्रौ व्याख्यातौ—अ० २० । १७ । १०, ११ ॥

(कृणोतु) करे, (सखा) [जैसे] मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर दुष्टों से प्रजा की सदा रक्षा करें ॥ ११ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ अष्टिः; २, ३ अतिजगती; ४ भुरिगतिजगती ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत् । स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥

त्रि-कद्रुकेषु । महिषः । यव-आशिरम् । तुवि-शुष्मः । तृपत् । सोमम् । अपिबत् । विष्णुना । सुतम् । यथा । अवशत् ॥ सः । ईम् । ममाद । महि । कर्म । कर्तवे । महाम् । उरुम् । सः । एनम् । सश्चत् । देवः । देवम् । सत्यम् । इन्द्रम् । सत्यः । इन्दुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रिकद्रुकेषु) तीन [शारीरिक, आत्मिक] और सामाजिक [उन्नतियों] के विधानों में (तृपत्) तृप्त होते हुये (महिषः) महान् (तुविशुष्मः) बहुत बल वाले [शूर] ने (विष्णुना) बुद्धिमान् मनुष्य वा व्यापक परमेश्वर करके (सुतम्) निचोड़े हुये, (यवाशिरम्) अन्न के भोजन युक्त (सोमम्) सोम

१—(त्रिकद्रुकेषु) अ० २ । ५ । ७ । त्रि+कद कदि आह्वाने—क्रुन्, कप् च । तिसृणां शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीनां कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु (महिषः) महान् (यवाशिरम्) अ० २० । २४ । ७ । अन्नभोजनयुक्तम् । (तुविशुष्मः) बहुबलः (तृपत्) नुमभावः । तृप्यन् (सोमम्) तत्त्वरसम् (अपिबत्) पीतवान् (विष्णुना) कर्मसु व्यापकेन विदुषा सर्वव्यापकेन परमे-

श्वरण [तत्त्व रस] को (अपिबत्) पिया है, (यथा) जैसा (अवशत्) उस [शूर] ने चाहा। (सः) उस [तत्वरस] ने (ईम्) प्राप्ति योग्य, (महाम्) महान् (उरुम्) लम्बे चौड़े पुरुष को (महि) बड़े (कर्म) कर्म (कर्तवे) करने के लिये (ममाद) हर्षित किया है, (सः) वह (देवः) दिव्य (सत्यः) सत्य गुण वाला, (इन्दुः) ऐश्वर्यवान् [तत्वरस] (एनम्) इस (देवम्) कामना योग्य, (सत्यम्) सच्चे [सत्यकर्मा] (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] को (सश्चत्) व्यापा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करके परमात्मा और विद्वानों के सिद्धान्तों पर चलता है, वही शूर संसार में बड़े बड़े कर्म करके सर्वहितैषी होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२। २२। १, सामवेद—पू० ५। ८। १। तथा साम०—उ० ६। ३। २० ॥

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत । अभीके चिदु लोककृत् संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ २ ॥

प्रो इति । सु । अस्मै । पुरः-रथम् । इन्द्राय । शूषम् । अर्चत ॥ अभीके । चित् । ऊं इति । लोक-कृत् । सम्-गे । समत्-सु । वृत्र-हा । अस्माकम् । बोधि । चोदिता । नभन्ताम् । अन्यकेषाम् । ज्याकाः । अधि । धन्व-सु ॥ २ ॥

वा (सुतम्) निष्पादितम् (यथा) येन प्रकारेण (अवशत्) वश कान्तौ—छान्दसः शप्। अवष्ट। अकामयत (सः) सोमः (ईम्) प्राप्तव्यम् (ममाद) हर्षितवान् (महि) महत् (कर्म) कर्तव्यम् (कर्तवे) तुमर्थे तवेन्। कर्तुम् (महाम्) महान्तम् (उरुम्) विस्तृतम् (सः) सोमः (एनम्) (सश्चत्) सश्चतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। असश्चत्। व्याप्तवान् (देवः) दिव्यः (देवम्) कमनीयम् (सत्यम्) यथार्थकर्माणम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं मनुष्यम् (सत्यः) सत्यगुणयुक्तः (इन्दुः) इदि परमैश्वर्ये—उ। परमैश्वर्यवान् सोमः ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (अस्मै) इस (इन्द्राय) इन्द्र [महा प्रतापी राजा] के लिये (पुरोरथम्] रथ को आगे रखने वाले (शूषम्) शत्रुओं के सुखाने वाले बल का (सु) भले प्रकार से (प्रो) अवश्य ही (अर्चत) आदर करो। (अभीके) समीप में (चित् उ) ही (संगे) मिलने पर (समत्सु) परस्पर खाने के स्थान सङ्ग्रामों में (वृत्रहा) शत्रुनाशक (अस्माकम्) हमारा (चोदिता) प्रेरक [उत्साह बढ़ाने वाला] और (लोककृत्) स्थान करने वाला (बोधि) जाना गया है। (अन्यकेषाम्) दूसरे खोटे लोगों की (ज्याकाः) निर्बल डोरियां (धन्वसु अधि) धनुषों पर चढ़ी हुई (नभन्ताम्) टूट जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस शूर राजा के प्रताप से उपद्रवी शत्रु लोग हार मानें और प्रजागण आगे बढ़ें, विद्वान् पुरुष उस वीर का सदा मान करें ॥ २ ॥

मन्त्र २—४ ऋग्वेद में हैं—१० । १३३ । १—३ । और सामवेद—उ० ६ । १ । तृच १४ ॥

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽध॒राचो॒ अह॒न्नहि॑म् । अ॒श॒त्रुरि॑न्द्र जज्ञिषे विश्वं॑ पुष्यसि॒ वार्यं॒ तं त्वा॒ परि॑ ष्वजामहे॒ नभं० ॥ ३ ॥

त्वम् । सिन्धू॑न् । अव॑ । अ॒सृ॒जः॒ । अ॒ध॒राचः॑ । अह॑न् ।

२—(प्रो) प्र उ इति निपातसमुदायः । ओत् । पा० १ । १ । १५ । इति प्रगृह्यम् । प्रकर्षेणैव । अवश्यमेव (सु) सुष्ठु (अस्मै) (पुरोरथम्) अग्रे रथयुक्तम् (इन्द्राय), महाप्रतापिने राज्ञे (शूषम्) अ०२०। ७१ । १६ । शत्रुशोषकं बलम् (अर्चत) सत्कुरुत (अभीके) अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । अभि + इण् गतौ-कीकन् । धातोर्लोपः । आसन्ने—निरु० ३ । २० (चित्) एव (उ) अवधारणे (लोककृत्) स्थानस्य कर्ता (संगे) संगमे (समत्सु) परस्परादनस्थानेषु संग्रामेषु (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (अस्माकम्) (बोधि) अबोधि । ज्ञायते (चोदिता) प्रेरकः । उत्साहवर्धकः (नभन्ताम्) नभतेर्वधकर्मा—निघ० २ । १६ । हिंस्यन्ताम् । नश्यन्तु (अन्यकेषाम्) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० ५ । ३ । ७१ । अन्य- अकच् । कुत्सितानामन्येषां शत्रूणाम् (ज्याकाः) कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । ज्या—कप्रत्ययः । कुत्सिता निर्बला ज्याः (अधि) उपरि (धन्वसु) धनुःषु ॥

अहिम् ॥ अशत्रुः । इन्द्र । जज्ञिषे । विश्वम् । पुष्यसि । वार्यम् । तम् । त्वा । परि । स्वजामहे । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्वम्) तू ने (अधराचः) नीचे को बहने वाले (सिन्धून्) नदी नालों को (अव असृजः) छोड़ दिया है, (अहिम्) मारने वाले विघ्न को (अहन्) तू ने मारा है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] तू (अशत्रुः) निर्वैरी (जज्ञिषे) हो गया है, (विश्वम्) सब (वार्यम्) जल में होने वाले [अन्न आदि] को (पुष्यसि) तू पुष्ट करता है, (तम्) उस (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजामहे) हम मिलते हैं। (अन्यकेषाम्) दूसरे खोटे लोगों की ... ... [मन्त्र २] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा पहाड़ आदि जल स्थानों से नदी नाले निकाल कर खेती आदि उद्यम को बढ़ावे, जिस से प्रजागण उस से प्रीति करें ॥ ३ ॥

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नंशन्त नो धियः। अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ४ ॥

वि । सु । विश्वाः । अरातयः । अर्यः । नशन्त । नः । धियः ॥ अस्ता । असि । शत्रवे । वधम् । यः । नः । इन्द्र । जिघांसति । या । ते । रातिः । ददिः । वसु । नभन्ताम् । अन्यकेषाम् । ज्याकाः । अधि । धन्व-सु ॥ ४ ॥

३—(त्वम्) (सिन्धून्) स्यन्दनशीलान् जलपूरान्। नदीः कुल्याः (अव असृजः) अवसृष्टवान् निर्गमितवानसि (अधराचः) अधोमुखमञ्चतो गन्तून् (अहन्) हतवानसि (अहिम्) आहन्तारं विघ्नम् (अशत्रुः) शत्रुरहितः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (जज्ञिषे) जनेर्लिट्। प्रादुर्बभूविथ (विश्वम्) सर्वम् (पुष्यसि) वर्धयसि (वार्यम्) वार्—यत्। वारि जले भवमुत्पन्नमन्नादिकम् (तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (परि) परितः (स्वजामहे) ष्वञ्ज आलिङ्गने। आलिङ्गामः। संगच्छामहे। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (अर्यः) शत्रु की (विश्वाः) सब (अरातयः) कंजूस प्रजायें और (धियः) बुद्धियां (सु) सर्वथा (वि नशन्त) नष्ट हो जावें। (इन्द्र) हे इन्द्र [महाप्रतापी राजन्] तू (शत्रवे) उस वैरी पर (वधम्) शस्त्र (अस्ता) चलाने वाला (असि) है, (यः) जो (नः) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है, (या) जो (ते) तेरी (रातिः) दान शक्ति है, [वह] (वसु) धन को (ददिः) देने वाली है। (अन्यकेषाम्) दूसरे खोटे लोगों की (ज्याकाः) निर्बल डोरियां (धन्वसु अधि) धनुषों पर चढ़ी हुई (नमन्ताम्) टूट जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि दुष्ट लोग उपद्रव न मचावें और सदाचारी राजभक्त सन्तुष्ट होकर सुखी रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ९६ ॥ १—२४ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप् ; २ विराट् त्रिष्टुप् ; ४, ५ विराडार्ष त्रिष्टुप् ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च। इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन् तुभ्यमिमे सुतासः॥१

तीव्रस्य। अभि-वयसः। अस्य। पाहि। सर्व-रथा। वि। हरी इति। इह। मुञ्च॥ इन्द्र। मा। त्वा। यजमानासः। अन्ये। नि। रीरमन्। तुभ्यम्। इमे। सुतासः॥ १॥

४—(वि) विविधम् (सु) सर्वथा (विश्वाः) सर्वाः (अरातयः) अदात्र्यः प्रजाः (अर्यः) अरेः। शत्रोः (नशन्त) नश्यन्तु (नः) अस्माकम् (धियः) बुद्धयः (अस्ता) क्षेप्ता (असि) (शत्रवे) (वधम्) आयुधम् (यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् ('जिघांसति) हन्तुमिच्छति (या) (ते) तव (रातिः) दानशक्तिः (ददिः) ददातेः-किप्रत्ययः। न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्। पा० २ । ३ । ६९ । इति वसुशब्दात् षष्ठ्यभावः। दात्री (वसु) धनम्। सिद्धमन्यत्-म० २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (अस्य) इस (तीव्रस्य) तीक्ष्ण [शीघ्र बलदायक] (अभिवयसः) प्राप्त अन्न की (पाहि) तू रक्षा कर और (सर्वरथा) सब रथों के योग्य (हरी) अपने दोनों घोड़ों को (इह) यहां पर (वि मुञ्च) छोड़ दे । (त्वा) तुझ को (यजमानासः) यजमानों के गिराने वाले [अथवा यजमानों से भिन्न] (अन्ये) दूसरे [विरोधी] लोग (मा नि रीरमन्) न रोक लेवें, (तुभ्यम्) तेरे लिये (इमे) यह (सुतासः) सिद्ध किये हुये [तत्व रस] हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अन्न आदि बलदायक पदार्थों की रक्षा करके प्रजा की बात सुने और बैरियों के फन्दों में न पड़कर श्रेष्ठों के सिद्धान्तों को माने १

मन्त्र १—५ ऋग्वेद में हैं—१० । १६० । १—५ ॥

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति । इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम् ॥२

तुभ्यम् । सुताः । तुभ्यम् । ऊं इति । सोत्वासः । त्वाम् । गिरः । श्वात्र्याः । आ । ह्वयन्ति ॥ इन्द्र । इदम् । अद्य । सवनम् । जुषाणः । विश्वस्य । विद्वान् । इह । पाहि । सोमम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (तुभ्यम्) तेरे

१—(तीव्रस्य) तीक्ष्णस्य । क्षिप्रंबलकरस्य (अभिवयसः) वयोऽन्नम्-निघ० २ । ७ । अभिगतस्य प्राप्तस्यान्नस्य (अस्य) समीपस्थस्य (पाहि) रक्षां कुरु (सर्वरथा) सर्वरथयोग्यौ (वि मुञ्च) विसृज (हरी) अश्वौ (इह) अत्र (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (यजमानासः) यजमान + असु क्षेपणे—क्विप् । यजमानानां क्षेप्तारः । यद्वा । सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा०७ । १ । ३६ । पञ्चम्यर्थे प्रथमा, अलुक् च । यजमानेभ्यः सकाशात् पृथग्भूताः (अन्ये) अपरे । विरोधिनः (नि) नितराम् (रीरमन्) रमु उपरमे—णिचि लुङ् । अडभावो माङ्योगे । उपरमयन्तु । निवर्तयन्तु (तुभ्यम्) त्वदर्थम् (इमे) लभ्यमानाः (सुतासः) संस्कृतास्तत्वरसाः ॥

२—(तुभ्यम्) त्वदर्थम् (सुताः) संस्कृतास्तत्वरसाः (तुभ्यम्) (उ)

लिये (सुताः) सिद्ध किये हुये, (उ) और (तुभ्यम्) तेरे लिये (सोत्वासः) सिद्ध होने वाले [तत्त्व रस] हैं, (त्वाम्) तुझ को (श्वाञ्याः) गति वाली [प्रजा] की (गिरः) वाणियां (आह्वयन्ति) बुलाती हैं । (अद्य) अब (इदम्) इस (सवनम्) ऐश्वर्य कर्म का (जुषाणः) सेवन करता हुआ और (विश्वस्य) सब का (विद्वान्) जानने वाला तू (इह) यहां पर (सोमम्) उत्पन्न संसार की (पाहि) रक्षा कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि भूत भविष्यत् और वर्तमान को विचार कर प्रजा की सदा रक्षा करे ॥ २ ॥

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति । न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥३॥

यः । उशता । मनसा । सोमम् । अस्मै । सर्व-हृदा । देव-कामः । सुनोति ॥ न । गाः । इन्द्रः । तस्य । परा । ददाति । प्र-शस्तम् । इत् । चारुम् । अस्मै । कृणोति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवकामः) दिव्यगुण चाहने वाला मनुष्य (उशता)कामना वाले (मनसा) मन से और (सर्वहृदा) पूरे हृदय से (अस्मै) इस [संसार] के लिये (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (सुनोति) निचोड़ता है । (इन्द्रः) इन्द्र [महा प्रतापी राजा] (तस्य) उस [मनुष्य] की (गाः)

च (सोत्वासः) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । सुनोतेः—त्वन् सोतव्याः । संस्कर्तव्याः (त्वाम्) (गिरः) वाण्यः (श्वाञ्याः) श्वात्रतिर्गति-कर्मा—निघ० २ । १४ । अच् प्रत्ययः, ङीप् । गतिशीलायाः प्रजायाः (आ ह्वयन्ति) आक्रोशन्ति (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (इदम्) (अद्य) (सवनम्) ऐश्वर्यकर्म (जुषाणः) सेवमानः (विश्वस्य) सर्वस्य (विद्वान्) ज्ञाता (इह) अत्र (पाहि) रक्ष (सोमम्) उत्पन्नं संसारम् ॥

३—(यः) पुरुषः (उशता) कामयमानेन (मनसा) चित्तेन (सोमम्) तत्त्वरसम् (अस्मै) दृश्यमानाय संसाराय (सर्वहृदा) पूर्णहृदयेन (देवकामः) दिव्यगुणान् कामयमानः (सुनोति) निष्पादयति (न) निषेधे (गाः) वाणीः (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (तस्य) पुरुषस्य (परा ददाति) परादानं विनाशः ।

वाणियों को (न) नहीं (परा ददाति) नष्ट करता है, (अस्मै) उसके लिये वह (प्रशस्तम्) प्रशंसनीय, (चारुम्) मनोहर व्यवहार (इत्) ही (कृणोति) करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा और विद्वान लोग संसार के हित के लिये परस्पर श्रेष्ठ व्यवहार करें ॥ ३ ॥

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान् न सुनोति सोमम्।
निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥

अनु-स्पष्टः । भवति । एषः । अस्य । यः । अस्मै । रेवान् । न । सुनोति । सोमम् ॥ निः । अरत्नौ । मघ-वा । तम् । दधाति । ब्रह्म-द्विषः । हन्ति । अननु-दिष्टः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषः) वह [मनुष्य] (अस्य) इस [शूर पुरुष] का (अनुस्पष्टः) सर्वथा स्पष्ट [दृष्टि गोचर] (भवति) होता है, (यः) जो [मनुष्य] (रेवान् न) धनवान् के समान (अस्मै) उस [शूर] के लिये (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] (सुनोति) निचोड़ता है । (मघवा) धनवान् [शूर](तम्)उस [मनुष्य] को (अरत्नौ) अपनी गोद में (निः) निश्चय करके (दधाति) बैठालता है, और (अननुदिष्टः) बिना कहा हुआ [वह शूर] (ब्रह्मद्विषः) वेद विरोधियों को (हन्ति) मारता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा बुद्धिमान् राजभक्तों पर सदा दया दृष्टि रक्खे ॥ ४ ॥

विनाशयति (प्रशस्तम्) प्रशंसनीयम् (इत्) एव (चारुम्) मनोहरं व्यवहारम् (अस्मै) पुरुषाय (कृणोति) करोति ॥

४—(अनुस्पष्टः) निरन्तरस्पष्टः । दृष्टिगोचरः (भवति) (एषः) स मनुष्यः (अस्य) प्रसिद्धस्य शूरस्य (यः) मनुष्यः (अस्मै) शूराय (रेवान्) धनवान् (न) इव (सुनोति) निष्पादयति (सोमम्) तत्त्वरसम् (निः) निश्चयेन (अरत्नौ) ऋतन्यञ्जि० । उ० ४ । २ । ऋ गतौ—कत्निच् , रत्निर्बद्धमुष्टिकरः स नास्ति यत्र । विस्तृतकनिष्ठाङ्गुलिमुष्टिकहस्ते । हस्ते । क्रोडे (मघवा) धनवान् (तम्) पुरुषम् (दधाति) स्थापयति (ब्रह्मद्विषः) वेदद्वेष्टॄन् (हन्ति) नाशयति (अननुदिष्टः) अनुदेशमप्राप्तः । अनुक्तः । अप्रार्थितः ॥

अश्वायन्तो गव्यन्तो वाजयन्तो हवामहे त्वोपगन्तवा उ ।
आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां वयमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥ ५ ॥

अश्व-यन्तः । गव्यन्तः । वाजयन्तः । हवामहे । त्वा । उप-गन्तवै । ऊं इति ॥ आ-भूषन्तः । ते । सु-मतौ । नवायाम् । वयम् । इन्द्र । त्वा । शुनम् । हुवेम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अश्वायन्तः) घोड़े चाहते हुये, (गव्यन्तः) भूमि चाहते हुये, (वाजयन्तः) बल वा अन्न चाहते हुये हम (त्वा) तुझे (उपगन्तवै) आने के लिये (उ) अवश्य कर के (हवामहे) बुलाते हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (ते) तेरी (नवायाम्) श्रेष्ठ (सुमतौ) सुमति में (आभूषन्तः) शोभा पाते हुये (वयम्) हम (त्वा) तुझ को (शुनम्) सुख से (हुवेम) बुलावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रजागण धर्मात्मा राजा की नीति में चलकर सदा उन्नति करें ॥ ५ ॥

मन्त्राः, ६—१० ॥ राजयक्ष्मघ्नं देवता ॥ ६ आर्षी; ७ त्रिष्टुप्; ८ निचृत् त्रिष्टुप्; ९ विराट् त्रिष्टुप्; १० निचृदनुष्टुप् ॥

रोगनाशनोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्त-

५—(अश्वायन्तः) अश्व—क्यच्, शतृ । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । इत्यात्वम् । अश्वान् इच्छन्तः (गव्यन्तः) गो—क्यच्, शतृ । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७९ । अवादेशः । गां भूमिमिच्छन्तः (वाजयन्तः) बलमन्नं वेच्छन्तः (हवामहे) आह्वयामः (त्वा) त्वाम् (उपगन्तवै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । गमेः—तवैप्रत्ययः । आगन्तुम् (उ) अवधारणे (आभूषन्तः) अलंक्रियमाणाः । शोभयमानाः (ते) तव (सुमतौ) शोभनायां बुद्धौ (नवायाम) णु स्तुतौ—अप् । स्तुत्यायाम् (वयम्) (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (त्वा) (शुनम्) सुखेन (हुवेम) आह्वयेम ॥

मेनम् ॥ ६ ॥

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञात-यक्ष्मात् । उत । राज-यक्ष्मात् ॥ ग्राहिः । जग्राह । यदि । एतत् । एनम् । तस्याः । इन्द्राग्नी इति । प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति के साथ (कम्) सुख से (जीवनाय) जीवन के लिये (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकट रोग से (उत) और (राजयक्ष्मात्) राजरोग से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (यदि) जो (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] ने (एतत्) इस समय (एनम्) इस प्राणी को (जग्राह) पकड़ लिया है, (तस्याः) उस [पीड़ा] से, (इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि (एनम्) इस [प्राणी] को (प्र मुमुक्तम्) तुम छोड़ाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य गुप्त और प्रकट रोगों से विचार पूर्वक रोगी को अच्छा करता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि अर्थात् सूर्य से लेकर अग्नि पर्यन्त अर्थात् दिव्य और पार्थिव सब पदार्थों से उपकार लेकर, अथवा सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वानों से मिलकर, अपने दोषों को मिटाकर यशस्वी होवे ॥ ६ ॥

मन्त्र ६—६ आ चुके हैं—अ० ३ । ११ । १—४ ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ ७ ॥

यदि । क्षित-आयुः । यदि । वा । परा-इतः । यदि मृत्योः । अन्तिकम् । नि-इतः । एव ॥ तम् । आ । हरामि । निः-ऋतेः । उप-स्थात् । अस्पार्शम् । एनम् । शत-शारदाय ॥७॥

६—६—व्याख्याताः—अ० ३ । ११ । १—४ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे [यह] (क्षितायुः) टूटी आयु वाला, (यदि वा) अथवा (परेतः) अंग भंग है, (यदि) चाहे (मृत्योः) मृत्यु के (अन्तिकम्) समीप (एव) ही (नीतः=नि—इतः) आ चुका है। (तम्) उस को (निर्ऋतेः) महामारी की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) लिये आता हूं, (एनम्) इस को (शतशारदाय+जीवनाय) सौ शरद ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (अस्पार्शम् मैं ने छुआ है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर वैद्य यत्न करके भारी भारी रोगियों को चंगा करता है, ऐसे ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक कठिन संकट पड़ने पर अपने आत्मा को प्रबल रक्खे ॥ ७ ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥८॥
सहस्र-अक्षेण । शत-वीर्येण । शत-आयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य । दुः-इतस्य । पारम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षेण) सहस्रों नेत्र वाले, (शतवीर्येण) सैकड़ों सामर्थ्य वाले, (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम्) मैं ने उभारा है। (यथा) जिस से (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मनुष्य (एनम्) इस [जीव] को (विश्वस्य) प्रत्येक (दुरितस्य) कष्ट के (पारम्) पार (अति=अतीत्य) निकालकर (शरदः) [सौ] शरद ऋतुओं तक (नयाति) पहुंचावे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य एकाग्र चित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दर्शन शक्ति, कर्म शक्ति और जीविका शक्ति बढ़ाकर अपने को सुधारता है, तब वह इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलझाकर यशस्वी होकर चिरंजीवी होता है ॥८॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषा-

७—(अस्पार्शम्) स्पृष्टवानस्मि । अन्यद् गतम् ॥

हार्षमेनम् ॥ ९ ॥

श॒तम् । जी॒व॒ । श॒रदः॑ । वर्ध॑मानः । श॒तम् । हे॒मन्ता॑न् । श॒तम् । ऊँ॒ इति॑ । व॒स॒न्तान् ॥ श॒तम् । ते॒ । इन्द्रः॑ । अ॒ग्निः । स॒वि॒ता । बृह॒स्पतिः॑ । श॒त-आ॑युषा । ह॒वि॒षा॑ । आ । अ॒हा॒र्ष॒म् । ए॒न॒म् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(वर्धमानः+त्वम्) बढ़ती करता हुआ तू (शतं शरदः) सौ शरद ऋतुओं तक, (शतं हेमन्तान्) सौ शीत ऋतुओं तक (उ) और (शतं वसन्तान्) सौ बसन्त ऋतुओं तक (जीव) जीता रह। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (अग्निः) तेजस्वी विद्वान्, (सविता) सब के चलाने वाले, (बृहस्पतिः+अहं जीवः) बड़े बड़ों के रक्षक मैं ने (शतम्) अनेक प्रकार से (ते) तेरे लिये (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम् उभारा है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य उचित रीति से वर्षा, शीत और उष्ण ऋतुओं को सहकर बहुप्रकार मन्त्रोक्त विधि पर विद्या आदि बल से शक्तिमान् होकर जीविका उपार्जन करता हुआ आत्मा की उन्नति करे ॥ ९ ॥

आहा॑र्ष॒मवि॑दं त्वा॒ पुन॒राग॑ाः॒ पुन॑र्णवः ।
सर्वा॑ङ्ग॒ः सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च॒ तेऽवि॑दम् ॥ १० ॥

आ । आ॒हा॒र्ष॒म् । अवि॑दम् । त्वा॒ । पुन॒रिति॑ । आ । अ॒गाः॒ । पुनः॑-नवः ॥ सर्व॑-अङ्ग । सर्व॑म् । ते॒ । चक्षुः॑ । सर्व॑ । आयुः॑ । च॒ । ते॒ । अ॒वि॒द॒म् ॥ १० ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ को (आ अहार्षम्) मैं ने ग्रहण किया है और (अविदम्) मैं ने पाया है, तू (पुनर्णवः) नवीन होकर (पुनः) फिर (आ अगाः) आया है। (सर्वाङ्ग) हे सम्पूर्ण [विद्या] के अङ्ग वाले ! (तेरे) लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (चक्षुः) दर्शन सामर्थ्य (च) और (ते)

१०—अयं व्याख्यातः—अ० ८ । १ । २० ॥

तेरे लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (अविदम्) मैं ने पायी है ॥] १० ॥

भावार्थ—जिस पुरुष को आचार्य स्वीकार करके विद्यादान देकर द्विजन्मा बनाता है, वह सब प्रकार विद्या से प्रकाशित होकर उत्तम जीवन युक्त होता है ॥ १० ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ८ । १ । २० । ॥

मन्त्र ११—१६ ॥ गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तं देवता ॥ ११, १२, १४ निचृद्-नुष्टुप्; १३, १५ १६ अनुष्टुप् ॥

गर्भरक्षोपदेशः—गर्भ रक्षा का उपदेश ॥

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः ।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ११ ॥

ब्रह्मणा । अग्निः । सम्-विदानः । रक्षः-हा । बाधताम् । इतः ॥ अमीवा । यः । ते । गर्भम् । दुः-नामा । योनिम् । आ-शये ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे गर्भिणी !] (ब्रह्मणा) विद्वान् वैद्य से (संविदानः) मेल रखता हुआ, (रक्षोहा) राक्षसों [रोगों] का नाश करने वाला (अग्निः) अग्नि [अग्नि के समान रोग भस्म करने वाला औषध] (इतः) यहां से [उस रोग को] (बाधताम्) हटावे, (यः) जो कोई (दुर्णामा) दुर्नामा [दुष्ट नाम वाले बवासीर आदि रोग का कीड़ा] (अमीवा) पीड़ा होकर (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भाशय [कोख] और (योनिम्) योनि [गुप्त-उत्पत्ति मार्ग] को (आशये) घेर लेता है ॥ ११ ॥

११—(ब्रह्मणा) विदुषा वैद्येन सह (अग्निः) अग्निसमानं रोगस्य भस्मीकरमौषधम् (संविदानः) ऐकमत्यं प्राप्तः (रक्षोहा) रक्षसां रोगाणां नाशकः (बाधताम्) हिनस्तु तं रोगम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (अमीवा) पीड़ा (यः) (ते) तव (गर्भम्) गर्भाशयम् (दुर्णामा) अ० ८ । ६ । १ । दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा—निरु० ६ । १२ । अर्शआदिरोगजन्तुः (योनिम्) गुप्तोत्पत्तिमार्गम् (आशये) तलोपः । आशेते । प्राप्नोति ॥

भावार्थ—स्त्री की कोख और योनि के रोग जन्तुओं को विद्वान् वैद्यों की सम्मति से दूर करना चाहिये ॥ ११

मन्त्र ११—१६ ऋग्वेद में हैं—१० । १६२ । १—६ ॥

इन मन्त्रों से मिलाओ—अ० का० ८ । सू० ६ ॥

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥ १२ ॥

यः । ते । गर्भम् । अमीवा । दुः-नामा । योनिम् । आ-शये ॥
अग्निः । तम् । ब्रह्मणा । सह । निः । क्रव्य-अदम् ।
अनीनशत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे गर्भिणी !] (यः) जो कोई (दुर्णामा) दुर्नामा [दुष्ट नाम वाला बवासीर आदि रोग का कोड़ा] (अमीवा) पीड़ा होकर (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भाशय [कोख] और (योनिम्) योनि [गुप्त उत्पत्ति मार्ग] को (आशये) घेर लेता है, (ब्रह्मणा सह) विद्वान् वैद्य के साथ (अग्निः) अग्नि [अग्नि समान् रोग भस्म करने वाला औषध] (तम्) उस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले [रोग] को (निः) सर्वथा (अनीनशत्) नाश करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ११ के समान है ॥ १२ ॥

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् ।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १३ ॥

यः । ते । हन्ति । पतयन्तम् । नि-सत्स्नुम् । यः । सरीसृपम् ॥
जातम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे गर्भिणी !] (यः) जो कोई [रोग] (ते) तेरे [गर्भा-

१२—(यः ते गर्भम्…) इत्यादयो गताः सुगमाश्च (निः) निःशेषेण (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं रोगम् (अनीनशत्) नाशयतु ॥

१३—(यः) रोगः (ते) तव गर्भाशये (हन्ति) नाशयति (पतयन्तम्)

शय में] (पतयन्तम्) गिरते हुये [वीर्य रूप गर्भ] को और (निषत्स्नुम्) जमते हुये [अंकुये अर्थात् बालक] को और (यः) जो कोई [रोग] (सरीसृपम्) डोलते हुये गर्भ को (हन्ति) नाश करे, और (यः) जो कोई [रोग] (ते) तेरे (जातम्) उत्पन्न हुये बच्चे को (जिघांसति) मारना चाहे, (तम्) उस [रोग] को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १३ ॥

भावार्थ—उत्तम वैद्यों द्वारा रोगों का नाश करके गर्भ और उत्पन्न हुये बच्चे की रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

यस्त॑ ऊ॒रू वि॒हर॑त्यन्त॒रा दम्प॑ती॒ शये॑ ।

योनिं॒ यो अ॒न्तरा॒रेल्हि॒ तमि॒तो ना॑शयामसि ॥ १४ ॥

यः । ते॒ । ऊ॒रू इति॑ । वि॒ऽहर॑ति । अ॒न्त॒रा । दम्प॑ती॒ इति॑ दम्ऽप॑ती । शये॑ ॥ योनि॑म् । यः । अ॒न्तः । आ॒ऽरेल्हि॑ । तम् । इ॒तः । ना॒श॒या॒म॒सि॒ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई [रोग] (ते) तेरी (ऊरू) दोनों जंघाओं को (विहरति) फैला दे और (दम्पती अन्तरा) पति पत्नी के बीच में (शये) पड़ जावे और (यः) जो कोई [रोग] (योनिम्) योनि को (अन्तः) भीतर से (आरेल्हि) चाट लेवे, (तम्) उस [रोग] को (इतः) यहां से (नाश-

---

पतन्तं वीर्यरूपगर्भम् (निषत्स्नुम्) ग्लाजिस्थश्च क्स्नु । पा० ३ । २ । १३९। नि + षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्स्नु ग्स्नु वा। निषीदन्तं गर्भम् (यः) रोगः (सरीसृपम्) अ० ३ । १० । ६ । सृपेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यच् । सर्पणशीलं गर्भम् (जातम्) दशसु मासेषूत्पन्नं गर्भम् (यः) रोगः (ते) तव (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (तम्) रोगम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) नाशयामः ॥

१४—(यः) रोगः (ते) तव (ऊरू) जंघे । पादमूलौ (विहरति) विश्लिष्टे करोति (दम्पती अन्तरा) जायापत्योर्मध्ये (शये) शेते । वर्तते (योनिम्) गर्भाशयम् (यः) रोगः (अन्तः) मध्ये (आरेल्हि) लिह आस्वादने, आदादिकः, कपिलकादित्वात् लत्वविकल्पः । आस्वादयति । शोषयति

यामसि) हम नाश करें ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस रोग से स्त्री की जांघें फैल जावें, और जिस रोग से सन्तान उत्पन्न करने में स्त्री पुरुषों को विघ्न होवे और योनि आदि में सूखा का रोग लग जावे, उस सब का औषध करना चाहिये ॥ १४ ॥

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १५ ॥

यः । त्वा । भ्राता । पतिः । भूत्वा । जारः । भूत्वा । नि-पद्यते ॥ प्र-जाम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो कोई (जारः) व्यभिचारी (भ्राता) भाई (भूत्वा) होकर [अथवा] (पतिः) पति (भूत्वा) होकर (त्वा) तेरे पास (निपद्यते) आ जावे, [अथवा] (यः) जो कोई [दुष्ट] (ते) तेरे (प्रजाम्) सन्तान को (जिघांसति) मारना चाहे, (तम्) उस को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो कोई दुराचारी जन भाई वा पति के समान बन कर घर में आकर उपद्रव करे, उसका नाश करना चाहिये ॥ १५ ॥

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १६ ॥

यः । त्वा । स्वप्नेन । तमसा । मोहयित्वा । नि-पद्यते ॥ प्र-जाम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि ॥१६

निषक्तं रेतः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(यः) दुराचारी (त्वा) त्वाम् (भ्राता) भ्रातृरूपः (पतिः) भर्तृरूपः (भूत्वा) (जारः) व्यभिचारी (भूत्वा) (निपद्यते) अभिगच्छति (प्रजाम्) सन्तानम् (यः) दुराचारी (ते) तव (जिघांसति) हन्तुमिच्छति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो कोई [दुष्ट] (स्वप्नेन) नींद से [अथवा] (तमसा) अंधेरे से (मोहयित्वा) घबड़ा देकर (त्वा) तेरे पास (निपद्यते) आजावे, और (यः) जो कोई (ते) तेरे (प्रजाम्) सन्तान को (जिघांसति) मारना चाहे, (तम्) उस [दुष्ट] को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो कोई दुष्ट जन नींद की औषधि से अथवा अंधेरा करके कुछ हानि करे, उसका नाश करना चाहिये ॥ १६ ॥

मन्त्राः १७—२३ ॥ आत्मा देवता ॥ १७, २० अनुष्टुप्, १८ निचृदनुष्टुप्; १६ विराडनुष्टुप्; २१ निचृदुपरिष्टाद् बृहती; २२ भुरिगनुष्टुप्; २३ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षोपदेशः—शारीरिक विषय में शरीर रक्षा का उपदेश ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि । यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १७ ॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि ॥ यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १७ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से, (नासिकाभ्याम्) दोनों नथनों से, (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात् अधि=चुबुकात् अधि) ठोड़ी में से, (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वायाः) जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर में के (यक्ष्मम्) क्षयी [क्षयी रोग] को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ १७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में शिर के अवयवों का वर्णन है । जैसे सद्वैद्य उत्तम औषधों से रोगों की निवृत्ति करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक

१६— (यः) दुष्टः (त्वा) त्वाम् (स्वप्नेन) निद्रौषधेन (तमसा) अन्धकारेण (मोहयित्वा) मूढां कृत्वा (निपद्यते) अभिगच्छति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१७—२३ व्याख्याताः—अ० २ । ३३ । १—७ ॥

और शारीरिक दोषों को विचार पूर्वक नाश करे ॥

मन्त्र १७—२३ आ चुके हैं—अ० २। ३३। १—७॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं१ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ १८ ॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् ॥ यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहु-भ्याम् । वि । वृहामि । ते ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले की नाड़ियों से, (उष्णिहाभ्यः) गुद्दी की नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हंसली की हड्डियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ से और (ते) तेरे (अंसाभ्याम्) दोनों कंधों से, और (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से, (दोषण्यम्) भुड्ढे वा बक्खे से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ १८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ग्रीवा के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ १८ ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ १९ ॥

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्ष्णात् । पार्श्वाभ्याम् ॥ यक्ष्मम् । मतस्नाभ्याम् । प्लीह्नः । यक्नः । ते । वि । वृहामसि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्ते से, (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कांखों [कक्षाओं] से और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनों मतस्नों [गुर्दों] से, (प्लीह्नः) प्लीहा वा पिलई [तिल्ली] से, (यक्नः) यकृत् [काल खण्ड वा कलेजा] से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामसि) हम उखाड़े देते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कन्धों के नीचे के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ १९ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ २० ॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ॥
यक्ष्मम् । कुक्षि-भ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते २०

भाषार्थ—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से, (वनिष्ठोः) वनिष्ठु [भीतरी मल स्थान] से, (उदरात् अधि) उदर में से, और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) प्लाशि [कोख में की थैली] से, और (नाभ्याः) नाभि में से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ २० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उदर के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ २० ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् । यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ २१ ॥

ऊरु-भ्याम् । ते । अष्ठीवत्-भ्याम् । पार्ष्णि-भ्याम् । प्र-पदाभ्याम् ॥ यक्ष्मम् । भसद्यम् । श्रोणि-भ्याम् । भासदम् । भंससः । वि । वृहामि । ते ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरी (ऊरुभ्याम्) दोनों जंघाओं से, (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से (पार्ष्णिभ्याम्) दोनों एड़ियों से, (प्रपदाभ्याम्) दोनो पैरों के पंजों से और (ते) तेरे (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हों से [वा नितम्बों से] और (भंससः) गुह्य स्थान से (भसद्यम्) कटि [कमर] के और (भासदम्) गुह्य के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥२१॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कटि के नीचे के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ २१ ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः । यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ २२ ॥

अ॒स्थि-भ्यः॑ । ते॒ । म॒ज्ज-भ्यः॑ । स्नाव॑-भ्यः । धम॑नि--भ्यः ॥ यक्ष्म॑म् । पा॒णि-भ्या॑म् । अ॒ङ्गुलि-भ्यः॑ । न॒खेभ्यः॑ । वि । वृ॒हा॒मि॒ । ते॒ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अस्थिभ्यः) हड्डियों से, (मज्जभ्यः) मज्जा धातु [हड्डी के भीतर के रस] से, (स्नावभ्यः) सूक्ष्म नाड़ियों [वा पुट्ठों] से, और (धमनिभ्यः) स्थूल नाड़ियों से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अङ्गुलियों से और (नखेभ्यः) नखों से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओं, नाड़ियों और हाथ-आदि बाहिरी अङ्गों को यथा योग्य आहार विहार से पुष्ट और स्वस्थ रक्खें, जिस से आत्मिक शक्ति सदा बढ़ती रहे ॥ २२ ॥

अङ्गे॑अङ्गे॒ लोम्नि॑लोम्नि॒ यस्ते॒ पर्व॑णिपर्वणि । यक्ष्मं॒ त्वच॒स्यं॑ ते व॒यं क॒श्यप॑स्य वीब॒र्हेण॒ विष्व॑ञ्चं॒ वि वृ॑हामसि ॥ २३ ॥

अङ्गे॑-अङ्गे । लोम्नि-लोम्नि । ते॒ । पर्व॑णि-पर्व॑णि ॥ यक्ष्म॑म् । त्व॒च॒स्य॑म् । ते॒ । व॒यम् । क॒श्यप॑स्य । वि॒-ब॒र्हेण॑ । वि॒ष्व॑ञ्चम् । वि । वृ॒हा॒म॒सि॒ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षयी रोग] (ते) तेरे (अङ्गेअङ्गे) अङ्ग अङ्ग में, (लोम्निलोम्नि) रोम रोम में और (पर्वणिपर्वणि) गांठ गांठ में है। (वयम्) हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवों में व्यापक (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (कश्यपस्य) ज्ञानदृष्टि वाले विद्वान् के (विबर्हेण) विविध उद्यम से (वि वृहामसि) जड़ से उखाड़ते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपसंहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवों का वर्णन करके अन्य सब अवयवों का कथन है। जिस प्रकार सद्वैद्य निदान पूर्वक रोगी के जोड़ जोड़ में से रोग को नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी

पुरुष निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषों को मिटाकर प्रसन्नचित्त होता है ॥ २३ ॥

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर । परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ २४ ॥

अप । इहि । मनसः । पते । अप । क्राम । परः । चर ॥ परः । निःऽऋत्यै । आ । चक्ष्व । बहुधा । जीवतः । मनः ॥२४

मन्त्र २४ ॥ दुःस्वप्नघ्नं देवता ॥ निचृदनुष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

भाषार्थ—(मनसः पते) हे मन के गिराने वाले ! [दुष्ट स्वप्न आदि रोग] (अप इहि) निकल जा, (अप क्राम) पैर उठा, (परः) परे (चर) चला जा । (निर्ऋत्यै) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि] को (परः) दूर [जाने के लिये] (आ चक्ष्व) कह दे, (जीवतः) जीवित मनुष्य का (मनः) मन (बहुधा) बहुत प्रकार से [बहुत विषयों में उत्सुक] होता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि उत्तम विचारों के साथ स्वास्थ्य की रक्षा करें और निरालसी होकर शुभ कर्मों को सेवते हुये ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १६४ । १ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

२४—(अप इहि) अप गच्छ । निर्गच्छ (मनसः) चित्तस्य (पते) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । पत्लृ पतने—इन् । अधोगमयितः (अपक्राम) पादौ विक्षिप (परः) परस्तात् । दूरे (चर) गच्छ (परः) परस्तात् (निर्ऋत्यै) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तये (आ) आभिमुख्येन (चक्ष्व) ब्रूहि (बहुधा) बहुप्रकारेण । बहुषु विषयेषूत्सुकम् (जीवतः) जीवितस्य (मनः) चित्तम् ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी बृहती; २ निचृद् विष्टारपङ्क्तिः; ३ आर्ष्यनुष्टुप् ॥

वीरलक्षणोपदेशः—वीर के लक्षणों का उपदेश ॥

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम् । तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते ॥ १ ॥

वयम् । एनम् । इदा । ह्यः । अपीपेम । इह । वज्रिणम् ॥ तस्मै । ऊं इति । अद्य । समना । सुतम् । भर । आ । नूनम् । भूषत । श्रुते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम ने (इदा) परम ऐश्वर्य के साथ [वर्तमान] (एनम्) इस (वज्रिणम्) वज्रधारी [वीर] को (ह्यः) कल्य (इह) यहां पर [तत्त्व रस] (अपीपेम) पान कराया है । [हे विद्वान्] (तस्मै) उस (समना) पूर्ण बल वाले [शूर] के लिये (उ) ही (अद्य) आज (सुतम्) सिद्ध किये हुये [तत्त्व रस] को (भर) भरदे, और (नूनम्) निश्चय करके (श्रुते) सुनने योग्य शास्त्र के बीच (आ) सब ओर से (भूषत) तुम शोभा बढ़ाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस पराक्रमी वीर को सदा तत्त्व ज्ञान का उपदेश होता है, वहां प्रत्येक मनुष्य अलग अलग और सब मनुष्य मिलकर विज्ञान की उन्नति करते हैं ॥ १ ॥

१—(वयम्) (एनम्) (इदा) इदि परमैश्वर्ये-क्विप्, नलोपः । परमैश्वर्येण सह वर्तमानम् (ह्यः) गतदिने (अपीपेम) पीङ् पाने जुहोत्यादौ लङ् परस्मैपदं छान्दसम् । पानं कारितवन्तः (इह) अत्र (वज्रिणम्) (तस्मै) (उ) निश्चयेन (अद्य) अस्मिन् दिने (समना) अन प्राणने—अच्, विभक्तेर्डा । समनाय । पूर्णबलवते (सुतम्) संस्कृतं तत्त्वरसम् (भर) धर (आ) समन्तात् (नूनम्) अवश्यम (भूषत) अलं कुरुत (श्रुते) श्रवणीये शास्त्रे ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८। ६६ [सायणभाष्य ५५] । ७-६ मन्त्र १,२ सामवेद—उ० ८ । २ । १३; मन्त्र १—साम० —पू० ३ । ८ । १० ॥

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति । सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥ २ ॥

वृकः । चित् । अस्य । वारणः । उरा-मथिः । आ । वयुनेषु । भूषति ॥ सः । इमम् । नः । स्तोमम् । जुजुषाणः । आ । गहि । इन्द्र । प्र । चित्रया । धिया ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वारणः) रोकने वाला (उरामथिः) भेड़ों का मथने वाला (वृकः) भेड़िया (चित्) भी (अस्य) इस [वीर] के (वयुनेषु) कर्मों में (आ) अनुकूल (भूषति) हो जाता है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले शूर] (सः) सो तू (नः) हमारे (इमम्) इस (स्तोमम्) स्तोत्र को (जुजुषाणः) स्वीकार करता हुआ (चित्रया) विचित्र (धिया) बुद्धि वा कर्म के साथ (प्र) भले प्रकार (आ गहि) आ ॥ २ ॥

भावार्थ—शूर प्रतापी राजा भेड़िये की प्रकृति वाले दुष्टों को विचित्र नीति से वश में करके प्रजा को सुखी करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र के अर्थ के लिये देखो—निरु० ५ । २१ ॥

कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् । केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा ॥ ३ ॥

२—(वृकः) वृक आदाने—क । श्वापि वृक उच्यते विकर्तनात्—निरु० ५ । २१ । व्याघ्रभेदः (चित्) अपि (वारणः) वारयिता (उरामथिः) उरामथिः । उरणमथिः । उरण ऊर्णावान् भवत्यूर्णा पुनर्वृणोतेरूर्णोतेर्वा—निरु० ५ । २१ । मेषाणां मथिता नाशयिता (आ) समन्तात् । आनुकूल्येन (वयुनेषु) कर्मसु (भूषति) भवति (सः) स त्वम् (इमम्) (नः) अस्माकम् (स्तोमम्) स्तोत्रम् (जुजुषाणः) सेवमानः । स्वीकुर्वाणः (आ गहि) आगच्छ (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् वीर (प्र) प्रकर्षेण (चित्रया) अद्भुतया (धिया) बुद्ध्या कर्मणा वा ॥

कत् । ऊं इति । नु । अस्य । अकृतम् । इन्द्रस्य । अस्ति । पौंस्यम् ॥ केनो इति । नु । कम् । श्रोमतेन । न । शुश्रुवे । जनुषः । परि । वृत्र-हा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले वीर] का (नु) अब (कत् उ) कौन सा (पौंस्यम्) पौरुष (अकृतम्) बिना किया हुआ (अस्ति) है ? (केनो) किस (श्रोमतेन) श्रुति [वेद] मानने वाले करके (नु) अब (जनुषः परि) जन्म से लेकर (वृत्रहा) शत्रुनाशक [वीर-पुरुष] (कम्) सुख से (न) नहीं (शुश्रुवे) सुना गया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विश्वकर्मा होकर अपना सब धार्मिक कर्तव्य कर लेता है, तब वह वीर समस्त संसार में बड़ाई पाता है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद्बृहती ; २ स्वराडार्षी बृहती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥ १ ॥

त्वाम् । इत् । हि । हवामहे । साता । वाजस्य । कारवः ॥ त्वाम् । वृत्रेषु । इन्द्र । सत्-पतिम् । नरः । त्वाम् । काष्ठासु । अर्वतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (कारवः)

३—(कत्) किम् (उ) एव (नु) इदानीम् (अस्य) (अकृतम्) अनाचारितम् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो वीरस्य (अस्ति (पौंस्यम्) पौरुषम् (केनो) केनापि (नु) इदानीम् (कम्) सुखेन (श्रोमतेन) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । श्रु श्रवणे—डोप्रत्ययः + मन ज्ञाने पूजायां च—क । ओः श्रवणीयो वेदो मतः संमानितो येन तेन (न) निषेधे (शुश्रुवे) श्रु श्रवणे—कर्मणि लिट् । श्रूयते स्म (जनुषः) जन्मनः सकाशात् (परि) (वृत्रहा) शत्रुनाशकः ॥

१—(त्वाम्) (इत्) एव (हि) (हवामहे) आह्वयामः (साता) सातौ ।

काम करने वाले, (नरः) नेता लोग हम (त्वाम्) तुझ को (इत् हि) ही (वाजस्य) विज्ञान के (साता) लाभ में, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के पालने वाले (त्वाम्) तुझ को (वृत्रेषु) धनों में, और (त्वाम्) तुझ को (काष्ठासु) बड़ाइयों के बीच (अर्वतः) घोड़ों को जैसे (हवामहे) पुकारते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—कार्यकर्ता लोग राजा के सहाय से विद्या, धन और विजय की प्राप्ति करें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—६ । ४६ । १,२; यजुर्वेद—२७ । ३७, ३८; सामवेद उ० २ । १ । १२ और मन्त्र १ साम०—पू० ३ । ५ । २ ॥

स त्वं न॑श्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया म॒ह स्त॑वा॒नो अ॑द्रिवः ।
गामश्वं॑ र॒थ्य॑मिन्द्र॒ सं कि॑र स॒त्रा वाजं॒ न जि॒ग्युषे॑ ॥ २ ॥

सः । त्वम् । नः॒ । चि॒त्र॒ । व॒ज्र॒-ह॒स्त॒ । धृ॒ष्णु॒-या । म॒हः । स्त॒वा॒नः । अ॒द्रि॒-वः॒ ॥ गाम् । अश्व॑म् । र॒थ्य॑म् । इ॒न्द्र॒ । सम् । कि॒र॒ । स॒त्रा । वाज॑म् । न । जि॒ग्युषे॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(चित्र) हे अद्भुत स्वभाव वाले ! (वज्रहस्त) हे हाथ में वज्र रखने वाले ! (अद्रिवः) हे अन्न वाले ! (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (सः) सो (धृष्णुया) निर्भय (महः) बड़े लोगों की (स्तवानः) स्तुति करता हुआ (त्वम्) तू (नः) हमारे लिये (रथ्यम्) रथ के योग्य (गाम्) बैल

विभागे। लाभे (वाजस्य) विज्ञानस्य (कारवः) कर्तारः (त्वाम्) (वृत्रेषु) धनेषु (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (सत्पतिम्) सत्पुरुषाणां पालकम् (नरः) नेतारः (त्वाम्) (काष्ठासु) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । काशृ दीप्तौ—क्थन्। काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि—अमरः २३ । ४१ । उत्कर्षेषु (अर्वतः) अश्वानिव ॥

२—(सः) (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (चित्र) अद्भुतस्वभाव (वज्रहस्त) शस्त्रपाणे (धृष्णुया) विभक्तेर्या—पा० ७ । १ । ३९ । धृष्णुः । प्रगल्भः (महः) महतः पुरुषान् (स्तवानः) प्रशंसन् (अद्रिवः) हे अन्नवन् (गाम्) वृषभम् (अश्वम्) तुरङ्गम्) (रथ्यम्) रथस्य वोढारम् (इन्द्र)

और (अश्वम्) घोड़ों को (सं किर) संग्रह कर, (न) जैसे (सत्रा) सत्य के साथ (जिग्युषे) जीतने वाले वीर को (वाजम्) अन्नआदि पदार्थ [देते हैं] ॥२॥

भावार्थ—जैसे विजयी योद्धा लोग अन्न पान आदि पदार्थों से प्रतिष्ठा पाते हैं, वैसे ही अन्य विद्वान् लोग अपनी चतुराई के कारण योग्य प्रतिष्ठा और धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ९९ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृत् पथ्या बृहती; २ स्वराडार्षी बृहती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः । समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । पूर्व-पीतये । इन्द्र । स्तोमेभिः । आयवः ॥ सम्-ईचीनासः । ऋभवः । सम् । अस्वरन् । रुद्राः । गृणन्त । पूर्व्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (पूर्व-पीतये) पहिले [मुख्य] भोग के लिये, (समीचीनासः) साधु, (ऋभवः) बुद्धिमान्, (रुद्राः) स्तुति करने वाले (आयवः) मनुष्यों ने (स्तोमेभिः) स्तोत्रों से (पूर्व्यम्) प्राचीन (त्वाम्) तुझ को (सम्) मिलकर (अभि) सब प्रकार (अस्वरन्) आलापा है और (गृणन्त) गाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—सब बुद्धिमान् लोग परमेश्वर के गुणों को जानकर अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

महाप्रतापिन् राजन् (सं किर) संगृहाण (सत्रा) सत्येन (वाजम्) अन्नादि-कम् (न) यथा (जिग्युषे) जयतेः—क्वसु । जयशीलस्य ॥

१—(अभि) अभितः (त्वा) त्वाम् (पूर्वपीतये) प्रथमपानाय । मुख्य-भोगाय (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (स्तोमेभिः) स्तोत्रैः (आयवः) मनुष्याः—निघ० २ । ३ (समीचीनासः) संगताः । साधवः (ऋभवः) मेधाविनः (सम्) संगत्य (अस्वरन्) स्वृ शब्दोपतापयोः । अस्तुवन् (रुद्राः) स्तोतारः—निघ० ३ । १६ (गृणन्त) स्तुतवन्तः (पूर्व्यम्) प्राचीनम् ॥

दोनों मन्त्र ऋग्वेद में हैं—८ । ३ । ७, ८; सामवेद—उ० ७ । ३ १; मन्त्र १ साम० पू० ३ । ७ । ४ ॥

अ॒स्येदिन्द्रो॑ वावृधे॒ वृष्ण्यं॒ शवो॒ मदे॑ सु॒तस्य॒ विष्ण॑वि ।
अ॒द्या तम॑स्य महि॒मान॑मा॒यवोऽनु॑ ष्टुवन्ति पू॒र्वथा॑ ॥ २ ॥

अ॒स्य । इत् । इन्द्रः॑ । व॒वृ॒धे॒ । वृष्ण्य॑म् । शवः॑ । मदे॑ । सु॒तस्य॑ । विष्ण॑वि ॥ अ॒द्य । तम् । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मान॑म् । आ॒यव॑ः । अनु॑ । स्तु॒व॒न्ति॒ । पू॒र्व-था॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (इत्) ही (सुतस्य) उत्पन्न हुये (अस्य) इस [जीव] के (वृष्ण्यम्) पराक्रम और (शवः) बल को (विष्णवि) व्यापक (मदे) आनन्द में (ववृधे) बढ़ाया है, (अस्य) इस [परामात्मा] की (तम्) उस (महिमानम्) बड़ाई को (आयवः) मनुष्य (अद्य) अब (पूर्वथा) पहिले के समान (अनु स्तुवन्ति) सराहते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—अनादि निर्विकार परमात्मा इस प्राणी के आनन्द के लिये सदा सहाय करता है, उसी की उपासना सब मनुष्य सदा करते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—३३ । ९७ ॥

सूक्तम् १०० ॥

१—३ । इन्द्रो देवता ॥ १ १ विराडार्ष्युष्णिक्; २ विराडुष्णिक् ; ३ निचृदुष्णिक् ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

अधा॒ हीन्द्र गिर्वण॒ उप॑ त्वा॒ कामा॑न् म॒हः स॑सृ॒ज्महे॑ ।
उ॒देव॒ यन्त॑ उ॒दभिः॑ ॥ १ ॥

२—(अस्य) जीवस्य (इत्) एव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (ववृधे) वर्धितवान् (वृष्ण्यम्) वृषत्वम् । पराक्रमम् (शवः) बलम् (मदे) आनन्दे (सुतस्य) उत्पन्नस्य (विष्णवि) विष्णौ । व्यापके (अद्य) (तम्) (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमानम्) महत्त्वम् (आयवः) मनुष्याः (अनु) निरन्तरम् (स्तुवन्ति) प्रशंसन्ति (पूर्वथा) यथापूर्वम् ॥

अर्ध । हि । इन्द्र । गि॒र्व॒णः । उप॑ । त्वा॒ । कामा॑न् । म॒हः । स॒सृ॒ज्महे॑ ॥ उ॒दा-इ॑व । यन्त॑ः । उ॒द-भि॑ः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (अद्य हि) अब ही (त्वा) तुझे (महः) अपनी बड़ी (कामान्) कामनाओं को, (उदा) जल [जल की बाढ़] के पीछे (उद्भिः) दूसरी जलों की बाढ़ों के साथ (यन्तः इव) चलते हुये पुरुषों के समान हमने (उप) आदर से (ससृज्महे) समर्पण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नदी की बाढ़ अति वेग से लगातार चली आती हो और गामों और प्राणी आदि को बहाये ले जाती हो, उसे देख लोग घबड़ाकर भागते हैं, वैसे ही प्रजागण दुष्टों से बचने के लिये राजा की शरण शीघ्र लेवें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८। ९८ [सायणभाष्य ८७] । ७—९; सामवेद—उ० १ । १ । तृच २३ और मन्त्र १ साम० पू० ५ । २ । ८ ॥

वार्ण त्वा॑ य॒व्याभि॒र्वर्ध॑न्ति शूर॒ ब्रह्मा॑णि । वा॒वृ॒ध्वांसं॑ चिद-द्रिवो दि॒वेदि॑वे ॥ २ ॥

वाः । न । त्वा॒ । य॒व्याभि॑ः । वर्ध॑न्ति । शूर॒ । ब्रह्मा॑णि ॥ व॒वृ॒ध्वांस॑म् । चि॒त् । अ॒द्रि॒-वः॒ ॥ दि॒वे-दि॑वे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे वज्रधारी (शूर) शूर ! [राजन्] (दिवेदिवे) दिन दिन (ववृध्वांसम्) बढ़ते हुये (चित्) भी (त्वा) तुझको

१—(अद्य) सम्प्रति (हि) (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (गिर्वणः) स्तुतिभिः सेवनीय (उप) पूजायाम् (त्वा) त्वाम् (कामान्) कमनीयान् मनोरथान् (महः) महतः । विशालान् (ससृज्महे) वयं समर्पितवन्तः (उदा) उदकेन । जलप्रवाहेण (इव) यथा (यन्तः) गच्छन्तः पुरुषाः (उद्भिः) उदकैः । अन्यजलप्रवाहैः ॥

२—(वाः) जलम् (न) यथा (त्वा) त्वाम् (यव्याभिः) खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च । पा० ५ । १ । ७ । यव—यत् । यवेभ्यो हिता भिर्जलनालीभिः । नदीभिः । यव्याः, नदीनाम—निघ० १ । १३ (वर्धन्ति) वर्धयन्ति ।

(ब्रह्माणि) वेदज्ञान (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, (न) जैसे (वाः) जल को (यव्याभिः) जौ आदि अन्न की हित करने वाला नालियों से [बढ़ाते हैं]॥ २ ॥

भावार्थ—राजा वेदानुकूल चलकर अपनी और प्रजा की वृद्धि करे जैसे जल को नल से ऊंचा लेजाकर अन्न आदि बढ़ाते हैं ॥ २ ॥

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथं उरुयुगे । इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥ ३ ॥

युञ्जन्ति । हरी इति । इषिरस्य । गाथया । उरौ । रथे । उरु-युगे ॥ इन्द्र-वाहा । वचः-युजा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गाथया) प्रशंसा के साथ (इषिरस्य) शीघ्र गामी [राजा] के (उरुयुगे) बड़े जुये वाले, (उरौ) बड़े (रथे) रथ में (इन्द्रवाहा) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को ले चलने वाले, (वचोयुजा) वचन से जुतने वाले (हरी) दो घोड़ों को (युञ्जन्ति) वे [सारथी आदि] जोतते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा धर्म की रक्षा के लिये सुशिक्षित शीघ्रगामी घोड़ों के रथ से चलकर प्रशंसा पावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १०१ ॥

१—३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, २ गायत्री; ३ निचृद् गायत्री ॥

भौतिकाग्निगुणोपदेशः—भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश ॥

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥

अग्निम् । दूतम् । वृणीमहे । होतारम् । विश्व-वेदसम् ॥

उन्नयन्ति (शूर) (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (ववृध्वांसम्) वर्धतेः क्वसु । वर्धमानम् (चित्) अपि (अद्रिवः) वज्रिन् (दिवेदिवे) दिने दिने ॥

३—(युञ्जन्ति) योजयन्ति (हरी) अश्वौ (इषिरस्य) शीघ्रगामिनो राज्ञः (गाथया) गायनीयया प्रशंसया (उरौ) महति (रथे) याने (उरुयुगे) महायुगयुक्ते (इन्द्रवाहा) इन्द्रस्य वोढारौ (वचोयुजा) वचनेन युज्यमानौ । सुशिक्षितौ ॥

अस्य । यज्ञस्य । सुऽक्रतुम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दूतम्) पदार्थों के पहुंचाने वाले वा तपाने वाले, (होतारम्) वेग आदि देने वाले, (विश्ववेदसम्) सब धनों के प्राप्त कराने वाले, (अस्य) इस [प्रसिद्ध] (यज्ञस्य) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार] के (सुक्रतुम) सुधारने वाले (अग्नि) अग्नि [आग, बिजुली, सूर्य] को (वृणीमहे) हम स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि कला यन्त्र यान विमान आदि में वेग से चलाने के लिये और शरीरों में भोजन आदि द्वारा बल बढ़ाने लिये बिजुली आदि अग्नि को काम में लावें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । १२ । १—३, सामवेद उ० २ । १ । तृच ६ तथा म० १ साम० पू० १ । १ । ३ ॥

अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् । हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥ २ ॥

अग्निम्-अग्निम् । हवीम-भिः । सदा । हवन्त । विश्पतिम् ॥ हव्य-वाहम् । पुरु-प्रियम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (हवीमभिः) ग्रहण करने योग्य व्यवहारों से (विश्पतिम्) प्रजाओं के पालने वाले, (हव्यवाहम्) देने लेने योग्य पदार्थों के पहुंचाने वाले, (पुरुप्रियम्) बहुत प्रिय करने वाले (अग्निमग्निम्) अग्नि अग्नि [अर्थात् पृथिवी की आग, बिजुली और सूर्य] को (सदा) सदा

१—(अग्निम्) विद्युत्सूर्यपार्थिवाग्निरूपम् (दूतम्) पदार्थानां प्रापकं तापकं वा (वृणीमहे) स्वीकुर्मः (होतारम्) वेगादिदातारम् (विश्ववेदसम्) सर्वधनप्रापकम् (अस्य) प्रसिद्धस्य (यज्ञस्य) संयोगवियोगव्यवहारस्य (सुक्रतुम्) शोभनकर्तारम् ।

२—(अग्निमग्निम्) प्रत्येकप्रकारं विद्युत्सूर्यपार्थिवाग्निरूपम् (हवीमभिः) अथ० २० । ७२ । ३ । ग्राह्यव्यवहारैः (सदा) (हवन्त) गृह्णीत (विश्पतिम्) प्रजानां पालकम् (हव्यवाहम्) दातव्यग्राह्यपदार्थप्रापकम्

(हवन्त) तुम ग्रहण करो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि प्रसिद्ध अग्नि, बिजुली और सूर्य को कला यन्त्र आदि में प्रयुक्त करके सदा सुख की वृद्धि करें ॥ २ ॥

अग्ने देवाँ इहा वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे । असि होता न ईड्यः ॥ ३ ॥

अग्ने । देवान् । इह । आ । वह । जज्ञानः । वृक्तऽबर्हिषे ॥ असि । होता । नः । ईड्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! [आग, बिजुली और सूर्य] (जज्ञानः) प्रकट होता हुआ तू (देवान्) दिव्य पदार्थों को (इह) यहां (वृक्तबर्हिषे) हिंसा छोड़ने वाले विद्वान् के लिये (आ वह) ला । तू (नः) हमारे लिये (होता) धन देने वाला और (ईड्यः) खोजने योग्य (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि, बिजुली और सूर्य की विद्या को खोज करके अनेक प्रकार उपयोग करें और उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ३॥

सूक्तम् १०२ ॥

१—३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ विराड् गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

परमेश्वरस्य गुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ई॒ळेन्यो॑ नम॒स्य॑स्ति॒रस्तमां॑सि दर्श॒तः । सम॒ग्निरि॑ध्यते॒ वृषा॑ ॥ १ ॥

ई॒ळेन्यः॑ । न॒म॒स्यः॑ । ति॒रः । तमां॑सि । द॒र्श॒तः ॥ सम् । अ॒ग्निः । इ॒ध्य॒ते॒ । वृषा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ईळेन्यः) खोजने योग्य, (नमस्यः) सत्कार करने योग्य,

(पुरुप्रियम्) बहुहितकरम् ॥

३—(अग्ने) हे विद्युत्सूर्यपार्थिवाग्निरूप (देवान्) दिव्यपदार्थान् (इह) (आ वह) प्रापय (जज्ञानः) प्रादुर्भूतः सन् (वृक्तबर्हिषे) अथ० २० । ५२ । १ । त्यक्तहिंसाय विदुषे (असि) (होता) धनस्य दाता (नः) अस्मभ्यम् (ईड्यः) अध्येषणीयः ॥

१—(ईळेन्यः) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । ईड—

(तमांसि) अन्धकारों को (तिरः) हटाने वाला, (दर्शतः) देखने योग्य, (वृषा) बलवान् (अग्निः) अग्नि [प्रकाशमान परमेश्वर] (सम्) भले प्रकार (इध्यते) प्रकाश करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्धकार नाशक परमात्मा को प्रत्येक पदार्थ में साक्षात् कर के अपने हृदय को प्रकाशमान करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—३ । २७ । १३—१५, सामवेद—उ० ७ । २ । तृच २ ॥

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईलते २

वृषो इति । अग्निः । सम् । इध्यते । अश्वः । न । देव-वाहनः ॥ तम् । हविष्मन्तः । ईलते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्वः न) शीघ्र गामी घोड़े के समान (देववाहनः) उत्तम पदार्थों का पहुंचाने वाला (वृषो) बलवान् ही (अग्निः) अग्नि [प्रकाशमान परमेश्वर] (सम्) भले प्रकार (इध्यते) प्रकाश करता है । (हविष्मन्तः) ग्रहण करने योग्य वस्तुओं वाले पुरुष (तम्) उस को (ईलते) खोजते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे घोड़े आदि वाहन द्वारा पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वैसे ही परमात्मा सब संसार को वायु जल आदि उत्तम पदार्थ सदा पहुंचाता है ॥ २ ॥

स्तुतौ, अभ्येषणायाम्—निरु० ७ । १५ । केन्यप्रत्ययः, डस्य लः । अभ्येषणीयः (नमस्यः) अचो यत् पा० ३ । १ । ९७ । नमस्यतेः—यत् । सत्कर्तव्यः (तिरः) तिरस्कुर्वन् (तमांसि) ध्वान्तानि (दर्शतः) अथ० ४ । १० । ६ । दर्शनीयः (सम्) सम्यक् (अग्निः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (इध्यते) दीप्यते (वृषा) बलवान् ॥

२—(वृषो) वृषैव । बलिष्ठ एव (अग्निः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (सम्) सम्यक् (इध्यते) दीप्यते (अश्वः) तुरङ्गः (न) इव (देववाहनः) दिव्यपदार्थवाहकः (तम्) (हविष्मन्तः) ग्राह्यपदार्थयुक्ताः पुरुषाः (ईलते) म० १ । अभ्येषणया प्राप्नुवन्ति ॥

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि । अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥ ३ ॥

वृषणम् । त्वा । वयम् । वृषन् । वृषणः । सम् । इधीमहि ॥ अग्ने । दीद्यतम् । बृहत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे बलवान् (अग्ने) अग्नि ! [प्रकाशस्वरूप परमेश्वर] (वृषणः) बलवान् होते हुये (वयम्) हम (वृषणम्) बलवान् (बृहत्) बहुत (दीद्यतम्) प्रकाशमान (त्वा) तुझ को (सम्) भले प्रकार (इधीमहि) प्रकाशित करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा के अनेक उपकारों से बलवान् होकर उस के उत्तम गुणों को खोजते रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १०३ ॥

१—३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ विराडार्षी बृहती; २ निचृद् बृहती; ३ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अग्निमीळिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः ॥ १ ॥

अग्निम् । ईळिष्व । अवसे । गाथाभिः । शीर-शोचिषम् ॥ अग्निम् । राये । पुरु-मीळ्ह । श्रुतम् । नरः । अग्निम । सु-दीतये । छर्दिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पुरुमीळ्ह) हे बहुत ज्ञान से सींचे हुये मनुष्य ! (नरः)

३—(वृषणम्) बलवन्तम् (त्वा) (वयम्) (वृषन्) बलवन् (वृषणः) बलवन्तः सन्तः (सम्) सम्यक् (इधीमहि) प्रकाशयेम (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (दीद्यतम्) दीद्यतिर्ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६, शतृ । दीप्यमानम् (बृहत्) बहुप्रकारेण ॥

१—(अग्निम्) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (ईळिष्व) अ० २० । १०२ ।

नर [नेता] होकर तू (गाथाभिः गाने योग्य क्रियाओं के साथ (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (शीरशोचिषम्) बड़े प्रकाश वाले (अग्निम्) अग्नि [प्रकाश स्वरूप परमात्मा] को, (राये) धन के लिये (श्रुतम्) विख्यात (अग्निम्) अग्नि [प्रकाश स्वरूप परमात्मा] को और (सुदीतये) सुन्दर प्रकाश के लिये (छर्दिः) घर सदृश (अग्निम्) अग्नि [प्रकाशस्वरूप परमात्मा] को (ईलिष्व) खोज ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की भक्ति से अपनी रक्षा के लिये धन और विद्या को बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ७१ [सायणभाष्य ६०] । १४; सामवेद—पू० १ । ५ । ६ ॥

अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥ २ ॥
अग्ने । आ । याहि । अग्नि-भिः । होतारम् । त्वा । वृणीमहे ॥
आ । त्वाम् । अनक्तु । प्र-यता । हविष्मती । यजिष्ठम् । बर्हिः । आ-सदे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! [प्रकाशस्वरूप परमेश्वर] (अग्निभिः) ज्ञान प्रकाशों के साथ (आ याहि) तू प्राप्त हो, (होतारम्) दानी (त्वा)

---

१ । अधीष्व । अन्विच्छ (अवसे) रक्षणाय (गाथाभिः) गानयोग्यक्रियाभिः (शीरशोचिषम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शीङ् स्वप्ने—रक् । अर्चिशुचि० उ० २ । १०८ । शुच शोके—इसि । महाप्रकाशयुक्तम् (अग्निम्) (राये) धनाय (पुरुमीळ्ह) मिह सेचने—क्त । बहुज्ञानेन मीढ सिक्त वर्धित मनुष्य (श्रुतम्) विख्यातम् (नरः)नेता सन् (अग्निम्) (सुदीतये) पत्तोपः । सुदीप्तये । शोभनप्रकाशाय (छर्दिः) अर्चिशुचिहुसृपिच्छदिर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ । छर्द सन्दीपने—इसि । गृहम्—निघ० ३ । ४ ॥

२—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (आ याहि) प्राप्तो भव (अग्निभिः) ज्ञानप्रकाशैः (होतारम) दातारम् (त्वा) त्वाम् (वृणीमहे) स्वीकुर्मः

तुझ को (वृणीमहे) हम स्वीकार करते हैं। (प्रयता) नियम युक्त (हविष्मती) भक्ति वाली प्रजा (बर्हिः) वृद्धि (आसदे) पाने के लिये (यजिष्ठम्) अत्यन्त संयोग वियोग करने वाले (त्वा) तुझ को (आ) सब प्रकार से (अनक्तु) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की आज्ञा में रहकर सद् वृद्धि करें ॥ २ ॥

मन्त्र २, ३ ऋग्वेद में हैं—८। ६० [सायण भाष्य ४९]। १, २; सामवेद-उ० ७। २। ७॥

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥ ३ ॥

अच्छ । हि । त्वा । सहसः । सूनो इति । अङ्गिरः । स्रुचः । चरन्ति । अध्वरे ॥ ऊर्जः । नपातम् । घृत-केशम् । ईमहे । अग्निम् । यज्ञेषु । पूर्व्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सहसः सूनो) हे बल के पहुंचाने वाले ! (अङ्गिरः) हे ज्ञानी परमेश्वर! (स्रुचः) चलने वाली प्रजायें (अध्वरे) बिना हिंसावाले व्यवहार में (त्वा) तुझ को (हि) ही (अच्छ) अच्छे प्रकार (चरन्ति) प्राप्त होती हैं। (ऊर्जः) बल के (नपातम्) न गिराने वाले [रक्षक], (यज्ञेषु) यज्ञों [संयोग वियोग व्यहारों] में (पूर्व्यम्) पुराने (अग्निम्) अग्नि

(आ) समन्तात् (त्वाम्) परमेश्वरम् (अनक्तु) अन्जू गतौ। प्राप्नोतु (प्रयता) यम—क्त। नियमयुक्त (हविष्मती) भक्तिमती प्रजा (यजिष्ठम्) यज—इष्ठन्। अतिशयेन यष्टारं संयोगवियोगकर्तारम् (बर्हिः) वृद्धिम् (आसदे) प्राप्तुम् ॥

३—(अच्छ) सुष्ठुप्रकारेण (हि) एव (त्वा) (सहसः) बलस्य (सूनो) प्रेरक (अङ्गिरः) हे ज्ञानिन् परमेश्वर (स्रुचः) चिक् च। उ० २। ६२। स्रु गतौ—क्विप् चिगागमः। गतिशीलाः प्रजाः (चरन्ति) गच्छन्ति। प्राप्नुवन्ति (अध्वरे) हिंसारहिते व्यवहारे (ऊर्जः) बलस्य (नपातम्) नपातयितारम्। रक्षकम् (घृतकेशम्) घृतं जलं केशं प्रकाशं च (ईमहे) याचामहे (अग्निम्)

[प्रकाशस्वरूप परमेश्वर] से (घृतकेशम्) जल और प्रकाश को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ--मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर के बनाये पदार्थों से उपकार लेकर उन्नति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १०४ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् बृहती; २ निचृत् पङ्क्तिः; ३ निचृदार्षी बृहती; ४ भुरिगार्षी बृहती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम । पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ १ ॥

इमाः । ऊं इति । त्वा । पुरुवसो इति पुरु-वसो । गिरः । वर्धन्तु । याः । मम ॥ पावक-वर्णाः । शुचयः । विपः-चितः । अभि । स्तोमैः । अनूषत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पुरुवसो) हे बहुत धन वाले ! [परमात्मन्] (मम) मेरी (याः) जो (गिरः) वाणियां हैं, (इमाः) वे (त्वा) तुझ को (उ) निश्चय करके (वर्धन्तु) बढ़ावें [विख्यात करें] । (पावकवर्णाः) अग्नि के समान तेजस्वी, (शुचयः) पवित्र (विपश्चितः) विद्वान् लोगों ने (स्तोमैः) स्तोत्रों से [तेरी] (अभि) सब ओर से (अनूषत) प्रशंसा की है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पूर्वज विद्वानों के समान परमेश्वर के उपकारों की स्तुति करके अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

प्रकाशस्वरूपं परमेश्वरम् (यज्ञेषु) संयोगवियोगव्यवहारेषु (पूर्व्यम्) पुरातनम् ॥

२—(इमाः) वक्ष्यमाणाः (उ) निश्चयेन (त्वा) (पुरुवसो) हे बहुधनवन् (गिरः) वाण्यः (वर्धन्तु) वर्धयन्तु विख्यातं कुर्वन्तु (याः) (मम) (पावकवर्णाः) अग्निवत्तेजस्विनः । ब्रह्मवर्चस्विनः (शुचयः) पवित्राः (विपश्चितः) विद्वांसः (अभि) सर्वतः (स्तोमैः) स्तोत्रैः (अनूषत) अस्तुवन् ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८। ३। ३, ४; यजुर्वेद—३३। ८१, ८३; साम-वेद—उ० ७। ३। १८; म० १ साम०—पू० ३। ६। ८॥

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे। सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ २ ॥

अयम्। सहस्रम्। ऋषि-भिः। सहः-कृतः। समुद्रः-इव। पप्रथे ॥ सत्यः। सः। अस्य। महिमा। गृणे। शवः। यज्ञेषु। विप्र-राज्ये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(समुद्रः इव) आकाश के समान वर्तमान (अयम्) इस [परमेश्वर] ने (ऋषिभिः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] द्वारा (सहस्कृतः) पराक्रम करने वालों को (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (पप्रथे) फैलाया है। (अस्य) इस [परमात्मा] की (सः) वह (महिमा) महिमा (सत्यः) सत्य है,(विप्रराज्ये) विद्वानों के राज्य के बीच (यज्ञेषु) यज्ञों [श्रेष्ठ व्यवहारों] में (शवः) उस बल की (गृणे) मैं बड़ाई करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा की सदा स्तुति करते रहें क्योंकि वह विद्वानों को प्राप्त होकर राज्य करने वाले पुरुष का बल बढ़ाता है ॥२॥

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समत्सु भूषतु। उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमज्या ऋचीषमः ॥ ३ ॥

आ। नः। विश्वासु। हव्यः। इन्द्रः। समत्-सु। भूषतु ॥ उप। ब्रह्माणि। सवनानि। वृत्र-हा। परम-ज्याः। ऋचीषमः॥३

२—(अयम्) परमेश्वरः (सहस्रम्) बहुप्रकारेण (ऋषिभिः) वेदार्थविद्भिः (सहस्कृतः) पराक्रमकर्तॄन् (समुद्रः) अन्तरिक्षम् (इव) यथा (पप्रथे) विस्तारितवान् (सत्यः) यथार्थः (सः) (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमा) महत्त्वम् (गृणे) स्तौमि (शवः) बलम् (यज्ञेषु) श्रेष्ठव्यवहारेषु (विप्रराज्ये) मेधाविनां राष्ट्रे ॥

भाषार्थ—(विश्वासु) सब (समत्सु) संग्रामों में (हव्यः) पुकारने योग्य, (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने वाला, (परमज्याः) बड़े शत्रुओं का मारने वाला, (ऋचीषमः) स्तुति के समान गुण वाला (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवाला परमात्मा] (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेद ज्ञानों और (सवनानि) ऐश्वर्य की वस्तुओं को (आ) सब ओर से (उप) भले प्रकार (भूषतु) शोभायमान करे ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य परमपिता परमेश्वर का आश्रय लेकर शत्रुओं का नाश कर के ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में हैं—८ । ९० [सायणभाष्य ७९] । १, २; सामवेद—उ० ७ । १ । २; मन्त्र १ साम० पू० ३ । ८ । ७ ॥

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ ४ ॥

त्वम् । दाता । प्रथमः । राधसाम् । असि । असि । सत्यः । ईशान-कृत् ॥ तुवि-द्युम्नस्य । युज्या । आ । वृणीमहे । पुत्रस्य । शवसः । महः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (राधसाम्) धनों का (प्रथमः) सब से पहिला (दाता) दाता (असि) है, और (सत्यः) सच्चा (ईशानकृत्) ऐश्वर्यवान् बनाने वाला (असि) है । (तुविद्युम्नस्य) बड़े यशस्वी पुरुष के

३—(आ) समन्तात् (नः) अस्माकम् (विश्वासु) सर्वासु (हव्यः) आह्वातव्यः (इन्द्रः) परमेश्वरः (समत्सु) संग्रामेषु (भूषतु) अलंकरोतु (उप) पूजायाम् (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (सवनानि) ऐश्वर्यवस्तूनि (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (परमज्याः) आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । परम+ज्या वयोहानौ—विच् । महाशत्रूणां नाशयिता (ऋचीषमः) अथ० २० । ३५ । १ । स्तुतितुल्यगुणयुक्तः ॥

४—(त्वम्) (दाता) दानी (प्रथमः) आदिमः (राधसाम्) धनानाम् (असि) (असि) (सत्यः) यथार्थः (ईशानकृत्) ऐश्वर्यवतां कर्ता (तुविद्युम्नस्य) बहुयशस्विनः पुरुषस्य (युज्या) युज—क्यप् । योग्यानि कर्माणि

(पुत्रस्य) पुत्र के (महः) बड़े (शवसः) बल के (युज्या) योग्य कामों को (आ) सब प्रकार (वृणीमहे) हम अङ्गीकार करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम घरानों में उत्पन्न होकर माता पिता आदि से सुशिक्षा पाकर पराक्रम करते हैं, जगदीश्वर उन का ऐश्वर्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १०५ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४ भुरिगार्ष्यनुष्टुप्; २ पङ्क्तिः; ३ निचृत् पथ्या बृहती; ५ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

त्वमि॑न्द्र प्र॒तूर्ति॑ष्व॒भि विश्वा॑ असि॒ स्पृधः॑ ।
अ॒श॒स्ति॒हा ज॑नि॒ता वि॑श्व॒तूर॑सि॒ त्वं तू॑र्य तरुष्य॒तः ॥ १ ॥

त्वम् । इ॒न्द्र॒ । प्र॒-तूर्ति॑षु । अ॒भि । विश्वाः॑ । अ॒सि॒ । स्पृधः॑ ॥ अ॒श॒स्ति॒-हा । ज॒नि॒ता । वि॒श्व॒-तूः । अ॒सि॒ । त्वम् । तू॒र्य॒ । त॒रु॒ष्य॒तः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (त्वम्) तू (प्रतूर्तिषु) मार धाड़ वाले संग्रामों में (सर्वाः) सब (स्पृधः) ललकारती हुई शत्रु सेनाओं को (अभि असि) हरा देता है। (त्वम्) तू (अशस्तिहा) अपकीर्ति मिटाने वाला, (जनिता) सुख उत्पन्न करने वाला, (विश्वतूः) सब शत्रुओं का मारने वाला (असि) है, (तरुष्यतः) मारने वाले बैरियों को (तूर्य) मार ॥ १ ॥

(आ) समन्तात् (वृणीमहे) स्वीकुर्मः (पुत्रस्य) (शवसः) बलस्य (महः) महतः ॥

१—(त्वम्) (इन्द्र) परमेश्वर (प्रतूर्तिषु) तूरी गतित्वरणहिंसनयोः-क्तिन्। परस्परमारणेषु संग्रामेषु (अभि असि) अभिभवसि (विश्वाः) सर्वाः (स्पृधः) स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः (अशस्तिहा) अपकीर्तिनाशकः (जनिता) सुखोत्पादकः (विश्वतूः) तूरी हिंसायाम्—क्विप्। सर्वशत्रुनाशकः (असि) (त्वम् (त्वम्) (तूर्य) तूरी हिंसे ॥ मारय (तरुष्यतः) बाधकान् वैरिणः ॥

भावार्थ—युद्धपंडित राजा विघ्ननाशक परमात्मा का आश्रय लेकर सब शत्रुओं का नाश करके प्रजापालन करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८ । ९९ [सायण भाष्य ८८] । ५—७; मन्त्र १, २ यजुर्वेद—३३ । ६६, ६७; सामवेद—उ० ८ । १ । ८; म० १ साम० पू० ४ । २ । ९ ।

अनु॑ ते॒ शुष्मं॑ तु॒रय॑न्तमीयतुः क्षो॒णी शिशुं॒ न मा॒तरा॑ ।
विश्वा॑स्ते॒ स्पृधः॑ श्नथयन्त म॒न्यवे॑ वृ॒त्रं यदि॑न्द्र॒ तूर्व॑सि ॥ २ ॥

अनु॑ । ते॒ । शुष्म॑म् । तु॒रय॑न्तम् । ई॒यतुः॒ । क्षो॒णी इति॑ । शिशु॑म् । न । मा॒तरा॑ ॥ विश्वाः॑ । ते॒ । स्पृधः॑ । श्न॒थ॒य॒न्त॒ । म॒न्यवे॑ । वृ॒त्रम् । यत् । इ॒न्द्र॒ । तूर्व॑सि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (क्षोणी) दोनों आकाश और भूमि लोक (ते) तेरे (तुरयन्तम्) वेग करते हुये (शुष्मम् अनु) शत्रुओं को सुखाने बल के पीछे (ईयतुः) चलते हैं, (न) जैसे (मातरा) माता पिता दोनों (शिशुम्) बालक के [पीछे प्रीति से चलते हैं] । (ते) तेरे (मन्यवे) क्रोध से (विश्वाः) सब (स्पृधः) ललकारती हुई शत्रु सेनायें (श्नथयन्त) मारी गयी हैं, (यत्) जब कि तू (वृत्रम्) शत्रु को (तूर्वसि) मारता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे माता पिता आपा छोड़ कर बच्चे से प्रीति करते हैं, वैसे ही सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता परमात्मा में परम भक्ति करके मनुष्य शत्रुओं को मारें ॥ २ ॥

२—(अनु) अनुसृत्य (ते) तव (शुष्मम्) शत्रुशोषकं बलम् (तुरयन्तम्) तुरां कुर्वन्तम् (ईयतुः) गच्छतः (क्षोणी) द्यावापृथिव्यौ (शिशुम्) (न) इव (मातरा) मातापितरौ (विश्वाः) (ते) तव (स्पृधः) स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः (श्नथयन्त) श्नथतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । हता अभवन् (मन्यवे) क्रोधाय (वृत्रम्) शत्रुम् (यत्) यदा (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (तूर्वसि) हंसि ॥

इत ऊ॒ती वो॑ अ॒जरं॑ प्रहे॒तार॒मप्र॑हितम् । आ॒शुं जेता॑रं॒ हेता॑रं र॒थीत॑म॒मतू॑र्तं तुग्र्या॒वृध॑म् ॥ ३ ॥

इ॒तः । ऊ॒ती । वः॒ । अ॒जर॑म् । प्र॒-हे॒तार॑म् । अप्र॑-हितम् ॥ आ॒शुम् । जेता॑रम् । हेता॑रम् । र॒थि-त॑मम् । अतू॑र्तम् । तु॒ग्र्य॒-वृध॑म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारी (ऊती) रक्षा के लिये (अजरम्) जरा रहित [सदा बलवान्] (प्रहेतारम्) सब के चलाने वाले, (अप्रहितम्) किसी से न चलाये गये, (आशुम्) फुरतीले, (जेतारम्) जय करने वाले, (हेतारम्) बढ़ाने वाले, (रथितमम्) रमणीय पदार्थों के सब से बड़े स्वामी, (अतूर्तम्) न सताये गये, (तुग्र्यवृधम्) बस्ती के हितकारी के बढ़ाने वाले [परमेश्वर] को (इतः) ये दोनों [आकाश और भूमि—म० २] प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने पृथिवी और आकाश के पदार्थ मनुष्य के हित के लिये रचे हैं, उस जगदीश्वर की सदा भक्ति करके बलवान् होकर वृद्धि करें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३ सामवेद में भी है- पू० ३ । १० । १ ॥

यो राजा॑ चर्षणी॒नां याता॒ रथे॑भि॒रध्रि॑गुः ।
विश्वा॑सां तरु॒ता पृत॑नाना॒ं ज्येष्ठो॒ यो वृ॑त्र॒हा गृ॒णे ॥ ४ ॥

यः । राजा॑ । च॒र्ष॒णी॒नाम् । याता॑ । रथे॑भिः । अध्रि॑-गुः ॥

३—(इतः) गच्छतः प्राप्नुतः । ते द्रोणी- म० २ (ऊती) ऊत्यै रक्षायै (वः) युष्माकम् (अजरम्) जरारहितम् (प्रहेतारम्) हि गतौ—तृन् । प्रकर्षेण गमयितारम् (अप्रहितम्) केनाप्यचालितम् (आशुम्) वेगवन्तम् (जेतारम्) जयकर्तारम् (हेतारम्) हि वृद्धौ—तृन् । वर्धयितारम् (रथितमम्) रमणीयपदार्थानां स्वामितमम् (अतूर्तम्) तुरी हिंसने-क्त । अहिंसितम् (तुग्र्यवृधम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । तुरज तुजि हिंसाबलाधाननिकेतनेषु रक् । तुग्र-यत् । निवासाय हितस्य वर्धकम् ॥

विश्वासाम् । तरुता । पृतनानाम् । ज्येष्ठः । यः । वृत्र-हा । गृणे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का (राजा) राजा (रथेभिः) रथों [के समान रमणीय लोकों] के साथ (अध्रिगुः) वेरोक (याता) चलने वाला, और (यः) जो (विश्वासाम्) सब (पृतनानाम्) शत्रु सेनाओं का (तरुता) हराने वाला, (ज्येष्ठः) अति श्रेष्ठ, (वृत्रहा) अन्धकार नाशक है, [उस की] (गृणे) मैं स्तुति करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब मनुष्य आदि प्राणियों और सूर्य आदि लोकों का स्वामी है, हम उसके गुणों को ग्रहण कर के सब कष्टों से बचें ॥४॥

मन्त्र ४ । ५ आ चुके हैं—अथ० २० । ९२ । १६, १७ ॥

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥ ५ ॥

इन्द्रम् । तम् । शुम्भ । पुरु-हन्मन् । अवसे । यस्य । द्विता । वि-धर्तरि ॥ हस्ताय । वज्रः । प्रति । धायि । दर्शतः । महः । दिवे । न । सूर्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पुरुहन्मन) हे बहुत ज्ञानी ऋषि ! (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] का (शुम्भ) भाषण कर, (यस्य) जिस के (द्विता) दोनों धर्म [अनुग्रह और निग्रह गुण] (विधर्तरि) बुद्धिमान् जन पर (अवसे) रक्षा के लिये और [जिसका] (दर्शतः) दर्शनीय (महः) महान् (वज्रः) वज्र [दण्ड सामर्थ] (हस्ताय) हाथ [अर्थात् हमारे बाहु बल] के लिये (प्रति) प्रत्यक्ष (धायि) धारण किया गया है, (न) जैसे (सूर्यः) सूर्य (दिवे) प्रकाश के लिये है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा अति प्रत्यक्ष रूप से दुष्टों को दंड देता है और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है, ऐसा निश्चय करके विद्वान् लोग सदा ईश्वर की आज्ञा में रहकर सुखी होवें ॥ ५ ॥

४, ५—व्याख्यातौ—अथ० २० । ९२ । १६, १७ ॥

सूक्तम् १०६ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुष्णिक्; २, ३ विराडार्ष्युष्णिक् ॥
परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

तव त्यदिन्द्रियं बृहत् तव शुष्मंमुत क्रतुम् । वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥

तव । त्यत् । इन्द्रियम् । बृहत् । तव । शुष्मम् । उत । क्रतुम् ॥ वज्रम् । शिशाति । धिषणा । वरेण्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (तव) तेरे (त्यत्) उस [प्रसिद्ध] (बृहत्) बड़े (इन्द्रियम्) इन्द्रपन [ऐश्वर्य], (तव) तेरे (शुष्मम्) बल (उत) और (क्रतुम्) बुद्धि और (वरेण्यम्) उत्तम (वज्रम्) वज्र [दण्ड सामर्थ्य] को (धिषणा [तेरे] वाणी (शिशाति) पैना करती है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के गुणों को वेद द्वारा निश्चय करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १५ । ७—६; कुछ भेद से सामवेद—उ० ८ । १ । तृच ११ ॥

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः । त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥

तव । द्यौः । इन्द्र । पौंस्यम् । पृथिवी । वर्धति । श्रवः ॥ त्वाम् । आपः । पर्वतासः । च । हिन्विरे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (तव)

१—(तव) (त्यत्) तत्प्रसिद्धम् (इन्द्रियम्) इन्द्रलिङ्गम् । ऐश्वर्यम् (बृहत) (तव) (शुष्मम्) शोषकं बलम् (उत) अपि च (क्रतुम्) प्रज्ञाम् (वज्रम्) शासनसामर्थ्यम् (शिशाति) श्यति । तीक्ष्णीकरोति (धिषणा) वेदरूपा वाणी (वरेण्यम्) वरणीयं श्रेष्ठम् ॥

२—(तव) (द्यौः) आकाशः (इन्द्र) हे परमेश्वर (पौंस्यम्) पौरुषम्

तेरे (पौंस्यम्) पुरुषार्थ और (श्रवः) यश को (द्यौः) आकाश और (पृथिवी) पृथिवी (वर्धति) बढ़ाती है । (त्वाम्) तुझ को (आपः) जलों ने (च) और (पर्वतासः) पहाड़ों ने (हिन्विरे) प्रसन्न किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को उसके बड़े बड़े कर्मों से जानकर पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

त्वां विष्णु॑र्बृहन् क्षयो॑ मि॒त्रो गृ॑णाति॒ वरु॑णः । त्वां शर्धो॑ मद॒त्यनु॒ मारु॑तम् ॥ ३ ॥

त्वाम् । विष्णुः । बृहन् । क्षयः । मि॒त्रः । गृ॒णा॒ति॒ । वरु॑णः ॥ त्वाम् । शर्धः । म॒द॒ति॒ । अनु॑ । मारु॑तम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (बृहन्) बड़ा (क्षयः) ऐश्वर्यवान् (विष्णुः) व्यापक सूर्य, (मित्रः) प्रेरक वायु और (वरुणः) स्वीकार करने योग्य जल (त्वाम्) तेरी (गृणाति) बड़ाई करता है । (त्वाम् अनु) तेरे पीछे (मारुतम्) शूर पुरुषों का (शर्धः) बल (मदति) तृप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के बल से सब सूर्य आदि में बल है, उस सर्वशक्तिमान् की उपासना करके सब मनुष्य आत्मबल बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १०७ ॥

१—१५ ॥ १—१२ इन्द्रः; १२-१५ सूर्यो देवता ॥ १—३ गायत्री; ४ निचृदार्षी त्रिष्टुप्; ५ विराट् त्रिष्टुप्; ६,१० विराडार्षी त्रिष्टुप्; ७-६, ११, १४, १५ निचृत् त्रिष्टुप्, १२ आर्षी त्रिष्टुप्; १३ पङ्क्तिः ॥

१—१२ परमेश्वरगुणोपदेशः १—१२ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

(पृथिवी) (वर्धति) वर्धयति (श्रवः) यशः (त्वाम्) (आपः) जलानि (पर्वतासः) शैलाः (च) (हिन्विरे) प्रीणयन्ति स्म ॥

३—(त्वाम्) (विष्णुः) व्यापकः सूर्यः (बृहन्) महान् (क्षयः) क्षि ऐश्वर्ये—अच् । ऐश्वर्यवान् (मित्रः) प्रेरको वायुः (गृणाति) स्तौति (वरुणः) स्वीकरणीयं जलम् (त्वाम्) (शर्धः) बलम् (मदति) हृष्यति (अनु) अनुसृत्य (मारुतम्) महतां शूरपुरुषाणामिदम् ॥

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥

सम् । अस्य । मन्यवे । विशः । विश्वाः । नमन्त । कृष्टयः ॥ समुद्राय-इव । सिन्धवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वाः) सब (विशः) प्रजायें और (कृष्टयः) मनुष्य (अस्य) इस [परमेश्वर] के (मन्यवे) तेज वा क्रोध के आगे (सम्) ठीक ठीक (नमन्त) नमे हैं, (समुद्राय इव) जैसे समुद्र के लिये (सिन्धवः) नदियां [नमती हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नदियां समुद्र की ओर झुकती हैं, वैसे ही सब सृष्टि के पदार्थ और सब मनुष्य परमात्मा की आज्ञा को अवश्य मानते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८ । ६ । ४—६; सामवेद—उ० ८ । १ । तृच १३; मन्त्र १ साम० पू० २ । ५ । ३ ॥

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ २ ॥

ओजः । तत् । अस्य । तित्विषे । उभे इति । यत् । सम्-अवर्तयत् ॥ इन्द्रः । चर्म-इव । रोदसी इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमेश्वर] का (ओजः) बल (तत्) तब (तित्विषे) प्रकाशित हुआ, (यत्) जब (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और भूमि को (चर्म इव) चमड़े के समान (समवर्तयत्) यथाविधि वर्तमान किया ॥ २ ॥

१—(सम्) सम्यक् (अस्य) परमेश्वरस्य (मन्यवे) मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २९ । तेजसे । क्रोधाय (विशः) प्रजाः (विश्वाः) (नमन्त) नमतेर्लङ् । नमन्ति स्म (कृष्टयः) मनुष्याः (समुद्राय) (इव) यथा (सिन्धवः) स्यन्दनशीला नद्यः ॥

२—(ओजः) बलम् (तत्) तदा (अस्य) परमेश्वरस्य (तित्विषे) त्विष दीप्तौ—लिट् । दिदीपे (उभे) (यत्) यदा (समवर्तयत्) यथाविधि वर्तितवान् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (चर्म) (इव) यथा (रोदसी) आकाशभूमी ॥

भावार्थ—जैसे कोई चमड़े को कमाकर ठीक करता है, वैसे ही परमात्मा परमाणुओं के संयोग वियोग से सृष्टि बनाता है, तब उस की महिमा प्रकट होती है ॥ २ ॥

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। शिरो बिभेद वृष्णिना॥३

वि। चित्। वृत्रस्य। दोधतः। वज्रेण। शत-पर्वणा॥ शिरः। बिभेद। वृष्णिना॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दोधतः) क्रोध करते हुये (वृत्रस्य) रोकने वाले शत्रु के (शिरः) शिर को (शतपर्वणा) सैकड़ों जोड़ों वाले, (वृष्णिना) दृढ़ (वज्रेण) वज्र से (चित्) निश्चय करके (वि) अनेक प्रकार (बिभेद) उस [परमेश्वर] ने तोड़ा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे शूर पुरुष भारी भारी शस्त्रों से शत्रुओं को मार गिराता है, वैसे ही परमात्मा पापियों को अनेक प्रकार दण्ड देता है ॥ ३ ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः। सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥४

तत्। इत्। आस। भुवनेषु। ज्येष्ठम्। यतः। जज्ञे। उग्रः। त्वेष-नृम्णः॥ सद्यः। जज्ञानः। नि। रिणाति। शत्रून्। अनु। यत्। एनम्। मदन्ति। विश्वे। ऊमाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तत्) विस्तीर्ण ब्रह्म (इत्) ही (भुवनेषु) लोकों के भीतर (ज्येष्ठम्) सब में उत्तम और सब में बड़ा (आस) प्रकाशमान हुआ। (यतः) जिस [ब्रह्म] से (उग्रः) तेजस्वी (त्वेषनृम्णः) तेजोमय बल वा धन वाला पुरुष (जज्ञे) प्रकट हुआ। (सद्यः) शीघ्र (जज्ञानः) प्रकट होकर (शत्रून्) गिराने वाले विघ्नों को (नि रिणाति) नाश कर देता है, (यत्)

३—(वि) विविधम् (चित्) एव (वृत्रस्य) आवरकस्य शत्रोः (दोधतः) अ० १२। ५। ५८। कुध्यतः (वज्रेण) शस्त्रेण (शतपर्वणा) बहुसन्धियुक्तेन (शिरः) (बिभेद) चिच्छेद (वृष्णिना) वीर्यवता। दृढेन ॥

४—१२। एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० ५। २। १—६

जिस से (एनम् अनु) इस [परमात्मा] के पीछे पीछे (विश्वे) सब (ऊमाः) परस्पर रक्षक लोग (मदन्ति) हर्षित होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—आदि कारण परमात्मा की उपासना से मनुष्य वीर होकर शत्रुओं को मारता है, जिस के कारण सब लोग प्रसन्न होते हैं, उस जगदीश्वर की उपासना सब लोग किया करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४-१२ आ चुके हैं—अथ० । २ । १—६ ॥

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ ५ ॥

ववृधानः । शवसा । भूरि-ओजाः । शत्रुः । दासाय । भियसम् । दधाति ॥ अवि-अनत् । च । वि-अनत् । च । सस्नि । सम् । ते । नवन्त । प्रभृता । मदेषु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शवसा) बल से (ववृधानः) बढ़ता हुआ, (भूर्योजाः) महाबली, (शत्रुः) हमारा शत्रु (दासाय) दान पात्र दास को (भियसम्) भय (दधाति) देता है । (अव्यनत्) गति शून्य स्थावर (च) और (व्यनत्) गति वाला जङ्गम जगत् (च) निश्चय करके [परमात्मा में] (सस्नि) लपेटा हुआ है, (प्रभृता) अच्छे प्रकार पुष्ट किये हुए प्राणी (मदेषु) आनन्दों में (ते) तेरी (सम् नवन्त) यथावत् स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर समस्त जगत् में व्यापक होकर सब को धारण करता है । उसी की महिमा को जानकर सब मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक अपने विघ्नों को नाश करके प्रसन्न होवें ॥ ५ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः । स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ६ ॥

त्वे इति । क्रतुम् । अपि । पृञ्चन्ति । भूरि । द्विः । यत् । एते । त्रिः । भवन्ति । ऊमाः ॥ स्वादोः । स्वादीयः । स्वादुना । सृज । सम् । अदः । सु । मधु । मधुना । अभि । योधीः ६

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वे अपि) तुझ में ही (क्रतुम्) अपनी बुद्धि को (भूरि) बहुत प्रकार से [सब प्राणी] (पृञ्चन्ति) जोड़ते हैं, (एते) यह सब (ऊमाः) रक्षक प्राणी (द्विः) दो बार [स्त्री पुरुष रूप से] (त्रिः) तीन बार [स्थान, नाम और जन्म रूप से] (भवन्ति) रहते हैं। (यत्) क्योंकि (स्वादोः) स्वादु से (स्वादीयः) अधिक स्वादु मोक्ष सुख को (स्वादुना) स्वादु [सांसारिक सुख] के साथ (सम् सृज) संयुक्त कर, (अदः) उस (मधु) मधुर [मोक्ष सुख] को (मधुना) मधुर [सांसारिक] ज्ञान के साथ (सु) भले प्रकार (अभि) सब ओर से (योधीः) तू ने पहुंचाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—लिङ्ग रहित आत्मा कभी स्त्री कभी पुरुष होकर अपने कर्मानुसार मनुष्य आदि शरीर, नाम और जाति भोगता है। सब प्राणी परमेश्वर की महिमा जानकर सांसारिक व्यवहार द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करें जैसे कि पूर्वज ऋषियों ने वेद द्वारा प्राप्त किया है ॥ ६ ॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः। ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥ ७ ॥

यदि । चित् । नु । त्वा । धना । जयन्तम् । रणे-रणे । अनु-मदन्ति । विप्राः ॥ ओजीयः । शुष्मिन् । स्थिरम् । आ । तनुष्व । मा । त्वा । दभन् । दुः-एवासः । कशोकाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो (चित्) निश्चय कर के (विप्राः) पंडित जन (रणेरणे) प्रत्येक रण में (नु) शीघ्र (धना) धनों को (जयन्तम्) जीतने वाले (त्वा) तेरे (अनुमदन्ति) पीछे पीछे आनन्द पाते हैं। (शुष्मिन्) हे बलवन् परमात्मन् ! (ओजीयः) अधिक बलवान् (स्थिरम्) स्थिर मोक्ष सुख (आ) सब ओर से (तनुष्व) फैला, (दुरेवासः) दुष्ट गति वाले (कशोकाः) परसुख में शोक करने वाले जन (त्वा) तुझ को (मा दभन्) न सतावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य विघ्नों को हटाकर कठिन कठिन कार्य सिद्ध कर के स्थिर सुख पाते हैं ॥ ७ ॥

त्वया व॒यं शा॑शद्महे॒ रणे॑षु प्र॒पश्य॑न्तो यु॒धेन्या॑नि॒ भूरि॑। चोदया॑मि त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भिः सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा वयां॑सि ॥ ८ ॥

त्वया॑। व॒यम्। शा॒श॒द्म॒हे॒। रणे॑षु। प्र॒-पश्य॑न्तः। यु॒धेन्या॑नि। भूरि॑॥ चो॒दया॑मि। ते॒। आयु॑धा। वचः॑-भिः। सम्। ते॒। शि॒शा॒मि॒। ब्रह्म॑णा। वयां॑सि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(भूरि) बहुत से (युधेन्यानि) युद्धों को (प्रपश्यन्तः) देखते हुये (वयम्) हम लोग (त्वया) तेरे साथ (रणेषु) रण क्षेत्रों में [शत्रुओं को] (शाशद्महे) मार गिराते हैं। (ते) तेरे (वचोभिः) वचनों से (आयुधा) अपने शस्त्रों को (चोदयामि) मैं आगे बढ़ाता हूं और (ते) तेरे (ब्रह्मणा) ब्रह्म ज्ञान से (वयांसि) अपने जीवनों को (सम्) यथावत् (शिशामि) तीक्ष्ण करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—शूर वीर मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके पुरुषार्थ पूर्वक बड़े बड़े कार्य सिद्ध करते हैं ॥ ८ ॥

नि तद् द॑धि॒षेऽव॑रे॒ परे॑ च॒ यस्मि॒न्नावि॒थाव॑सा दु॒रो॒णे। आ स्था॑पयत मा॒तरं॑ जिग॒त्नुमत॑ इन्वत॒ कर्व॑राणि॒ भूरि॑ ॥ ९ ॥

नि। तत्। द॒धि॒षे॒। अव॑रे। परे॑। च॒। यस्मि॑न्। आवि॑थ। अव॑सा। दु॒रो॒णे॥ आ। स्था॒प॒य॒त॒। मा॒तर॑म्। जि॒ग॒त्नुम्। अतः॑। इ॒न्व॒त॒। कर्व॑राणि। भूरि॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन्!] (अवरे) छोटे (च) और (परे) बड़े मनुष्य में (तत्) उस [घर] को (नि) निश्चय करके (दधिषे) तू ने पोषण किया है, (यस्मिन्) जिस (दुरोणे) कष्ट से भरने योग्य घर में (अवसा) अन्न से (आविथ) तू ने रक्षा की है। [हे मनुष्यो!] (जिगत्नुम्) सर्वव्यापक (मातरम्) माता [परमेश्वर] को (आ) भली भांति (स्थापयत) [हृदय में] ठहराओ और (अतः) इसी से (भूरि) बहुत से (कर्व-

राणि) कर्मों को (इन्वत) सिद्ध करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके अपने सब काम सिद्ध करें ॥ ६ ॥

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः १०

स्तुष्व । वर्ष्मन् । पुरु-वर्त्मानम् । सम् । ऋभ्वाणम् । इन-तमम् । आप्तम् । आप्त्यानाम् ॥ आ । दर्शति । शवसा । भूरि-ओजाः । प्र । सक्षति । प्रति-मानम् । पृथिव्याः १० ॥

भाषार्थ—(वर्ष्मन्) हे ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (पुरुवर्त्मानम्) बहुत मार्ग वाले (ऋभ्वाणम्) दूर दूर चमकने वाले, (इनतमम्) महा प्रभु और (आप्त्यानाम्) आप्त [यथार्थ वक्ता] पुरुषों में रहने वाले गुणों के (आप्तम्) यथार्थ वक्ता परमेश्वर की (सम्) यथावत् (स्तुष्व) स्तुति कर । (भूर्योजाः) वह महाबली (शवसा) अपने बल से (आ) सब ओर (दर्शति) देखता है, और वह (पृथिव्याः) पृथिवी का (प्रतिमानम्) प्रतिमान होकर (प्र) भली भांति (सक्षति) व्यापता है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव विचार कर अपनी उन्नति करें ॥ १० ॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः । महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥११

इमा । ब्रह्म । बृहत्-दिवः । कृणवत् । इन्द्राय । शूषम् । अग्रियः । स्वः-साः ॥ महः । गोत्रस्य । क्षयति । स्व-राजा । तुरः । चित् । विश्वम् । अर्णवत् । तपस्वान् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहद्दिवः) बड़े व्यवहार वा गति वाला, (अग्रियः) अगुआ और (स्वर्षाः) स्वर्ग का सेवन करने वाला पुरुष (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (इमा) इन (ब्रह्म=ब्रह्माणि) बड़े स्तोत्रों को (शूषम्) अपना बल

(कृणवत्) बनावें । (स्वराजा) वह स्वराजा [स्वतन्त्र राजा परमेश्वर] (महः) बड़े (गोत्रस्य) भूपति राजा का (क्षयति) राजा है, और वह (तुरः) शीघ्र स्वभाव, (तविष्वान्) सामर्थ्य वाला परमात्मा (त्रित्) ही (विश्वम्) सब जगत् में (अर्णवत्) व्यापता है ॥ ११ ॥

भावार्थ- मनुष्य जगदीश्वर परम पिता के गुण जानकर अपना बल बढ़ावे ॥ ११ ॥

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्वं१ मिन्द्रमेव । स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ १२ ॥

एव । महान् । बृहत्-दिवः । अथर्वा । अवोचत् । स्वाम् । तन्वम् । इन्द्रम् । एव ॥ स्वसारौ । मातरिभ्वरी इति । अरिप्रे इति । हिन्वन्ति । च । एने इति । शवसा । वर्धयन्ति । च ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान्, (बृहद्दिवः) बड़े व्यवहार वाले, (अथर्वा) निश्चल स्वभाव पुरुष ने (स्वाम्) अपनी (तन्वम्) विस्तृत स्तुति (इन्द्रम्) परमेश्वर के लिये (एव) ही (एव) इस प्रकार से (अवोचत्) कही है। (मातरिभ्वरी) आकाश में वर्तमान (स्वसारौ) अच्छे प्रकार ग्रहण करने वाले वा गति वाले [वा दो बहिनों के समान सहाय कारी] दिन और रात (च) और (अरिप्रे) निर्दोष (एने) यह दोनों [सूर्य और पृथिवी] (शवसा) अपने सामर्थ्य से [उसी को] (हिन्वन्ति) प्रसन्न करती (च) और (वर्धयन्ति) सराहती हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—हम से पहिले ऋषियों ने भी उसी परमात्मा की स्तुति की है, और दिन रात आदि काल और सूर्य पृथिवी आदि सब लोक उसी के आज्ञाकारी हैं ॥ १२ ॥

मन्त्र १३—१५ ॥ आध्यात्मोपदेशः—मन्त्र १३—१५ परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः १३

चित्रम् । देवानाम् । केतुः । अनीकम् । ज्योतिष्मान् । प्र-दिशः । सूर्यः । उत्-यन् ॥ दिवा-करः । अति । द्युम्नैः । तमांसि । विश्वा । अतारीत् । दुः-इतानि । शुक्रः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) जीवन दाता [ब्रह्म], (देवानाम्) गतिमान् लोकों के (केतुः) जताने वाले, (ज्योतिष्मान्) तेजोमय (सूर्यः) सर्वप्रेरक [परमात्मा] (प्रदिशः) सब दिशाओं में (उद्यन्) ऊंचे होते हुये (दिवाकरः) दिन को रचने वाले [सूर्य रूप], (शुक्रः) वीर्यवान् [परमेश्वर] ने (द्युम्नैः) अपने प्रकाशों से (तमांसि) अन्धकारों को (अति) लांघकर (विश्वा) सब (दुरितानि) कठिनाइयों को (अतारीत्) पार किया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे यह सूर्य अन्धकार नाश करके दिन बनाकर प्रकाशमान है, वैसे ही वह परमेश्वर सूर्य आदि लोकों को रचकर धारण आकर्षण द्वारा सब की रक्षा करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या से प्रकाशमान होकर विघ्नों को हटावें ॥ १३ ॥

मन्त्र १३, १४ आचुके हैं—अथ० १३ । २ । ३४, ३५ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ १४ ॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः ॥ आ । अप्रात् । द्यावापृथिवी इति । अन्तरिक्षम् । सूर्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च १४

भाषार्थ—(देवानाम्) गतिमान् लोकों का (चित्रम्) अद्भुत (अनी-

१३, १४ मन्त्रौ व्याख्यातौ—अथर्व० १३ । २ । ३४, ३५ ॥

कम्) जीवन दाता, (मित्रस्य) सूर्य [वा प्राण] का, (वरुणस्य) चन्द्रमा [अथवा जल वा अपान] का और (अग्नेः) बिजुली का (चक्षुः) दिखाने वाला [ब्रह्म] (उत्) सर्वोपरि (अगात्) व्यापा है। (सूर्यः) सर्वप्रेरक, (जगतः) जङ्गम (च) और (तस्थुषः) स्थावर के (आत्मा) आत्मा [निरन्तर व्यापक परमात्मा] ने (द्यावापृथिवी) सूर्य भूमि [प्रकाशमान अप्रकाशमान लोकों] और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ) सब प्रकार से (अप्रात्) पूर्ण किया है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो अद्भुत स्वरूप परमात्मा सूर्य, चन्द्र, वायु आदि द्वारा सब प्राणियों को सुख देता है, मनुष्य उस को उपासना द्वारा जानकर आत्मोन्नति करें ॥ १४ ॥

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑मानां॒ मर्यो॒ न योषा॑म॒भ्ये॑ति प॒श्चात् । यत्रा॒ नरो॑ देव॒यन्तो॑ यु॒गानि॑ वितन्व॒ते प्रति॑ भ॒द्राय॑ भ॒द्रम् ॥१५

सूर्यः॑ । दे॒वीम् । उ॒षस॑म् रोच॑मानाम् । मर्यः॑ । न । योषा॑म् । अ॒भि । ए॒ति । प॒श्चात् ॥ यत्र॑ । नरः॑ । दे॒व॒-यन्तः॑ । यु॒गानि॑ । वि॒-त॒न्व॒ते । प्रति॑ । भ॒द्राय॑ । भ॒द्रम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य मण्डल (देवीम्) देवी [दिव्यगुण वाली] (रोचमानाम्) रुचि कराने वाली (उषसम्) उषा [प्रभात वेला] के (पश्चात्) पीछे पीछे (अभि) सब ओर से (एति) प्राप्त होता है, (न) जैसे (मर्यः) मनुष्य (योषाम्) अपनी स्त्री को [प्रीति से प्राप्त होता है], (यत्र) जहां [संसार के बीच] (देवयन्तः) व्यवहार चाहने वाले (नरः) नर [नेता लोग] (भद्रम् प्रति) आनन्द स्वरूप परमात्मा के सामने (भद्राय) आनन्द के लिये (युगानि) जुगों [वर्षों] को (वितन्वते) फैलाते हैं ॥ १५ ॥

१५—(सूर्यः) सविता (देवीम्) दिव्यगुणयुक्ताम् (उषसम्) प्रभातवेलाम्। सन्धिकालम् (रोचमानाम्) रुचिकारिकाम् (मर्यः) पतिर्मनुष्यः (न) इव (योषाम्) स्वभार्याम् (अभि) सर्वतः (एति) प्राप्नोति (पश्चात्) (यत्र) यस्मिन् संसारे (नरः) नेतारः (देवयन्तः) व्यवहारान् कामयमानाः (युगानि) वर्षाणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति (प्रति) अभिमुखीकृत्य (भद्राय) कल्याणाय (भद्रम्) सुखस्वरूपं परमात्मानम् ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वरकृत नियमों के अनुसार सूर्य और उषा के सम्बन्ध से प्रकाश, और पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध से सन्तान होता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग सुखस्वरूप परमात्मा की आज्ञा में रहकर नियम पूर्वक सुख भोगते हुये अपना जीवन काल बढ़ावें ॥ १५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ११५ । २ ॥

सूक्तम् १०८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडुष्णिक् ; २,३ विराडार्च्युष्णिक् ॥

परमेश्वरप्रार्थनोपदेशः—परमेश्वर की प्रार्थना का उपदेश ॥

त्वं न॑ इन्द्रा भ॑र॒ ओजो॑ नृम्णं॒ शत॑क्रतो विचर्षणे । आ वी॒रं पृ॑तना॒षह॑म् ॥ १ ॥

त्वम् । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । आ । भ॒र॒ । ओजः॑ । नृ॒म्णम् । श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शत-क्रतो । वि॒-च॒र्ष॒णे॒ ॥ आ । वी॒रम् । पृ॒त॒ना॒-सह॑म् १

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्म करने वाले ! (विचर्षणे) हे विविध प्रकार देखने वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (त्वम्) तू (नः) हमारे लिये (ओजः) बल, (नृम्णम्) धन (आ) और (पृतनासहम्) संग्राम जीतने वाले (वीरम्) वीर को (आ) भले प्रकार (भर) पुष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करके प्रयत्न पूर्वक बलवान्, धनवान् और वीर पुरुषों वाले होवें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ९८ [सायण भाष्य ८७] । १०—१२; सामवेद—उ० ४ । २ । तृच १३; मन्त्र १ साम० पू० २ । २ । ७ ॥

त्वं हि न॑: पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ । अधा॑ ते

१—(त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (आ) समन्ततात् (भर) पोषय (ओजः) बलम् (नृम्णम्) धनम् (शतक्रतो) बहुकर्मन् (विचर्षणे) विविधद्रष्टः (आ) समुच्चये (वीरम्) वीर्योपेतम् (पृतनासहम्) संग्रामजेतारम् ॥

सुम्नमीमहे ॥ २ ॥

त्वम् । हि । नः । पिता । वसो इति । त्वम् । माता । शत-क्रतो इति शत-क्रतो । बभूविथ ॥ अध । ते । सुम्नम् । ईमहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे बसाने वाले ! (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (हि) ही (नः) हमारा (पिता) पिता और (त्वम्) तू ही) माता) माता (बभूविथ) हुआ है, (अध) इस लिये (ते) तेरे (सुम्नम्) सुख को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सदा से सब सृष्टि का पालन पोषण करता है, हम उसी से प्रार्थना करके पुरुषार्थ के साथ सुखी होवें ॥ २ ॥

त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो । स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥

त्वाम् । शुष्मिन् । पुरु-हूत । वाज-यन्तम् । उप । ब्रुवे । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ सः । नः । रास्व । सु-वीर्यम् ॥३॥

भाषार्थ—(शुष्मिन्) हे महाबली ! (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये ! (शतक्रो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [परमेश्वर] (वाजयन्तम्) बलवान् बनाने वाले (त्वाम्) तुझ को (उप) आदर से (ब्रुवे) मैं बुलाता हूं, (सः) सो तू (नः) हमें (सुवीर्यम्) बड़ा वीरपन (रास्व) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य महाबली परमेश्वर से प्रार्थना करके अनेक उपकारी कर्म करते हुये अपना वीरत्व बढ़ावें ॥ ३ ॥

२—(त्वम्) (हि) (नः) अस्माकम् (पिता) पालकः (वसो) वासयितः (त्वम) (माता) जननीवद् धारकः (शतक्रतो) बहुकर्मन् (बभूविथ) (अध) अनन्तरम् (ते) तव (सुम्नम्) सुखम् (ईमहे) याचामहे ॥ २ ॥

३—(त्वाम्) (शुष्मिन्) महाबलिन् (पुरुहूत) बहुविधाहूत (वाजयन्तम्) बलवन्तं कुर्वाणम् (उप) पूजायाम् (ब्रुवे) वदामि (शतक्रतो) बहुकर्मन् (सः) स त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) देहि (सुवीर्यम्) महावीरत्वम् ॥

सूक्तम् १०९ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या पङ्क्तिः ॥

सभापतिसभ्यजनलक्षणोपदेशः—सभापति और सभासदों के लक्षणों का उपदेश ॥

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः । या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥

स्वादोः । इत्था । विषु-वतः । मध्वः । पिबन्ति । गौर्यः ॥ याः । इन्द्रेण । स-यावरीः । वृष्णा । मदन्ति । शोभसे । वस्वीः । अनु । स्व-राज्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इत्था) इस प्रकार (स्वादोः) स्वादु (विषुवतः) बहुत फैलाव वाले (मध्वः) ज्ञान का (गौर्यः) वे उद्योग करने वाली प्रजायें (पिबन्ति) पान करती हैं, (याः) जो [प्रजायें] (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के साथ (सयावरीः) मिलकर चलने वाली, (वस्वीः) बसने वाली [प्रजायें] (स्वराज्यम् अनु) स्वराज्य [अपने राज्य] के पीछे (शोभसे) शोभा पाने के लिये (मदन्ति) प्रसन्न होती हैं ॥ १ ॥

१—(स्वादोः) स्वादयुक्तस्य (इत्था) अनेन प्रकारेण (विषुवतः) व्याप्तियुक्तस्य (मध्वः) मधुनः । ज्ञानस्य (पिबन्ति) पानं कुर्वन्ति (गौर्यः) गुरी उद्यमे—घञ् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति—निरु० ११ । ३९ । उद्यमयुक्ताः प्रजाः (याः) (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सभापतिना (सयावरीः) आतो मनिन्० । पा० ३ । २ । ७४ । या प्रापणे—वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । सहगच्छन्त्यः (वृष्णा) बलवता (मदन्ति) हृष्यन्ति (शोभसे) शोभार्थम् (वस्वीः) शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि० । उ० १ । १० । वस निवासे—उप्रत्ययः । वोतो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । इति ङीप् । वासकारिण्यः प्रजाः (अनु) अनुलक्ष्य (स्वराज्यम्) स्वकीय-राष्ट्रम् ॥

भावार्थ—जिस राज्य में सभापति और सभासद् लोग आपस में मिलकर उत्तम ज्ञान के साथ प्रजा के उपकार का प्रयत्न करते हैं, वहां आनन्द बढ़ता है ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । ८४ । १०-१२; सामवेद—उ० ३ । २ । तृच १५ ; म० १ साम—पू० ५ । ३ । १ ॥

ता अस्य पृशनायुवः सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः । प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ २ ॥

ताः । अस्य । पृशन-युवः । सोमम् । श्रीणन्ति । पृश्नयः ॥ प्रियाः । इन्द्रस्य । धेनवः । वज्रम् । हिन्वन्ति । सायकम् ॥०२

भाषार्थ—(अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] की (पृशनयुवः) स्पर्श चाहती हुई और (पृश्नयः) प्रश्न करती हुई (ताः) वे [प्रजायें] (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (श्रीणन्ति) परिपक्व करती हैं । (प्रियाः) प्रीति करती हुई, (धेनवः) गौओं के समान तृप्त करने वाली (वस्वीः) बसने वाली [प्रजायें] (स्वाराज्यम् अनु) स्वराज्य [अपने राज्य] के पीछे (वज्रम्) वज्र और (सायकम्) बाण को (हिन्वन्ति) बढ़ाती हैं [छोड़ती हैं] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे गौयें अपने रक्षक पुरुष से अन्न घास आदि पाकर उस को दूध से तृप्त करती हैं, वैसे ही प्रजागण वीर सभापति राजा से सुरक्षित रहकर स्वराज्य पाकर सहाय करें ॥

२—(ताः) (अस्य) (पृशनयुवः) सलोपः । स्पर्शनकामाः (सोमम्) तत्त्वरसम् (श्रीणन्ति) पचन्ति (पृश्नयः) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । प्रच्छ जिज्ञासायाम्—नि । जिज्ञासमानाः (प्रियाः) प्रीतिकारिण्यः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः सभाध्यक्षस्य (धेनवः) गावो यथा तर्पयित्र्यः (वज्रम्) आयुधम् (हिन्वन्ति) प्रेरयन्ति (सायकम्) शरम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः । व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥

ताः । अस्य । नमसा । सहः । सपर्यन्ति । प्र-चेतसः ॥ व्रतानि । अस्य । सश्चिरे । पुरूणि । पूर्व-चित्तये । वस्वीः । अनु । स्व-राज्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतसः) उत्तम ज्ञान वाली (ताः) वे [प्रजायें] (नमसा) आदर के साथ (अस्य) उस [सभापति] के (सहः) बल को (सपर्यन्ति) सेवन करती हैं । (वस्वीः) बसने वाली [प्रजायें] (स्व-राज्यम् अनु) स्वराज्य [अपने राज्य] के पीछे (पूर्वचित्तये) पूर्वजों का ज्ञान पाने के लिये (अस्य) इस [सभापति] के (पुरूणि) बहुत से (व्रतानि) नियमों को (सश्चिरे) प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग स्वराज्य के साथ साथ राजधर्म को मानकर प्रजा को शान्त रक्खें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११० ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

विद्वत्कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः । अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ १ ॥

इन्द्राय । मद्वने । सुतम् । परि । स्तोभन्तु । नः । गिरः ॥ अर्कम् । अर्चन्तु । कारवः ॥ १ ॥

३—(ताः) प्रजाः (अस्य) सभापतेः (नमसा) सत्कारेण (सहः) बलम् (सपर्यन्ति) सेवन्ते (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानवत्यः (व्रतानि) नियमान् (अस्य) (सश्चिरे) सश्च गतौ । गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (पुरूणि) बहूनि (पूर्वचित्तये) चिती संज्ञाने—क्तिन् । पूर्वेषां ज्ञानप्राप्तये । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(मद्वने) आनन्द कारी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] के लिये (नः) हमारी (गिरः) वाणियां (सुतम्) निचोड़े हुये तत्त्व रस का (परि) सब प्रकार (स्तोभन्तु) आदर करें और (कारवः) काम करने वाले लोग (अर्कम्) उस पूजनीय का (अर्चन्तु) आदर करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों के उत्तम सिद्धान्तों को माने, लोग सदा उस का आदर करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८। ९२ [सायण भाष्य ८१]। १९—२१, सामवेद—उ० १। २। तृच ४; म० १ साम०—पू० २। ७। ४॥

यस्मिन् विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः। इन्द्रं सुते हवामहे ॥ २ ॥

यस्मिन्। विश्वाः। अधि। श्रियः। रणन्ति। सप्त। सम्ऽसदः॥ इन्द्रम्। सुते। हवामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [पुरुष] में (सप्त) सात (संसदः) मिलकर बैठने वाले [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, वाक्, मन और बुद्धि] (विश्वाः) सब (श्रियः) सम्पत्तियों को (अधि) अधिकार पूर्वक (रणन्ति) पाते हैं, (इन्द्रम्) उस इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] को (सुते) सिद्ध किये तत्त्व रस में (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों को वश करके सब सम्पत्तियां प्राप्त करे, वह सब का माननीय होवे ॥ २ ॥

१—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (मद्वने) माद्यतेः—क्वनिप्। आनन्दकाय (सुतम्) संस्कृतं तत्त्वरसम् (परि) सर्वतः (स्तोभन्तु) स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। सत्कुर्वन्तु (नः) अस्माकम् (गिरः) वाण्यः (अर्कम्) अर्चनीयम् (अर्चन्तु) पूजयन्तु (कारवः) कर्मकर्तारः ॥

२—(यस्मिन्) इन्द्रे (विश्वाः) सर्वाः (अधि) अधिकृत्य (श्रियः) सम्पत्तीः (रणन्ति) गच्छन्ति। प्राप्नुवन्ति (सप्त) सप्तसंख्याकाः (संसदः) परस्परस्थितिशीलाः—त्वचानेत्रश्रोत्रजिह्वावाग्मनोबुद्धयः (इन्द्रम्) तं महाप्रतापिनं मनुष्यम् (सुते) निष्पादिते तत्त्वरसे (हवामहे) आह्वयामः ॥

यजुर्वेद ३४ । ५५ में आया है—(सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) सात ऋषि [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, वाक्, मन और बुद्धि] शरीर में रक्खे हुये हैं ॥

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत । तमिद् वर्धन्तु नो गिरः ३

त्रि-कद्रुकेषु । चेतनम् । देवासः । यज्ञम् । अत्नत ॥ तम् । इत् । वर्धन्तु । नः । गिरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवासः) विद्वानों ने (त्रिकद्रुकेषु) तीन [शारीरिक, आत्मिक, और सामाजिक उन्नतियों के] विधानों में (चेतनम्) चेताने वाले (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान] को (अत्नत) फैलाया है । (तम् इत्) उस ही [यज्ञ] को (नः) हमारी (गिरः) विद्यायें (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पूर्वज महात्माओं के समान विद्या प्राप्त करके शारीरिक, आत्मिक और समाजिक उन्नति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १११ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुष्णिक्, २, ३ उष्णिक् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये । यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ १ ॥

यत् । सोमम् । इन्द्र । विष्णवि । यत् ॥ वा घ । त्रिते । आप्त्ये ॥ यत् । वा । मरुत्-सु । मन्दसे । सम् । इन्दु-भिः १॥

३—(त्रिकद्रुकेषु) अथ० २० । ९५ । १ तिसृणां शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीनां कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु (चेतनम्) ज्ञानसाधनम् (देवासः) विद्वांसः (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (अत्नत) अतन्वत । विस्तारितवन्तः (तम् इत्) तमेव यज्ञम् (वर्धन्तु) वर्धयन्तु (नः) अस्माकम् (गिरः) विविधविद्याः ॥

यद्वा॑ शक्र परा॒वति॑ समु॒द्रे अधि॒ मन्द॑से । अ॒स्माक॒मित् सु॒ते र॑णा॒ समिन्दु॑भिः ॥ २ ॥

यत् । वा॒ । श॒क्र॒ । प॒रा॒ऽवति॑ । स॒मु॒द्रे । अधि॑ । मन्द॑से ॥ अ॒स्माक॑म् । इत् । सु॒ते । र॒ण॒ । सम् । इन्दु॑ऽभिः ॥ २ ॥

यद्वासि॑ सुन्व॒तो वृ॒धो यज॑मानस्य सत्पते । उ॒क्थे वा॒ यस्य॒ रण्य॑सि॒ समिन्दु॑भिः ॥ ३ ॥

यत् । वा॒ । असि॑ । सु॒न्व॒तः । वृ॒धः । यज॑मानस्य । स॒त्ऽप॒ते॒ ॥ उ॒क्थे । वा॒ । यस्य॑ । रण्य॑सि । सम् । इन्दु॑ऽभिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (यत्) जब (घ) निश्चय करके (यत् वा) अथवा (आप्त्ये) आप्तों [यथार्थ वक्ताओं] के हितकारी, (त्रिते) तीनों लोकों में फैले हुये (विष्णवि) विष्णु [व्यापक परमात्मा] में, (यत् वा) अथवा (मरुत्सु) शूर विद्वानों में (इन्दुभिः) ऐश्वर्य व्यवहारों के साथ (सोमम्) सोम [तत्त्वरस] को (सम्) ठीक ठीक (मन्दसे) तू प्राप्त होता है ॥ १ ॥ (शक्र) हे शक्तिमान् ! (मनुष्य) (यत् वा) अथवा (परावति) बहुत दूर वाले (समुद्रे) समुद्र [जलनिधि वा आकाश] में (अधि) अधिकार पूर्वक (इन्दुभिः) ऐश्वर्य व्यवहारों के साथ [तत्त्व रस को] (सम्) ठीक ठीक (मन्दसे) तू हर्ष युक्त करता

१—(यत्) यदा (सोमम्) तत्त्वरसम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् मनुष्य (विष्णवि) विष्णौ । व्यापके परमात्मनि (यत् वा) अथवा (घ) निश्चयेन (त्रिते) अथ० ५ । १ । १ । त्रि+तनु विस्तारे—डप्रत्ययः । त्रिषु लोकेषु विस्तृते (आप्त्ये) आप्तानां यथार्थवक्तॄणां हिते (यत् वा) अथवा (मरुत्सु) शूर-विद्वत्सु (मन्दसे) मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । गच्छसि । प्राप्नोषि (सम्) सम्यक् (इन्दुभिः) ऐश्वर्यव्यवहारैः ॥

२—(यत् वा) अथवा (शक्र) हे शक्तिमान् (परावति) दूरगते (समुद्रे) जलनिधौ । आकाशे (अधि) अधिकृत्य (मन्दसे) म० १ । मोदयसि । आनन्दयसि (अस्माकम्) (इत्) एव (सुते) संस्कृते तत्त्वरसे

है, (सत्पते) हे सत्पुरुषों के स्वामी ! (यत् वा) जब कि तू (सुन्वतः) उस तत्त्व रस निचोड़ने वाले (यजमानस्य) यजमान का (वृधः) बढ़ाने वाला (असि) है, (यस्य) जिस [यजमान] के (उक्थे) वचन में (वा) निश्चय करके (इन्दुभिः) ऐश्वर्य व्यवहारों के साथ (सम्) ठीक ठीक (रणयसि) तू उपदेश करता है, [तब] (अस्माकम् इत्) हमारे भी (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस में (रण) उपदेश कर ॥ २, ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य तत्त्व रस की प्राप्ति से परमात्मा की आज्ञा पालता हुआ, तथा समष्टि रूप से सब मनुष्यों का और व्यष्टि रूप से प्रत्येक मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ाता हुआ उन्नति करके सदा धर्म का उपदेश करे ॥ २—३ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है— ८ । १२ । १६—१८; म० १ सामवेद—पू० ७ । १० । ४ ॥

सूक्तम् ११२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् गायत्री; २, ३ गायायत्री ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

यदुद्य कच्चं वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य । सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ १ ॥

यत् । अद्य । कत् । च । वृत्र-हन् । उत्-अगाः । अभि । सूर्य ॥ सर्वम् । तत् । इन्द्र । ते । वशे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रु नाशक ! (सूर्य) हे सूर्य ! [सूर्य के समान सर्वप्रेरक] (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अद्य)

(रण) शब्दय । उपदिश (सम्) सम्यक् (इन्दुभिः) ऐश्वर्यव्यवहारैः ॥

३—(यत् वा) अथवा (असि) (सुन्वतः) तत्वरसं निष्पादयतः पुरुषस्य (वृधः) वर्धयिता (यजमानस्य) (सत्पते) सतां पालक (उक्थे) वचने (वा) अवधारणे (यस्य) यजमानस्य (रणयसि) उपदिशसि (सम्) सम्यक् (इन्दुभिः) ऐश्वर्यव्यवहारैः ॥

१—(यत्) वस्तु (अद्य) (कत् च) किमपि (वृत्रहन्) शत्रुनाशक (उदगाः) इण् गतौ—लुङ् । उदितवानसि (अभि) प्रति (सूर्य) सूर्यवत्प्रेरक

आज (यत् कत् च अभि) जिस किसी वस्तु पर (उद्गाः) तू उदय हुआ है, (तत्) वह (सर्वम्) सब (ते) तेरे (वशे) वश में है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या और पराक्रम से संसार में सूर्य के समान प्रकाशमान होकर सब पदार्थों का तत्त्व जानकर उनको उपयोगी बनावे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ९३ [सायण भाष्य ८२] । ४—६; म० १ यजुर्वेद—३३ । ३५; सामवेद—पू० २ । ४ । २ ॥

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे । उतो तत् सत्यमित् तव ॥ २ ॥

यत् । वा । प्र-वृद्ध । सत्-पते । न । मरै । । इति । मन्यसे ॥ उतो इति । तत् । सत्यम् । इत् । तव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रवृद्ध) हे बढ़े हुये (सत्पते) सत्पुरुषों के रक्षक [पुरुष] (वा) और (यत्) जो (इति) ऐसा (मन्यसे) तू मानता है— (न मरै) मैं न मरूं, (उतो) सो (तत्) वह (तव) तेरा [वचन] (सत्यम्) सत्य (इत्) ही [होवे] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न कर के सत्पुरुषों की रक्षा करते हुये धर्म में प्रवृत्त रहकर अपना नाम बनाये रक्खें ॥ २ ॥

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्विरे । सर्वांस्तान् इन्द्र गच्छसि ॥ ३ ॥

ये । सोमासः । परा-वति । ये । अर्वा-वति । सुन्विरे ॥ सर्वान् । तान् । इन्द्र । गच्छसि ॥ ३ ॥

(सर्वम्) (तत्) वस्तु (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (ते) तव (वशे) अधीनत्वे ॥

२—(यत्) यदि (वा) च (प्रवृद्ध) प्रवर्धमान (सत्पते) सतां पालक (न) निषेधे (मरै) अहं म्रिये (इति) एवम् (मन्यसे) बुध्यसे (उतो) अपि च (तत्) वचनम् (सत्यम्) यथार्थम् (इत्) एव (तव) ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सोमासः) सोम रस [तत्त्व रस] (परावति) दूर देश में और (ये) जो (अर्वावति) समीप देश में (सुन्विरे) निचोड़े गये हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (तान् सर्वान्) उन सब को (गच्छसि) तू प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि पुरुषार्थ करके दूर और समीप अर्थात् सब स्थान में उत्तम विद्या प्राप्त कर के ऐश्वर्य बढ़ावे ॥

यह मन्त्र सामवेद में कुछ भेद से है—उ० ४। २। ११ ॥

सूक्तम् ११३ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् बृहती; २ सतः बृहती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः। सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥ १ ॥

उभयम्। शृणवत्। च। नः। इन्द्रः। अर्वाक्। इदम्। वचः॥ सत्राच्या। मघ-वा। सोम-पीतये। धिया। शविष्ठः। आ। गमत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (उभयम्) दो प्रकार से [शत्रुओं पर दण्ड और भक्तों पर अनुग्रह करने से] (नः) हमारे (इदम्) इस (अर्वाक्) वर्तमान (वचः) वचन को (च) निश्चय करके (शृणवत्) सुने, (मघवा) महाधनी और (शविष्ठः) महाबली

३—(ये) (सोमासः) तत्त्वरसाः (परावति) दूरदेशे (ये) (अर्वावति) समीपदेशे (सुन्विरे) सुनोतेः कर्मणि लिट्। अभिषुता बभूवुः (सर्वान्) (तान्) सोमान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् पुरुष (गच्छसि) प्राप्नोषु ॥

१—(उभयम्) द्विप्रकारं शत्रुनिग्रहं भक्तानुग्रहं च (शृणवत्) शृणुयात् (च) अवधारणे (नः) अस्माकम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (अर्वाक्) अभिमुखम् (इदम्) (वचः) वचनम् (सत्राच्या) सत्यगतिवत्या (मघवा)

[राजा] (सोमपीतये) सोम [तत्त्व रस] पीने के लिये (सत्राच्या) सत्य गति वाली (धिया) बुद्धि के साथ (आ गमात्) आवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा धन की पूर्णता और पराक्रम की उपयोगिता से शत्रुओं को मिटाकर और राज भक्तों को बढ़ाकर श्रेष्ठ कर्म करता रहे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ६१ [सायण भाष्य ५०] । १—२; सामवेद—उ० ५ । १ । १४; म० १ साम० पू० ३ । १० । ८ ॥

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः ।

उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥ २ ॥

तम् । हि । स्व-राजम् । वृषभम् । तम् । ओजसे । धिषणे इति । निः-ततक्षतुः ॥ उत । उप-मानाम् । प्रथमः । नि । सीदसि । सोम-कामम् । हि । ते । मनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तम् हि) उस ही [तुझ] (स्वराजम्) स्वराजा को, (तम्) उस ही [तुझ] (वृषभम्) बलवान् को (ओजसे) पराक्रम के लिये (धिषणे) दोनों सूर्य और भूमि ने (निष्टतक्षतुः) बना दिया है। (उत) और (उपमानाम्) समीप वालों का भी (प्रथमः) पहिला [मुख्य] होकर (नि षीदसि) तू बैठता है, (हि) क्योंकि (ते) तेरा (मनः) मन (सोमकामम्) ऐश्वर्य का चाहने वाला है ॥ २ ॥

महाधनी (सोमपीतये) तत्त्वरसस्य पानाय (धिया) प्रज्ञया (शविष्ठः) अतिशयेन बलवान् (आ गमत्) आगच्छतु ॥

२—(तम्) तादृशं त्वाम् (हि) एव (स्वराजम्) स्वयमेव राजानम् (वृषभम्) बलवत्तमम् (तम्) (ओजसे) पराक्रमाय (धिषणे) अथ० २० । ६४ । ८ । सूर्यभूमिलोकौ (निष्टतक्षतुः) संचस्करतुः (उत) अपि च (उपमानाम्) समीपस्थानाम् (प्रथमः) मुख्यः (नि षीदसि) उपविशसि (सोमकामम्) ऐश्वर्यं कामयमानम् (हि) यस्मात् कारणात् (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् ॥

भावार्थ—राजा सूर्य के समान तेजस्वी और पृथिवी के समान सहनशील होकर अपने पराक्रम से ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११४ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुष्णिक्; २ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि । युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥

अभ्रातृव्यः । अना । त्वम् । अनापिः । इन्द्र । जनुषा । सनात् । असि ॥ ॥ युधा । इत् । आपि-त्वम् । इच्छसे ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (त्वम्) तू (जनुषा) जन्म से (सनात्) सदा (अभ्रातृव्यः) बिना वैरी वाला, (अना) बिना नेता वाला और (अनापिः) बिना बन्धु वाला (असि) है, (युधा) युद्ध में (हि) ही [हमारे साथ संग्राम होने पर ही] (आपित्वम्) बन्धुपन [हमारे लिये सहायता] (इच्छसे) तू चाहता है ॥ १ ॥

भावार्थ—अनादि, अद्वितीय परमात्मा अपने धर्मात्मा भक्तों को सदा संकट से छुड़ाता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८। २१ । १३, १४, सामवेद, उ० ६ । २ । ४; म० १ सा० पू० ५ । २ । १ ॥

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित् पितेव हूयसे ॥ २ ॥

नकिः । रेवन्तम् । सख्याय । विन्दसे । पीयन्ति । ते । सुरा-

१—(अभ्रातृव्यः) अ० २ । १८ । १ । शत्रुरहितः (अना) अनेतृकः (त्वम् (अनापिः) बन्धुवर्जितः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (जनुषा) जन्मना (सनात्) चिरादेव (असि) (युधा) विभक्तेराकारः । अस्माभिः सह युद्धे (इत्) एव (आपित्वम) बन्धुत्वम् (इच्छसे) कामयसे ॥

श्वः ॥ यदा । कृणोषि । नदनुम् । सम् । ऊहसि । आत् । इत् । पिता-इव । हूयसे ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (रेवन्तम्) [उस] बड़े धनवान् को (सख्याय) अपनी मित्रता के लिये (नकिः) कभी नहीं (विन्दसे) तू मिलता है, (सुराश्वः) [जो] मदिरा से बढ़ा हुआ [उन्मत्त पागल मनुष्य] (ते) तेरी (पीयन्ति) हिंसा करता है। (यदा) जब तू (नदनुम्) गर्जन (कृणोषि) करता है और (सम्) यथावत् (ऊहसे) तू विचार करता है, (आत् इत्) तभी (पिता इव) पिता के समान (हूयसे) तू बुलाया जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा दुराचारी नास्तिक बड़े धनी को भी जब तुच्छ कर देता है, तब वह अभिमानी उस परमात्मा की महिमा को साक्षात् करता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ११५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि ॥१॥

अहम् । इत् । हि । पितुः । परि । मेधाम् । ऋतस्य । जग्रभ ॥ अहम् । सूर्यः-इव । अजनि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पितुः) पिता [परमेश्वर] से (इत् हि)

२—(नकिः) न कदापि (रेवन्तम्) बहुधनवन्तम् (सख्याय) सखिभावाय (विन्दसे) त्वं लभसे (पीयन्ति) एकवचनस्य बहुवचनम्। पीयति। हिंसां करोति (ते) तव (सुराश्वः) सुरा + टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—डप्रत्ययः। सुरया मदिरया वृद्धः, प्रमत्तः। नास्तिकः (यदा) कृणोषि। करोषि (नदनुम्) अनुङ् नदेश्च। उ० ३। ५२। णद अव्यक्ते शब्दे—अनुङ्। गर्जनम्। संग्रामम्—निघ० २। १७ (सम्) सम्यक् (ऊहसि) वितर्कयसि (आत्) अनन्तरम् (इत्) एव (पिता) (इव) (हूयसे) आहूयसे ॥

१—(अहम्) मनुष्यः (इत्) एव (हि) अवश्यम् (पितुः) पालकात्

अवश्य करके (ऋतस्य) सत्य वेद की (मेधाम्) धारणावती बुद्धि (परि) सब प्रकार (जग्रभ) पाई है, (अहम्) मैं (सूर्यः इव) सूर्य के समान (अजनि) प्रसिद्ध हुआ हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के दिये वेद ज्ञान को ग्रहण कर के संसार में सूर्य के समान विद्या का प्रकाश करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ६ । १०-१२; सामवेद उ० ७ । १ तृच ५; म० १ सा० पू० २ । ६ । ८ ॥

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्ममिद् दधे ॥ २ ॥

अहम् । प्रत्नेन । मन्मना । गिरः । शुम्भामि । कण्व-वत् ॥ येन । इन्द्रः । शुष्मम् । इत् । दधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (कण्ववत्) बुद्धिमान् के समान (प्रत्नेन) उस प्राचीन (मन्मना) ज्ञान से (गिरः) अपनी वाणियों को (शुम्भामि) शोभित करता हूं, (येन) जिस [प्राचीन ज्ञान] से (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (शुष्मम्) बल (इत्) अवश्य (दधे) दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरीय ज्ञान वेद से सुशोभित होकर बलवान् होवे ॥ २ ॥

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः । ममेद् वर्धस्व

परमेश्वरात् (परि) सर्वथा (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिम् (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (जग्रभ) हस्य भः । अहं जग्रह । गृहीतवानस्मि (अहम्) (सूर्यः) (इव) (अजनि) अजनिषि प्रादुरभूवम् ॥

२—(अहम्) मनुष्यः (प्रत्नेन) प्राचीनेन (मन्मना) मननसाधनेन ज्ञानेन (गिरः) वाणीः (शुम्भामि) अलं करोमि (कण्ववत्) मेधावी यथा (येन) मन्मना (इन्द्रः) परमेश्वरः (शुष्मम्) बलम् (इत्) अवश्यम् (दधे) दत्तवान् ॥

सुष्टुतः ॥ ३ ॥

ये । त्वाम् । इन्द्र । न । तुस्तुवुः । ऋषयः । ये । च । तुस्तुवुः । मम । इत् । वर्धस्व । सु-स्तुतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्रः ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ये) जिन [नास्तिकों] ने (त्वाम्) तुझ को (न) नहीं (तुष्टुवुः) सराहा है, (च) और (ये) जिन (ऋषयः) ऋषियों [ज्ञानी महात्माओं] ने (तुष्टुवुः) सराहा है, [इन दोनों में] (सुष्टुतः) अच्छे प्रकार स्तुति किया हुआ तू (मम) मेरी (इत्) भी (वर्धस्व) वृद्धि कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की भक्ति करके ऐसे प्रिय आचरण करें कि नास्तिक भी आस्तिक होवें और वेदज्ञानी आस्तिक रहकर उपकार करें ॥३॥

सूक्तम् ११६ ॥

१— २ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी बृहती; २ विराडार्षी बृहती ॥

राजकर्मोपदेशः—राजा के कर्म का उपदेश ॥

मा भूम निष्ट्या इवेन्द्र त्वदरणा इव । वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥ १ ॥

मा । भूम । निष्ट्याः-इव । इन्द्र । त्वत् । अरणाः-इव ॥ वनानि । न । प्र-जहितानि । अद्रि-वः । दुरोषासः । अमन्महि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वत्) तुझ से [अलग होकर] (निष्ट्याः इव) वर्ण सङ्कर नीचों के

३—(ये) नास्तिकाः (त्वाम्) (इन्द्र) परमेश्वर (न) निषेधे (तुष्टुवुः) स्तुतवन्तः (ऋषयः) साक्षात्कृतधर्माणः (ये) (च) समुच्चये (तुष्टुवुः) स्तुतवन्तः (मम) (इत्) एव (वर्धस्व) वृद्धिं कुरु (सुष्टुतः) शोभनं स्तुतः सन् ॥

१—(मा भूम) न भवेम (निष्ट्याः) अथ० १ । १६ । ३ । निस—त्यप् गतार्थौ निर्गता वर्णाश्रमेभ्यः । चाण्डालाः । वर्णसङ्कराः (इव) (इन्द्र)

समान और (अरणाः इव) न बात करने योग्य शत्रुओं के समान और (प्रजहितानि) छोड़ दिये गये (वनानि न) वृक्षों के समान (मा भूम) हम न होवें, (अद्रिवः) हे वज्रधारी । (दुरोषासः) न जल सकने वाले वा न मर सकने वाले [अर्थात् जीते हुये, प्रबल] (अमन्महि) हम समझे जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा करके उसको प्रबल और मित्र बनाये रक्खे, जैसे माली वृक्षों को सींचकर उपयोगी बनाता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १ । १३, १४ ॥

अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन् । सुकृत् सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥ २ ॥

अमन्महि । इत् । अनाशवः । अनुग्रासः । च । वृत्र-हन् ॥ सुकृत् । सु । ते । महता । शूर । राधसा । अनु । स्तोमम् । मुदीमहि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक ! [राजन्] (अनाशवः) अनफुरतीले (च) और (अनुग्रासः) अनतेज (इत्) ही (अमन्महि) हम जाने गये हैं । (शूर) हे शूर ! (ते) तेरे (महता) बड़े (राधसा) धन से (स्तोमम् अनु) बड़ाई के साथ (सकृत्) एक बार (सु) भले प्रकार (मदीमहि) हम आनन्द पावें ॥ २ ॥

परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वत्) त्वत्तः (अरणाः) रण शब्दे—अप् । असंभाषणीयाः । शत्रवः (इव) (वनानि) वृक्षजातानि (न) इव (प्रजहितानि) ओहाक् त्यागे—क्त । शाखादिभिः परित्यक्तानि । प्रक्षीणानि (अद्रिवः) हे वज्रवन् (दुरोषासः) उष दाहे हिंसे च—घञ्, असुक् । ओषितुं दग्धुं हिंसितुं वा अशक्याः। जीवन्तः प्रबलाः (अमन्महि) मन ज्ञाने लिङर्थे लुङ् । ज्ञाता भवेम॥

२—(अमन्महि) म० १ । ज्ञाता अभूम (इत्) एव (अनाशवः) अशीघ्राः, अत्वरमाणाः (अनुग्रासः) अनुग्राः । निस्तेजसः (च) (वृत्रहन्) शत्रुनाशक राजन् (सकृत्) एकवारम् (सु) (ते) तव (महता) प्रभूतेन (शूर) (राधसा) धनेन (अनु) अनुलक्ष्य (स्तोमम्) स्तुत्यं गुणम् (मुदीमहि) आनन्देम ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि प्रजा को निरालसी, उद्यमी और बलवान् बनाने के लिये राजकोश से धन का व्यय करे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी पङ्क्तिः; २ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ३ विराड् गायत्री ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १ ॥

पिब । सोमम् । इन्द्र । मन्दतु । त्वा । यम् । ते । सुसाव । हरि-अश्व । अद्रिः ॥ सोतुः । बाहु-भ्याम् । सु-यतः । न । अर्वा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे फुरतीले घोड़ों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] का (पिब) पान कर; (त्वा) तुझ को (मन्दतु) वह [तत्त्व रस] आनन्द देवे; (यम्) जिस को (ते) तेरे लिये (सुयतः) अच्छे सिखाये हुये (अर्वा न) घोड़े के समान, (अद्रिः) मेघ [के तुल्य उपकारी पुरुष] ने (सोतुः) सार निकालने वाले की (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से (सुषाव) सिद्ध किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अच्छा सधा हुआ घोड़ा अपने स्वामी को ठिकाने पर पहुंचाता है, वैसे ही विद्वानों के सिद्ध किये हुये तत्त्व रस को ग्रहण करके राजा पराक्रमी होवे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । २२ । १—३; सामवेद—उ० ३ । १ । तृच १३; म० १ साम० पू० ५ । १ । ८ ॥

१—(पिब) (सोमम्) तत्त्वरसम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (मन्दतु) आनन्दयतु (त्वा) (यम्) सोमम् (ते) तुभ्यम् (सुषाव) निष्पादितवान् (हर्यश्व) हरयो हरणशीलाः प्रापणशीला अश्वा यस्य तत्सम्बुद्धौ (अद्रिः) मेघ इवोपकारी पुरुषः (सोतुः) अभिषवकर्तुः (बाहुभ्याम्) भुजाभ्यां द्वारा (सुयतः) सुशिक्षितः (न) इव (अर्वा) अश्वः॥

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि । स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

यः । ते । मदः । युज्यः । चारुः । अस्ति । येन । वृत्राणि । हरि-अश्व । हंसि ॥ सः । त्वाम् । इन्द्र । प्रभुवसो इति प्रभु-वसो । ममत्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे फुरतीले घोड़ों वाले ! (प्रभुवसो) हे समर्थ बसाने वाले [वा बहुत धन वाले] (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यः) जो [तत्त्व रस] (ते) तेरे लिये (युज्यः) योग्य और (चारुः) सुन्दर (मदः) आनन्दकारी (अस्ति) है, और (येन) जिस [तत्त्व रस] से (वृत्राणि) शत्रु दलों को (हंसि) तू मारता है, (सः) वह [तत्त्वरस] (त्वाम्) तुझ को (ममत्तु) आनन्द देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा उचित उपायों से शत्रुओं को मारकर प्रजा का आनन्द बढ़ावे ॥ २ ॥

बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् । इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३ ॥

बोध । सु । मे । मघ-वन् । वाचम् । आ । इमाम् । याम् । ते । वसिष्ठः । अर्चति । प्र-शस्तिम् ॥ इमा । ब्रह्म । सध-मादे । जुषस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी राजन् ! (याम्) जिस (प्रशस्तिम्)

२—(यः) तत्त्वरसः (ते) तुभ्यम् (मदः) हर्षकरः (युज्यः) युज-क्यप् योग्यः (चारुः) समीचीनः (अस्ति) (येन) तत्त्वरसेन (वृत्राणि) शत्रुदलानि (हर्यश्व) म० १। प्रापणशीलाश्वयुक्त (हंसि) नाशयसि (सः) तत्त्वरसः (त्वाम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (प्रभुवसो) हे समर्थवासयितः। बहुधन (ममत्तु) मादयतु। हर्षयतु ॥

३—(बोध) बुध्यस्व। जानीहि (सु) सुष्ठु (मे) मम (मघवन्) हे

उत्तम [वाणी] को (ते) तुझे (वसिष्ठः) वसिष्ठ [अति श्रेष्ठ विद्वान्] (अर्चति) समर्पण करता है, (मे) मेरी (इमाम्) इस (वाचम्) वाणी को (सु) भले प्रकार (आ) सामने से (बोध) तू समझ, और (इमा) इन (ब्रह्म) वेद वचनों का (सधमादे) मिलकर हर्ष मनाने के स्थान उत्सव में (जुषस्व) सेवन कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बड़े बड़े विद्वानों की श्रेष्ठ वाणी और वेद वचनों को यथावत् मानकर उन्नति करे ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ निचृद् बृहती ॥ २ विराडार्षीपङ्क्तिः ; ४ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

शुग्ध्यू३ षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥

शग्धि । ऊं इति । सु । शची-पते । इन्द्र । विश्वाभिः । ऊति-भिः ॥ भगम् । न । हि । त्वा । यशसम् । वसु-विदम् । अनु । शूर । चरामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शचीपते) हे वाणियों वा कर्मों के स्वामी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (उ) निश्चय करके (सु) भले प्रकार (शग्धि) शक्ति दे । (शूर) हे

धनवन् (वाचम्) वाणीम् (आ) आभिमुख्येन (इमाम्) (याम्) (ते) तुभ्यम् (वसिष्ठः) अतिशयेन वसुः श्रेष्ठो विद्वान् (अर्चति) समर्पयति (प्रशस्तिम्) उत्तमाम् (इमा) इमानि (ब्रह्म) ब्रह्माणि वेदज्ञानानि (सधमादे) सहहर्षस्थाने (जुषस्व) सेवस्व ॥

१—(शग्धि) अ० १६ । १५ । १ । शकेर्लोट् । शक्तिं देहि (उ) निश्चयेन (सु) (शचीपते) अ० ३ । १० । १२ । हे शचीनां वाचां कर्मणां वा पालक (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (विश्वाभिः) (ऊतिभिः) रक्षाभिः (भगम्)

शूर ! [परमेश्वर] (भगम् न) ऐश्वर्यवान् के समान (यशसम्) यशस्वी और (वसुविदम्) धन पहुंचाने वाले (त्वा हि अनु) तेरे ही पीछे (चरामसि) हम चलते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति के साथ उत्तम कर्म और बुद्धि करके यशस्वी और धनी होवें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ६१ [सायण भाष्य ५०] । ५, ६ ; सामवेद उ० ७ । ३ । ३ ; म० १ सा० पू० ३ । ७ । १ ॥

पौरो अश्वस्य पुरुकृद् गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥ २ ॥

पौरः । अश्वस्य । पुरु-कृत् । गवाम् । असि । उत्सः । देव । हिरण्ययः ॥ नकिः । हि । दानम् । परि-मर्धिषत् । त्वे इति । यत्-यत् । यामि । तत् । आ । भर ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देव) हे देव ! [कामना योग्य परमेश्वर] तू (अश्वस्य) घोड़ों का (पौरः) भरपूर करने वाला, (गवाम्) गौओं का (पुरुकृत्) बहुत करने वाला, (हिरण्ययः) तेजोमय और (उत्सः) जल के स्रोत [कुये के समान उपकारी] (असि) है । (हि) क्योंकि (त्वे) तेरे (दानम्) दान को (नकिः) कोई भी नहीं (परिमर्धिषत्) नाश कर सकता, (यद्यत्) जो जो (यामि) मांगता हूं, (तत्) वह वह (आ भर) भर पूर कर ॥ २ ॥

ऐश्वर्यवन्तम् (न) इव (हि) एव (त्वा) (यशसम्) अर्शआद्यच् । यशस्विनम् (वसुविदम्) धनस्य लम्भकम् (अनु) अनुलक्ष्य (शूर) (चरामसि) गच्छामः ॥

२—(पौरः) पूर—अण् स्वार्थे । पूरः । पूरकः । पूरयिता (अश्वस्य) अश्वसमूहस्य (पुरुकृत्) बहुकर्ता (गवाम्) धेनूनाम् (असि) (उत्सः) कूपतुल्य उपकारकः (देव) कमनीय परमात्मन् (हिरण्ययः) तेजोमयः (नकिः) न कश्चिदपि (हि) यतः (दानम्) (परिमर्धिषत्) मृध मृधु हिंसायाम् आर्द्रीभावे च—लेट् । नाशयेत् (त्वे) (विभक्तेः शे । तव (यद्यत्) वस्तु (यामि) याचे (तत्) (आ) समन्तात् (भर) भर ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि में सब पदार्थों से उपकार लेकर सदा आनन्द पावे ॥ २ ॥

इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे । इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ३ ॥

इन्द्रम् । इत् । देव-तातये । इन्द्रम् । प्र-यति । अध्वरे ॥ इन्द्रम् । सम्-ईके । वनिनः । हवामहे । इन्द्रम् । धनस्य । सातये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (इत्) ही (देवतातये) दिव्य गुण फैलाने के लिये, (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (प्रयति) प्रयत्न साध्य (अध्वरे) बिना हिंसा वाले व्यवहार में, (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (समीके) युद्ध में, और (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (धनस्य) धन के (सातये) मिलने के लिये, (वनिनः) शब्द करते हुये हम (हवामहे) पुकारते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब काम परमेश्वर को समर्पण करके पुरुषार्थ के साथ आनन्द पावे ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में हैं—८ । ३ । ५, ६ ; सामवेद उ० ७ । ३ । ८ ; म० ३ सा० पू० ३ । ६ । ७ ॥

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः । सूर्यमरोचयत् । इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥ ४ ॥

इन्द्रः । मह्ना । रोदसी इति । पप्रथत् । शवः । इन्द्रः । सूर्यम् । अरोचयत् ॥ इन्द्रे । ह । विश्वा । भुवनानि ।

३—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (इत्) एव (देवतातये) दिव्यगुणानां विस्ताराय (इन्द्रम्) परमात्मानम् (प्रयति) अ० ७ । ६७ । १ । प्रयत्नसाध्ये (अध्वरे) हिंसारहिते व्यवहारे (इन्द्रम्) (समीके) अथ० २० । ८६ । ४ । संग्रामे (वनिनः) वन शब्दे—अच्, इनि । शब्दवन्तः (हवामहे) आह्वयामहे (इन्द्रम्) (धनस्य) (सातये) लाभाय ॥

येमिरे । इन्द्रे । सुवानासः । इन्दवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (शवः) बल की (मह्ना) महिमा से (रोदसी) आकाश और भूमि को (पप्रथत्) फैलाया है, (इन्द्रः) इन्द्र [परमात्मा] ने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) चमकाया है। (इन्द्रे) इन्द्र [परमात्मा] में (ह) ही (विश्वा) सब (भुवनानि) भुवन (येमिरे) ठहरे हैं, (इन्द्रे) इन्द्र [परमात्मा] में (सुवानासः) उत्पन्न होते हुये (इन्दवः) ऐश्वर्य हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने ब्रह्माण्ड के भीतर सब ऐश्वर्यवान् पदार्थ रचे हैं, मनुष्य उस की भक्ति से सब पदार्थों से उपकार लेकर उन्नति करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती ; २ सतः पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरस्तुत्युपदेशः—परमेश्वर की स्तुति का उपदेश ॥

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत । पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

अस्तावि । मन्म । पूर्व्यम् । ब्रह्म । इन्द्राय । वोचत ॥ पूर्वीः । ऋतस्य । बृहतीः । अनूषत । स्तोतुः । मेधाः । असृक्षत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पूर्व्यम्) पुराना (मन्म) ज्ञान (अस्तावि) स्तुति किया

४—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (मह्ना) महिम्ना । महत्त्वेन (रोदसी) आकाशभूमी (पप्रथत्) विस्तारितवान् (शवः) विभक्तेः सुः । शवसः । बलस्य (इन्द्रः) (सूर्यम्) प्रसिद्धम् (अरोचयत्) अदीपयत् (इन्द्रे) परमात्मनि (ह) एव (विश्वा) व्याप्तानि । सर्वाणि (भुवनानि) लोकजातानि (येमिरे) यम उपरमे—लिट् । नियमिताः स्थापिता बभूवुः (इन्द्रे) (सुवानासः) सूयमानाः । उत्पद्यमानाः (इन्दवः) ऐश्वर्याणि ॥

१—(अस्तावि) स्तुतम् (मन्म) ज्ञानम् (पूर्व्यम्) पुरातनम् (ब्रह्म)

गया है, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के पाने के लिये (ब्रह्म) वेद वचन को (वोचत) तुम बोलो । (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (पूर्वीः) पहिली (बृहतीः) बढ़ती हुई वाणियों की (अनूषत) उन्हों ने [ऋषियों ने] स्तुति की है और (स्तोतुः) स्तुति करने वाले विद्वान् की (मेधाः) धारणावती बुद्धियां (असृक्षत) दी है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिन वेद वाणियों को विचारकर ऋषि लोग सदा ज्ञानी होते हैं, उन्हीं वेद वाणियों को विचार कर मनुष्य अपना ज्ञान बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ५२ । ६ [सायण भाष्य, अवशिष्ट, वालखिल्य, सू० ४ म० ६] ; सामवेद, उ० ८ । २ । ७ ॥

तु॒र॒ण्यवो॒ मधु॑मन्तं घृत॒श्चुतं॒ विप्रा॑सो अ॒र्कमा॑नृचुः ।
अ॒स्मे र॒यिः प॑प्रथे॒ वृष्ण्यं॒ शवो॒ऽस्मे सु॑वा॒नास॒ इन्द॑वः ॥ २ ॥

तु॒र॒ण्यवः॑ । मधु॑-मन्तम् । घृ॒त-श्चुत॑म् । विप्रा॑सः । अ॒र्कम् । आ॒नृ॒चुः ॥ अ॒स्मे इति॑ । र॒यिः । प॒प्र॒थे॒ । वृष्ण्य॑म् । शवः॑ । अ॒स्मे इति॑ । सु॒वा॒नासः॑ । इन्द॑वः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तुरण्यवः) फुरतीले (विप्रासः) बुद्धिमानों ने (मधुमन्तम्) मधु [वेदविद्या] वाले (घृतश्चुतम्) प्रकाश के बरसाने वाले (अर्कम्) पूजनीय परमात्मा को (आनृचुः) पूजा है । (अस्मे) हमारे लिये (रयिः) धन, और (वृष्ण्यम्) वीर के योग्य (शवः) बल (पप्रथे)

वेदवचनम् (इन्द्राय) परमेश्वरप्राप्तये (वोचत) लोडर्थे लुङ् । ब्रूत यूयम् (पूर्वीः) पूर्वकालीनाः (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (बृहतीः) वर्धमाना वाणीः (अनूषत) अ० २० । १७ । १ । अस्तुवन् ते ऋषयः (स्तोतुः) स्तुतिं कुर्वतः पुरुषस्य (मेधाः) धारणावती बुद्धीः (असृक्षत) सृज विसर्गे । दत्तवन्तः ॥

२—(तरण्यवः) पृभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । त्वरण त्वरायाम् ; कण्ड्वादिः—कुप्रत्ययः । वेगशीलाः (मधुमन्तम्) वेदज्ञानवन्तम् (घृतश्चुतम्) अ० १० । ६ । ६ । श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । श्चोततिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । प्रकाशवर्षकम् (विप्रासः) मेधाविनः (अर्कम्) पूजनीयं परमात्मानम् (आनृचुः) अ० १२ । १ । ३६ । पूजितवन्तः (अस्मे) अस्मभ्यम् (रयिः) धनम् (पप्रथे)

फैल रहा है, (अस्मे) हमारे लिये (स्तुवानासः) उत्पन्न होते हुये (इन्दवः) ऐश्वर्य हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वपूजनीय परमात्मा की महिमा विचार कर धनवान्, बलवान् और ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८।५१।१० [सायण भाष्य, अवशिष्ट, वालखिल्य सू० ३ म० १०]; सामवेद, उ० ७।३।१६ ॥

सूक्तम् १२० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ भूरिगार्ष्यनुष्टुप्; २ निचृत् पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

यदिन्द्र प्रागपागुदङ्न्यग् वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । प्राक् । अपाक् । उदक् । न्यक् । वा । हूयसे । नृ-भिः ॥ सिम । पुरु । नृ-सूतः । असि । आनवे । असि । प्र-शर्ध । तुर्वशे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जब (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में (वा) और (न्यक्) दक्षिण में (नृभिः) मनुष्यों करके (हूयसे) तू पुकारा जाता है। (सिम) हे सीमा बांधने वाले (प्रशर्ध) प्रबल ! [परमात्मन्] (आनवे) मनुष्यों के (तुर्वशे) हिंसकों के वश करने वाले पुरुष में (पुरु) बहुत प्रकार

विस्तृतं वर्तते (वृष्ण्यम्) वृष्णे बलवते हितम् (शवः) बलम् (अस्मे) अस्मभ्यम् । अन्यद् गतम्—अ० २० । ११८ । ४ ॥

१—(यत्) यदा (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (प्राक्) प्राच्यां दिशि (अपाक्) प्रतीच्यां दिशि (उदक्) उदीच्यां दिशि (न्यक्) नीच्यां दक्षिणस्यां दिशि (वा) च (हूयसे) आहूयसे (नृभिः) नेतृभिः (सिम) अविसिविसिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । षिञ् बन्धने—मन् कित् । हे सीमाकारक (पुरु) बहुलम् (नृषूतः) षू प्रेरणे—क । नरैः प्रेरितः प्रार्थितः (असि) (आनवे) अनु—अण् । अनवो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्यसम्बन्धिनि

(नृषूतः) तू मनुष्यों से प्रेरणा [प्रार्थना] किया गया (असि) है, (असि) है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सब स्थानों में परमात्मा को बारंबार स्मरण करके परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ४ । १, २; सामवेद, उ० ५ । १ । १३; म० १ सा० पू० ३ । ६ । ७ ॥

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा । कण्वासस्त्वा ब्रह्मभि स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि ॥ २ ॥

यत् । वा । रुमे । रुशमे । श्यावके । कृपे । इन्द्र । मादयसे । सचा ॥ कण्वासः । त्वा । ब्रह्म-भिः । स्तोम-वाहसः । इन्द्र । आ । यच्छन्ति । आ । गहि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जब (रुमे) ज्ञानी पुरुष में, (रुशमे) हिंसकों के फेंकने वाले में, (श्यावके) उद्योगी में (वा) और (कृपे) समर्थ में (सचा) नित्य मेल से (मादयसे) तू हर्ष पाता है, [तभी] (इन्द्र) हे इन्द्र [परमात्मन्] (स्तोमवाहसः) बड़ाई के प्राप्त कराने वाले (कण्वासः) बुद्धिमान् लोग (त्वा) तुझ को (ब्रह्मभिः) वेद वचनों से (आ यच्छन्ति) अपनी ओर खींचते हैं, (आ गहि) तू आ ॥ २ ॥

(असि) (प्रशर्ध) शृधु उत्साहे—अच् । शर्धो बलनाम—निघ० २ । ९ । हे प्रबल (तुर्वशे) अ० २० । ३७ । ८ । तुरां हिंसकानां वशयितरि ॥

२—(यत्) यदा (वा) च (रुमे) अविसिवि० । उ० १ । १४४ । रुङ् गतिरेषणयोः-मन्, कित् । ज्ञानिनि पुरुषे (रुशमे) रुश हिंसायाम्—क + डुमिञ् प्रक्षेपणे—डप्रत्ययः । हिंसकानां प्रक्षेप्तरि (श्यावके) अ० ५ । ५ । ८ ॥ गतिशीले । उद्योगिनि (कृपे) कृपू सामर्थ्ये—क । समर्थे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (मादयसे) हृष्यसि (सचा) समवायेन (कण्वासः) मेधाविनः (त्वा) (ब्रह्मभिः) वेदवचनैः (स्तोमवाहसः) अ० २० । ६८ । ११ । स्तुतिप्रापकाः (इन्द्र) (आ यच्छन्ति) आनीय यमयन्ति । आकर्षन्ति (आगहि) आगच्छ ॥

भावार्थ—परमात्मा स्वभाव से पुरुषार्थियों पर कृपा करता है, इसी से विद्वान् लोग उसे हृदय में वर्तमान जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

सूक्तम् १२१ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद्बृहती ; २ निचृत् पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।

ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

अभि । त्वा । शूर । नोनुमः । अदुग्धाः-इव । धेनवः ॥ ईशानम् । अस्य । जगतः । स्वः-दृशम् । ईशानम् । इन्द्र । तस्थुषः ॥ १

भाषार्थ—(शूर) हे शूर (इन्द्र) इन्द्र ! [परमेश्वर] (अदुग्धाः) बिना दुही (धेनवः इव) दुधेल गौओं के समान [झुककर] हम (अस्य) इस (जगतः) जंगम के (ईशानम्) स्वामी और (तस्थुषः) स्थावर के (ईशानम्) स्वामी, और (स्वर्दृशम्) सुख के दिखाने वाले (त्वा) तुझ को (अभि) सब ओर से (नोनुमः) अत्यन्त सराहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे दूध से भरी गौयें दूध देने के लिये झुक जाती है, वैसे ही मनुष्य विद्याआदि शुभ गुणों से भर पूर होकर परमेश्वर की महिमा देखते हुये नम्र होकर संसार में उपकार करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । ३२ । २२, २३; यजुर्वेद २७ । ३५, ३६; सामवेद उ० १ । १ । ११; म० १ सा० ३ । ३ । ५ ॥

१—(अभि) सर्वतः (त्वा) (शूर) (नोनुमः) अ० २० । १८ । ४ । भृशं स्तुमः (अदुग्धाः) क्षीरपूर्णोधस्त्वेन वर्तमानाः (इव) यथा (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः (ईशानम्) ईश्वरम् (अस्य) दृश्यमानस्य (जगतः) जंगमस्य (स्वर्दृशम्) सुखस्य दर्शयितारम् (ईशानम्) (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त (तस्थुषः) स्थावरस्य ॥

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ २ ॥

न । त्वा-वान् । अन्यः । दिव्यः । न । पार्थिवः । न । जातः । न । जनिष्यते ॥ अश्व-यन्तः । मघ-वन् । इन्द्र । वाजिनः । गव्यन्तः । त्वा । हवामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वावान्) तेरे समान (अन्यः) दूसरा कोई (न) न तो (दिव्यः) आकाश में रहने वाला और (न) न (पार्थिवः) पृथिवी पर रहने वाला है, और (न) न (जातः) उत्पन्न हुआ है, और (न) न (जनिष्यते) उत्पन्न होगा । (अश्वयन्तः) घोड़े चाहते हुये, (गव्यन्तः) भूमि चाहते हुये, (वाजिनः) वेग वाले हम (त्वा) तुझ को (हवामहे) पुकारते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर से तुल्य वा अधिक बलवान् संसार में कोई नहीं है, इस प्रकार उसकी उपासना करके मनुष्य अपना वैभव बढ़ावें ॥ २ ॥

सूक्तम् १२२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ गायत्री; ३ निचृद् गायत्री ॥
सभापतिलक्षणोपदेशः—सभापति के लक्षण का उपदेश ॥

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः । क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ १ ॥

रेवतीः । नः । सध-मादे । इन्द्रे । सन्तु । तुवि-वाजाः ॥ क्षु-मन्तः । याभिः । मदेम ॥ १ ॥

२—(न) निषेधे (त्वावान्) त्वया सदृशः (अन्यः) भिन्नः कश्चित् (दिव्यः) दिवि आकाशे भवः (न) (पार्थिवः) पृथिव्यां विदितः (न) (जातः) उत्पन्नः (न) (जनिष्यते) उत्पत्स्यते (अश्वयन्तः) अश्वान् कामयमानाः (मघवन्) महाधनिन् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (वाजिनः) वेगवन्तः (गव्यन्तः) गां भूमिमिच्छन्तः (त्वा) त्वाम् (हवामहे) आह्वयामः ॥

भाषार्थ—(इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] में (नः) हमारे (सधमादे) हर्ष युक्त उत्सव के बीच (रेवतीः) बहुत धन वाली और (तुविवाजाः) बहुत बल वाली [प्रजायें] (सन्तु) होवें। (याभिः) जिन [प्रजाओं] के साथ (क्षुमन्तः) बहुत अन्न वाले होकर (मदेम) हम आनन्द पावें ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति प्रयत्न करे कि सब प्रजागण उद्योगी, धनी होकर सुखी होवें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१।३०।१३—१५; सामवेद, उ० ४।१। तृच १४; म० १ सा० पू० २।६।८॥

आ घ त्वावान् त्मनाप्तस्तोतृभ्यो धृष्णवियानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥ २ ॥

आ। घ। त्वा-वान्। त्मना। आप्तः। स्तोतृ-भ्यः। धृष्णो इति। इयानः॥ ऋणोः। अक्षम्। न। चक्र्योः ॥ २ ॥

आ यद् दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्। ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३ ॥

आ। यत्। दुवः। शतक्रतो इति शत-क्रतो। आ। कामम्। जरितॄणाम्॥ ऋणोः। अक्षम्। न। शचीभिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निर्भय ! [सभापति] (त्मना) अपने आप (त्वावान्) अपने सदृश (आप्तः) आप्त [सच्चा उपदेशक] (इयानः)

१—(रेवतीः) धनवत्यः प्रजाः (नः) अस्माकम् (सधमादे) आनन्देन सह वर्तमाने महोत्सवे (इन्द्रे) परमैश्वर्यवति सभाध्यक्षे (सन्तु) (तुविवाजाः) बहुबलयुक्ताः (क्षुमन्तः) बहुविधान्नयुक्ताः (याभिः) प्रजाभिः (मदेम) हृष्येम ॥

२—(आ) अभितः (घ) एव (त्वावान्) त्वत्सदृशः (त्मना) आत्मना (आप्तः) यथार्थज्ञाता। सत्योपदेष्टा (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यः

ज्ञानवान् तू (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों के लिये (घ) अवश्य (आ) सब प्रकार से (ऋणोः) प्राप्त हो, (न) जैसे (चक्र्योः) दोनों पहियों में (अक्षम्) धुरा [होता है ॥ २ ॥ (यत्) क्योंकि, (शतक्रतो) हे सैकड़ों बुद्धियों वा कर्मों वाले ! [सभापति] (जरितॄणाम्) स्तुति करने वालों की (दुवः) सेवा को (कामम्) अपनी इच्छा के अनुसार (आ) सब ओर से (आ) पूरी रीति पर (ऋणोः) तू पाता है, (न) जैसे (अक्षम्) धुरा (शचीभिः)अपने कर्मों से [रथ को प्राप्त होता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे धुरा पहियों के बीच में रहकर सब बोझ उठाकर रथ को चलाता है, वैसे ही सभापति राज्य का सब भार अपने ऊपर रखकर प्रजा को उद्योगी बनावे और प्रजा भी उसकी सेवा करती रहै ॥ २, ३ ॥

सूक्तम् १२३ ॥

१—२ ॥ सूर्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूर्यकृत्योपदेशः—सूर्य के काम का उपदेश ॥

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार । यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ १ ॥

तत् । सूर्यस्य । देव-त्वम् । तत् । महि-त्वम् । मध्या । कर्तोः। वि-ततम् । सम् । जभार ॥ यदा । इत् । अयुक्त । हरितः । सध-स्थात् । आत् । रात्री । वासः । तनुते । सिमस्मै ॥ १ ॥

(धृष्णो) हे निर्भय (इयानः) इङ् गतौ—कानच् । अभिज्ञाता (ऋणोः) ऋणु गतौ, लोडर्थे लङ् । प्राप्नुहि (अक्षम्) धूः (न) इव (चक्र्योः) आदृगमहनजनः । पा० ३ । २ । १७१ । करोतेः—कि प्रत्ययः । रथस्य चक्रयोः ॥

३—(आ) समन्तात् (यत्) यतः (दुवः) म० । २० । ६८ । ५ । परिचरणम् (शतक्रतो) बहुप्रज्ञ । बहुकर्मन् (आ) अभितः । पूरणतः (कामम्) यथेष्टम् (जरितॄणाम्) स्तावकानाम् (ऋणोः) म० २ । प्राप्नोषि (अक्षम्) धूः (न) इव (शचीभिः) कर्मभिः ॥

भाषार्थ—(तत्) उस [ब्रह्म] ने (सूर्यस्य) सूर्य के (मध्या) बीच में (तत्) उस (विततम्) फैले हुये (देवत्वम्) प्रकाशपन को, (महित्वम्) बड़प्पन को और (कर्तोः) [आकर्षण आदि] कर्म को (सम् जभार) बटोर कर रख दिया है—कि (यदा इत्) जब ही वह [सूर्य] (हरितः) रस पहुंचाने वाली किरणों को (सधस्थात्) एक से स्थान से (अयुक्त) जोड़ता है, [आगे बढ़ाता है], (आत्) तभी (रात्री) रात्री (सिमस्मै) सब के लिये (वासः) वस्त्र [अन्धकार] (तनुते) फैलाती है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने बहुत बड़े तेजस्वी, आकर्षक सूर्य लोक को बनाया है, और जो उस सूर्य और पृथिवी की गति से प्रकाश और रात्रि करके प्राणियों को कार्य कुशलता और विश्राम देता है, सब मनुष्य उस जगदीश्वर की उपासना करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१ । ११५ । ४, ५ ॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे । अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥२

तत् । मित्रस्य । वरुणस्य । अभि-चक्षे । सूर्यः । रूपम् । कृणुते । द्योः । उप-स्थे ॥ अनन्तम् । अन्यत् । रुशत् अस्य । पाजः । कृष्णम् । अन्यत् । हरितः । सम् । भरन्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तत्) उस (अनन्तम्) अनन्त [ब्रह्म] के द्वारा (द्योः)

१—(तत्) प्रसिद्धं ब्रह्म (सूर्यस्य) रविमण्डलस्य (देवत्वम्) प्रकाशत्वम् (तत्) प्रसिद्धम् (महित्वम्) महत्त्वम् (मध्या) विभक्तेराकारः । मध्ये (कर्तोः) करोतेः—तोसुन्प्रत्ययः । कर्म (विततम्) विस्तृतम् (सम्) संचित्य (जभार) जहार । गृहीतवान् (यदा) (इत्) एव (अयुक्त) युनक्ति (हरितः) रसप्रापकान् रश्मीन् (सधस्थात्) समानस्थानात् (आत्) अनन्तरम् (रात्री) (वासः) वस्त्रम् । अन्धकारम् (तनुते) विस्तारयति (सिमस्मै) सर्वस्मै संसाराय ॥

२—(तत्) तेन (मित्रस्य) प्राणस्य (वरुणस्य) उदानस्य (अभिचक्षे)

प्रकाश के (उपस्थे) गोद में (मित्रस्य) प्राण वायु और (वरुणस्य) उदान वायु के (अभिचक्षे) सब ओर देखने के लिये (सूर्यः) प्रेरणा करने वाला सूर्य लोक (रूपम्) रूप को (कृणुते) बनाता है, (अस्य) इस [सूर्य] के (अन्यत्) एक (रुशत्) प्रकाश और (अन्यत्) दूसरे (कृष्णम्) आकर्षण (पाजः) बल को (हरितः) दिशायें (सम्) मिलकर (भरन्ति) धारण करती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से सूर्य लोक अपने प्रकाश से वायु में नीचे ऊपर जाने का बल उत्पन्न करके पृथिवी आदि लोकों को सब दिशाओं में आकर्षण में रखता है ॥ २ ॥

सूक्तम् १२४ ॥

१—६ ॥ १—३ इन्द्रो देवता; ४—६ इन्द्रो विश्वे देवाश्च देवताः ॥

१ गायत्री; २ निचृद् गायत्री, ३ पाद निचृद् गायत्री; ४ विराट् पङ्क्तिः; ५, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

कया । नः । चित्रः । आ । भुवत् । ऊती । सदा-वृधः । सखा ॥ कया । शचिष्ठया । वृता ॥ १ ॥

भाषार्थ—(चित्र !) विचित्र वा पूज्य और (सदावृधः) सदा बढ़ाने

चक्षिङ् दर्शने—क्विप् । संमुखदर्शनाय (सूर्यः) प्रेरकः सविता (रूपम्) चक्षुर्ग्राह्यंगुणम् (कृणुते) करोति (द्योः) प्रकाशस्य (उपस्थे) उपस्थाने मध्ये (अनन्तम्) अन्तरहितेन ब्रह्मणा (अन्यत्) एकम् (रुशत्) रुश हिंसायाम्—शतृ—रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः—निरु० २ । २० । ज्वलितवर्णम् दीप्यमानम् (अस्य) सूर्यस्य (पाजः) बलम् (कृष्णम्) आकर्षणम् (अन्यत्) द्वितीयम् (हरितः) दिशः (सम्) एकीभूय (भरन्ति) धरन्ति ॥

१—(कया) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । कमेः क्रमेर्वा—डप्रत्ययः कमे रेफलोपः स्त्रियां टाप् । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा—

वाला [राजा] (नः) हमारी (कया) कमनीय वा क्रमणशील [आगे बढ़ती हुई], अथवा सुख देने वाली [वा कौन सी] (ऊती) रक्षा से और (कया) कमनीय आदि [वा कौन सी] (शचिष्ठया) अति उत्तम वाणी वा कर्म वा बुद्धि वाले (वृता) बर्ताव से (सखा) [हमारा] सखा (आ) ठीक ठीक (भुवत्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा प्रयत्न करके परस्पर प्रीति रक्खें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—४ । ३१ । १—३; यजुर्वेद २७ । ३९-४१ तथा ३६ । ४—६; सामवेद उ० १ । १ । तृच १२; म० १ सा० पू० २ । ८ । ५ ॥

कस्त्वा॑ स॒त्यो मदा॑नां॒ मंहि॑ष्ठो मत्स॒दन्ध॑सः । दृ॒ह्ला चि॑दा॒रुजे॒ वसु॑ ॥ २ ॥

कः । त्वा॒ । स॒त्यः । मदा॑नाम् । मंहि॑ष्ठः । म॒त्स॒त् । अन्ध॑सः ॥ दृ॒ह्ला । चि॒त् । आ॒ऽरुजे॑ । वसु॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कः) कमनीय वा आगे बढ़ता हुआ, वा सुखदेने वाला (सत्यः) सत्य शील वाला, (मदानाम्) आनन्दों और (अन्धसः) अन्न का (मंहिष्ठः) महादानी राजा (दृह्ला) दृढ़ (वसु) धनों को (चित्) अवश्य

निरु १० । २२ । कमनीयया क्रमणशीलया गतिमत्या । सुखप्रदया । अथवा प्रश्नवाचकोऽस्ति (नः) अस्माकम् (चित्रः) अमिचिमि० । उ० ४ । १६४ । चित्र् चयने-क्त्र । चित्रं चायनीयम्—निरु० १२ । ६ । अद्भुतः । पूज्यः (आ) समन्तात् (भुवत्) भवतेर्लेट् । भवेत् (ऊती) उत्या रक्षया । गत्या (सदावृधः) वृधु—क । सदा वर्धमानो वर्धयिता वा (सखा) सुहृद् (कया (शचिष्ठया) शची-इष्ठन् मत्वर्थीयलोपः । शची=वाक्-निघ० १ । ११ । कर्म-२ । १ । प्रज्ञा-३ । ११ । अतिश्रेष्ठया वाचा क्रियया प्रज्ञया वा युक्तया (वृता) वृतु-क्विप् । वृत्या । वर्तनेन ॥

२—(कः) म० १ । कमनीयः । क्रमणशीलः । सुखप्रदः (त्वा) त्वां प्रजाजनम् (सत्यः) सत्सु साधुः (मदानाम्) आनन्दानाम् (मंहिष्ठः) अ० २० । १५ । १ । दातृतमः (मत्सत्) आनन्दयेत् (अन्धसः) अन्नस्य (दृह्ला) दृढानि (चित्) अवश्यम् (आरुजे) दृशे विख्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । आ+

(आरुजे) खोलदेने के लिये (त्वा) तुझ [प्रजा जन] को (मत्सत्) तृप्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—सत्यशील राजा सुनीति से प्रजा को प्रसन्न रखकर धन धान्य को बढ़ावे ॥ २ ॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतिभिः॥३॥

अभि । सु । नः । सखीनाम् । अविता । जरितॄणाम् ॥ शतम् । भवासि । ऊति-भिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सखीनाम्) [अपने] सखाओं और (जरितॄणाम्) स्तुति करने वाले (नः) हम लोगों का (सु) उत्तम (अविता) रक्षक होकर तू (शतम्) सौ प्रकार से (ऊतभिः) रक्षाओं के साथ (अभि) सामने (भवासि) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण राजा के हित के लिये प्रयत्न करें, वैसे ही राजा भी उनका हित करे ॥ ३ ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ ४ ॥

इमा । नु । कम् । भुवना । सीसधाम । इन्द्रः । च । विश्वे । च । देवाः ॥ यज्ञम् । च । नः । तन्वम् । च । प्र-जाम् । च । आदित्यैः । इन्द्रः । सह । चीक्लृपाति ॥ ४ ॥

रुजो भङ्गे—केन तुमर्थे । समन्ताद् भङ्क्तुम् । प्रकाशयितुम (वसु) वसूनि । धनानि ॥

३—(अभि) अभिमुखम् (सु) (नः) अस्माकम् (सखीनाम्) सुहृदाम् (अविता) रक्षकः (जरितॄणाम्) स्तोतॄणाम् । सद्गुणविदाम् (शतम्) बहुप्रकारेण (भवासि) लेटि रूपम् । भवेः (ऊतिभिः) रक्षाभिः ॥

भाषार्थ—(इमा) यह (भुवना) उत्पन्न पदार्थ, (च) और (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (च) और (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग हम (नु) शीघ्र (कम्) सुख को (सीषधाम) सिद्ध करें। (आदित्यैः सह) अखण्ड व्रतधारी विद्वानों के साथ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [मेल मिलाप आदि] को (च) और (तन्वम्) शरीर (च) और (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] को (च) भी (चीक्लृपाति) समर्थ करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सभापति राजा और सभासद् लोग संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सब की यथावत् रक्षा करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ आचुके हैं—अथ० २० । ६३ । १—३ ॥

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् । हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥५॥

आदित्यैः । इन्द्रः । स-गणः । मरुत्-भिः । अस्माकम् । भूतु । अविता । तनूनाम् ॥ हत्वाय । देवाः । असुरान् । यत् । आयन् । देवाः । देव-त्वम् । अभि-रक्षमाणाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सगणः) गणों [सुभट वीरों] के साथ वर्तमान (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (आदित्यैः) अखण्ड व्रतधारी (मरुद्भिः) शूर मनुष्यों के साथ (अस्माकम्) हमारे (तनूनाम्) शरीरों का (अविता) रक्षक (भूतु) होवे। (यत्) क्योंकि (असुरान्) असुरों [दुराचारियों] को (हत्वाय) मारकर (देवाः) विजय चाहने वाले, (अभिरक्षमाणाः) सब ओर से रक्षा करते हुये (देवाः) विद्वानों ने (देवत्वम्) देवतापन [उत्तम पद] (आयन्) पाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शूर वीर विद्वानों के साथ प्रजा की रक्षा कर सके, वही अपने उत्तम कर्मों के कारण उत्तम पद सभापतित्व आदि के योग्य होवे ॥५॥

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् । अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ६ ॥

४—६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अथ० ६३ । १— ३ ॥

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । अनयन् । शचीभिः । आत् । इत् । स्वधाम् । इषिराम् । परि । अपश्यन् ॥ अया । वाजम् । देव-हितम् । सनेम । मदेम । शत-हिमाः । सु-वीराः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष पाने योग्य (अर्कम्) पूजनीय व्यवहार को (शचीभिः) अपने कर्मों से (अनयन्) उन [विद्वानों] ने प्राप्त कराया है, और (आत् इत्) तभी (इषिराम्) चलाने वाली (स्वधाम्) आत्म धारण शक्ति को (परि) सब ओर (अपश्यन्) देखा है। (अया) इसी [नीति] से (शतहिमाः) सौ वर्षों जीते हुये (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले हम (देवहितम्) विद्वानों के हितकारी (वाजम्) विज्ञान् की (सनेम) देवें और (मदेम) आनन्द करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोग अपने उत्तम कर्मों से संसार का उपकार करते रहे हैं, वैसे ही हम श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्यों को वीर बनाकर आनन्द देवें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १२५ ॥

१—७ ॥ १—३, ६, ७ इन्द्रः; ४, ५ अश्विनौ देवते ॥ १—त्रिष्टुप्; २, ३ निचृत् त्रिष्टुप्; ४ निच्दनुष्टुप्; ५—७ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम ॥१॥

अप । इन्द्र । प्राचः । मघ-वन् । अमित्रान् । अप । अपाचः । अभि-भूते । नुदस्व ॥ अप । उदीचः । अप । शूर । अधराचः । उरौ । यथा । तव । शर्मन् । मदेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! (अभिभूते) हे विजयी ! (शूर)

१—(अप) दूरे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (प्राचः) प्र + अञ्चतेः—

हे शूर ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (प्राचः) पूर्व वाले (अमित्रान्) बैरियों को (अप) दूर, (अपाचः) पश्चिम वाले [बैरियों] को (अप) दूर, (उदीचः) उत्तर वाले [बैरियों] को (अप) दूर, और (अधराचः) दक्षिण वाले [बैरियों] को (अप) दूर (नुदस्व) हटा, (यथा) जिस से (तव) तेरी (उरौ) चौड़ी (शर्मन्) शरण में (मदेम) हम आनन्द करें ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा सब दिशाओं के शत्रुओं का नाश करके प्रजा को सुख देवे ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३१ । १—७ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय । इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥ २ ॥

कुवित् । अङ्ग । यव-मन्तः । यवम् । चित् । यथा । दान्ति । अनु-पूर्वम् । वि-यूय ॥ इह-इह । एषाम् । कृणुहि । भोजनानि । ये । बर्हिषः । नमः-वृक्तिम् । न । जग्मुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे [राजन् !] (यवमन्तः) जौ आदि धान्य वाले [किसान लोग] (यथा चित्) जैसे ही (यवम्) जौ आदि धान्य को (अनुपूर्वम्) क्रम से (वियूय) अलग अलग करके (कुवित्) बहुत प्रकार (दान्ति) काटते हैं । (इहेह) इस इस [व्यवहार] में (एषाम्) उन [लोगों] के

किन्, शस् । प्राग्देशे वर्तमानान् (मघवन्) महाधनिन् (अमित्रान्) पीडकान् वैरिणः (अप) (अपाचः) पश्चिमदेशे वर्तमानान् (अभिभूते) अभिभवितः (नुदस्व) प्रेरय । दूरे गमय (अप) (उदीचः) उत्तरदेशे वर्तमानान् (अप) (शूर) (अधराचः) दक्षिणदिशि वर्तमानान् (उरौ) विस्तीर्णे (यथा) येन प्रकारेण (तव) (शर्मन्) शर्मणि । शरणे (मदेम) हृष्येम ॥

२—(कुवित्) बहुलम् (अङ्ग) हे (यवमन्तः) यवादिधान्ययुक्ताः कर्षकाः (यवम्) यवादिकम् (चित्) एव (यथा) (दान्ति) लुनन्ति (अनुपूर्वम्) यथाक्रमम् । धान्यानां जातिपाकक्रमेण (वियूय) पृथक् कृत्य (इहेह) अस्मिन्नस्मिन् व्यवहारे (एषाम्) पुरुषाणाम् (कृणुहि) कुरु

(भोजनानि) भोजनों और धनों को (कृणुहि) कर, (ये) जिन (बर्हिषः) बढ़ती करते हुये लोगों ने (नमोवृक्तिम्) सत्कार के त्याग को (न) नहीं (जग्मुः) पाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर किसान जौ गेहूं आदि धान्य को काटकर उन की जाति और पकने के अनुसार एकत्र करते हैं, वैसे ही राजा आज्ञाकारी कर्मकुशल प्रजा गणों को उनकी योग्यता के अनुसार भोजन और धन आदि दान करे ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है—१० । ३२; १९ । ६; तथा २३ । ३८ ॥

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥३
नहि । स्थूरि । ऋतु-था । यातम् । अस्ति । न । उत । श्रवः । विविदे । सम्-गमेषु ॥ गव्यन्तः । इन्द्रम् । सख्याय । विप्राः । अश्व-यन्तः । वृषणम् । वाजयन्तः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्थूरि) ठहरा हुआ [ढीला] काम (ऋतुथा) ऋतु के अनुसार [ठीक समय पर] (यातम्) पाया हुआ (नहि) नहीं (अस्ति) होता है, (उत) और [इसी कारण] (संगमेषु) समाजों [वा संग्रामों] में (श्रवः) यश (न) नहीं (विविदे) मिलता है, (सख्याय) मित्रता के लिये (वृषणम्) बलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (वाजयन्तः) वेगवान्

(भोजनानि) भोगसाधनानि खाद्यानि धनानि च (ये) पुरुषाः (बर्हिषः) वृद्धिकराः (नमोवृक्तिम्) वृजी वर्जने-क्त । नमस्कारस्य सत्कारस्य वर्जनं त्यागकरणम् (न) निषेधे (जग्मुः) प्रापुः ॥

३—(नहि) न कदापि (स्थूरि) स्थः किच्च । उ० ५ । ४ । ष्ठा गतिवृत्तौ—ऊरन् । गतिशून्यं प्रवृत्तिरहितं कर्म (ऋतुथा) ऋतौ । निश्चितसमये (यातम्) प्राप्तं समाप्तम् (अस्ति) (न) निषेधे (उत) अपि (श्रवः) यशः (विविदे) लडर्थे लिट् । लभ्यते प्राप्यते (संगमेषु) समाजेषु । संग्रामेषु (गव्यन्तः) भूमिमिच्छन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (सख्याय) सखिकर्मणे (विप्राः)

बनाते हुये (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (गव्यन्तः) भूमि चाहते हुये और (अश्वयन्तः) घोड़े चाहते हुये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कार्य आरम्भ करके आलस के मारे छोड़ देता है, वह यश नहीं पाता है, इस लिये वह विद्वानों से शिक्षा पाकर राज्य आदि कामों को पुरुषार्थ से चलावे ॥ ३ ॥

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

युवम् । सुरामम् । अश्विना । नमुचौ । आसुरे । सचा ॥ वि-पिपाना । शुभः । पती इति । इन्द्रम् । कर्म-सु । आवतम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शुभः पती) हे शुभ व्यवहार के पालन करने हारे (अश्विना) कर्मों में व्यापक [सभापति और सेनापति] (सचा) मिले हुये (विपिपाना) विविध प्रकार रक्षक (युवम्) तुम दोनों ने (नमुचौ) न छोड़ने योग्य [सदा रखने योग्य] (आसुरे) बुद्धिमान् पुरुष के व्यवहार में (कर्मसु) कर्मों के बीच वर्तमान, (सुरामम्) भले प्रकार आनन्द देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले धनी पुरुष] को (आवतम्) रक्षा की है ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजा और सेना के अधिकारी मिलकर व्यवहार कुशल धनी पुरुषों की रक्षा करके खेती आदि व्यापारों से प्रजा को सुख पहुंचावें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४; ५ यजुर्वेद में भी हैं—१० । ३३, ३४ तथा २० । ७६, ७७ ॥

मेधाविनः (अश्वयन्तः) तुरगानिच्छन्तः (वृषणम्) बलवन्तम् (वाजयन्तः) वेगवन्तं कुर्वन्तः ॥

४—(युवम्)युवाम् (सुरामम्) सुष्ठु रमयितारं आनन्दयितारम् (अश्विना) कर्मसु व्यापकौ सभासेनेशौ (नमुचौ) अ० २० । २१ । ७ । अमोचनीये । सदा रक्षणीये (आसुरे) असुर—अण् । असुः प्रज्ञा—निघ० ३ । ९, रो मत्वर्थे । असुरस्य मेधाविनः पुरुषस्य व्यवहारे (सचा) समवेतौ (विपिपाना) पा रक्षणे—कानच् । विविधं रक्षमाणौ (शुभः) कल्याणकरस्य व्यवहारस्य (पती) पालकौ (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं धनिकम् (कर्मसु) (आवतम्) युवां रक्षितवन्तौ ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः । यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ५ ॥

पुत्रम्-इव । पितरौ । अश्विना । उभा । इन्द्र । आवथुः । काव्यैः । दंसनाभिः ॥ यत् । सु-रामम् । वि । अपिबः । शचीभिः । सरस्वती । त्वा । मघ-वन् । अभिष्णक् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पितरौ) माता पिता (पुत्रम् इव) जैसे पुत्र को [वैसे] (अश्विना) कामों में व्यापक [सभापति और सेनापति] (उभा) तुम दोनों ने (काव्यैः) बुद्धिमानों के किये व्यवहारों से और (दंसनाभिः) दर्शनीय क्रियाओं से [राज्य की] (आवथुः) रक्षा की है, और (मघवन्) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) क्योंकि (सुरामम्) बड़े आनन्द देने वाले [आनन्द रस] को (शचीभिः) अपनी बुद्धियों से (वि) विविध प्रकार (अपिबः) तू ने पिया है, (सरस्वती) सरस्वती [विज्ञान युक्त विद्या] ने (त्वा) तुझ को (अभिष्णक्) सेवन किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब प्रजा और सेना के अधिकारी पूरी प्रीति से प्रजा की रक्षा करते हैं, और जब मुख्य सभापति राजा भी तत्त्व जानने वाला होता है, उस राज्य में विद्या की वृद्धि होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥६॥

५—(पुत्रम्) सन्तानम् (इव) यथा (पितरौ) जननीजनकौ (अश्विना) कर्मसु व्यापकौ सभासेनेशौ (उभा) द्वौ (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (आवथुः) राज्यं रक्षितवन्तौ युवाम् (काव्यैः) कविभिर्मेधाविभिर्निर्मितैर्व्यवहारैः (दंसनाभिः) अथ० २० । ७४ । २ । दर्शनीयाभिः क्रियाभिः (यत्) यतः (सुरामम्) म० ४ । शोभनानन्दयितारम् (वि) विविधम् (अपिबः) पीतवानसि (शचीभिः) प्रज्ञाभिः (सरस्वती) विज्ञानयुक्ता विद्या (त्वा) (मघवन्) महाधनिन् (अभिष्णक्) भिष्णज् उपसेवायां कण्ड्वादिः, लङ्, यको लुक् छान्दसः । उपसेवताम् ॥

इन्द्रः । सु-त्रामा । स्व-वान् । अवः-भिः । सु-मृडीकः । भवतु । विश्व-वेदाः ॥ बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सु-वीर्यस्य । पतयः । स्याम ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बहुत से ज्ञाति पुरुषों वाला, (विश्ववेदाः) बहुत धन वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (अवोभिः) अनेक रक्षाओं से (सुमृडीकः) अत्यन्त सुख देने वाला (भवतु) होवे। वह (द्वेषः) बैरियों को (बाधताम्) हटावे, (नः) हमारे लिये (अभयम्) निर्भयता (कृणोतु) करे और हम (सुवीर्यस्य) बड़े पराक्रम के (पतयः) पालन करने वाले (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ ६ ॥

मन्त्र ६, ७, आचुके हैं—अथ० ७ सू० ९१, ९२ ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु। तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ७ ॥

सः । सु-त्रामा । स्व-वान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चित् । द्वेषः । सनुतः । युयोतु ॥ तस्य । वयम् । सु-मतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बड़ा धनी, (इन्द्रः) इन्द्र [महा प्रतापी राजा] (अस्मत) हम से (आरात् चित्) बहुत ही दूर (द्वेषः) शत्रुओं को (सनुतः) निर्णय पूर्वक (युयोतु) हटावे। (वयम्) हम लोग (तस्य) उस (यज्ञियस्य) पूजा योग्य [राजा] की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करने वाली (सौमनसे) प्रसन्नता में (स्याम) रहें ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य प्रजा रक्षक, शत्रुनाशक राजा की आज्ञा में रह-कर सदा प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

६, ७—मन्त्रौ व्याख्यातौ—अथ० ७ सू० ९१, ९२ ॥

सूक्तम् १२६ ॥

१—२३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ५—७, १०—१५, १८, १९, २३ पङ्क्तिः, २ विराडार्षी पङ्क्तिः, ३, ४, ८, ९, २०—२२ निचृत् पङ्क्तिः, १६, १७ विराट् पङ्क्तिः ॥

गृहस्थकर्तव्योपदेशः—गृहस्थ के कर्तव्य का उपदेश ॥

वि हि सोतोरसृ॑क्षत नेन्द्रं॑ देवमंमंसत । यत्राम॑दद् वृषाक॑पिर्यः पुष्टेषु मत्स॑खा विश्व॑स्मादिन्द्र उत्त॑रः ॥ १ ॥

वि । हि । सोतोः॑ । असृ॑क्षत । न । इन्द्र॑म् । देवम् । अमं॑सत ॥ यत्र॑ । अम॑दत् । वृषाक॑पिः । अर्यः॑ । पुष्टेषु॑ । मत्-स॑खा । विश्व॑स्मात् । इन्द्रः॑ । उत्-त॑रः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (सोतोः) तत्त्व रस का निकालना (वि असृक्षत) उन्हों ने [लोगों ने] छोड़ दिया है, [इसी से] (देवम्) विद्वान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य आत्मा] को (न अमंसत) उन्हों ने नहीं जाना, (यत्र) जहां [संसार में] (अर्यः) स्वामी (मत्सखा) मेरा [देह वाले का] साथी (वृषाकपिः) वृषाकपि [बलवान् कंपाने वाले अर्थात् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा) ने (पुष्टेषु) पुष्टि कारक धनों में (अमदत्)

१—(वि) वियोगे (हि) यस्मात् कारणात् (सोतोः) ईश्वरे तोसुन्कसुनौ । पा० ३ । ४ । १३ । षुञ् अभिषवे—तोसुन् । अभिषोतुम् । तत्त्वरसं निष्पादयितुम् (असृक्षत) विसृष्टवन्तः । त्यक्तवन्तः (नि) निषेधे (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं मनुष्यम् (देवम्) विद्वांसम् (अमंसत) मन ज्ञाने—लुङ् । ज्ञातवन्तः (यत्र) यस्मिन् संसारे (अमदत्) हृष्टोऽभूत् (वृषाकपिः) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । वृष सेचने पराक्रमे च—कनिन्, यद्वा, इगुपधज्ञाप्रीकिरः । पा० ३ । १ । १३५ । इति कप्रत्ययः । कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च ॥ उ० ४ । १४४ । कपि चलने-इप्रत्ययः । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । वृषाकपिः पदनाम—निघ० ५ । ६ । अथ यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः—निरु० १२ । २७ । हरविष्णू वृषाकपी—

आनन्द पाया है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १ ॥

भावार्थ--जो मनुष्य, दूसरे जीवों से अधिक उत्तम और तत्त्व ज्ञानी होने पर भी अपने सामर्थ्य और कर्तव्या को भूल जाते हैं, वे आत्मघाती संसार में सुख कभी नहीं पाते ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है--१० । ८६ । १--२३ ॥

सूचना--इस सूक्त में इन्द्र, वृषाकपि, इन्द्राणी और वृषाकपायी का वर्णन है। इन्द्र शब्द से मनुष्य का शरीरधारी जीवात्मा, वृषाकपि से भीतरी जीवात्मा, इन्द्राणी से इन्द्र की विभूति वा शक्ति और वृषाकपायी से वृषाकपि की विभूति वा शक्ति तात्पर्य है, अर्थात् एक ही मनुष्य के जीवात्मा का वर्णन भिन्न भिन्न प्रकार से है। इन्द्र अर्थात् शरीरधारी मनुष्य सब प्राणियों से श्रेष्ठ है, वह अपने को बुराई से बचाकर भलाई में सदा लगावे--सूक्त का यही सारांश है ॥

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः । नो अह प्रविन्द-स्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥

परा । हि । इन्द्र । धावसि । वृषाकपेः । अति । व्यथिः ॥ नो इति । अह । प्र । विन्दसि । अन्यत्र । सोम-पीतये ।०॥२

भाषार्थ--(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] तू (हि) ही (वृषाकपेः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] से (अति) अत्यन्त (व्यथिः) व्याकुल होकर (परा) दूर (धावसि) दौड़ता है।

अमरः, २३ । १३० । वृषाकपिः=विष्णुः, शिवः, अग्निः, इन्द्रः, सूर्यः--इति शब्दकल्पद्रुमः । वृषा बलवान्, कपिः कम्पयिता चेष्टयिता इन्द्रो जीवात्मा (अर्यः) स्वामी (पुष्टेषु) पोषकेषु धनेषु (मत्सखा) मम शरीरधारिणः सखा (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् प्राणिमात्रात् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् शरीरधारी मनुष्यः (उत्तरः) श्रेष्ठतरः ॥

२--(परा) दूरे (हि) अवधारणे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (धावसि) शीघ्रं गच्छसि (वृषाकपेः) म० १ । बलवच्चेष्टाकारकाज्जीवात्मनः (अति) अत्यन्तम् (व्यथिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ ।

(अन्यत्र) [अपने आत्मा से] दूसरे [प्राणी] में (सोमपीतये) सोम [तत्त्व रस] के पान के लिये (नो अह) कभी नहीं (प्र विन्दसि) तू पाया जाता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य आत्मज्ञान के बिना कष्टों से व्याकुल होकर अपने सामर्थ्य को सोचकर काम करता है, वही तत्त्व मार्ग पर चलकर आप सुखी होता और सब को सुखी करता है ॥ २ ॥

किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः । यस्मा इरस्यसीदु न्वर्यो वा पुष्टिमद् वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

किम् । अयम् । त्वाम् । वृषाकपिः । चकार । हरितः । मृगः ॥ यस्मै । इरस्यसि । इत् । ऊं इति । नु । अर्यः । वा । पुष्टि-मत् । वसु । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (किम्) कौनसा [अपकार] (अयम्) इस (हरितः) छीन लेने वाले, (मृगः) घूमने वाले मृग [जंगली पशु के समान] (वृषाकपिः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] ने (त्वाम्) तुझ को (चकार) किया है ? (यस्मै) जिस [जीवात्मा] के लिये (अर्यः) स्वामी होकर तू (पुष्टिमत्) पुष्टि रखने वाले (वसु) धन का (इत्) भी (वा) अवश्य (उ) निश्चय करके (नु) अब (इरस्यसि) डाह करता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से

व्यथ भयसंचलनयोः—इन् । व्याकुलः (नो) नैव (अह) निश्चयेन (प्र) (विन्दसि) लभसे । प्राप्य से (अन्यत्र) स्वात्मनो भिन्ने (सोमपीतये) तत्त्वरसपानाय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(किम्) किमपकारम् (अयम्) विचार्यमाणः (त्वाम्) मनुष्यम् (वृषाकपिः) म० १ । बलवच्चेष्टाकारको जीवात्मा (चकार) कृतवान् (हरितः) हरणशीलः (मृगः) मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः—निरु १३।२ । भ्रमणशीलो वनपशुर्यथा (यस्मै) वृषाकपये जीवात्मने (इरस्यसि) इरस ईर्ष्यायां कण्ड्वादिः । ईर्ष्यसि (इत्) अपि (उ) एव (नु) इदानीम् (अर्यः) स्वामी

(उत्तरः) उत्तम है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि पशु के समान आचरण अर्थात् पाप-बुद्धि और डाह छोड़कर पुरुषार्थ से वृद्धि करे ॥ ३ ॥

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि । श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ४ ॥

यम् । इमम् । त्वम् । वृषाकपिम् । प्रियम् । इन्द्र । अभि-रक्षसि ॥ श्वा । नु । अस्य । जम्भिषत् । अपि । कर्णे । वराह-युः । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (त्वम्) तू (यम्) जिस (इमम्) इस (प्रियम्) प्यारे (वृषाकपिम्) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा) की (अभिरक्षसि) सब ओर से रक्षा करे, [तौ] (नु) क्या (वराहयुः) सुअर को ढूंढ़ने वाला (श्वा) कुत्ता [अर्थात् पाक कर्म] (अस्य) इस [सूअर अर्थात् जीव] के (अपि) भी (कर्णे) कान में (जम्भिषत्) काटेगा, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब सब प्राणियों में श्रेष्ठ मनुष्य अपने आत्मा को अपने वश में कर लेता है, तब उसको कोई पाप कर्म ऐसा नहीं सताता है, जैसे कुत्ता सूअर को कान पकड़कर झंझोर डालता है ॥ ४ ॥

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् । शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ५ ॥

(वा) अवधारणे (पुष्टिमत्) पोषयुक्तम् (वसु) धनम् । सिद्धमन्यत् ॥

४—(यम्) जीवात्मानम् (इमम्) शरीरे विद्यमानम् (त्वम्) (वृषाकपिम्) म० १ । बलवच् चेष्टाकारकं जीवात्मानम् (प्रियम्) इष्टम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (अभिरक्षसि) परिपालयसि (श्वा) कुक्कुरः (नु) प्रश्ने (अस्य) जीवात्मनः (जम्भिषत्) भक्षयेत् (अपि) एव (कर्णे) श्रोत्रे (वराहयुः) वराहं शूकरमिच्छन् । अन्यद् गतम् ॥

प्रिया । तुष्टानि । मे । कपिः । वि-अक्ता । वि । अदूदुषत् ॥ शिरः । नु । अस्य । राविषम् । न । सु-गम् । दुः-कृते । भुवम् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(कपिः) कपि [चंचल जीवात्मा] ने (मे) मेरे (व्यक्तानि) स्वच्छ किये हुये (प्रिया) प्यारे (तष्टानि) कर्मों को (वि) विरुद्धपन से (अदूदुषत्) दूषित कर दिया है (अस्य) इस [पाप कर्म] के (शिरः) शिर को (नु) अब (राविषम्) मैं काट डालूं, और (दुष्कृते) दुष्ट कर्म में (सुगम्) सुगम (न) नहीं (भुवम्) हो जाऊं, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम् है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् जितेन्द्रिय मनुष्य के मन में यदि पाप की लहर उठे, वह ज्ञान से उस को सर्वथा नष्ट करके अपना महत्त्व दृढ़ बनाये रक्खे ॥ ५ ॥

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् । न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ६ ॥

न । मत् । स्त्री । सुभसत्-तरा । न । सुयाशु-तरा । भुवत् ॥ न । मत् । प्रति-च्यवीयसी । न । सक्थि । उत्-यमीयसी । ०६

भाषार्थ—(स्त्री) कोई स्त्री (मत्) मुझ से (न) न (सुभसत्तरा)

५—(प्रिया) कमनीयानि (तष्टानि) कृतानि कर्माणि (मे) मम (कपिः) म० १ । कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च । उ० ४ । १४४ । कपि चलने—इप्रत्ययः । चपलो जीवात्मा (व्यक्ता) वि + अञ्ज—क्त । स्वच्छीकृतानि (वि) विरोधे (अदूदुषित्) दुष वैकृत्ये—णिच् लुङ् । दूषितवान् (शिरः) मस्तकम् (नु) इदानीम् (अस्य) पापकर्मणः (राविषम्) रुङ् गतिरेषणयोः—लुङ्, अडभावः । लुनीयाम् (न) निषेधे (सुगम्) यथा तथा सुगमम् (दुष्कृते) दुष्टकर्मणि (भुवम्) भवेयम् । अन्यद् गतम् ॥

६—(न) निषेधे (मत्) मत्तः (स्त्री) अन्या नारी (सुभसत्तरा) शुद्-

अधिक बड़ी शोभा वाली, (न) न (सुयाशुतरा) अधिक सुन्दर यत्न वाली, (न) न (मत्) मुझ से (प्रतिच्यवीयसी) अधिक सहने वाली और (न) न (सक्थि) जंघा [आदि शरीर के अंगों] को (उद्यमीयसी) उद्योग में अधिक लगाने वाली (भुवत्) होवे, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ६ ॥

भावार्थ—स्त्रियां भी मनुष्य शरीर पाकर सब प्रकार विद्या ग्रहण करें और कर्तव्य में चतुर बनकर अन्यस्त्रियों और प्राणियों से अपनी शोभा अधिक बढ़ावें ॥ ६ ॥

उ॒वे अ॑म्ब सुलाभिके॒ यथे॑वा॒ङ्ग भ॑वि॒ष्यति॑ । भ॒सन्मे॑ अम्ब॒ सक्थि॑ मे॒ शिरो॑ मे॒ वी॑व हृष्यति॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥७॥

उ॒वे । अ॒म्ब॒ । सु॒ला॒भि॒के॒ । यथा॑-इव । अ॒ङ्ग । भ॒वि॒ष्यति॑ ॥ भ॒सत् । मे॒ । अ॒म्ब॒ । सक्थि॑ । मे॒ । शिरः॑ । मे॒ । वि-इ॑व । हृ॒ष्य॒ति॒ । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(उवे) हे (अम्ब) अम्मा ! (अङ्ग) हे (सुलाभिके) सुन्दर लाभ कराने वाली ! (यथा इव) जैसा कुछ (भविष्यति) आगे होगा [वैसा किया जावे], (अम्ब) हे अम्मा ! (मे) मेरा (भसत्) चमकता हुआ कर्म, (मे) मेरी (सक्थि) जंघा, (मे) मेरा (शिरः) शिर (वि) विविध

भसोऽदिः । उ० १ । १३० । भस दीप्तौ—अदि । अधिकसुदीप्यमाना । सुभगतरा (न) (सुयाशुतरा) यसु प्रयत्ने—उरु, सस्य शः । अतिशयेन सुप्रयतमाना (भुवत्) भवेत् (न) (मत्) (प्रतिच्यवीयसी) च्युङ् सहने गतौ च—तृच, ईयसुन् । प्रत्यन्तेणाधिकच्यावयित्री । अधिकसहनशीला (न) (सक्थि) जंघादिशरीराङ्गजातम् (उद्यमीयसी) यमु उपरमे—तृच, ईयसुन् । अतिशयेन उद्यमयित्री । अन्यद् गतम् ॥

७—(उवे) संबोधने निपातः । हे (अम्ब) मातः (सुलाभिके) शोभनलाभे (यथा इव) येन प्रकारेणैवोक्तं तथैव (अङ्ग) हे (भविष्यति) भवतु (भसत्) म० ६ । दीप्यमानं कर्म (मे) मम (अम्ब) (सक्थि) म०

प्रकार से (इव) ही (हृष्यति) आनन्द देवे, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब लड़के लड़कियां गुणवती माता से, शरीर के अङ्गों से सुन्दर चेष्टा करके बलवान् और गुणवान् होना सीखें ॥ ७ ॥

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने । किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ८ ॥

किम् । सुबाहो इति सु-बाहो । सु-अङ्गुरे । पृथुस्तो इति पृथु-स्तो । पृथु-जघने ॥ किम् । शूर-पत्नि । नः । त्वम् । अभि । अमीषि । वृषाकपिम् । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सुबाहो) हे बलवान् भुजाओं वाली ! (स्वाङ्गुरे) हे दृढ़ अंगुलियों वाली ! (पृथुजघने) हे मोटी जंघाओं वाली ! (पृथुष्टो) हे बड़ी स्तुति वाली ! [कुलवधू] (किम्) क्यों, (शूरपत्नि) हे शूर की पत्नी ! (किम्) क्यों, (त्वम्) तू (नः) हमारे (वृषाकपिम्) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] को (अभि) सर्वथा (अमीषि) पीड़ा देगी, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ८ ॥

भावार्थ—रूपवती, बलवती, गुणवती स्त्री पुत्र पुत्रियों को रूपवान्, बलवान् और गुणवान् बनाकर पति आदि को सदा प्रसन्न करे ॥ ८ ॥

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते । उताहमस्मि वीरि-

---

६ । जंघा (मे) (शिरः) (मे) (वि) विविधम् (इव) अवधारणे (हृष्यति) हर्षयतु । अन्यद् गतम् ॥

८—(किम्) आक्षेपे । किमर्थम् (सुबाहो) बलयुक्तभुजोपेते (स्वाङ्गुरे) दृढाङ्गुलिके (पृथुष्टो) अथ० ७ । ४६ । १ । ष्टुञ् स्तुतौ—डु । बहुस्तुतियुक्ते (पृथुजघने) स्थूलजङ्घे (किम्) (शूरपत्नि) हे वीरस्य भार्ये (नः) अस्माकम् (त्वम्) (अभि) सर्वतः (अमीषि) अम पीडने । आमयसि । पीडयिष्यसि (वृषाकपिम्) म० १ । बलवन्तं चेष्टयितारं जीवात्मानम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

णीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ६ ॥

अवीराम्-इव । माम् । अयम् । शरारुः । अभि । मन्यते ॥
उत । अहम् । अस्मि । वीरिणी । इन्द्र-पत्नी । मरुत्-सखा०८

भाषार्थ—(अयम्) यह (शरारुः) अपकारी मनुष्य (माम्) मुझ [स्त्री] को (अवीराम् इव) अवीर स्त्री के समान (अभि मन्यते) मानता है, (उत) और (अहम्) मैं (वीरिणी) वीरिणी [वीर सन्तानों वाली], (इन्द्र-पत्नी) इन्द्र पत्नी [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य की पत्नी], और (मरुत्सखा) विद्वान् वीरों को साथी रखने वाली (अस्मि) हूं, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य](विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ६ ॥

भावार्थ—वीर पत्नी स्त्री वीर सन्तानों और वीर पुरुषों के साथ रहकर दुष्टों से निर्भय होवे ॥ ६ ॥

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति । वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १० ॥

सम्-होत्रम् । स्म । पुरा । नारी । समनम् । वा । अव । गच्छति ॥ वेधाः । ऋतस्य । वीरिणी । इन्द्र-पत्नी । महीयते । ० ॥ १० ॥

भाषार्थ—(नारी) नारी [नरों का हितकरने हारी स्त्री] (पुरा) पहिले काल से (स्म) ही (संहोत्रम्) मिलकर अग्निहोत्र आदि यज्ञ करने (वा) और (समनम्) मिलकर जीवन करने को (अव गच्छति) जानती है । (ऋतस्य)

६—(अवीराम्) अबलाम् (इव) यथा (माम्) स्त्रियम् (अयम्) (शरारुः) शॄवन्द्योरारुः । पा० ३ । २ । १७३ । शॄ हिंसायाम्—आरु । घातुकः। अपकारी (अभि) आभिमुख्ये (मन्यते) जानाति (उत) अपि च (अहम्) स्त्री (अस्मि) (वीरिणी) वीरसन्तानवती (इन्द्रपत्नी) इन्द्रस्य ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य भार्या (मरुत्सखा) मरुद्भिर्विद्वद्भिः शूरैर्युक्ता । अन्यद् गतम् ॥

१०—(संहोत्रम्) पत्यादिभिः सहाग्निहोत्रादियज्ञम् (स्म) एव (पुरा) पुरस्तात् (नारी) नराणां हिता स्त्री (समनम्) अन प्राणने—अच् । सहजी-

सत्य ज्ञान का (वेधाः) विधान करने वाली (वीरिणी) वीरिणी [वीर सन्तानों वाली], (इन्द्रपत्नी) इन्द्रपत्नी [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य की स्त्री] (महीयते) पूजी जाती है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ज्ञानवती स्त्री अपने सदृश वीर पति से विवाह करके वीर सन्तानें उत्पन्न करती है, वही संसार में बड़ाई पाती है ॥ १० ॥

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्। नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ११ ॥

इन्द्राणीम् । आसु । नारिषु । सु-भगाम् । अहम् । अश्रवम् ॥ नहि । अस्याः । अपरम् । चन । जरसा । मरते । पतिः । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(आसु) इन (नारिषु) चलती हुई प्रजाओं के बीच (इन्द्राणीम्) इन्द्राणी [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष की विभूति वा शक्ति] को (सुभगाम्) बड़ी भगवती [ऐश्वर्य वाली] (अहम्) मैं ने (अश्रवम्) सुना है, (अस्याः) इस [विभूति] का (पतिः) पति [पालन करने वाला, इन्द्र यह मनुष्य] (अपरम् चन) दूसरे प्राणियों के समान (जरसा) वयोहानि से (नहि) नहीं (मरते) मरता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ११ ॥

वनम् (वा) समुच्चये (अव गच्छति) जानाति (वेधाः) विधात्री (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (वीरिणी) म० ९ (इन्द्रपत्नी) म० १ (महीयते) पूज्यते । अन्यद् गतम् ॥

११—(इन्द्राणीम्) इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७ । इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी इन्द्रस्य विभूतिः—दुर्गाचार्यः । परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य विभूतिं शक्तिम् (आसु) दृश्यमानासु (नारिषु) वलिकपिशि० उ० ४ । १२५ । नृ नये-इञ् । नीतासु प्रजासु (सुभगाम्) बह्वैश्वर्यवतीम् (अहम्) मनुष्यः (अश्रवम्) अश्रौषम् । श्रुतवानस्मि (नहि) नैव (अस्याः) विभूतेः (अपरम्) अन्यत् प्राणिजातम् (चन) सादृश्ये (जरसा) वयोहान्या । निर्बलत्वेन (मरते) म्रियते (पतिः) पालकः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—यह वेदादि शास्त्रों से प्रसिद्ध है कि उन्नतिशील मनुष्य अपनी बुद्धि आदि शक्तियों को ठिकाने रखकर सदा बलवान् रहकर यशस्वी होवे ॥ ११ ॥

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते । यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १२ ॥

न । अहम् । इन्द्राणि । ररण । सख्युः । वृषाकपेः । ऋते ॥ यस्य । इदम् । अप्यम् । हविः । प्रियम् । देवेषु । गच्छति ।० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(इन्द्राणि) हे इन्द्राणी ! [इन्द्र, बड़े ऐश्वर्यवान् मनुष्य की विभूति] (सख्युः) सखा (वृषाकपेः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] के (ऋते) बिना (अहम्) मैं [शरीरधारी] (न) नहीं (ररण) चल सकता, (यस्य) जिस [वृषाकपि, जीवात्मा] का (इदम्) यह (अप्यम्) प्रजाओं का हितकारी (प्रियम्) प्यारा (हविः) हवि [देने लेने योग्य, घृत, जल आदि पदार्थ] (देवेषु) विद्वानों में (गच्छति) पहुँचता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी शक्ति को अपने मित्र जीवात्मा के साथ दृढ़ रखकर स्वस्थ रहे, और सब प्राणियों से उत्तम होकर मोक्ष सुख पावे ॥ १२ ॥

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे । घसत् त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १३ ॥

वृषाकपायि । रेवति । सु-पुत्रे । आत् । ऊं इति । सु-स्नुषे ॥

१२—(न) निषेधे (अहम्) शरीरी जीवः (इन्द्राणि) म० ११ । हे परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य विभूते (ररण) रण गतौ शब्दे च—लडर्थे लिट् । गच्छामि (सख्युः) सखिभूतात् (वृषाकपेः) म० १ । बलवतश्चेष्टयितुर्जीवात् (ऋते) विना (यस्य) वृषाकपेः (इदम्) दृश्यमानम् (अप्यम्) अपां प्रजानां हितम् (हविः) दातव्यग्राह्यं घृतजलादिकम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् (देवेषु) विद्वत्सु (गच्छति) प्राप्यते । अन्यत् सिद्धम् ॥

घसत्। ते। इन्द्रः। उक्षणः। प्रियम्। काचित्-करम्। हविः।०॥ १३

भाषार्थ—(वृषाकपायि) हे वृषाकपायी ! [वृषाकपि बलवान्, चेष्टा कराने वाले जीवात्मा की विभूति] (रेवति) हे धनवाली ! (सुपुत्रे) हे वीर पुत्रों की करने वाली ! (सुस्नुषे) हे बहुत सुख बरसाने वाली ! (आत् उ) लगातार ही (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (ते) तेरे (उक्षणः) बढ़ती करने वाले पदार्थों को (घसत्) खावे, वह (प्रियम्) प्यारा (काचित्-करम्) सुख का सब ओर से एकत्र करने वाला (हविः) हवि [म० १२ । घृत, जल आदि पदार्थ] है, [क्योंकि] (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मबल को अपनी विभूति में संयुक्त करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द पावे ॥ १३ ॥

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् । उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १४ ॥

उक्षणः । हि । पञ्च-दश । साकम् । पचन्ति । विंशतिम् ॥

१३—(वृषाकपायि) मं० १। वृषाकप्यग्नि० पा० ४। १। ३७। वृषाकपि—ङीप्, ऐकारादेशश्च। वृषाकपायी वृषाकपेः पत्न्यपैवाभिसृष्टकालतमा निरु० १२। ८। वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी, वृषाकपिरादित्यः, तस्य पत्नी, तद्विभूतिः इति दुर्गाचार्यः। वृषाकपायी श्रीगौर्योः—इत्यमरः,२३। १५६। लक्ष्मीः,गौरी,स्वाहा, शची, जीवन्ती, शतावरी—इति शब्दकल्पद्रुमः। हे वृषाकपेर्जीवात्मनो विभूते (रेवति) धनवति (सुपुत्रे) सु वीराः पुत्रा यस्याः सकाशात् सा सुपत्रा तत्सम्बुद्धौ (आत्) अनन्तरम् (उ) एव (सुस्नुषे) स्नुव्रश्चि०। उ० ३। ६६। ष्णु प्रस्रवणे—सः कित्, टाप्। स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसाधिनीति वा स्वपत्यं तत् सनोतीति वा—निरु० १२। ६। बहुसुखस्य वर्षयित्रि (घसत्) घस्लृ अदने—लेट्। भक्षयेत् (ते) तव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् मनुष्यः (उक्षणः) उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२। ६। वृद्धिकरान् पदार्थान् (प्रियम्) इष्टम् (काचित्करम्) क+आ+चिञ् चयने—क्विप्, तुक्+करोतेः—अच्। सुखाचयकरं सुखकरम्—निरु० १२। ६। कं सुखं तस्याचित् संघः, तत्करम् (हविः)म० १२। घृतजलादिकम्। अन्यद् गतम् ॥

उत । अहम् । अद्मि । पीवः । उभा । कुक्षी इति । पृणन्ति । मे०१४

भाषार्थ—(पञ्चदश, विंशतिम्) पन्द्रह, बीस [अर्थात् बहुत से] (उक्ष्णः) बढ़ती करने वाले पदार्थों को (मे) मेरे लिये (हि) ही (साकम्) एक साथ (पचन्ति) वे [ईश्वर नियम] परिपक्क करते हैं, (उत) और (अहम्) मैं (पीवः) उन के पुष्टि कारक रस को (इत्) ही (अद्मि) खाता हूं, और (मे) मेरी (उभा) दोनों (कुक्षी) कोखों को (पृणन्ति) वे [पदार्थ] भरते हैं, (इन्द्रः०) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणीमात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने संसार में अनेक उपकारी पदार्थ उत्पन्न किये हैं, मनुष्य उन का सार लेकर शरीर और आत्मा की पुष्टि करे ॥ १४ ॥

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्। मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥

वृषभः । न । तिग्म-शृङ्गः । अन्तः । यूथेषु । रोरुवत् ॥ मन्थः । ते । इन्द्र । शम् । हृदे । यम् । ते । सुनोति । भावयुः । ०॥१५

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (यूथेषु अन्तः) यूथों के बीच (रोरुवत्) दहाड़ते हुये, (तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्ण सींगों वाले (वृषभः न) बैल के समान, (मन्थः) वह तत्त्व रस (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्ति दायक हो, (यम्) जिस [तत्त्व रस] को (ते) तेरे

१४—(उक्ष्णः) म० १३ । वृद्धिकरान् पदार्थान् (हि) एव (मे) मह्यम् (पञ्चदश, विंशतिम्) बहुसंख्याकान् (साकम्) सह (पचन्ति) परिपक्वान् कुर्वन्ति ते परमेश्वरनियमाः (उत) अपि च (अहम्) मनुष्यः (अद्मि) भक्षयामि (पीवः) पीव स्थौल्ये-असुन् । पुष्टिकरं रसम् (इत्) एव (उभा) उभौ । द्वौ (कुक्षी) उदरस्य वामदक्षिणपार्श्वौ (पृणन्ति) पूरयन्ति ते पदार्थाः (मे) मम । अन्यद् गतम् ॥

१५—(वृषभः) पुङ्गवः (न) इव (तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्णविषाणः (अन्तः) मध्ये (यूथेषु) सजातीयसमूहेषु (रोरुवत्) रु शब्दे-यङ्लुकि शतृ । भृशं ध्वनिं कुर्वन् (मन्थः) तत्त्वरसः (ते) तव (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य

लिये (भावयुः) सत्ता चाहने वाला [परमात्मा] (सुनोति) मथता है, [क्योंकि] (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् सांड़ अपने झुंडों को वश में करके सुख को प्राप्त होता है, वैसे ही प्रतापी मनुष्य परमात्मा के उत्पन्न किये पदार्थों से तत्त्व रस ग्रहण करके सुखी होवे ॥ १५ ॥

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत् । सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥

न । सः । ईशे । यस्य । रम्बते । अन्तरा । सक्थ्या । कपृत् ॥ सः । इत् । ईशे । यस्य । रोमशम् । नि-सेदुषः । वि-जृम्भते०१६

भाषार्थ—(सः) वह पुरुष (न ईशे) ऐश्वर्यवान् नहीं होता है, (यस्य) जिस का (कपृत्) शिर पालने वाला कपाल (सक्थ्या अन्तरा) दोनों जंघाओं के बीच (रम्बते) नीचे लटकता है, (सः इत्) वही पुरुष (ईशे) ऐश्वर्यवान् होता है, (यस्य निषेदुषः) जिस बैठे हुये [विचारते हुये] पुरुष का (रोमशम्) रोम वाला मस्तक [ज्ञान सामर्थ्य] (विजृम्भते) फैलता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि आलस्य से मस्तक झुकाकर अपने

(शम्) सुखदः (हृदे) हृदयाय (यम्) मन्थम् (ते) तुभ्यम (सुनोति) निष्पादयति (भावयुः) भावं सत्तामिच्छुकः । अन्यद् गतम् ॥

१६—(न) निषेधे (सः) पुरुषः (ईशे) ईष्टे । ऐश्वर्यवान् भवति (यस्य) (रम्बते) लम्ब रः । लम्बते । अधस्तादाश्रियते (अन्तरा) मध्ये (सक्थ्या) सक्थिनी । जंघे (कपृत्) क+पृ पालने-क्विप्, तुक् । कस्य शिरसः पालकः । कपालः (सः) (इत्) एव (ईशे) ईष्टे (यस्य) (रोमशम्) मत्वर्थे शप्रत्ययः । रोमयुक्तं मस्तकम् (निषेदुषः) उपविष्टस्य (विजृम्भते विवृतं भवति । विस्तीर्यते । अन्यद् गतम् ॥

ज्ञान को संकुचित न करे, किन्तु शिर को सब ओर घुमाकर भली भान्ति विचारकर ज्ञान बढ़ाता हुआ अपना इन्द्रत्व दिखावे ॥ १६ ॥

न सेशे यस्य रोमुशं निषेदुषो विजृम्भते । सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सुक्थ्या३ कपृद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥

न । सः । ईशे । यस्य । रोमुशम् । नि-सेदुषः । वि-जृम्भते ॥ सः । इत् । ईशे । यस्य । रम्बते । अन्तरा । सुक्थ्या । कपृत्०१७

भाषार्थ—(सः) वह पुरुष (न ईशे) ऐश्वर्यवान् नहीं होता, (यस्य निषेदुषः) जिस बैठे हुये [आलसी] का (रोमशम्) रोम वाला मस्तक (विजृम्भते) जंभाई लेता है, (सः इत्) वही पुरुष (ईशे) ऐश्वर्यवान् होता है, (यस्य) जिस का (कपृत्) शिर पालने वाला कपाल (सक्थ्या अन्तरा) दोनों जंघाओं के बीच [ध्यान में] (रम्बते) नीचे लटकता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य आलस्य से शिर झुकाकर ऊंघने लगते हैं, उन को विद्या, सुवर्ण और राज्य आदि ऐश्वर्य नहीं मिलता, ऐश्वर्य उन को मिलता है जो शिर को झुकाकर अपना आप सोचते हुये इन्द्र बनते हैं ॥ १७ ॥

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हुतं विदत् । असिं सूनां नवं चुरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥

अयम् । इन्द्र । वृषाकपिः । परस्वन्तम् । हुतम् । विदत् ॥ असिम् । सूनाम् । नवम् । चुरुम् । आत् । एधस्य । अनः । आ-चितम् ० ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (अयम्) इस (वृषाकपिः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] ने (पर-

---

१७—(विजृम्भते) आलस्येन जृम्भां मुखविकाशं करोति। अन्यत् पूर्ववत् ॥

१८—(अयम्) प्रसिद्धः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (वृषाकपिः)

स्वन्तम्) पालने वाले व्यवहार को (हतम्) नाश किया हुआ (विदत्) पाया है, (आत्) तभी (नवम्) नवीन (चरुम्) स्थान [अर्थात् देश निकाला], [अथवा] (असिम्) तलवार, (सूनाम्) बध स्थान, और (एधस्य) इन्धन का (आचितम्) भरा हुआ (अनः) छकड़ा [पाया है], (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो पापी आत्मा उपकारी व्यवस्था को तोड़े, उस को दण्ड रीति से ऐसा कष्ट भोगना चाहिये, जैसे कोई अपराधी देश से निकाला जावे, अथवा तलवार आदि शस्त्र से मारकर लकड़ी से भस्म किया जावे ॥ १८ ॥

अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्। पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १९ ॥

अयम्। एमि। वि-चाकशत्। वि-चिन्वन्। दासम्। आर्यम् ॥ पिबामि। पाक-सुत्वनः। अभि। धीरम्। अचाकशम्० १९ ॥

भाषार्थ—(विचाकशत्) विविध प्रकार सुशोभित हुआ, और (दासम्) डाकू और (आर्यम्) आर्य [श्रेष्ठ पुरुष] को (विचिन्वन्) पहिचानता हुआ (अयम्) यह मैं [इन्द्र] (एमि) चलता हूं, (पाकसुत्वनः) पक्के विद्वान् के तत्त्व रस को (पिबामि) पान करता हूं और (धीरम्) धीर

म० १। बलवान् चेष्टयिता जीवात्मा (परस्वन्तम्) पॄ पालनपूरणयोः—असुन्। पालनवन्तं व्यवहारम् (हतम्) हिंसितम् (विदत्) अविदत्। प्राप्तवान् (असिम्) खड्गम् (सूनाम्) षू क्षेपे—क्त, टाप्। प्राणिवधस्थानम् (नवम्) नवीनम् (चरुम्) चरस्थानम्। विवासनम् (आत्) अनन्तरम् (एधस्य) इन्धनस्य (अनः) शकटम् (आचितम्) पूर्णम्। अन्यद् गतम् ॥

१९—(अयम्) इन्द्रः (एमि) गच्छामि (विचाकशत्) अ० १३। ३। १। काशृ दीप्तौ यङ्लुकि शतृ। विविधं भृशं शोभमानः (विचिन्वन्) चिञ् चयने—शतृ। परिचिन्वन्। विशेषेण जानन् (दासम्) उपक्षेपयितारम्। दस्युम् (आर्यम्) श्रेष्ठं पुरुषम् (पिबामि) पानं करोमि (पाकसुत्वनः) षुञ्

[बुद्धिमान्] को (अभि) सब प्रकार (अचाकशम्) सुशोभित करता हूं, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित होकर, दुष्टों और शिष्टों की विवेचना करके शिष्टों का मान और दुष्टों का अपमान करता हुआ इन्द्रत्व दिखावे ॥ १९ ॥

धन्वं च यत् कृन्तत्रं च कति स्वित् ता वि योजना । नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २० ॥

धन्वं । च । यत् । कृन्तत्रम् । च । कति । स्वित् । ता । वि । योजना ॥ नेदीयसः । वृषाकपे । अस्तम् । आ । इहि । गृहान् । उप । ० ॥ २० ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (कृन्तत्रम्) काटने योग्य वन (च च) और (धन्व) निर्जल देश हैं, (ता) वे (कति स्वित्) कितने ही (योजना) योजन (वि) दूर दूर हैं। (वृषाकपे) हे वृषाकपि ! [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] तू (नेदीयसः) अधिक समीप वाले (गृहान्) घरों को और (अस्तम्) अपने घर को (उप) आदर से (आ इहि) आ, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २० ॥

अभिपक्वे—क्वनिप् । पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मा—निरु० ३ । १२ । विपक्वप्रज्ञस्य तत्त्वरसस्य (अभि) सर्वतः (धीरम्) बुद्धिमन्तम् (अचाकशम्) काशृ दीप्तौ यङ्लुकि लङ् । शोभयामि । अन्यद् गतम् ॥

२०—(धन्व) धन्वानि । निर्जलदेशान् (च) (यत्) (कृन्तत्रम्) कृतेर्नुम् च । उ० ३ । १०६ । कृती छेदने—कत्रन् नुम् च । छेदनीयं वनम् (च) (कति) किंपरिमाणानि (स्वित्) प्रश्ने (ता) तानि धन्वानि (वि) विकृष्टानि (योजना) चतुः क्रोशस्थस्थानानि (नेदीयसः) अतिशयेन समीपस्थान् (वृषाकपे) म० १ । हे बलवन् चेष्टयितर्जीवात्मन् (अस्तम्) स्वगृहम् (आ इहि) आगच्छ (गृहान्) (उप) आदरे । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि कठिनाई पड़ने पर आत्मघाती अर्थात् हताश न होवे, किन्तु धैर्य बांधकर ठिकाने पर आ जावे ॥ २० ॥

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै । य एष स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २१ ॥

पुनः । आ । इहि । वृषाकपे । सुविता । कल्पयावहै ॥ यः । एषः । स्वप्न-नंशनः । अस्तम् । एषि । पथा । पुनः । ० ॥२१॥

भाषार्थ—(वृषाकपे) हे वृषाकपि ! [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] तू (पुनः) फिर (आ इहि) आ, (सुविता) ऐश्वर्य कर्मों को (कल्पयावहै) हम दोनों [तू और मैं] विचार कर करें, (यः) जो (एषः) यह तू (स्वप्ननंशनः) स्वप्न नाश करने वाला [आलस्य छुड़ाने वाला] है, सो तू (पथा) मार्ग से [सन्मार्ग से] (पुनः) फिर (अस्तम्) घर (एषि) पहुंचता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने गिरे हुये आत्मा को सावधानी से ठिकाने पर लाकर ऐश्वर्य बढ़ाता रहे ॥ २१ ॥

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन । क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २२ ॥

यत् । उदञ्चः । वृषाकपे । गृहम् । इन्द्र । अजगन्तन ॥ क्व । स्यः । पुल्वघः । मृगः । कम् । अगन् । जन-योपनः । ० ॥२२॥

२१—(पुनः) (आ इहि) आगच्छ (वृषाकपे) म० १ । हे बलवन् चेष्टयितर्जीवात्मन् (सुविता) अ० १४ । १० । १ । ऐश्वर्यकर्माणि (कल्पयावहै) त्वमहं चावामुभौ पर्यालोच्य कुर्याव(यः) (एष) स त्वम् (स्वप्ननंशनः) णश अदर्शने नाशे च—ल्युट् । मस्जिनशोर्झलि । पा० ७ । १ । ६० । इति नुम् । स्वप्नस्यालस्यस्य नाशयिता (अस्तम्) गृहम् (एषि) गच्छसि (पथा) सन्मार्गेण (पुनः) । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(वृषाकपे) हे वृषाकपि ! [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] [और हे इन्द्राणी ! मनुष्य की विभूति] (यत्) जब (उदञ्चः) ऊंचे चढ़ते हुये तुम सब (गृहम्) घर (अजगन्तन) पहुंच गये, (स्यः) वह (पुल्वघः) महापापी, (जनयोपनः) मनुष्य को घबरा देने वाला, (मृगः) पशु [पशु समान गिरा हुआ जीवात्मा] (क) कहां (कम्) किस मनुष्य को (अगन्) पहुंचा, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मा और बुद्धि आदि विभूति को ठिकाने ले आता है, वह कभी भी दुष्ट कर्म करके संकट में नहीं पड़ता है ॥२२॥

पर्शुर्ह॒ नाम॑ मान॒वी सा॒कं स॑सूव विंश॒तिम् । भ॒द्रं भ॑ल॒ त्यस्या॑ अभू॒द् यस्या॑ उ॒दर॒माम॑य॒द् विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥ २३ ॥

पर्शुः॑ । ह॒ । नाम॑ । मा॒न॒वी । सा॒कम् । स॒सू॒व॒ । वि॒श॒तिम् ॥ भ॒द्रम् । भ॒ल॒ । त्यस्यै॑ । अ॒भू॒त् । यस्याः॑ । उ॒दर॑म् । आम॑यत् । विश्व॑स्मात् । इन्द्रः॑ । उत्ऽत॑रः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(पर्शुः) शत्रुओं का नाश करने वाली (मानवी) मनुष्य की विभूति ने (ह) निश्चय करके (नाम) प्रसिद्ध (विंशतिम्) बीस [पांच

२२—(यत्) यदा (उदञ्चः) उद्गामिनः सन्तः (वृषाकपे) म० १ । हे बलवन् चेष्टयितर्जीवात्मन् (गृहम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य । हे इन्द्राणि च यूयं सर्वे (अजगन्तन) गमेर्लङि मध्यमबहुवचने छान्दसः शपः श्लुः । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । तनबादेशः । यूयम् अगच्छत (क) कुत्र (स्यः) सः (पुल्वघः) पुरु+अघ पापकरणे—अच् रस्य लः । बहुपापः (मृगः) म० ३ । पशुतुल्यो नीचगामी जीवात्मा (कम्) प्रश्ने । मनुष्यम् (अगन्) अगच्छत् (जनयोपनः) जनमोहनः । अन्यद् गतम् ॥

२३—(पर्शुः) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । पर+शॄ हिंसायाम्—कु डित्, पृषोदरादित्वादकारलोपः । परेषां शत्रूणां नाशयित्री (ह) अवधारणे (नाम) प्रसिद्धौ (मानवी) अ० ३ । २४ । ३ । मनु—अण्,

ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों और इन के दस विषयों] को (साकम्) एक साथ (ससूव) उत्पन्न किया है। (भल) हे विचारवान् ! [आत्मा] (त्यस्यै) उस [माता] के लिये (भद्रम्) कल्याण (अभूत्) हुआ है, (यस्याः) जिस [माता] के (उदरम्) पेट को (आमयत्) उस [गर्भ] ने पीड़ा दी थी, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २३ ॥

भावार्थ—दस इन्द्रियां और उनके दस विषय, मनुष्य की उत्तम विभूति अर्थात् शक्ति से उत्तम होते हैं, इस लिये मनुष्य तपश्चरण से उत्तम विद्या प्राप्त करके सुख पावे; जैसे माता गर्भ का कष्ट सहकर उत्तम सन्तान उत्पन्न करके सुख पाती है ॥ २३ ॥

अथ कुन्तापसूक्तानि [१२७-१३६] ॥

सूक्तम् १२७ ॥

१—१४ ॥ प्रजापतिरिन्द्रो वा देवता ॥ १, २ पथ्या बृहती ; ३, ५, १२ निचृदनुष्टुप् ; ४, ७, ६—११, १३ अनुष्टुप् ; ६ भुरिगुष्णिक् ; ८ भुरिगनुष्टुप् ; १४ निचृत् पङ्क्तिः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते । षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे ॥ १ ॥

इदम् । जनाः । उप । श्रुत । नराशंसः । स्तविष्यते ॥ षष्टिम् । सहस्रा । नवतिम् । च । कौरम । आ । रुशमेषु । दद्महे ॥१॥

ङीप् । मनोर्मनुष्यस्येयं विभूतिः (साकम्) सह (ससूव) ससूवेति निगमे । पा० ७ । ४ । ७४ । इति सूतेर्लिटि रूपम् । सुषुवे । जनयामास (विंशतिम्) दशेन्द्रियाणि दश तेषां विषयान् च (भद्रम्) कल्याणम् (भल) भल बधे दाने निरूपणे च—अच् । हे निरूपकात्मन् (त्यस्यै) तस्यै । जनन्यै (अभूत्) (यस्याः) जनन्याः (उदरम्) गर्भाशयम् (आमयत्) अम पीडने । पीडितवान् स गर्भः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

[सूचना—सूक्त १३६ के मन्त्र १ तथा ४ को छोड़कर, यह कुन्तापसूक्त १२७—१३६ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं हैं। हम स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द कृत पद सूची से पद पाठ को संग्रह करके और कुछ शोधकर लिखते हैं। आगे सूचना अथर्व० २० । ३४ । १२, १६, १७; ४८ । १—३ ; ४६ । १—३ भी देखो ॥]

भाषार्थ—(जनाः) हे मनुष्यो ! (इदम्) यह (उप) आदर से (श्रुत) सुनो, [कि] (नराशंसः) मनुष्यों में प्रशंसा वाला पुरुष (स्तविष्यते) बड़ाई किया जावेगा। (कौरम) हे पृथिवी पर रमण करने वाले राजन् ! (षष्टिम् सहस्रा) साठ सहस्रा (च) और (नवतिम्) नब्बे [अर्थात् अनेक दानों] को (रुशमेषु) हिंसकों के फैंकने वाले वीरों के बीच (आ ददहे) हम पाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—उत्तम कर्म करने वाला मनुष्य संसार में सदा बड़ाई पाता है, यह विचार कर राजा कर्मकुशल वीरों के बीच आदर कर के सुपात्रों को अनेक दान देवे ॥ १ ॥

(कुन्तापसूक्तानि) का अर्थ पाप वा दुख के भस्म करने वाले सूक्त अर्थात् वेद मन्त्रों के समुदाय है ॥

उष्ट्रा॒ यस्य॑ प्रवा॒हणो॑ व॒धूम॑न्तो द्वि॒र्दश॑ । व॒र्ष्मा रथ॑स्य॒ नि जि॑हीडते दि॒व ई॒षमा॑णा उप॒स्पृश॑ः ॥ २ ॥

उष्ट्रा॑ः । यस्य॑ । प्र॒वा॒हण॑ः । व॒धूम॑न्तः । द्वि॒र्दश॑ ॥ व॒र्ष्मा ।

[कुन्तापसूक्तानि—कुङ् आर्तस्वरे—डुप्रत्ययः + तप दाहे—घञ्, अलुक्-समासः + सु + वच कथने—क्त। कोः पापस्य दुःखस्य तापकानि दाहकानि सूक्तानि सुन्दरकथनानि वेदमन्त्रसमुदायाः—इत्यर्थः] ॥

१—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (जनाः) हे मनुष्याः (उप) आदरे (श्रुत) शृणुत (नराशंसः) अथ० ५ । २७ । ३ । नरेषु आशंसा यस्य सः । मनुष्येषु प्रशंसनीयः (स्तविष्यते) स्तुत्यो भविष्यति (षष्टिं सहस्रा नवतिं च) बहुसंख्याकानि दानानि—इत्यर्थः (कौरम) कौ + रमु क्रीडायाम्—अच् , अलुक्समासः । हे कौ पृथिव्यां रमणशील राजन् (रुशमेषु) अथ० २० । २० । २ । रुशमाणां हिंसकानां प्रक्षेपकेषु वीरेषु (आ ददहे) वयं गृह्णीमः ॥

रथस्य । नि । जिहीडते । दिवः । ईषमाणाः । उपस्पृशः २॥

एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः ।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥ ३ ॥

एषः । इषाय । मामहे । शतम् । निष्कान् । दश । स्रजः ॥
त्रीणि । शतानि । अर्वताम् । सहस्रा । दश । गोनाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [राजा] के (रथस्य) रथ के (प्रवाहणः) ले चलने वाले, (ईषमाणाः) शीघ्र गामी, (उपस्पृशः) जुते हुये, (वधूमन्तः) ऊंटनियों सहित, (द्विर्दश) दो बार दस (उष्ट्राः) ऊंट (दिवः) उन्मत्त मनुष्य के (वर्ष्मा=वर्ष्माणम्) ऊंचे पद का (नि जिहीडते) अपमान करते रहते हैं ॥ २ ॥ (एषः) उस [राजा] ने (इषाय) उद्योगी पुरुष को (शतम्) सौ (निष्कान्) दीनारें [सुवर्ण मुद्रा], (दश) दस (स्रजः) मालायें, (अर्वताम् त्रीणि शतानि) तीन सौ घोड़े और (गोनाम् दश सहस्रा) दस सहस्र गौयें (मामहे) दान दी हैं ॥ ३ ॥

२—(उष्ट्राः) उषिकुशिभ्यां कित् । उ० ४ । १६२ । उष दाहे, वधे च—ष्ट्रन् कित् । पशुभेदाः (यस्य) राज्ञः (प्रवाहणः) वह प्रापणे—णिच्, कनिन् वाहकाः (वधूमन्तः) उष्ट्रीसहिताः (द्विर्दश) द्विवारं दश । विंशतिम् (वर्ष्मा) अ० ३ । ४ । २ । वृष प्रजननैश्वर्ययोः—मनिन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । द्वितीयास्थाने सुः । वर्ष्माणम् । उच्चपदम् (रथस्य) यानस्य (नि) नितराम् (जिहीडते) अ० ४ । ३२ । ५ । हेडृ अनादरे क्रोधे च तिरस्कुर्वन्ति (दिवः) दिवु मदे—क्विप् । उन्मत्तस्य (ईषमाणाः) ईष गतौ—शानच् । शीघ्रगामिनः (उपस्पृशः) उपस्पृष्टाः । योजिताः ॥

३—(एषः) स राजा (इषाय) इष गतौ—क । उद्योगिने पुरुषाय (मामहे) मंहतेर्दानकर्मा—निघ० ३ । २० । ददौ (शतम्) (निष्कान्) निश्चयेन कायति । निस् + कै शब्दे—क । यद्वा, नौ सदेर्डिच्च । उ० ३ । ४५ । षद्लृ गतिविशरणयोः—कन्, स च डित् । दीनारान् । सुवर्णमुद्राः (दश) (स्रजः) सृज विसर्गे—क्विन् । मालाः (त्रीणि) (शतानि) (अर्वताम्) अश्वानाम् (सहस्रा) सहस्राणि (दश) (गोनाम्) गवाम् । धेनूनाम् ॥

भावार्थ—राजा बीसहों ऊंट ऊंटनी आदि को रथ आदि में जोतकर अनेक उद्यम करे करावे और उद्योगी लोगों को बहुत से उचित पारितोषिक देवे ॥ २, ३ ॥

वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्के शकुनः ।

नष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥ ४ ॥

वच्यस्व । रेभ । वच्यस्व । वृक्षे । न । पक्के । शकुनः ॥ नष्टे । जिह्वा । चर्चरीति । क्षुरः । न । भुरिजोः । इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(रेभ) हे विद्वान् ! (वच्यस्व) उपदेश कर, (वच्यस्व) उपदेश कर, (न) जैसे (शकुनः) पक्षी (पक्के) फल वाले (वृक्षे) वृक्ष पर [चह चहाता है] । (नष्टे) दुःख व्यापने पर (भुरिजोः) दोनों धारण पोषण करने वाले [स्त्री पुरुष] की (इव) ही (जिह्वा) जीभ (चर्चरीति) चलती रहती है, (न) जैसे (क्षुरः) छुरा [केशों पर चलता है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुष प्रसन्न होकर सन्तान आदि को सदा सदुपदेश करें, जैसे फलवाले वृक्ष पर पक्षी प्रसन्न होकर बोलते हैं, और सदुपदेश द्वारा क्लेशों को इस प्रकार काटें, जैसे नापित केशों को छुरा से काट डालता है ॥ ४ ॥

प्र रेभासो मनीषा वृषा गाव इवेरते ।

अमोतपुत्रका एषाममोत गा इवासते ॥ ५ ॥

प्र । रेभासः । मनीषाः । वृषाः । गावः-इव । ईरते ॥ अमोत ।

४—(वच्यस्व) ब्रवीतेर्यक् । ब्रूहि । उपदिश (रेभ) स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । हे विद्वन् (वच्यस्व) (वृक्षे) (न) यथा (पक्के) फलयुक्ते (शकुनः) अथ० ६ । २७ । २ । शक्लृ शक्तौ—उन । शक्तः । पक्षी (नष्टे) नशतू, व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । व्याप्ते दुःखे (जिह्वा) वाणी (चर्चरीति) भृशं चरति (क्षुरः) क्षुर विलेखने-क । नापितास्त्रम् (न) यथा (भुरिजोः) भुज उ० २ । ७२ । डुभृञ् धारणपोषणयोः—इजि कित्, उकारान्तादेशः । धारकपोषकयोः स्त्रीपुरुषयोः (इव) एव ॥

पुत्रकाः । एषाम् । अमोत । गाः-इव । आसते ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वृषाः) बलवान् (गावः इव) बैलों के समान (रेभासः) विद्वान् लोग (मनीषाः) बुद्धियों को (प्र ईरते) आगे बढ़ाते हैं। (अमोत) हे बन्धन रहित ! (अमोत) हे मुक्त मनुष्य ! (एषाम्) इन [विद्वानों] के (पुत्रकाः) पुत्र (गाः) विद्याओं और भूमियों को (इव) अवश्य (आसते) सेवते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् बैल आगे बढ़ते जाते हैं, मनुष्य विघ्नों से मुक्त होकर बुद्धि को अनेक प्रकार बढ़ावें और सन्तान आदि को योग्य विद्वान् और राज्याधिकारी बनावें ॥ ५ ॥

प्र रेभ धीं भरस्व गोविदं वसुविदम् ।
देवत्रेमां वाचं श्रीणीहीषुर्नावीरस्तारम् ॥ ६ ॥

प्र । रेभ । धीम् । भरस्व । गोविदम् । वसुविदम् ॥ देव-त्रा । इमाम् । वाचम् । श्रीणीहि । इषुः । न । अवीः । अस्तारम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(रेभ) हे विद्वान् ! (गोविदम्) भूमि प्राप्त कराने वाली और (वसुविदम्) धन प्राप्त कराने वाली (धीम्) बुद्धि को (प्र) अच्छे प्रकार से (भरस्व) धारण कर। (देवत्रा) विद्वानों के बीच (इमाम्) इस [पूर्वोक्त] (वाचम्) वाणी को (श्रीणीहि) पक्की कर, (इषुः न) जैसे तीर (अवीः)

५—(प्र) प्रकर्षेण (रेभासः) विद्वांसः (मनीषाः) बुद्धीः (वृषाः) बलवन्तः (गावः) वृषभाः (इव) यथा (ईरते) गमयन्ति (अमोत) मूङ् बन्धने—क्त, छान्दसो गुणः। हे अमूत । अबद्ध । मुक्त (पुत्रकाः) पुत्राः । सन्तानाः (एषाम्) पूर्वोक्तानाम् (अमोत) (गाः) विद्याः । भूमीः (इव) एव (आसते) उपासते । सेवन्ते ॥

६—(प्र) प्रकर्षेण (रेभ) विद्वन् (धीम्) प्रज्ञाम् (भरस्व) धरस्व (गोविदम्) भूमिप्रापिकाम् (वसुविदम्) धनप्रापिकाम् (देवत्रा) विद्वत्सु (इमाम्) पूर्वोक्ताम् (वाचम्) वाणीम् (श्रीणीहि) परिपक्वां दृढां कुरु (इषुः) बाणः (न) यथा (अवीः) अव प्रवेशे—इन् । प्रवेशशीलि लक्ष्याणि (अस्तारम्)

प्रवेश योग्य लक्ष्यों को (अस्तारम्) तीर चलाने वाले के लिये [पक्का करता है] ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों में बैठकर निश्चय करे कि राज्य और धन की प्राप्ति के लिये यत्न सुफल होवें, जैसे चतुर धनुर्धारी का बाण लक्ष्य पर ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोमर्त्याँ अति ।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥ ७ ॥
राज्ञः । विश्वजनीनस्य । यः । देवः । मर्त्यान् । अति ॥
वैश्वानरस्य । सुष्टुतिम् । आ । सुनोत । परिक्षितः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) देव [विजय चाहने वाला पुरुष] (मर्त्यान् अति) मनुष्यों में बढ़कर [गुणी है], (विश्वजनीनस्य) सब लोगों के हितकारी, (वैश्वानरस्य) सब के नेता, (परिक्षितः) सब प्रकार ऐश्वर्य वाले (राज्ञः) उस राजा की (सुष्टुतिम्) उत्तम स्तुति को (आ) भले प्रकार (सुनोत) मथो ॥ ७ ॥

भावार्थ—सर्वहितकारी पुरुष से सब मनुष्य उत्तम गुणों का ग्रहण करें ॥ ७ ॥

परिच्छिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन् ।
कुलायन् कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥ ८ ॥
परिच्छिन्नः । क्षेमम् । अकरोत् । तमः । आसनम् । आचरन् ।
कुलायन् । कृण्वन् । कौरव्यः । पतिः । वदति । जायया ॥८

शरप्रक्षेप्तारम् ॥

७—(राज्ञः) तस्य शासकस्य (विश्वजनीनस्य) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः । पा० ५ । १ । ६ । विश्वजन-खप्रत्ययः । सर्वजनेभ्यो हितस्य (यः) (देवः) विजिगीषुः (मर्त्यान्) मनुष्यान् (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य श्रेष्ठगुणैः—वर्तते (वैश्वानरस्य) सर्वनायकस्य (सुष्टुतिम्) कल्याणीं स्तुतिम् (आ) समन्तात् (सुनोत) मथ्यत्वम् (परिक्षितः) क्षि ऐश्वर्ये-क्विप्, तुक् । सर्वत ऐश्वर्य युक्तस्य ॥

भाषार्थ—(तमः) अन्धकार (परिच्छिन्नः) काट डालने वाले [राजा] ने (आसनम्) आसन (आचरन्) ग्रहण करते हुये (क्षेमम्) आनन्द (अकरोत्) करदिया है—[यह बात] (कुलायन्) घरों को (कृण्वन्) बनाता हुआ (कौरव्यः) कार्य करताओं का राजा (पतिः) पति [गृहस्थ] (जायया) अपनी पत्नी से (वदति) कहता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—न्यायकारी प्रजापालक राजा की चर्चा गृहपति लोग अपनी अपनी स्त्रियों से कहते हैं ॥ ८ ॥

कुतुरत् त आ हंराणि दधि मन्थां परि श्रुतंम् ।
जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ ९ ॥

कुतुरत् । ते । आ । हंराणि । दधि । मन्थाम् । परि । श्रुतम् ॥ जायाः । पतिम् । वि । पृच्छति । राष्ट्रे । राज्ञः । परिक्षितः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(कतरत्) कौन वस्तु (ते) तेरे लिये (परि) सुधारकर (आ हराणि) मैं लाऊं, (दधि) दही, (मन्थाम्) निर्जल मठा, [वा] (श्रुतम्) नोनी माखन आदि—[यह बात] (जायाः) पत्नी (पतिम्) पति से (परिक्षितः)

८—(परिच्छिन्नः) कर्तरि क्तः । परिच्छेदकः । सर्वतो नाशकः (क्षेमम्) आनन्दम् (अकरोत्) कृतवान् (तमः) अन्धकारम् (आसनम्) सिंहासनम् (आचरन्) स्वीकुर्वन् । गृह्णन् (कुलायन्) ह्रस्वश्छान्दसः । कुलायान् । स्थानानि । गृहाणि (कृण्वन्) कुर्वन् । रचयन् (कौरव्यः) कुम्रोरुच्च । उ० १ । २४ । डुकृञ् करणे-कु, उकारश्च । कुर्वादिभ्यो ण्यः । पा० ४ । १ । १७२ । कुरु—ण्य । कुरूणां कार्यकर्तॄणां राजा । गृहपतिः (पतिः) भर्ता (वदति) (जायया) पत्न्या ॥

९—(कतरत्) किं वस्तु (ते) तुभ्यम् (आ हराणि) आनयानि (दधि) (मन्थाम्) मथ्यते विलोड्यते, मन्थ विलोडने—घञ् टाप् । मथितम् । निर्जलतक्रम् (परि) परिभूष्य (श्रुतम्) स्रु गतौ क्षरणे च—क्त,सस्य शः । स्रुतम् । क्षरितं नवनीतादिकम् (जायाः) एकवचनस्य बहुवचनम् । पत्नी

सब प्रकार ऐश्वर्य वाले (राज्ञः) राजा के (राष्ट्रे) राज्य में (वि) विविध प्रकार (पृच्छति) पूछती है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सुनीति वाले राजा के राज्य में दूध, दही घृत आदि पदार्थ बहुतायत से पाकर लोग सुखी होते हैं ॥ ९ ॥

अभीवस्वः प्र जिहीते यवः पक्वः पथो बिलम् ।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ १० ॥
अभीवस्वः । प्र । जिहीते । यवः । पक्वः । पथः । बिलम् ॥
जनः । सः । भद्रम् । एधति । राष्ट्रे । राज्ञः । परिक्षितः ॥१०॥

भाषार्थ—(अभीवस्वः) सब ओर से बसाने वाला, (पक्वः) पका हुआ (यवः) जौ आदि अन्न (पथः) मार्ग से (बिलम्) गढ़े [खत्ती आदि] को (प्र) भले प्रकार (जिहीते) पहुंचता है । (सः जनः) वह मनुष्य (परिक्षितः) सब प्रकार ऐश्वर्य वाले (राज्ञः) राजा के (राष्ट्रे) राज्य में (भद्रम्) आनन्द (एधति) बढ़ाता है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा के सुप्रबन्ध से किसान आदि धनवान् लोग अन्न को पकजाने पर यथाविधि एकत्र करके खत्ती आदि में भरें और आवश्यकता पर काम में लाकर सुखी होवें ॥ १० ॥

इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।
ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत् ते पृणादरिः ॥ ११ ॥

(पतिम्) भर्तारम् (वि) विविधम् (पृच्छति) ज्ञातुमिच्छति (राष्ट्रे) राज्ये (राज्ञः) शासकस्य (परीक्षितः) म० ७ । सर्वत ऐश्वर्ययुक्तस्य ॥

१०—(अभीवस्वः) कृगॄशॄदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । अभि+वस निवासे—वप्रत्ययः, छान्दसो दीर्घः । सर्वतो वासयिता (प्र) प्रकर्षेण (जिहीते) ओहाङ् गतौ । गच्छति । प्राप्नोति (यवः) यवादिभक्ष्यपदार्थः (पक्वः) पाकं गतः (पथः) मार्गात् (बिलम्) छिद्रम् । अन्नधारणगर्तम् (जनः) मनुष्यः, (सः) (भद्रम्) आनन्दम् (एधति) एधयति । वर्धयति । अन्यद् गतम्—म० ७ ॥

इन्द्रः । कारुम् । अबूबुधत् । उत्ऽतिष्ठ । वि । चर । जनम् ॥ मम । इत् । उग्रस्य । चर्कृधि । सर्वः । इत् । ते । पृणात् । अरिः ॥११

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] ने (कारुम्) काम करने वाले को (अबूबुधत्) जगाया है-(उतिष्ठ) उठ और (जनम्) लोगों में (वि चर) विचर, (मम इत् उग्रस्य) मुझ ही तेजस्वी की [भक्ति] (चर्कृधि) तू करता रहे, (सर्वः) प्रत्येक (अरिः) बैरी (इत्) भी (ते) तेरी (पृणात्) तृप्ति करे ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा के प्रबन्ध से मनुष्य उद्यमी होकर आपस में विचारें और राज भक्त होकर चोर आदि प्रजा के शत्रुओं को वश में करें ॥११॥

इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति ॥ १२ ॥

इह । गावः । प्रजायध्वम् । इह । अश्वाः । इह । पुरुषाः ॥ इहो । सहस्रऽदक्षिणः । अपि । पूषा । नि । सीदति ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(गावः) हे गौओं ! तुम (इह) यहां पर [इस घर में], (अश्वाः) हे घोड़ो ! तुम (इह) यहां पर (पुरुषाः) हे पुरुषो ! तुम (इह) यहां पर (प्रजायध्वम्) बढ़ो, (इहो) यहां पर (सहस्रदक्षिणः) सहस्रों की दक्षिणा देने वाला (पूषा) पोषक [गृहपति] (अपि) भी (नि षीदति) बैठता है ॥ १२ ॥

११—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (कारुम्) कार्यकर्तारम् (अबूबधत्) प्रबोधितवान् (उत्तिष्ठ) (वि) विविधम् (चर) गच्छ (जनम्) मनुष्यसमूहम् (मम) (इत्) एव (उग्रस्य) तेजस्विनः (चर्कृधि करोतेः—यङ्लुकि रूपम् । भृशं भक्तिं कुरु (सर्वः) प्रत्येकः (इत्) (ते) तव (पृणात्) पृण प्रीणने । तृप्तिं कुर्यात् (अरिः) शत्रुः ॥

१२—(इह) अस्मिन् गृहे (गावः) हे धेनवः (प्रजायध्वम्) प्रवर्धध्वम् (इह) (अश्वाः) हे तुरंगाः (इह) (पूरुषाः) हे मनुष्याः (इहो) इह—उ । अत्रैव (सहस्रदक्षिणः) बहुदानस्वभावः (अपि) (पूषा) पोषको गृहपतिः (नि षीदति) उपविशति ॥

भावार्थ—उत्तम राजा के प्रबन्ध से गृहस्थ लोग गौओं, घोड़ों और मनुष्यों से वृद्धि करके परस्पर उपकार करें ॥१२॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में उद्धृत है ॥

नेमा इ॑न्द्र॒ गावो॑ रिषन् मो आ॒सां गोप॑ रीरिषत् ।
मासा॑म॒मित्र॒युर्जन॒ इन्द्र॒ मा स्ते॒न ई॑शत ॥ १३ ॥

न । इ॒माः । इ॑न्द्र॒ । गाव॑ः । रिषन् । मो इति॑ । आ॒साम् । गोप॑ । रीरिषत् ॥ मा । आ॒सा॑म् । अ॒मि॒त्र॒युः । जन॑ः । इन्द्र॒ । मा । स्ते॒नः । ईश॑त ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (इमाः) यह (गावः) भूमियें (न रिषन्) न नष्ट होवें और (आसाम्) इन का (गोप) रक्षक (मो रीरिषत्) नहीं नष्ट होवे । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [राजन्) (मा) न तो (अमित्रयुः) बैरियों को चाहने वाला (जनः) नीच मनुष्य, और (मा) न (स्तेनः) चोर (आसाम्) इन [भूमियों] का (ईशत) राजा होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा डाकू चोर आदि से खेती आदि भूमियों की रक्षा करके प्रजा को पाले ॥ १३ ॥

उप॑ नो न रमसि सू॒क्तेन॒ वच॑सा व॒यं भ॒द्रेण॒ वच॑सा व॒यम् ।
वना॑दधिध्व॒नो गि॒रो न रि॑ष्येम क॒दा च॒न ॥ १४ ॥

उप॑ । न॒ः । न । रम॒सि॒ । सू॒क्तेन॒ । वच॑सा । व॒यम् । भ॒द्रेण॒ ।

१३—(न) निषेधे (इमाः) दृश्यमानाः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (गावः) कृष्यादिभूमयः (रिषन्) नश्यन्तु (मो) निषेधे (आसाम्) गवां भूमीनाम् (गोप) गुपू रक्षणे—अच् । आयादय आर्धधातुके वा । पा० ३ । १ ३१ । आयलोपः । विभक्तेर्लुक् । गोपः । रक्षकः (रीरिषत्) रिष हिंसायाम्, एयन्ताद् माङि लुङि चङि रूपं कर्मण्यर्थे । नश्येत् (मा) निषेधे (आसाम्) (अमित्रयुः) अमित्र-क्यच्, उप्रत्ययः । शत्रून् कामयमानः (जनः) पामरलोकः (इन्द्र) (मा) (स्तेनः) चोरः (ईशत्) राजा भवेत् ॥

वच॑सा । व॒यम् ॥ वनात् । अ॒धिध्व॒नः । गिरः । न । रि॒ष्येम । क॒दा । च॒न । ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (नः) हम को (न) अब (उप) आदर से (रमसि) तू आनन्द देता है, (सूक्तेन) वेदोक्त (वचसा) वचन के साथ (वयम्) हम, (भद्रेण) कल्याण कारी (वचसा) वचन के साथ (वयम्) हम (वनात्) क्लेश से अलग होकर (अधिध्वनः) ऊंची ध्वनि वाली (गिरः) वाणियों को (कदा चन) कभी भी (न) न (रिष्येम) नष्ट करें ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा परस्पर उपकार करके दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ संसार में सुख बढ़ावें ॥ १४

सूक्तम् १२८ ॥

१—१६ ॥ प्रजापतिरिन्द्रो वा देवता ॥ १—३, ७, १०, १२ निचृदनुष्टुप्; ४, ८, ६, १४ अनुष्टुप्; ५ आर्ष्यनुष्टुप; ६, १६ भुरिगनुष्टुप; ११, १३ विराडार्ष्यनुष्टुप्; १५ विराडनुष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

यः स॒भेयो॑ विद॒थ्य॑: सु॒त्वा य॒ज्वाथ॒ पूरु॑षः ।
सूर्यं॒ चामू॑ रि॒शाद॑स॒स्तद्दे॒वाः प्रागक॑ल्पयन् ॥ १ ॥

यः । स॒भेयः॑ । वि॒द॒थ्य॑: । सु॒त्वा । य॒ज्वा । अथ॑ । पूरु॑षः ॥ सूर्य॑म् । च॒ । अ॒मू । रि॒शाद॑सः । तत् । दे॒वाः । प्राक् । अ॒क॒ल्प॒य॒न् ॥ १ ॥

[सूचना—पदपाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

१४—(उप) पूजायाम् (नः) अस्मान् (न) सम्प्रति (रमसि) रमयसि । आनन्दयसि (सूक्तेन) वेदविहितेन (वचसा) वचनेन (वयम्) प्रजाजनाः (भद्रेण) कल्याणकरेण (वचसा) (वयम्) (वनात्) वन उपतापे—अच् । क्लेशात् पृथग्भूय (अधिध्वनः) ध्वन शब्दे—क्विप् । उच्चध्वनियुक्ताः (गिरः) वाणीः (न) निषेधे (रिष्येम) नाशयेम (कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि ॥

भाषार्थ—(यः) जो (सभेयः) सभ्य [सभाओं में चतुर], (विदथ्यः) विद्वानों में प्रशंसनीय, (सुत्वा) तत्त्व रस निकालने वाला (अथ) और (यज्वा) मिलनसार (पुरुषः) पुरुष है। (अमू) उस (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रतापी] को (च) निश्चय करके (तत्) तब (रिशादसः) हिंसकों के नाश करने वाले (देवाः) विद्वानों ने (प्राक्) पहिले [ऊंचे स्थान पर] (अकल्पयन्) माना है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब में चतुर मनुष्य को सभापति बनाकर प्रजा की रक्षा करें ॥ १ ॥

यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति ।

ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति ॥ २ ॥

यः । जाम्याः । अप्रथयः । तत् । यत् । सखायम् । दुधूर्षति ॥

ज्येष्ठः । यत् । अप्रचेताः । तत् । आहुः । अधराक् । इति ॥ २

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य, (जाम्याः) कुल स्त्री को (अप्रथयः) गिराता है, (तत्) वह पुरुष, और (यत्) जो (सखायम्) मित्र को (दुधूर्षति) मारना चाहता है, और (यत्) जो (ज्येष्ठः) अति वृद्ध होकर (अप्र-

---

१—(यः) (सभेयः) ढश्छन्दसि । पा० ४ । ४ । १०६ । सभा- ढप्रत्ययः । सभासु साधुः । सभ्यः (विदथ्यः) तत्र साधुः पा० ४ । ४ । ९८ । विदथ—यत् । विद्वत्सु साधुः (सुत्वा) सुयजोर्ङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । षुञ् अभिषवे—ङ्वनिप् । सोमस्य तत्त्वरसस्य सोता (यज्वा) यज—ङ्वनिप् पूर्वसूत्रेण । यष्टा । संगन्ता (अथ) समुच्चये (पूरुषः) पुरुषः (सूर्यम्) सूर्यवत् प्रतापिनम् (च) अवधारणे (अमू) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । एकवचनस्य द्विवचनम् । अमुम् (रिशादसः) अ० २ । २८ । २ । रिश हिंसायाम्+क+अद भक्षणे—असुन् । हिंसकानां भक्षका नाशकाः (तत्) तदा (देवाः) विद्वांसः (प्राक्) पूर्वम् । अग्रम् (अकल्पयन्) कल्पितवन्तः ॥

२—(यः) पुरुषः (जाम्याः) अथ० २ । ७ । २ । द्वितीयार्थे षष्ठी । जामिम् । कुलस्त्रियम् (अप्रथयः) पृथ प्रक्षेपे । प्रक्षिपति । अधोगमयति (तत्) सः (यत्) यः (सखायम्) (दुधूर्षति) धुर्वी हिंसायाम्—सन् ।

चेताः) अज्ञानी है, (तत्) वह (अधराक्) अधोगामी है—(इति) ऐसा (आहुः) वे लोग कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सती स्त्री को पाप में लगावे, मित्रघाती हो और वयोवृद्ध होकर भी अज्ञानी हो, वह विद्वानों में नीच गति पाता है ॥ २ ॥

यद् भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः ।
तद् विप्रो अब्रवीदु तद् गन्धर्वः काम्यं वचः ॥ ३ ॥

यत् । भद्रस्य । पुरुषस्य । पुत्रः । भवति । दाधृषिः ॥ तत् । विप्रः । अब्रवीत् । ऊं इति । तत् । गन्धर्वः । काम्यम् । वचः ॥३

यश्च पणि रघुजिष्ठ्यो यश्च देवाँ अदाशुरिः ।
धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ॥ ४ ॥

यः । च । पणि । रघुजिष्ठ्यः । यः । च । देवान् । अदाशुरिः ॥ धीराणाम् । शश्वताम् । अहम् । तत् । अपाक् । इति । शुश्रुम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (भद्रस्य) श्रेष्ठ (पुरुषस्य) पुरुष का (पुत्रः) पुत्र (दाधृषिः) ढीठ (भवति) हो जावे, (तत्) तब (विप्रः) बुद्धिमान् (गन्धर्वः) विद्या के धारण करने वाले पुरुष ने (उ) निश्चय करके (तत्) यह (काम्यम्) मनोहर (वचः) वचन (अब्रवीत्) कहा है [कि] ॥ ३ ॥—

हन्तुमिच्छति (ज्येष्ठः) अतिवृद्धः सन् (यत्) यः (अप्रचेताः) अपण्डितः (तत्) सः (आहुः) कथयन्ति ते विद्वांसः (अधराक्) अधोगामी भवति (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

३—(यत्) यदा (भद्रस्य) श्रेष्ठस्य (पुरुषस्य) (पुत्रः) (भवति) (दाधृषिः) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । ञिधृषा प्रागल्भ्ये—किन्, धृष्टः । प्रगल्भः । निर्लज्जः (तत्) तदा (विप्रः) मेधावी (अब्रवीत्) (उ) अवधारणे (तत्) इदम् (गन्धर्वः) अ० २ । १ । २ । गो+धृञ् धारणे—घप्रत्ययः, गोशब्दस्य गमादेशः । विद्याधारकः (काम्यम्) मनोहरम् (वचः) वचनम् ॥

(यः) जो मनुष्य (पणि) कुव्यवहारी (रघुजिष्ठ्यः) अत्यन्त हलका है, (च च) और (यः) जो (देवान्) विद्वानों को (अदाशुरिः) नहीं दान देने वाला है, (तत्) वह (शश्वताम्) सब (धीराणाम्) धीर पुरुषों में (अपाक्) दूर रहने योग्य है—(इति) ऐसा (अहम्) हम ने (शुश्रुम) सुना है ॥४

भावार्थ—विद्वानों को प्रयत्न करना चाहिये कि उन के सन्तान विद्वान् होकर विद्वानों से मिलकर रहें ॥ ३, ४ ॥

ये च॑ दे॒वा अय॑ज॒न्ताथो॒ ये च॑ परा॒ददिः॑ ।

सूर्यो॒ दिव॑मिव ग॒त्वाय॑ म॒घवा॑ नो॒ वि र॑प्शते ॥ ५ ॥

ये । च॑ । दे॒वाः । अय॑जन्त । अथो॒ इति॑ । ये । च॑ । परा॒ऽददिः॥

सूर्यः॑ । दिव॑म्ऽइव । ग॒त्वाय॑ । म॒घवा॑ । नः॒ । वि । र॒प्श॒ते॥५

भाषार्थ—(ये) जिन (देवाः) विद्वानों ने (अयजन्त) मेल किया है, (अथो च च) और (ये) जो (परादद्दिः) शत्रुओं के पकड़ने वाले हैं। (सूर्यः) सूर्य (दिवम् इव) जैसे आकाश को (गत्वाय) प्राप्त होकर, [वैसे ही] (मघवा) महाधनी [सभापति] (नः) उन हम को [प्राप्त होकर] (वि) विविध प्रकार (रप्शते) शोभित होता है ॥ ५ ॥

४—(यः) (च) (पणि) विभक्तेर्लुक्। पणिः। कुव्यवहारी (रघुजिष्ठ्यः) लघुज्येष्ठ्यः, छान्दसं रूपम्, लघु+ज्येष्ठ—भावे यत् । लघुषु निःसारेषु ज्येष्ठ्यम् अतिशयेन वर्धनं यस्य सः। अतिशयेन निःसारः (यः) (च) (देवान्) विदुषः प्रति (अदाशुरिः) अ+दाशृ दाने—उरिन् प्रत्ययः। अदानशीलः (धीराणाम्) बुद्धिमतां मध्ये (शश्वताम्) बहूनाम्। सर्वेषाम् (अहम्) बहुवचनस्यैकवचनम्। वयम् (तत्) सः (अपाक्) दूरे गमनीयः (इति) एवम् (शुश्रुम) वयं श्रुतवन्तः ॥

५—(ये) (अथो च च) समुच्चये (देवाः) विद्वांसः (अयजन्त) संगतिं कृतवन्तः (ये) (परादद्दिः) अथ० २० । ५६ । २ । बहुवचनस्यैकवचनम्। परादद्यः। पराणां शत्रूणामादातारो ग्रहीतारः (सूर्यः) (दिवम्) आकाशम् (इव) यथा (गत्वाय) ल्यप् छान्दसः। गत्वा। प्राप्य (मघवा) धनवान्। सभापतिः (नः) अस्मान् प्राप्य (वि) विविधम् (रप्शते) राजते—ऋग्वेदभाष्ये ४। ४५। १, दयानन्दसायणौ ॥

भावार्थ—सभ्य लोग और सभापति मिलकर संसार का उपकार करके शोभा बढ़ावें, जैसे सूर्य आकाश में चमक कर उपकार करता हुआ शोभित होता है ॥ ५ ॥

योऽनाक्ताक्षो अनभ्युक्तो अमणिवो अहिरण्यवः ।

अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ६ ॥

यः । अनाक्ताक्षः । अनभ्युक्तः । अमणिवः । अहिरण्यवः ॥

अब्रह्मा । ब्रह्मणः । पुत्रः । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्मा [वेदज्ञानी] का (पुत्रः) पुत्र (अब्रह्मा) अब्रह्मा [वेद न जानने वाला, कुमार्गी] (अनाक्ताक्षः) अशुद्ध व्यवहार वाला और (अनभ्यक्तः) अविख्यात है । वह (अमणिवः) मणियों [रत्नों] का न रखने वाला और (अहिरण्यवः) तेजहीन होवे, (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कोई ज्ञानी का सन्तान होकर कुमार्गी मूर्ख होवे, वह निर्धन होकर निस्तेज हो जाता है, यह बात वेदशास्त्र से सिद्ध है ॥ ६ ॥

य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः ।

सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ७ ॥

यः । आक्ताक्षः । सुभ्यक्तः । सुमणिः । सुहिरण्यवः ॥ सुब्रह्मा । ब्रह्मणः । पुत्रः । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ ७ ॥

६—(यः) सन्तानः (अनाक्ताक्षः) अन्+आ+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षण-कान्तिगतिषु—क्त । अशुद्धव्यवहारयुक्तः (अनभ्यक्तः) अन्+अभि+अञ्जू व्यक्तौ—क्त । अव्यक्तः । अविख्यातः । (अमणिवः) वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते । वा० पा० ५ । २ । १०९ वो मत्वर्थे । रत्नरहितः । निर्धनः (अहिरण्यवः) तेजोहीनः (अब्रह्मा) अवेदज्ञः (ब्रह्मणः) वेदज्ञस्य (पुत्रः) (तोता) ता+उ+ता । तान्येव तानि कर्माणि (कल्पेषु) शास्त्रविधानेषु (संमिता) प्रमाणितानि ॥

भाषार्थ— (यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्मा [वेदज्ञानी] का (पुत्रः) पुत्र (सुब्रह्मा) सुब्रह्मा [बड़ा वेदज्ञानी, सुमार्गी], (आक्ताक्षः) शुद्ध व्यवहार वाला और (सुभ्यक्तः) बड़ा विख्यात हो, वह (सुमणिः) बहुत मणियों [रत्नों] वाला और (सुहिरण्यवः) बड़ा तेजस्वी होवे, (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् का सन्तान विद्वान होने से ही संसार में प्रतिष्ठा पावे, यह वेद मत है ॥ ७ ॥

अप्रंपाणा चं वैशुन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः ।

अयंभ्या कुन्या कल्याणी तोता कल्पेषु सं॒मिता ॥ ८ ॥

अप्रंपाणा । चं । वैशुन्ता । रेवान् । अप्रतिदिश्ययः ॥ अयंऽभ्या । कुन्या । कल्याणी । तोता । कल्पेषु । सं॒मिता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (अप्रपाणा) बिना पनघट वाला (वेशन्ता) सरोवर है, [वैसे ही] (अप्रतिदिश्ययः) प्रतिदान का न करने वाला (रेवान्) धनवान् और (अयभ्या) मैथुन के अयोग्य [रोग आदि से पीड़ित, सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ] (कल्याणी) सुन्दर (कन्या) कन्या है, (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—बिना पनघट के जल से भरा सरोवर, बिना प्रतिदान के बड़ा धनी, और बिना सन्तान उत्पन्न करने के रूपवती स्त्री निष्फल हैं ॥ ८ ॥

७—(यः) सन्तानः (आक्ताक्षः) म० ६ । आ + अञ्जू—क्त । शुद्धव्यवहारयुक्तः (सुभ्यक्तः) म० ६ । सु + अभि + अञ्जू—क्त अकारलोपः । बहुविख्यातः (सुमणिः) बहुरत्नयुक्तः (सुहिरण्यवः) महातेजस्वी (सुब्रह्मा) महावेदज्ञः (ब्रह्मणः) वेदज्ञस्य । अन्यद् गतम् ॥

८—(अप्रपाणा) विभक्तेराकारः—पा० ७ । १ । ३६ । पानस्थानशून्यः (च) उपमार्थे (वेशन्ता) सरोवरः । तडागः (रेवान्) धनवान् (अप्रतिदिश्ययः) दिश दाने—क्यप् + या प्रापणे—ड । अप्रतिदानप्रापकः (अयभ्या) पोरदुपधात् । पा० ३ । १ । ९८ । यभ मैथुने—यत् । अमैथुनयोग्या । रोगादिवशात् सन्तानोत्पादने असमर्था (कन्या) (कल्याणी) सुन्दरी । अन्यद् गतम् ॥

सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्त्सुप्रतिदिश्ययः ।
सुयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ९ ॥

सुप्रपाणा । च । वेशन्ता । रेवान् । सुप्रतिदिश्ययः॥ सुयभ्या । कन्या । कल्याणी । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (सुप्रपाणा) अच्छे पनघट वाला (वेशन्ता) सरोवर है, [वैसे ही] (सुप्रतिदिश्ययः) सुन्दर प्रतिदान करने वाला (रेवान्) धनवान् और (सुयभ्या) अच्छे प्रार मैथुन योग्य [नीरोग होकर सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ] (कल्याणी)सुन्दर (कन्या) कन्या है, (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जल भरे सरोवर की उपयोगिता जल काम में आने से, धन की उचित व्यय करने से, और रूपवती स्त्री की वीर सन्तान उत्पन्न करने से होती है ॥ ९ ॥

परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः ।
अनाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥ १० ॥

परिवृक्ता । च । महिषी । स्वस्त्या । च । युधिंगमः ॥ अनाशुरः । च । आयामी । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ १० ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (परिवृक्ता) त्यागे हुये [कर्तव्य छोड़े हुये] (महिषी) पूजनीया गुणवती पत्नी, [वैसे ही] (स्वस्त्या) सुख के साथ

९—(सुप्रपाणा) शोभनपानस्थानोपेतः (च) उपमार्थे (वेशन्ता) तडागः (रेवान्) धनवान् (सुप्रतिदिश्ययः) म० ८ । योग्यप्रतिदानप्रापकः (सुयभ्या) म० ८ । सुमैथुनयोग्या । आरोग्यात् सन्तानोत्पादनसमर्था । अन्यद् गतम् ॥

१०—(परिवृक्ता) त्यक्ता । स्वकर्तव्यविरक्ता (च) उपमार्थे (महिषी) मह पूजायाम्—टिषच् ङीष् । पूजनीया गुणवती पत्नी (स्वस्त्या) सुखेन । अनायासेन (च) समुच्चये (युधिंगमः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । युध

[जीव चुराकर] (युधिंगमः) युद्ध से चल देने वाला, (च च) और (अनाशुरः) आलसी (आयामी) शासन करने वाला [नकम्मा है], (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—घर आदि कर्तव्य कर्म छोड़ने से गुणवती स्त्री, युद्ध से भागने से शूर, और आलस करने से शासक पुरुष निकम्मा है ॥ १० ॥

वा॒वा॒ता च॑ महि॒षी स्व॒स्त्या॑ च युधिं॒गमः॑ ।
श्वा॒शुर॑श्चाया॒मी तो॒ता कल्पे॑षु सं॒मिता॑ ॥ ११ ॥
वा॒वा॒ता । च॒ । म॒हि॒षी । स्व॒स्त्या । च । यु॒धिं॒गमः॑ ॥ श्वा॒शुरः॑ । च । आ॒या॒मी । तो॒ता । कल्पे॑षु । सं॒ऽमिता ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (वावाता) अति शीघ्रकारिणी (महिषी) पूजनीया पत्नी, [वैसे ही] (स्वस्त्या) सुख के साथ [धर्म समझकर] (युधिंगमः) युद्ध में जाने वाला (च च) और (श्वाशुरः) बड़ा वेगशील (आयामी) शासन करने वाला [सुखदायी है], (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—कर्तव्य में दक्षा स्त्री, हर्ष के साथ युद्ध को जाने वाला शूर और शीघ्र स्वभाव वाला राजा सुखदायी है ॥ ११ ॥

यदि॑न्द्रादो दा॑शरा॒ज्ञे मानु॑षं॒ वि गा॑हथाः ।

संप्रहारे—इन् कित्+गम्लृ गतौ—खच् मुम च । युधेर्युद्धाद् गमनशीलः पलायनशीलः (अनाशुरः) शावशेराप्तौ । उ० १ । ४४ । अन्+अशू व्याप्तौ—उरन्,स च णित् । अनाशुः । अशीघ्रः । आलस्यवान् (च) (आयामी) आ+यम वेष्टने नियमने णिच्—णिनि । आ समन्ताद् यामयति नियामयति प्रजागणान् । नियन्ता । शासकः । अन्यद् गतम् ॥

११—(वावाता) हसिमृग्रिण्वामदि० । उ० ३ । ८६ । वा गतिगन्धनयोः यङि तन् प्रत्ययः, टाप् । भृशं शीघ्रकारिणी (च) (महिषी) म० १० । पूजनीया पत्नी (स्वस्त्या) सुखेन । धर्मभावेन (च) (युधिंगमः) म० १० । युधौ युद्धे गमनशीलः शूरः (श्वाशुरः) म० १० । सु+आशुरः । सुष्ठु वेगवान् (च) (आयामी) म० १० । शासकः । अन्यद् गतम् ॥

विरूपः सर्वस्मा आसीत् सह यक्षाय कल्पते ॥ १२ ॥

यत् । इन्द्र । अदः । दाशराज्ञे । मानुषम् । वि । गाहथाः ॥ विरूपः । सर्वस्मै । आसीत् । सह । यक्षाय । कल्पते ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब, (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (दाशराज्ञे) दानपात्र सेवकों के राजा के लिये [अर्थात् अपने लिये] (अदः) उस [वेदोक्त] (मानुषम्) मनुष्य के कर्म को (वि गाहथाः) तू ने बिलो डाला है [गड़बड़ कर दिया है]। (सर्वस्मै) सब के लिये (विरूपः) वह दुष्ट रूप वाला व्यवहार (आसीत्) हुआ है। यह [मनुष्य] (यक्षाय) पूजनीय कर्म के लिये (सह) मिलकर (कल्पते) समर्थ होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेद मर्यादा को तोड़कर स्वार्थ के लिये सेवक आदि को सताता है, वह सब को कष्ट देता है, इस लिये मनुष्य सदा परोपकार करे ॥ १२ ॥

त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविः ।
त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः ॥ १३ ॥

त्वम् । वृषा । अक्षुम् । मघवन् । नम्रम् । मर्य । आऽअकरः । रविः ॥ त्वम् । रौहिणम् । विऽआस्यः । वि । वृत्रस्य । अभिनत् । शिरः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे धनवान् (मर्य) मनुष्य ! (त्वम्) तू ने

१२—(यत्) यदा (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (अदः) तत्। वेदोक्तम् (दाशराज्ञे) दाशृ दाने—घञ्। राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—कनिन्। दाशानां दानीयानां दानपात्राणां भृत्यानां स्वामिहिताय। स्वार्थाय (मानुषम्) मनु—अण् षुक् च। मनुष्यसम्बन्धि कर्म (वि गाहथाः) गाहू विलोडने—लुङ्, अडभावः। विलोडितवानसि (विरूपः) विकृतरूपो दुष्टरूपो व्यवहारः (सर्वस्मै) प्रत्येकप्राणिने (आसीत्) (सह) संयोगेन (यक्षाय) यक्ष पूजायाम्—घञ्। पूजनीयकर्मणे (कल्पते) कृपू सामर्थ्ये। समर्थो भवति ॥

१३—(त्वम्) (वृषा) बलवान् (अक्षुम्) अ० ६। ३। ८ अक्षू व्याप्ती-

(वृषा) बलवान् और (रविः) सूर्य [के समान प्रतापी] होकर (अतुम्) व्यापन शील [चतुर] (नम्रम्) नम्र [विनीत] पुरुष को (आकरः) आवाहन किया है। (त्वम्) तू ने (रौहिणम्) मेघ [के समान अन्धकार फैलाने वाले पुरुष] को (व्यास्यः) फैंक गिराया है और (वृत्रस्य) शत्रु के (शिरः) शिर को (वि अभिनत्) तोड़ दिया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—सभापति राजा सूर्य के समान प्रतापी होकर चतुर सुशिक्षित लोगों का आदर और दुष्ट शत्रुओं का नाश करे ॥ १३ ॥

यः पर्वतान् व्यदधाद्यो अपो व्यगाहथाः ।

इन्द्रो यो वृत्रहान्महं तस्मादिन्द्र नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥

यः । पर्वतान् । वि । अदधात् । यः । अपः । वि । अगाहथाः ॥ इन्द्रः । यः । वृत्रहा । आत् । महम् । तस्मात् । इन्द्र । नमः । अस्तु । ते ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] तू ने (पर्वतान्) पहाड़ों को (वि) विविध प्रकार (अदधात्) धारण किया है, (यः) जिस तू ने (अपः) जलों को (वि) विविध प्रकार (अगाहथाः) बिलोया है, (आत्) और (यः) जो (वृत्रहा) शत्रुनाशक है, (तस्मात्) इसी से, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ते) उस तुझ को

उप्रत्ययः । व्यापनशीलं प्रवीणम् (मघवन्) धनवन् (नम्रम्) विनीतं पुरुषम् (मर्य) हे मनुष्य (आकरः) आ—अकरः । आङ्+डुकृञ् आह्वाने—लुङ् । आहूतवानसि (रविः) सूर्यवत्प्रतापी सन् (त्वम्) (रौहिणम्) अथ० २० । ३४ । १३ । मेघमिवान्धकारकरं दुष्टम् (व्यास्यः) असु क्षेपे—लुङ् । प्रक्षिप्तवानसि (वि) पृथग्भावे (वृत्रस्य) शत्रुः (अभिनत्) अभिदः । भिन्नवानसि (शिरः) ॥

१४—(यः) पुरुषः (पर्वतान्) शैलान् (वि) विविधम् (अदधात्) अदधाः । धारितवानसि (यः) (अपः) जलानि (वि) (अगाहथाः) विलोडितवानसि (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (यः) (वृत्रहा) शत्रुनाशकः—असि (आत्) अनन्तरम् (महम्) महत् (तस्मात्) कारणात् (इन्द्र)

(महम्) बहुत (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पहाड़ों में मार्ग कर के नदी नाले निकाल कर प्रजा का उपकार करे, सब लोग उस का आदर करें ॥ १४ ॥

पृष्ठं धावन्तं हुर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन् ।
स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम् ॥ १५ ॥

पृष्ठम् । धावन्तम् । हर्योः । औच्चैःश्रवसम् । अब्रुवन् ॥
स्वस्ति । अश्व । जैत्राय । इन्द्रम् । आ । वह । सुस्रजम् ॥१५॥

भाषार्थ—(हर्योः) ले चलने वाले दोनों बल और पराक्रम के (पृष्ठम्) पीछे (धावन्तम्) दौड़ते हुये (औच्चैःश्रवसम्) उच्चैःश्रवा [बड़ी कीर्ति वाले वा ऊंचे कानों वाले घोड़े] से (अब्रुवन्) वे [चतुर लोग] बोले, (अश्व) हे घोड़े ! (स्वस्ति) कुशल से (जैत्राय) जीतने के लिये (सुस्रजम्) सुन्दर माला के समान सुन्दर सेना वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (आ वह) ले आ ॥ १५ ॥

भावार्थ—चतुर विद्वान् लोग श्रेष्ठ घोड़े आदि लाकर राजा को देवें, जिस से वह अपनी बड़ी सेना के साथ रण क्षेत्र में दुष्ट शत्रुओं को जीते ॥ १५ ॥

ये त्वा श्वेता अजैश्रवसो हार्यो युञ्जन्ति दक्षिणम् ।

(नमः) सत्कारः (अस्तु) (ते) तादृशाय तुभ्यम् ॥

१५—(पृष्ठम्) पृष्ठतः। अनुसरणेन (धावन्तम्) शीघ्रं गच्छन्तम् (हर्योः) हरणशीलयोर्बलपराक्रमयोः (औच्चैःश्रवसम्) उच्चैः+श्रु श्रवणे—असुन्) स्वार्थे अण्। औच्चैःश्रवसः अश्वनाम—निघ० १। १४। उच्चैर्महच्छ्रवो यशो यस्य, यद्वा, उन्नते श्रवसी कर्णौ यस्य तम्। बहुकीर्तिमन्तमुन्नतकर्णं वा घोटकम् (अब्रुवन्) अकथयन् ते विद्वांसः (स्वस्ति) कुशलेन (अश्व) हे घोटक (जैत्राय) जेतृ-अण्। जयाय (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (आ वह) आनय (सुस्रजम्) सृज विसर्गे—क्विन्। सुमालयेव सुसेनया युक्तम् ॥

पूर्वी नमस्य देवानां बिभ्रदिन्द्र महीयते ॥ १६ ॥

ये । त्वा । श्वेताः । अजैश्रवसः । हार्यः । युञ्जन्ति । दक्षिणम् ॥ पूर्वी । नमस्य । देवानाम् । बिभ्रत् । इन्द्र । महीयते १६

भाषार्थ—(नमस्य) हे नमस्कार योग्य (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ये) जो (श्वेताः) चांदी [आदि धन] वाले, (अजैश्रवसः) अजेय कीर्ति वाले (हार्यः) मनुष्य (दक्षिणम्) चतुर (त्वा) तुझ से (युञ्जन्ति) मिलते हैं, (देवानाम्) विद्वानों की (बिभ्रत्) पोषण करने वाले (पूर्वी) [उन की] पुरानी नीति (महीयते) पूजी जाती है ॥ १६ ॥

भावार्थ—चतुर राजा धनी विद्वान् मनुष्यों की सुनीति का सदा आदर करे ॥ १६ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१—२० ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १—५, ७, १०—१२, १४, १५, २० प्राजापत्या गायत्री; ६ । १६ याजुषी गायत्री; ८, ९ दैवी बृहती; १३ साम्नी गायत्री; १६, १७ याजुष्युष्णिक्; १८ याजुषी पङ्क्तिः ॥

मनुष्यप्रयत्नोपदेशः—मनुष्य के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

एता अश्वा आ प्लवन्ते ॥१॥ एताः । अश्वाः । आ । प्लवन्ते ॥ १

प्रतीपं प्राति सुत्वनम् ॥२॥ प्रतीपम् । प्राति । सुत्वनम् ॥२॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो]

१६—(ये) (त्वा) (श्वेताः) श्वेतं रूप्येऽपि रजतम्—अमरे २३ । ७९ । श्वेत—अर्श आद्यच् । श्वेतेन रजतादिधनेन युक्ताः (अजैश्रवसः) अजेयश्रवसः । अजेयकीर्तयः (हार्यः) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । हृञ् हरणे—इञ् । हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । हरयः । मनुष्याः (युञ्जन्ति) संयोजयन्ति (दक्षिणम्) दक्ष वृद्धौ—इनन् । दक्षम् । कार्यकुशलम् (पूर्वी) प्राचीना नीतिः (नमस्य) हे सत्करणीय (देवानाम्) विदुषाम् (बिभ्रत्) बिभ्रती । पोषणं कुर्वन्ती (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (महीयते) पूज्यते ॥

भाषार्थ—(एताः) यह (अश्वाः) व्यापक प्रजायें (प्रतीपम्) प्रत्यक्ष व्यापक (सुत्वनम् प्राति) ऐश्वर्य वाले [परमेश्वर] के लिये (आ) आकर (प्लवन्ते) चलती हैं ॥ १, २ ॥

भावार्थ—संसार के सब पदार्थ उत्पन्न होकर परमेश्वर की आज्ञा में वर्त्तमान हैं ॥ १, २ ॥

तासामेका हरिक्निका ॥३॥ तासाम् । एका । हरिक्निका ॥३॥
हरिक्निके किमिच्छसि ॥४॥ हरिक्निके । किम् । इच्छसि ॥४॥
साधुं पुत्रं हिरण्ययम् ॥५॥ साधुम् । पुत्रम् । हिरण्ययम् ॥५॥
क्काहतं परास्यः ॥ ६ ॥ क्क । आहतम् । परास्यः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तासाम्) उन [व्यापक प्रजाओं] के बीच (एका) एक [स्त्री प्रजा] (हरिक्निका) मनुष्य में प्रीति करने वाली है ॥ ३ ॥ (हरिक्निके) हे मनुष्य में प्रीति करने वाली ! तू (किम्) क्या (इच्छसि) चाहती है ॥ ४ ॥ (साधुम्) साधु [कार्य साधने वाले], (हिरण्ययम्) तेजोमय (पुत्रम्) पुत्र

१—(एताः) उपस्थिताः (अश्वाः) अशू व्याप्तौ—क्वन्, टाप् । व्यापिकाः प्रजाः (आ) आगत्य (प्लवन्ते) गच्छन्ति ॥

२—(प्रतीपम्) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । प्रति+आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् । ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे । पा० ५ । ४ । ७४ । अप्रत्ययः । द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् । पा० ६ । ३ । ९७ । इति ईत् । प्रत्यक्षव्यापकम् (प्राति) संहितायां दीर्घः । प्रति । उद्दिश्य (सुत्वनम्) सुयजोर्ङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । षु प्रसवैश्वर्ययोः—ङ्वनिप्, तुक् च । उत्पादकम् । ऐश्वर्यवन्त परमेश्वरम् ॥

३—(तासाम्) पूर्वोक्तप्रजानां मध्ये (एका) स्त्री प्रजा (हरिक्निका) हरयो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । कुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि । उ० २ । ३२ ॥ कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—क्वुन्, टाप्, अत इत्वम् । धातोः अकारलोपः । हरिकनिका । मनुष्येच्छुका ॥

४—(हरिक्निके) म० ३ । हे मनुष्येच्छुके (किम्) (इच्छसि) कामयसे ॥

५—(साधुम्) कार्यसाधकम् (पुत्रम्) सन्तानम् (हिरण्ययम्) तेजोमयम् ॥

[सन्तान्] को (क) कहां (आहतम्) ताड़ा हुआ (परास्यः) तूने दूर फेंक दिया है ॥ ५,६ ॥

भावार्थ—सृष्टि के बीच माता अपने पुरुष से प्रीति करके सन्तान उत्पन्न करके उन को कुमार्ग से बचाके तेजस्वी और सुमार्गी बनावे ॥ ३-६ ॥

यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः॥७॥ यत्र । अमूः । तिस्रः । शिंशपाः॥७॥

परि त्रयः ॥ ८ ॥   परि । त्रयः ॥ ८ ॥

पृदाकवः ॥ ९ ॥   पृदाकवः ॥ ९ ॥

शृङ्गं धमन्त आसते ॥१०॥ शृङ्गम् । धमन्तः । आसते ॥१०॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां (अमूः) वे (तिस्रः) तीन [माता पिता और आचार्य रूप प्रजायें] (शिंशपाः) बालक की पालने वाली हैं ॥ ७ ॥ [वहां] (त्रयः) तीन [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक क्लेश रूप] (पृदाकवः) अजगर [बड़े सांप] (शृङ्गम्) धमन्तः) सींग फूकते हुये [बाजे के समान फुफकार मारते हुये] (परि) अलग (आसते) बैठते हैं ॥ ८-१०॥

भावार्थ—जिस कुल में माता पिता और आचार्य सुशिक्षक है, वहां सन्तान सदा सुखी रहते हैं, और जैसे अजगर सांप अपने श्वास से खैंचकर प्राणियों को खा जाते हैं, वैसे ही विद्वान् सन्तानों को तीनों क्लेश नहीं सताते हैं ॥ ७-१० ॥

अयन्महा ते अर्वाहः ॥११॥ अयत् । महा । ते । अर्वाहः॥११॥

६—(क) कुत्र (आहतम्) ताडितम् (परास्यः) असु क्षेपणे । परा दूरे आस्यः अक्षिपः ॥

७—(यत्र) यस्मिन् कुले (अमूः) प्रसिद्धाः (तिस्रः) मातापितराचार्यरूपाः प्रजाः (शिंशपाः) छान्दसं रूपम् । शिशुपाः । बालानां पालिकाः ॥

८—(परि) पृथग्भावे (त्रयः) आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकक्लेशाः ॥

९—(पृदाकवः) अजगराः । बृहत्सर्पाः ॥

१०—(शृङ्गम्) वाद्यविशेषं यथा, तथा श्वासशब्दम् (धमन्तः) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः—शतृ । दीर्घश्वासेन शब्दयन्तः (आसते) उपविशन्ति ॥

स इच्छकं सघाघते ॥१२॥ सः । इच्छकम् । सघाघते ॥१२॥

सघाघते गोमीद्या गोगतीरिति ॥ १३ ॥

सघाघते । गोमीद्या । गोगतीः । इति ॥ १३ ॥

पुमाँ कुस्ते निमिच्छसि ।१४। पुमान् । कुस्ते । निमिच्छसि॥१४

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (अर्वाहः) ज्ञान पहुंचाने वाला [मनुष्य] (महा) महत्त्व के साथ (ते) तेरे लिये (अयत्) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ (सः) वह [मनुष्य] (इच्छकम्) इच्छा वाले को (सघाघते) सहाय करता है ॥१२॥ (गोमीद्या) वेद वाणी जानने वाली [स्त्री] (गोगतीः) पृथिवी पर गति वाली [प्रजाओं] को (सघाघते) सहाय करती है, (इति) ऐसा [निश्चय] है ॥ १३ ॥ [हे मनुष्य !] (पुमान्) रक्षक पुरुष होकर (कुस्ते) मिलाप के व्यवहार में (निमिच्छसि) चलता रहता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष मिलकर धर्म व्यवहार में एक दूसरे के सहायक होकर संसार का उपकार करें ॥ ११—१४ ॥

११—(अयत्) अयते । प्राप्यते (महा) मह पूजायाम् क्विप् । महत्त्वेन (ते) तुभ्यम् (अर्वाहः) ऋ गतौ—विच्+वह प्रापणे—अण् । ज्ञानप्रापको विद्वान् ॥

१२—(सः) मनुष्यः (इच्छकम्) इषु इच्छायाम्–शकप्रत्ययः । इच्छाशुकम् (सघाघते) षह क्षमायाम् इत्यस्य रूपम् । यद्वा, षघ हिंसायाम् अत्र सहाये । साह्यते ॥

१३—(सघाघते) म० १२ ॥ साह्यते (गोमीद्या) गौर्वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । मिद्ध मेधाहिंसनयोः—यक्, टाप् दीर्घश्च । गां वेदवाणीं मेदते प्रजानाति या सा (गोगतीः) गवि पृथिव्यां गतियुक्ताः प्रजाः (इति) एवमस्ति ॥

१४—(पुमान्) पातेर्डुमसुन् । उ० ४ । १७८ । पुमस् । रक्षकः सन् (कुस्ते) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । कुस संश्लेषणे– क्त । संयोगव्यवहारे (निमिच्छसि) मियक्षति म्यक्षतीति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ इत्यस्य रूपम् । यद्वा मिच्छ उत्क्लेशे=पीडने, इत्ययमपि गतौ । नितरां गच्छसि ॥

पल्पं बद्ध वयो इति ॥१५॥ पल्पं । बद्ध । वयः । इति ॥१५॥
बद्धं वो अघा इति ॥१६॥ बद्धं । वः । अघाः । इति ॥१६॥

भाषार्थ—(पल्प) हे रक्षक ! (बद्ध) हे प्रबन्ध करने वाले ! [पुरुष] (वयः इति) यह जीवन है ॥ १५ ॥ (अघाः) हे पापियो ! (वः) तुम्हारा (बद्ध इति) यह [प्राणी] प्रबन्ध करने वाला है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सावधान जितेन्द्रिय होकर पाप से बचने का उपाय करते रहें ॥ १५, १६ ॥

अजागार केविका ॥ १७ ॥ अजागार । केविका ॥ १७ ॥
अश्वस्य वारो गोशपद्यके ॥ १८ ॥
अश्वस्य । वारः । गोशपद्यके ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(केविका) सेवा करने वाली [बुद्धि] (अजागार) जागती हुई है ॥ १७ ॥ (अश्वस्य वारः) अश्ववार [घुड़चढ़ा, घोड़ा लेने को] (गोशपद्यके) गौओं के सोने के स्थान में [व्यर्थ है] ॥ १८ ॥

भावार्थ—सेवा करने वाली अर्थात् उचित काम में लगी हुई बुद्धि तीव्र होती है, घुड़चढ़े को उत्तम घोड़ा घुड़साल में मिलता है, गोशाला में नहीं ॥ १७, १८ ॥

श्येनीपती सा ॥ १९ ॥ श्येनीपती । सा ॥ १९ ॥

१५—(पल्प) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । पल गतौ रक्षणे च—पप्रत्ययः । हे रक्षक (बद्ध) कर्तरि क्त । हे प्रबन्धक (वयः) जीवनम् (इति) अवधारणे ॥

१६—(बद्ध) विभक्तेर्लुक् । प्रबन्धकः (वः) युष्माकम् (अघाः) अघं पापम्—अर्शआद्यच् । हे पापिनः (इति) ॥

१७—(अजागार) जागरिता सावधानो अभवत् (केविका) केवृ सेवने—ण्वुल्, टाप् अत इत्वम् । सेविका बुद्धिः ॥

१८—(अश्वस्य) तुरंगस्य (वारः) वारयिता । आरूढः (गोशपद्यके) गो + शीङ् शयने—ड + पद—यत् , स्वार्थे कन् । गोशयनस्थाने । गोष्ठे ॥

अनामयोपजिह्विका ॥२०॥ अनामया । उपजिह्विका ॥ २० ॥

भाषार्थ—(सा) वह [सेवा करने वाली बुद्धि—म० १७] (श्येनीपती) शीघ्र गति वाली प्रजाओं की स्वामिनी होकर ॥ १६ ॥ (अनामया) नीरोग और (उपजिह्विका) उपकारी जिह्वा [वाणी] वाली है ॥ २० ॥

भावार्थ—उत्तम बुद्धि वाला मनुष्य शीघ्र काम करने वाला, स्वस्थ और उपकारी वचन बोलने वाला होता है ॥ १६, २० ॥

सूक्तम् १३० ॥

१—२० ॥ प्रजापतिर्देवता १ याजुषी पङ्क्तिः ; २, ३, ४, १८ याजुषी गायत्री ; ५, ६, ८, ६, ११, १२, १४—१७, १६, २० प्राजापत्या गायत्री ; ७ याजुषी बृहती ; १० याजुष्युष्णिक् ; १३ दैवी पङ्क्तिः ॥

मनुष्यपुरुषार्थोपदेशः—मनुष्य के लिये पुरुषार्थ का उपदेश ॥

को अर्य बहुलिमा इषूनि ॥१॥ कः । अर्य । बहुलिमा । इषूनि १

को असिद्याः पयः ॥ २ ॥ कः । असिद्याः । पयः ॥ २ ॥

को अर्जुन्याः पयः ॥ ३ ॥ कः । अर्जुन्याः । पयः ॥ ३ ॥

कः कार्ष्ण्याः पयः ॥ ४ ॥ कः । कार्ष्ण्याः । पयः ॥ ४ ॥

एतं पृच्छ कुहं पृच्छ ॥५॥ एतम् । पृच्छ । कुहम् । पृच्छ ॥५॥

कुहाकं पक्वकं पृच्छ ॥६॥ कुहाकम् । पक्वकम् । पृच्छ ॥६॥

[सूचना—पदपाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(कः) कौन मनुष्य (बहुलिमा) बहुत से (इषूनि) इष्ट

१६—(श्येनीपती) अ० ३ । ३ । ३ । श्यैङ् गतौ—इनच्, ङीप + पति—ङीप् । श्येनीनां शीघ्रगामिनीनां प्रजानां स्वामिनी (सा) केविका बुद्धिः—म० १७ ॥

२०—(अनामया) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ६६ । अम पीडने चुरा०—कयन्, टाप् । रोगरहिता (उपजिह्विका) शेवायह्वजिह्वा० । उ० १ । १५४ । जि जये—वन् दुक् च, टाप् । उप उपकारिका जिह्वा वाणी यस्याः सा ॥

१—(कः) (अर्य) ऋ गतौ—इत्यस्य रूपम् । अर्यात् । प्राप्नुयात्

वस्तुओं को (अर्य) पावे ॥ १ ॥ (कः) कौन (असिग्याः) बिना बन्धन वाली क्रिया के (पयः) अन्न को ॥ २ ॥ (कः) कौन (अर्जुन्याः) उद्यम वाली क्रिया के (पयः) अन्न को ॥ ३ ॥ (कः) कौन (कार्ष्ण्याः) आकर्षण वाली क्रिया के (पयः) अन्न को [पावे] ॥ ४ ॥ (एतम्) इस [प्रश्न] को (कुहम्) अद्भुत स्वभाव वाले मनुष्य से (पृच्छ) पूछ, (पृच्छ) पूछ ॥ ५ ॥ (कुहाकम्) अद्भुत स्वभाव वाले, (पक्वकम्) पक्के [दृढ़ चित्त वाले] से (पृच्छ) पूछ ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विवेकी, क्रिया कुशल विद्वानों से शिक्षा लेता हुआ विद्या बल से चमत्कारी, नवीन नवीन आविष्कार करके उद्योगी होवे ॥१—६॥

यवानो यतिस्वभिः कुभिः ॥७॥ यवानः। यतिस्वभिः। कुभिः॥७॥
अकुप्यन्तः कुपायकुः ॥ ८ ॥ अकुप्यन्तः । कुपायकुः ॥ ८ ॥
आमणको मणत्सकः ॥ ९ ॥ आमणकः । मणत्सकः ॥ ९ ॥
देव त्वप्रतिसूर्य ॥ १० ॥ देव । त्वप्रतिसूर्य ॥ १०

(बहुलिमा)) पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । पा० ५ । १ । १२२ । बहुल-इमनिच् । बहूनि (इषूनि) इषु इच्छायाम् उप्रत्ययः कित् । इष्टवस्तूनि

२—(कः) (असिग्याः) षिञ् बन्धने—क्तिन्, तस्य दः । असित्याः । बन्धनरहितक्रियायाः (पयः) पय गतौ—असुन् । अन्नम्—निघ० २ । ७ ॥

३—(कः) (अर्जुन्याः) अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । अर्ज अर्जने-उनन् ङीष् । उद्योगिन्याः क्रियायाः (पयः) म० २ ॥

४—(कः) (कार्ष्ण्याः) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । कृष विलेखने-निप्रत्ययः, वृद्धिश्च । आकर्षकक्रियायाः (पयः) म० २ ॥

५—(एतम्) प्रश्नम् (पृच्छ) (कुहम्) कुह विस्मापने—क । अद्भुतस्वभावं पुरुषम् (पृच्छ) ॥

६—(कुहाकम्) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ३७ । कुह विस्मापने—क्वुन्, वृद्धिः । यद्वा, पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । कुह—आकप्रत्ययः । अद्भुतस्वभावम् (पक्वकम्) दृढचित्तम् (पृच्छ) ॥

भाषार्थ—(यवानः) युवा [बलवान्], (यतिस्वभिः) यतियों [यत्न करने वालों] में प्रकाशमान, (कुभिः) ढकलेने वाला [प्रताप वाला] ॥ ७ ॥ (अकुप्यन्तः) कोप नहीं करने वाला,(कुपायकुः) पृथिवी की रक्षा करने वाला ॥८॥ (आमणकः) उपदेश करने वाला और (मणत्सकः) विद्वानों में शक्तिमान् होकर ॥९॥ (देव) हे विद्वान् ! (त्वप्रतिसूर्य) तू सूर्य समान [प्रतापी] है ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर और आत्मा से बलवान् होकर भूमि की रक्षा और विद्या की बढ़ती करे ॥ ७—१० ॥

एनश्चिपङ्क्तिका हविः॥११॥ एनश्चिपङ्क्तिका । हविः ॥११॥
प्रदुद्रुदो मघाप्रति ॥ १२ ॥ प्रदुद्रुदः । मघाप्रति ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(एनश्चिपङ्क्तिका) पाप के नाश का फैलाने वाला

७—(यवानः) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ८९ । यु मिश्रणामिश्रणयोः—आनच् । युवा । बलवान् (यतिस्वभिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । यती यत्ने—इन् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । शुभ शुम्भ भाषणभासनहिंसनेषु—इन् कित् । उकारस्य वः । यतिषु यत्नशीलेषु दीप्यमानः (कुभिः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । कुभ कुभि आच्छादने—इन् कित् । आच्छादकः प्रतापवान् ॥

८—(अकुप्यन्तः) जॄविशिभ्यां झच् उ० ३ । १२६ । कुप क्रोधे—झच्, अत्र कित् यकारश्च । क्रोधरहितः (कुपायकुः) कठिकुषिभ्यां काकुः । उ० ३ । ७७ । काकुरेव ककुः । कु + पा रक्षणे—ककु, यकारश्च । कुं भूमिं पातीति सः । पृथिवीपालः ॥

९—(आमणकः) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ । आ + मण शब्दे—वुन् । उपदेशकः (मणत्सकः) वर्त्तमाने पृषद् बृहन् । उ० २ । ८४ । मण शब्दे—अति + शक्लृ + सामर्थ्ये—अच् । मणत्सु विद्वत्सु शक्तः ॥

१०—(देव) हे विद्वन् (त्वप्रतिसूर्य) विभक्तेर्लुक् । त्वमेव सूर्यसमानः प्रतापवान् ॥

११—(एनश्चिपङ्क्तिका) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । एनः + चन अश्रोपहननयोः—इण डित् । वृतेस्तिकन् । उ० ३ । १४६ । पचि व्यक्तीकरणे विस्तारवचने—तिकन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः ।

(हविः) देन लेन [होवे] ॥ ११ ॥ (प्रदुद्रुदः) अच्छे प्रकार गति देने वाला व्यवहार (मघाप्रति) धनों के लिये [होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य से व्यवहार कर के धन प्राप्त करें ॥ ११, १२ ॥

शृङ्ग उत्पन्न ॥ १३ ॥   शृङ्गः । उत्पन्न ॥ १३ ॥

मा त्वाभि सखा नो विदन् ॥ १४ ॥

मा । त्वा । अभि । सखा । नः । विदन् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] तू (शृङ्गः) हिंसक (उत्पन्न) उत्पन्न है ॥ १३ ॥ (त्वा) तुझ से (नः) हमारा (सखा) सखा [साथी] (मा अभि विदन्) कभी न मिले ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने मित्रों को दुष्टों से कभी न मिलने देवें ॥

वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥१५॥ वशायाः पुत्रम् । आ । यन्ति॥१५॥

इरावेदुमयं दत ॥ १६ ॥ इरावेदुमयम् । दत ॥ १६ ॥

अथो इयन्नियन्निति ॥ १७ ॥ अथो । इयन्-इयन् । इति ॥ १७ ॥

अथो इयन्निति ॥ १८ ॥ अथो । इयन् । इति ॥१८ ॥

अथो श्वा अस्थिरो भवन् ॥ १९ ॥

अथो । श्वा । अस्थिरः । भवन् ॥ १९ ॥

पनसः पापस्य चेर्नाशस्य पङ्क्तिकं विस्तारकम् (हविः) हु दानादानयोः—इसि । दानादानकर्म ॥

१२—(प्रदुद्रुदः) शते च । उ० १ । ३५ । प्र+द्रु गतौ—कु डित्, ददातेः—क । प्रकर्षेण गतिदायको व्यवहारः (मघाप्रति) मघं धननाम—निघ० २ । १० । धनानि प्रति अभिमुखीकृत्य ॥

१३—(शृङ्गः) शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, नुट् च । हिंसकः । शत्रुः (उत्पन्न) प्रादुर्भूतोऽसि ॥

१४—(मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (अभिः) सर्वतः (सखा) (नः) अस्माकम् (विदन्) प्राप्नोतु ॥

इयं यकांशलोकका ॥ २० ॥ इयम् । यकांशलोकका ॥ २० ॥

भाषार्थ—(वशायाः) कामना योग्य स्त्री के (पुत्रम्) पुत्र को (आ यन्ति) वे [मनुष्य] आकर पहुंचते हैं ॥ १५ ॥ (इरावेदुमयम्) भूमि के ज्ञान वाला व्यवहार [उस को] (दत) तुम दो ॥१६॥ (अथो) फिर वह [पुत्र] (इयन्—इयन्) चलता हुआ, चलता हुआ [होवे], (इति) ऐसा है ॥ १७ ॥ (अथो) फिर वह (इयन्) चलता हुआ [होवे], (इति) ऐसा है ॥ १८ ॥ (अथो) अथवा (श्वा) कुत्ते [के समान] (अस्थिरः) चंचल स्वभाव वाला (भवन् होना हुआ ॥ १९ ॥ वह (इयम्) निश्चय करके (यकांशलोकका) यातना [घोर पीड़ा] वाले भाग का दिखाने वाला [होवे] ॥ २० ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग गुणवती स्त्री के सन्तानों को उत्तम शिक्षा देकर महान् विद्वान् और उद्योगी बनावें। ऐसा न करने से बालक निर्गुणी और पीड़ा दायक होकर कुत्ते के समान अपमान पाते हैं ॥ १५—२० ॥

१५—(वशायाः) वश कान्तौ—अङ्, टाप् । कामनीयायाः स्त्रियाः (पुत्रम्) सन्तानम् (आ) आगत्य (यन्ति) प्राप्नुवन्ति ॥

१६—(इरावेदुमयम्) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इण् गतौ-रन्, गुणाभावः । भूमृशीङ्० । उ० १ । ७ । विद ज्ञाने-उप्रत्ययः । इराया भूमेर्ज्ञानयुक्तं व्यवहारम् (दत) तलोपः । यूयं दत्त ॥

१७—(अथो) अनन्तरम् (इयन्नियन्) इण् गतौ—शतृ, इयङ् इत्यादेशः, द्वित्वं च । यन् यन् । गच्छन् गच्छन्—स भवतु (इति) एवम् ॥

१८—(अथो) अनन्तरम् (इयन्) म० १७ । गच्छन् (इति) ॥

१९—(अथो) पक्षान्तरे । अथवा (श्वा) श्वनुक्षन्पूषन् ० । उ० १ । १५९ । टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । कुक्कुरो यथा (अस्थिरः) चञ्चलप्रकृतिः (भवन्) सन् ॥

२० (इयम्) अव्ययम् । निश्चयेन (यकांशलोकका) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ । यत ताडने-वुन्, स च डित्+अंश विभाजने-अच् । कृञादिभ्यः ० । उ० ५ । ३५ । लोक दर्शने-वुन्, विभक्तेराकारः । यकस्य यातकस्य महापीडकस्य अंशस्य भागस्य लोकको दर्शयिता ॥

सूक्तम् १३१ ॥

१—२० ॥ प्रजापतिर्वरुणो वा देवता ॥ १—४,६—११, १४,१८, १६ प्राजापत्या गायत्री; ५ अनुष्टुप्; १२, १३ दैवी बृहती; १५, १६ याजुषी गायत्री; १७ दैवी पङ्क्तिः; २० याजुष्युष्णिक् ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

आमिनोनिति भद्यते ॥ १ ॥ आ-अमिनोन् । इति । भद्यते ॥ १ ॥

तस्य अनु निभञ्जनम् ॥ २ ॥ तस्य । अनु । निभञ्जनम् ॥ २ ॥

वरुणो याति वस्वभिः ॥ ३ ॥ वरुणः । याति । वस्वभिः ॥ ३ ॥

शतं वा भारती शवः ॥ ४ ॥ शतम् । वा । भारती । शवः ॥ ४ ॥

शतमाश्वा हिरण्ययाः । शतं रथ्या हिरण्ययाः ॥
शतं कुथा हिरण्ययाः । शतं निष्का हिरण्ययाः ॥ ५ ॥

शतम् । आश्वाः । हिरण्ययाः ॥ शतम् । रथ्याः । हिरण्ययाः ॥
शतम् । कुथाः । हिरण्ययाः ॥ शतम् । निष्काः । हिरण्ययाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आ—अमिनोन्) उन [विद्वानों] ने [विघ्न को] सब ओर से हटाया है, (इति) यह (भद्यते) कल्याणकारी है ॥ १ ॥ (तस्य) हिंसक विघ्न का (अनु) लगातार (निभञ्जनम्) विनाश होवे ॥ २ ॥ (वरुणः) श्रेष्ठ [धनी पुरुष] (वस्वभिः) श्रेष्ठ वस्तुओं के साथ (याति) चलता है ॥ ३ ॥ (शतम्) सौ (भारती) पोषण करने वाली विद्यायें (वा) और

१—(आ—अमिनोन्) डुमिञ् प्रक्षेपणे—लङ् छान्दसः । मिनोतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १६ । समन्तात् नाशितवन्तः, ते विद्वांसो विघ्नम् (इति) अवधारणे (भद्यते) भदि कल्याणे सुखे च । कल्याणकरं भवति ॥

२—(तस्य) तर्द हिंसे—ड्प्रत्ययः । हिंसकस्य विघ्नस्य । चौरस्य (अनु) निरन्तरम् (निभञ्जनम्) विनाशनम् ॥

३—(वरुणः) श्रेष्ठः । धनी पुरुषः (याति) गच्छति (वस्वभिः) वसुभिः । श्रेष्ठवस्तुभिः ॥

४—(शतम्) बहु (वा) चार्थे (भारती) अथ० ५ । १२ । ८ । डुभृञ्

(शवः) बल हैं ॥ ४ ॥ (शतम्) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरे (आश्वाः) घोड़े हैं। (शतम्) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरे (रथ्याः) रथ हैं। (शतम) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरी (कुथाः) हाथी की झूलें हैं। (शतम्) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरे (निष्काः) हार हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज विद्वानों के समान विघ्नों को हटाकर अनेक प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ १—५ ॥

अहंल कुश वर्त्तक ॥ ६ ॥ अहंल । कुश । वर्त्तक ॥ ६ ॥
शुफेनंइव ओहते ॥ ७ ॥ शुफेनं । इव । ओहते ॥ ७ ॥
आयं वनेनती जनी ॥ ८ ॥ आ-अयं । वनेनती । जनी ॥८॥
वनिष्ठा नावं गृह्णन्ति ॥९॥ वनिष्ठाः ॥ न । अवं । गृह्णन्ति ।९॥
इदं मह्यं मदूरिति ॥ १० ॥ इदम् । मह्यम् । मदूः । इति ॥१०॥
ते वृक्षाः सह तिष्ठति ॥११॥ ते । वृक्षाः । सह । तिष्ठति। ।११।

भाषार्थ—(अहल) हे प्रकाशमान ! (कुश) हे पाप नाशक ! (वर्त्तक) हे प्रवृत्ति करने वाले ! [मनुष्य] ॥ ६ ॥ (शफेन इव) खुर से जैसे, (ओहते)

धारणपोषणयोः—अतच्, स्वार्थे अण्, ङीप्, बहुवचनस्यैकवचनम्। भारती वाक्—निघ० १। ११। भारत्यः। विद्याः (शवः) शवांसि बलानि ॥

५—(शतम्) (आश्वाः) स्वार्थे अण्। अश्वाः। तुरगाः (हिरण्ययाः) हिरण्यमयाः। सुवर्णयुक्ताः। तेजोमयाः (शतम्) (रथ्याः) खलगोरथात्। पा० ४। २। ५०। रथ—य। रथसमूहाः (हिरण्ययाः) (शतम्) (कुथाः) कुथ, कुन्थ संश्लेषणे—अच्। गजपृष्ठस्थचित्रकम्बलाः (हिरण्ययाः) (शतम्) (निष्काः) निस् निश्चयेन + कै शब्दे—क। उरोभूषणानि। हाराः (हिरण्ययाः) ॥

६—(अहल) शकिशम्योर्नित्। उ० १। ११२। अहि गतौ दीप्तौ च—कलप्रत्ययः। हे दीप्यमान (कुश)कु पापं श्यतीति, शो तनूकरणे—डप्रत्ययः। हे पापनाशक (वर्त्तक) वृतु वर्तने—ण्वुल्। हे प्रवृत्तिशील ॥

७—(शफेन) खुरेण (इव) यथा (ओहते) उहिर् अर्दने। हन्यते स शत्रुः ॥

वह [शत्रु] मारा जाता है ॥ ७ ॥ (वनेनती) उपकार में झुकने वाली (जनी) माता होकर (आय) तू आ ॥ ८ ॥ (वनिष्ठाः) अत्यन्त उपकारी लोग (न) नहीं (अव गृह्यन्ति) रुकते हैं ॥ ९ ॥ (इदम्) यह [वचन] (मह्यम्) मेरे लिये (मदूः) आनन्द देने वाली नीति है—(इति) यह निश्चय है ॥ १० ॥ (ते) वे (वृक्षाः) स्वीकार करने योग्य पुरुष (सह) मिलकर (तिष्ठति) रहते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य और स्त्रियां सदा उपकार करके क्लेशों से बचें और परस्पर प्रीति से रहें ॥ ६—११ ॥

पाक बलिः ॥ १२ ॥ पाक । बलिः ॥ १२ ॥

शक बलिः ॥ १३ ॥ शक । बलिः ॥ १३ ॥

अश्वत्थ खदिरो धवः ॥१४॥ अश्वत्थ । खदिरः । धवः ॥१४॥

अरदुपरम ॥ १५ ॥ अरदुपरम ॥ १५ ॥

शयो हत इव ॥ १६ ॥ शयः । हतः । इव ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(पाक) हे रक्षक श्रेष्ठ पुरुष ! (बलिः) बलि [भोजन

८—(आय) अय गतौ । आगच्छ (वनेनती) वन उपकारे—अच् । पातेर्डति । उ० ४ । ५७ । णम प्रह्वत्वे शब्दे च—डति, ङीप् । उपकारे नम्रा (जनी) जन जनने—इन्, ङीप् जनयित्री । माता सती त्वम् ॥

९—(वनिष्ठाः) वनितृ—इष्ठन्, तृचोलोपः । वनितृतमाः । उपकारितमाः (न) निषेधे (अव गृह्यन्ति) अवग्रहं प्रतिरोधं प्राप्नुवन्ति ॥

१०—(इदम्) वचनम् (मह्यम्) मनुष्याय (मदूः) कृषिचमि० । उ० १ । ८० । मदी हर्षे—ऊप्रत्ययः । हर्षकरी नीतिः (इति) अवधारणे ॥

११—(ते) पूर्वोक्ताः (वृक्षाः) वृक्ष वरणे—क । स्वीकरणीयाः पुरुषाः (सह) एकीभूय (तिष्ठति) तिष्ठन्ति । वर्तन्ते ॥

१२—(पाक) इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ । पा रक्षणे—कन् । पाकः प्रशस्यनाम—निघ० ३ । ८ । पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आदित्यः—निरु० ३ । १२ । हे रक्षक । प्रशस्य (बलिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । बल प्राणने धान्यावरोधने च—इन् । भोजनादिदानम् । उपहारः । राजग्राह्यः करः ।

आदि की भेंट होवे] ॥ १२ ॥ (शक) हे समर्थ ! (बलिः) बलि [राजा का ग्राह्य कर आदि का लेना होवे] ॥ १३ ॥ (अश्वत्थ) हे अश्वत्थामा ! [बलवानों में ठहरने वाले वीर] (खदिरः) दृढ़ चित्त वाला (धवः) मनुष्य [होवे] ॥ १४ ॥ (अरदुपरम) हे हिंसा से निवृति वाले ! ॥ १५ ॥ (शयः) सांप [के समान शत्रु] (हतः) मारा हुआ (इव) जैसे है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उचित रीति से भोजन आदि का उपहार वा दान और कर आदि का ग्रहण करके दृढ़चित्त होकर शत्रुओं का नाश करे ॥१२-१६॥

व्याप॒ पूरु॑षः ॥ १७ ॥ व्याप॒ । पूरु॑षः ॥ १७ ॥

अदू॑हमि॒त्यां पू॒ष॑कम् ॥ १८ ॥ अदू॑हमि॒त्याम् । पू॒ष॑कम् ॥१८॥

अत्य॑र्धर्च॒ पर॑स्वतः ॥ १९ ॥ अत्य॑र्धऽऋर्च । पर॑स्वतः ॥ १९ ॥

दौव॑ ह॒स्तिनो॑ दृती ॥ २० ॥ दौव॑ । ह॒स्तिनः॑ । दृती ॥ २० ॥

भाषार्थ—(अत्यर्धर्च) हे अत्यन्त बढ़ी हुई स्तुति वाले ! (पुरुषः) इस पुरुष ने (अदूहमित्याम्) अनष्ट ज्ञान के बीच (परस्वतः) पालन सामर्थ्य

१३—(शक) शक्लृ सामर्थ्ये—अच् । हे समर्थ (बलिः) म० १२ । राजग्राह्यकरः ॥

१४—(अश्वत्थ) अथ० ३ । ६ । १ । अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क, पृषोदरादिरूपम् । अश्वेषु बलवत्सु स्थितिशील । अश्वत्थामन् वीर (खदिरः) अथ० ३ । ६ । १ । खद स्थैर्यहिंसयोः—किरच् । स्थिरचित्तः (धवः) अथ० ५ । ५ । ५ । धावु गतिशुद्ध्योः—पचाद्यच्, ह्रस्वः । धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा—निरु० ३ । १५ । शुद्धः । मनुष्यः ॥

१५—(अरदुपरम) वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज् । उ० २ । ८४ । ऋ हिंसायाम—अति+उप—रम निवृत्तौ—अच् । हिंसनात् निवृत्तिशील ॥

१६—(शयः) शीङ् शयने—अच् । सर्पः । सर्प इव शत्रुः (हतः) नाशितः (इव) यथा ॥

१७—(व्याप) व्यापितवान् । विस्तारितवान् (पुरुषः) अयं मनुष्यः ॥

१८—(अदूहमित्याम्) अ+दुहिर् अर्दने-क+माङ् माने-क्तिन् । अनष्टायां मित्यां ज्ञाने (पूषकम्) पूष वृद्धौ-ण्वुल् । वृद्धिकरं व्यवहारम् ॥

वाले [मनुष्य] के (पूषकम्) बढ़ती करने वाले व्यवहार को (व्याप) फैलाया है ॥ १७—१९ ॥ [जैसे] (हस्तिनः) धौंकनी वाले को (दौव) दोनों (हती) खालें [धौंकनी फैलती हैं] ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि की प्राप्ति से संसार का उपकार करके अपनी कीर्ति फैलावे, जैसे लोहार धौंकनी की खालों को वायु से फुलाकर फैलाता है ॥ २० ॥

सूक्तम् १३२ ॥

१—१६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १—९, १२, १६ प्राजापत्या गायत्री ; १०, १४ आसुरी जगती ; ११, १३ दैवी जगती ; १५ याजुषी गायत्री ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

आदलाबुमेककम् ॥ १ ॥ आत् । अलाबुकम् । एककम् ॥ १ ॥

अलाबुकं निखातकम् ॥ २ ॥ अलाबुकम् । निखातकम् ॥ २ ॥

कर्करिको निखातकः ॥ ३ ॥ कर्करिकः । निखातकः ॥ ३ ॥

तद् वात उन्मथायति ॥ ४ ॥ तत् । वातः । उन्मथायति ॥४॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—[वह ब्रह्म] (अलाबुकम्) न डूबने वाला (आत्) और

१९—(अत्यर्धर्च) ऋधु वृद्धौ—घञ्, ऋच स्तुतौ क्विप् । ऋक्पूरब्धूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । समासान्तस्य अप्रत्ययः । हे अतिशयेन प्रवृद्धस्तुतियुक्त (परस्वतः) पॄ पालनपूरणयोः—असुन्, मतुप् । पालनसामर्थ्ययुक्तस्य मनुष्यस्य ॥

२०—(दौव) द्वौ (हस्तिनः) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । हसे विकाशे—तन्, इनि । हस्तं भस्त्रा । भस्त्रावतः पुरुषस्य (हती) हणातेर्ह्रस्वः । उ० ४ । १८४ । दृ विदारणे—तिप्रत्ययः, ह्रस्वश्च । द्वे चर्मनिर्मितपात्रे ॥

१—(आत्) अनन्तरम् (अलाबुकम्) नञि लम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ८७ । नञ्+लबि अवस्रंसने—ऊ, ऊकारस्य उकारः, स, च, णित् नलोपश्च, स्वार्थे, कन् । न लम्बते कुत्रापि । अनधःपतनशीलम् निराधारं ब्रह्म (एककम्) स्वार्थे कन् । असहायम् ॥

(एककम्) अकेला है ॥ १ ॥ (अलाबुकम्) न डूबने वाला और (निखातकम्) दृढ़ जमा हुआ है ॥ २ ॥ [वह परमात्मा] (कर्करिकः) बनाने वाला (निखातकः) दृढ़ जमा हुआ है ॥ ३ ॥ (तत्) उस [ब्रह्म] को (वातः) वायु (उन्मथायति) अच्छे प्रकार मथन [मनन] करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह ब्रह्म निराधार अकेला होकर सब का आधार और बनाने वाला है, वायु आदि पदार्थ उस की आज्ञा में चलते हैं। सब मनुष्य उसकी उपासना करें ॥ १-४ ॥

कुलायं कृणवादिति ॥ ५ ॥ कुलायन् । कृणवात् । इति ॥५॥
उग्रं वनिषदाततम् ॥ ६ ॥ उग्रम् । वनिषत् । आततम् ॥ ६ ॥
न वनिषदनाततम् ॥ ७ ॥ न । वनिषत् । अनाततम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कुलायन्) स्थानों को (कृणवात्) वह [परमात्मा] बनाता है, (इति) ऐसा [मानते हैं] ॥ ५ ॥ (उग्रम्) दृढ़ और (आततम्) सब ओर फैला हुआ पदार्थ (वनिषत्) वह [मनुष्य] मांगे ॥ ६ ॥ (अनाततम्) बिना फैले हुये पदार्थ को (न वनिषत्) वह न मांगे ॥ ७ ॥

२—(अलाबुकम्) म० १ (निखातकम्) खनु अवदारणे-क्त, स्वार्थे कन् । खनित्वा दृढीकृत्य स्थापितम् ॥

३—(कर्करिकः) फर्फरीकादयश्च । उ० ४ । २० । डुकृञ् करणे-ईकन्, कर्करादेशः, ईकारस्य इकारः । कर्ता । रचयिता (निखातकः) म० २ । दृढीकृत्य स्थापितः ॥

४—(तत्) ब्रह्म (वातः) वायुः (उन्मथायति) उत्तमतया मथनं मननं करोति ॥

५—(कुलायन्) अ० २० । १२७ । ८ । कुलायन् । स्थानानि (कृणवात्) लडर्थे लेट् । करोति रचयति परमेश्वरः (इति) एवं मन्यन्ते ॥

६—(उग्रम्) दृढम् (वनिषत्) वनु याचने लिङर्थे लुङ् । परस्मैपदं च । अवनिष्ट, याचतां मनुष्यः (आततम्) समन्ताद् विस्तृतं पदार्थम् ॥

७—(न) निषेधे (वनिषत्) म० ६ । याचतां सः (अनाततम्) अविस्तृतम् ॥ सङ्कुचितं पदार्थम् ॥

भावार्थ—परमात्मा ने यह सब बड़े बड़े लोक बनाये हैं। मनुष्य अपने हृदय को सदा बढ़ाता जावे, कभी संकुचित न करे ॥ ५—७ ॥

क एषां कर्करी लिखत् ॥८॥ कः । एषाम् । कर्करी । लिखत् ८

क एषां दुन्दुभिं हनत् ॥९॥ कः । एषाम् । दुन्दुभिम् । हनत् ।९।

यदीयं हनत् कथं हनत् ॥ १० ॥

यदि । इयम् । हनत् । कथम् । हनत् ॥ १० ॥

देवी हनत् कुहनत् ॥११॥ देवी । हनत् । कुहनत् ॥ ११ ॥

पर्यागारं पुनःपुनः ॥ १२॥ परि-आगारम् । पुनः-पुनः ॥१२॥

भाषार्थ—(कः) कौन (एषाम्) इनके बीच (कर्करी) कर्करी [झारी जलपात्र, वा जलतरंग आदि बाजा] (लिखत्) छोड़े [बजावे] ॥८॥ (कः) कौन (एषाम्) इन के बीच (दुन्दुभिम्) दुन्दुभि [ढोल] (हनत्) बजावे ॥ ९ ॥ (यदि) जो (इयम्) यह [प्रजा, पुरुष वा स्त्री] (हनत्) बजावे, (कथम्) कैसे (हनत्) बजावे ॥ १० ॥ (देवी) देवी [उत्तम प्रजा, मनुष्य वा स्त्री] (पर्यागारम्) घर घर पर (पुनःपुनः) बार बार (हनत्)

८—(कः) (एषाम्) मनुष्याणां मध्ये (कर्करी) अर्त्तिकमिभ्रमि०। उ० ३ । १३२ । सौत्रो धातुः, कर्क हासे—अरप्रत्ययः, यद्वा, कर्क हासं राति, रा दाने—क, गौरादित्वात् ङीष्, विभक्तेर्लुक्। कर्करीम्। सनालजलपात्रम् ॥ जलतरङ्गादिवाद्यम् (लिखत्) लिख अक्षरविन्यासे । अक्षरविन्यासरीत्या वादयेत् ॥

९—(कः) (एषाम्) (दुन्दुभिम्) अथ० ५ । २० । १ । बृहड्ढक्काम् (हनत्) वादयेत् ॥

१०—(यदि) सम्भावनायम् (इयम्) दृश्यमाना स्त्रीपुरुषरूपा प्रजा (हनत्) (कथम्) केन प्रकारेण (हनत्) ॥

११—(देवी) दिव्यगुणवती प्रजा (हनत्) (कुहनत्) कुह विस्मापने । विस्मापयेत् । चमत्कारं कुर्यात् ॥

१२—(पर्यागारम्) परि+अग कुटिलायां गतौ—घञ्, आगमृच्छति स्म

बजावे और (कुहनत्) चमत्कार दिखावे ॥ ११, १२ ॥

भावार्थ—चुने हुये विद्वान् मनुष्य और विदुषी स्त्रियां संसार में उत्तम उत्तम बाजों के साथ वेद विद्या का गान करके आत्मा और शरीर को बल बढ़ाने वाली चमत्कारी क्रियाओं का प्रकाश करें ॥ ८—१२ ॥

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥ १३ ॥ त्रीणि । उष्ट्रस्य । नामानि॥१३॥

हिरण्य इत्येके अब्रवीत् ॥ १४ ॥

हिरण्यः । इति । एके । अब्रवीत् ॥ १४ ॥

द्वौ वा ये शिशवः ॥ १५ ॥ द्वौ । वा । ये । शिशवः ॥ १५ ॥

नीलशिखण्डवाहनः ॥ १६ ॥ नीलशिखण्डवाहनः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(उष्ट्रस्य) प्रतापी [परमात्मा] के (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम ॥ १३ ॥ (हिरण्यः) हिरण्य [तेजोमय], (वा) और (द्वौ) दो (नीलशिखण्डवाहनः) नीलशिखण्ड [नीलों निधियों वा निवास स्थानों का पहुंचाने वाला] तथा वाहन [सब का लेचलने वाला] हैं, (इति) ऐसा (ये शिशवः) बालक हैं, (एके) वे कोई कोई (अब्रवीत्) कहते हैं ॥ १४–१६ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने अनन्त गुण, कर्म स्वभाव के कारण नामों की गणना में नहीं आ सकता है, जो मनुष्य उसके केवल "हिरण्य" आदि नाम बताते हैं, वे बालक के समान थोड़ी बुद्धि वाले हैं ॥ १३—१६ ॥

गतौ-अण्। आगारं गृहम् । प्रतिगृहम् ॥ (पुनःपुनः) वारंवारम् ॥

१३—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (उष्ट्रस्य) उषिखनिभ्यां कित् । उ० ४ । १६२ । उष दाहे बधे च-ष्ट्रन् किच् । प्रतापिनः परमेश्वरस्य (नामानि) संज्ञाः॥

१४—(हिरण्यः) हिरण्यः=हिरण्यमयः—निरु० १० । २३ । तेजोमयः (इति) एवम् (एके) केचित् (अब्रवीत्) लडर्थे लङ्, बहुवचनस्यैकवचनम् अब्रुवन् । ब्रुवन्ति ॥

१५—(द्वौ) (वा) समुच्चये (ये) (शिशवः) बालाः । बालसमानाल्पबुद्धयः (नीलशिखण्डवाहनः) नीलशिखण्डश्च वाहनश्च [नीलशिखण्डः—अथ० २ । २७ । ६] स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । णीञ् प्रापणे—रक्, रस्य लः । यद्वा नि + इल गतौ—कः । अण्डन् कृसृभृवृञः । उ० १ । २८ ।

पण्डित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित पुस्तक में मन्त्र १३—१६ का पाठ इस प्रकार है ॥

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥ १३ ॥ हिरण्यमित्येकमब्रवीत् ॥ १४ ॥
द्वे वा यशः शवः ॥ १५ ॥ नीलशिखण्डो वा हनत् ॥ १६ ॥

(उष्ट्रस्य) प्रतापी [परमात्मा] के (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम हैं ॥ १३ ॥ (एकम्) एक (हिरण्यम्) हिरण्य [तेजोमय], (वा) और (द्वे) दो (यशः) यश [कीर्ति] तथा (शवः) बल है, (इति) ऐसा (अब्रवीत्) [वह, मनुष्य] कहता है ॥ १४, १५ ॥ (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड [नीलों निधियों वा निवास स्थानों का पहुंचाने वाला परमेश्वर] (वा) निश्चय करके (हनत्) व्यापक है [हन गतौ, गच्छति व्याप्नोति] ॥ १६ ॥

सूक्तम् १३३ ॥

१—६ ॥ कुमारी देवता ॥ १-३, ५ निचृदनुष्टुप् ; ४, ६ अनुष्टुप् ॥
स्त्रीणां कर्तव्योपदेशः—स्त्रियों के कर्तव्य का उपदेश ॥

वितंतौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ १ ॥
वितंतौ । किरणौ । द्वौ । तौ । आ । पिनष्टि । पूरुषः ॥
न । वै । कुमारि । तत् । तथा । यथा । कुमारि । मन्यसे ॥ १ ॥

[पदपाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(द्वौ) दोनों (किरणौ) प्रकाश की किरणें [शारीरिक बल और आत्मिक पराक्रम] (विततौ) फैले हुये हैं, (तौ) उन दोनों को (पूरुषः) पुरुष [देहधारी जीव] (आ) सब ओर से (पिनष्टि) पीसता है [सूक्ष्म रीति से

शिखि गतौ—अण्डन् कित् । नीलानां निधीनां यद्वा नीलानां नीडानां निवासानां शिखण्डः प्रापकः [वाहनः] वह प्रापणे-ल्यु स च णित् । वोढा । सर्ववहनशीलः परमेश्वरः ॥

१—(विततौ) विस्तृतौ (किरणौ) प्रकाशरश्मी । शारीरिकबलात्मिकपराक्रमौ (द्वौ) (तौ) किरणौ (आ) समन्तात् (पिनष्टि) पिष्लृ संचूर्णने। संचूर्णीकरोति । सूक्ष्मतया प्रयोजयति (पूरुषः) शरीरी जीवः (न) निषेधे

काम में लाता है]। (कुमारि) हे कुमारी ! [कामना योग्य स्त्री] (वै) निश्चय करके (तत्) वह (तथा) वैसा (न) नहीं है, कुमारि) हे कुमारी ! (यथा) जैसा (मन्यसे) तू मानती है ॥ १ ॥

भावार्थ—संसार में सब प्राणी शरीर और आत्मा की स्वस्थता से सूक्ष्म विचार और कर्म के द्वारा उन्नति करते हैं, स्त्री आदि भी समय को व्यर्थ न खोकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषानृते । न वै० ॥ २ ॥

मातुः । ते । किरणौ । द्वौ । निवृत्तः । पुरुषान् । ऋते । न । वै । ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मातुः ते) तुझ माता के (द्वौ) दोनों (किरणौ) प्रकाश की किरणें [शारीरिक बल और आत्मिक पराक्रम] (पुरुषान्) पुरुषों [शरीर धारी जीवों] को (ऋते) सत्य शास्त्र में (निवृत्तः) प्रकाशमान करते हैं। (कुमारि) हे कुमारी !...... [म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—माता आदि से ही सुशिक्षा पाकर सब सन्तान पुरुषार्थी होते हैं। स्त्री आदि...... [म० १] ॥ २ ॥

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे । न वै० ॥ ३ ॥

निगृह्य । कर्णकौ । द्वौ । निरायच्छसि । मध्यमे ॥ न । वै । ० ॥ ३

भाषार्थ—(मध्यमे) हे मध्यस्थ होने वाली ! [स्त्री] (द्वौ) दोनों (कर्णकौ) कोमल कानों को (निगृह्य) वश में करके [सुनने में लगवाकर]

(वै) निश्चयेन (कुमारि) कमेः किदुच्चोपधायाः । उ० ३ । १३८ । कमु कान्तौ—आरन् कित् अकारस्य उकारः, यद्वा कुमार क्रीडने-पचाद्यच् , ङीप् । हे कमनीये स्त्रि (तत्) कर्म (तथा) (यथा) (कुमारि) (मन्यसे) जानासि ॥

२—(मातुः) जनन्याः (ते) तव, मातुः—इति पदेन समानाधिकरणम् (किरणौ) म० १ (द्वौ) (निवृत्तः) वृतु चुरादिः—भाषणे दीपने च+निवर्तयतः । नितरां दीपयतः (पुरुषान्) शरीरधारिणो जीवान् (ऋते) सत्यशास्त्रे । अन्यत् पूर्ववत् । म० १ ॥

३—(निगृह्य) वशीकृत्य (कर्णकौ) अनुकम्पायाम्—कन् । कोमलकर्णौ (द्वौ) (निरायच्छसि) निश्चयेन समन्तात् नियमयसि (मध्यमे) हे

(निरायच्छसि) [सन्तानों को] तू नियम में चलाती है। (कुमारि) हे कुमारी !...... [म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता आदि ध्यान दिलाकर बालकों को सुशिक्षा देवें, स्त्री आदि...... [म० १] ॥ ३ ॥

भगवान् यास्क का वचन है—निरु० २ । ४ ॥

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्। तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥

(यः) जो [आचार्य] (अदुःखं कुर्वन्) दुःख न करता हुआ, (अमृतं सम्प्रच्छन्) अमृत देता हुआ (अवितथेन) सत्य [वेदज्ञान] से (कर्णौ) दोनों कानों को (आतृणत्ति) खोल देता है, (तम्) उस को (मातरं पितरं च) माता और पिता (मन्येत) वह [शिष्य] माने, (तस्मै) उस से (कतमच्चनाह) किसी प्रकार कभी (न द्रुह्येत्) बुराई न करे ॥

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्ती वाव गूहसि । न वै० ॥ ४ ॥

उत्तानायै । शयानायै । तिष्ठन्ती । वा । अव । गूहसि ॥ न । वै । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत्तानायै) बड़े उपकार वाली नीति के लिये (तिष्ठन्ती) ठहरती हुई तू (शयानायै) सोती हुई [आलस्य वाली] रीति को (वा) निश्चय करके (अव) निरादर करके (गूहसि) ढांप देती है। (कुमारि) हे कुमारी...... [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्त्री आदि अपनी चतुराई से कुरीतें छोड़कर सुरीतें चलावें, स्त्री आदि...... [म० १] ॥ ४ ॥

मध्यभवे स्त्रि ॥ अन्यत्—म० १ ॥

४—(उत्तानायै) उत्+तनु विस्तारे श्रद्धोपकारादिषु च—घञ् । उत्तमोपकारयुक्तायै नीतये (शयानायै) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ८६ । शीङ् शयने—आनच् । टाप् । सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । द्वितीयार्थे चतुर्थी । प्राप्तनिद्राम् । आलस्ययुक्तां रीतिम् (तिष्ठन्ती) वर्तमाना त्वम् (वा) अवधारणे (अव) अनादरे । अनादृत्य (गूहसि) गुहू संवरणे । आच्छादयसि । अन्यत्—म० १ ॥

श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहसि । न वै० ॥ ५ ॥

श्लक्ष्णायाम् । श्लक्ष्णिकायाम् । श्लक्ष्णम् । एव । अव । गूहसि । न । वै । ० ॥५॥

भाषार्थ—(श्लक्ष्णायाम्) चिकनी [कोमल] और (श्लक्ष्णिकायाम्) मनोहर वाणी में (श्लक्ष्णम्) स्नेह [प्रेम] को (एव) निश्चय करके (अव) शुद्धि के साथ (गूहसि) तू गुहा [हृदय] में रखती है । (कुमारि) हे कुमारी ! ..... [म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री आदि मधुर मनोहर वाणी से शुद्ध प्रेम के साथ उपदेश करें, स्त्री आदि ...... [म० १] ॥ ५ ॥

मनु महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १५६ ॥ अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥

(भूतानाम्) प्राणियों की (अहिंसया एव) अहिंसा [दुःख न देने] से ही (श्रेयः) कल्याण कारी (अनुशासनम् शासन वा उपदेश (कार्यम्) करना चाहिये । (च) और (धर्मम् इच्छता) धर्म चाहने वाले करके (वाक् एव) वाणी भी (मधुरा) मधुर, (श्लक्ष्णा) मनोहर (प्रयोज्या) बोलनी चाहिये ॥

अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ ६ ॥

अवश्लक्ष्णम् । इव । भ्रंशदन्तर्लोममति । ह्रदे ॥ न । वै । कुमारि । तत् । तथा । यथा । कुमारि । मन्यसे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(भ्रंशदन्तर्लोममति) भीतर पड़े हुये केश आदि पदार्थ

५—(श्लक्ष्णायाम्) श्लिषेरच्चोपधायाः । उ० ३ । १९ । श्लिष आलिंगने संसर्गे च—क्स्न, इकारस्य अकारः । चिक्कणायाम् । कोमलायाम् (श्लक्ष्णिकायाम्) श्लक्ष्ण-कन् स्वार्थे, टाप् अत इत्वम् । मनोहरायां वाचि—यथा मनु २ । १५९ (श्लक्ष्णम्) स्नेहम् । प्रेमभावम् (एव) अवधारणे (अव) शुद्धौ । शुद्धया (गूहसि) गुह संवरणे । गुहायां हृदये स्थापयसि । अन्यत्—म० १ ॥

६—(अवश्लक्ष्णम्) म० ५ । अव अनादरे, परिभवे च । अमनोहरत्वम् ।

वाले (ह्रदे) जलाशय में (अवक्लृदणम् इव) जैसे गदला रूप [दीखता है]। (कुमारि) हे कुमारी ! [कामना योग्य स्त्री] (वै) निश्चय करके (तत्) वह (तथा) वैसा (न) नहीं है, (कुमारि) हे कुमारी (यथा) जैसा (मन्यसे) तू मानती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—गदले पानी में गदला रूप दीखता है, और शुद्ध में शुद्ध, वैसे ही स्त्री आदि सब लोग मानसिक मैल तज कर शुद्ध व्यवहार करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १३४ ॥

१—६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३, ५, ६ निचृत् साम्नी पङ्क्तिः; २ साम्नी पङ्क्तिः; ४ विराट् साम्नी पङ्क्तिः ॥

बुद्धिवर्धनोपदेशः—बुद्धि बढ़ाने का उपदेश ॥

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अरालागुदभर्त्सथ ॥ १ ॥

इह । इत्थ । प्राक् । अपाक् । उदक् । अधराक्—अराल-अगुदभर्त्सथ ॥ १ ॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में और (अधराक्) दक्षिण में—(अरालागुद-भर्त्सथ) हिंसा की गति का धिक्कारने वाला परमात्मा है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा को सब स्थान और सब काल में वर्तमान जानकर

मलिनरूपत्वम् (इव) यथा (भ्रंशद्न्तर्लोममति) भ्रंशु अधःपतने—शतृ + अन्तः + लोम—मतुप् । अधःपतितमध्यकेशादिपदार्थयुक्ते । अतिमलिनवस्तू-पेते (ह्रदे) जलाशये । अन्यत्—म० १ ॥

१—(इह) अत्र (इत्थ) इत्थम् । अनेन प्रकारेण (प्राक्, अपाक्, उदक्,) अथ० २० । १२० । १ (अधराक्) नीच्यां दक्षिणस्यां दिशि (अरालागुदभर्त्सथ) ऋधाचतिमृजेरालज् ।उ०१ ।११६। ऋ हिंसायाम् —आलच् + अग गतौ—उदच् प्रत्ययः, यथा अर्बुदशब्दे + शीङ्शपिरु० । उ० ३ । ११३ । भर्त्स तर्जने—अथ-प्रत्ययः । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्लुक् । अराल-अगुद—भर्त्सथः । हिंसागतितिरस्कर्ता परमेश्वरः ॥

मनुष्य हिंसाकर्म से बचे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथ० २० । १२० । १ ॥

० वृत्साः पुरुषन्त आसते ॥ २ ॥

० ॥ वृत्साः । पुरुषन्तः । आसते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार······[म० १]—(वत्साः) प्यारे बच्चे (पुरुषन्तः) पुरुष होते हुये (आसते) ठहरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सब स्थान और सब काल में मनुष्य पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

० स्थालीपाको वि लीयते ॥ ३ ॥

० ॥ स्थालीपाकः । वि । लीयते ॥ ३ ॥

० स वै पृथु लीयते ॥ ४ ॥

० ॥ सः । वै । पृथु । लीयते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार······[म० १]—(स्थालीपाकः) स्थाली पाक [बटले वा कड़ाही में पका हुआ भोजन पदार्थ] (वि) विविधप्रकार (लीयते) मिलता है ॥ ३ ॥ (इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार ······[म० १]—(सः) वह [भोजन पदार्थ] (वै) निश्चय करके (पृथु) विस्तार से (लीयते) मिलता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को सब स्थान में सदा भोजन आदि पदार्थ प्राप्त करना चाहिये ॥ ३, ४ ॥

० आष्टे लाहणि लीशाथी ॥ ५ ॥

० ॥ आष्टे । लाहणि । लीशाथी ॥ ५ ॥

२—(वत्साः) प्रियशिशवः (पुरुषन्तः) पुरुषा भवन्तः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

३—(स्थालीपाकः) स्थाचनिभृजेरालज्० । उ० १ । ११६ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—आलच् ङीष्+डुपचष् पाके—घञ् । स्थाल्यां सूपादिपचन्यां पच्यते । पक्वभोजनपदार्थः (वि) विविधम् (लीयते) लीङ् श्लेषणे । श्लिष्यते । संयुज्यते ॥

४—(सः) स्थालीपाकः (वै) निश्चयेन (पृथु) यथा तथा विस्तारेण (लीयते) म० ३ । संयुज्यते ॥

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार......[म० १]—(लाहणि) प्रेरक बुद्धि (लीशाथी) चलती हुई (आष्टे) फैलती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् अपनी बुद्धि को सब ओर चलाकर संसार में विचरें ॥ ५ ॥

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अद्दिलली पुच्छिलीयते ॥ ६ ॥

इह । इत्थ । प्राक् । अपाक् । उदक् । अधराक्—अद्दिलली । पुच्छिलीयते ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में और (अधराक्) दक्षिण में—(अद्दिलली) व्यवहार ग्रहण करने वाली बुद्धि (पुच्छिलीयते) प्रसन्न होती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी बुद्धि को सब कामों में प्रविष्ट करके प्रसन्न रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १३२ ॥

१—१३ ॥ प्रजापतिरिन्द्रश्च देवते ॥ १, ५, ६ स्वराडार्ष्यनुष्टुप्; २ भुरिगनुष्टुप्; ३ आर्षी पङ्क्तिः। ४ आर्ष्युष्णिक्; ७ भुरिगार्षी त्रिष्टुप्; ८ भुरिग् गायत्री; ९ विराडार्षी पङ्क्तिः; १०, १२, १३ अनुष्टुप्; ११ निचृदार्ष्यनुष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः ।

५—(आष्टे) अशू व्याप्तौ । व्याप्यते (लाहणि) अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । लाभ प्रेरणे—अनि, भस्य हः। विभक्तेर्लुक् । प्रेरिका शक्तिः । तीक्ष्णा बुद्धिः (लीशाथी) रुवदिभ्यां ङित् । उ० ३ । ११५ । लिश गतौ, अल्पीभावे च—अथ प्रत्ययः, ङीप्, पृषोदरादिरूपम् । गमनशीला सती ॥

६—(अद्दिलली) अक्षू व्याप्तौ—क्विप् । सलिकल्यनि० । उ० १ । ५४ । ला आदाने, इलच् स च डित्, ङीप् । अक्षः अक्षस्य व्यवहारस्य ग्राहिका बुद्धिः (पुच्छिलीयते) पुच्छ प्रसादे—इति शब्दकल्पद्रुमः । सलिकल्यनि० । उ० १ । ५४ । इति इलच् ङीप् । भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः । पा० ३ । १ । १२ । पुच्छिली-क्यङ् भवत्यर्थे बाहुलकात् । प्रसन्ना भवति । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव ॥ १ ॥

भुक् । इति । अभि-गतः । शल् । इति । अप-क्रान्तः । फल् । इति । अभि-स्थितः ॥ दुन्दुभिम् । आहननाभ्याम् । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ १ ॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(भुक्) पालने वाला [परमात्मा] (अभिगतः) सामने पाया गया है—(इति) ऐसा है, (शल्) शीघ्रगामी वह (अपक्रान्तः) सुख से आगे चलता हुआ है—(इति) ऐसा है, (फल्) सिद्धि करने वाला वह (अभिस्थितः) सब ओर ठहरा हुआ है (इति) ऐसा है। (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान्! (दुन्दुभिम्) ढोल को (आहननाभ्याम्) दो डंकों से (आ) सब ओर (उथामः) हम उठावें [बल से बजावें]॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर के उपकारों को देखकर डंके की चोट प्रयत्नी और उपकारी होवें ॥ १ ॥

कोशबिले रजनि ग्रन्थेर्धानमुपानहि पादम् ।
उत्तमां जनिमां जन्यानुत्तमां जनीन् वर्त्मन्यात् ॥ २ ॥

कोशबिले । रजनि । ग्रन्थेः । धानम् । उपानहि । पादम् ॥

१—(भुक्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—क्विप्। पालकः परमात्मा (इति) एवं वर्तते (अभिगतः) आभिमुख्येन प्राप्तः (शल्) शल गतौ—क्विप्। शीघ्रगामी (इति) (अपक्रान्तः) अप आनन्दे+क्रमु पादविक्षेपे—क्त। सुखेन क्रमणशीलः (फल्) फल निष्पत्तौ—क्विप्। सिद्धिकर्ता परमेश्वरः (इति) (अभिष्ठितः) सर्वतः स्थितः (दुन्दुभिम्) बृहड्ढक्काम् (आहननाभ्याम्) ताडनस्य वादनस्य साधनाभ्याम् (जरितः) जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। हे स्तोतः (आ) समन्तात् (उथामः) उत्+ष्ठा—लट् अन्तर्गतण्यर्थः। उत्थामः। उत्थापयामः। उच्चैर्वादयामः (दैव) देव—अण्। देवः परमात्मा देवता यस्य, तत्सम्बुद्धौ। हे परमेश्वरोपासक विद्वन् ॥

उत्तमाम् । जनिमाम् । जन्या । अनुत्तमाम् । जनीन् । वर्त्मन् । यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(रजनि) रात्रि में [जैसे] (कोशबिले) कोश [सोना चांदी रखने] के कुण्ड के भीतर (ग्रन्थेः) गांठ के (धानम्) रखने को, [अथवा जैसे] (उपानहि) जूते में (पादम्) पैर को, [वैसे ही] (जन्या) मनुष्यों के बीच (उत्तमाम्) उत्तम (जनिमाम्) जन्म लक्ष्मी [शोभा वा ऐश्वर्य], (अनुत्तमाम्) अति उत्तम गति और (जनीन्) उत्पन्न पदार्थों को (वर्त्मन्) मार्ग में (यात्) [मनुष्य] प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे रात्रि में कोशागार में रखकर सोने चांदी की, और जूता पहिनकर पैर की रक्षा करते हैं, वैसे ही मनुष्य श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर उत्तम प्रवृत्ति करके उन्नति करें ॥ २ ॥

अलाबूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम् । पिपीलिकावटश्वसो विद्युत्स्वापर्णशफो गोशफो जरितरोथामो दैव ॥ ३ ॥

अलाबूनि । पृषातकानि । अश्वत्थ-पलाशम् ॥ पिपीलिका । वटश्वसः । वि-द्युत् । स्वापर्णशफः । गोशफः । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ ३ ॥

२—(कोशबिले) सुवर्णरूप्यस्थितिकुण्डे (रजनि) रजन्याम् । रात्रौ (ग्रन्थेः) बन्धनस्य (धानम्) स्थापनम् (उपानहि) उप+णह बन्धने-क्विप् । नहिवृतिवृषि० । पा० ६ । ३ । ११६ । पूर्वपदस्य दीर्घः । चर्मपादुकायाम् (पादम्) (उत्तमाम्) श्रेष्ठाम् (जनिमाम्) जनिघसिभ्यामिण् । उ० ४ । १३० । जनी प्रादुर्भावे-इण् । जनिवध्योश्च । पा० । ७ । ३ । ३५ । वृद्धिनिषेधः । माङ् माने शब्दे च-क्विप् । जनेः उत्पत्तेः जन्मनो मां लक्ष्मीं शोभामैश्वर्यं वा (जन्या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । जन-ङ्यां सप्तमी बहुवचने । जनेषु । मनुष्येषु (अनुत्तमाम्) अतिशयेन श्रेष्ठाम् (जनीन्) उत्पन्नान् पदार्थान् (वर्त्मन्) वर्त्मनि । मार्गे (यात्) यायात् । प्राप्नुयात् ॥

भाषार्थ—(अलाबूनि) तुंबी आदि बेलें, (पृषातकानि) पृषातक [वृक्ष विशेष], (अश्वत्थपलाशम्)पीपल और पलाश वा ढाक [वृक्ष विशेष], (पिपीलिका) पिपीलिका [वृक्ष विशेष], (वटश्वसः) वटश्वस [वृक्ष विशेष] (विद्युत्) बिजुली [वृक्ष विशेष], (स्वापर्णशफः) स्वापर्णशफ [वृक्ष विशेष] और (गोशफः) गोशफ [वृक्ष विशेष] हैं, [उन सब में] (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान् ! (आ) सब ओर से (उथामः) हम उठते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि बाटिका, खेत आदि में अनेक लता बेलों और वृक्षों को लगाकर ठीक ठीक उपकार लेकर सुखी होवें ॥ ३ ॥

वीमे देवा अंक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर ।

सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि ॥ ४ ॥

वि । इमे । देवाः । अक्रंसत । अध्वर्यो । क्षिप्रम् । प्रचर ॥

सुसत्यम् । इत् । गवाम् । असि । असि । प्रखुदसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इमे देवाः) इन विद्वानों ने (वि) विविध प्रकार (अक्रंसत) पैर बढ़ाया है, (अध्वर्यो) हे हिंसा न करने वाले विद्वान् (क्षिप्रम्) शीघ्र

३—(अलाबूनि) नञि लम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ८७ । नञ्+लबि अवस्रंसने-ऊ, ऊकारस्य उकारः, स च णित् , नलोपश्च । तुम्बीलताः(पृषातकानि) अथ० १४ । २ । ४८ । पृषु सेचने-क+अत बन्धने-कुन् । वृक्षविशेषाः (अश्वत्थपलाशम्) पिप्पलपलाशवृक्षसमूहः (पिपीलिका) अथ० ७ । ५६ । ७ । अपि+पील रोधने-ण्वुल , अकारलोपः, टाप् , अत इत्वम् । पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः निरु० ७ । १३ । वृक्षविशेषः (वटश्वसः) वट वेष्टने-अच्+श्वस प्राणने- अच् । वृक्षविशेषः (विद्युत्) वृक्षविशेषः (स्वापर्णशफः) वृक्षविशेषः (गोशफः) वृक्षविशेषः (जरितः) म० १ । हे स्तोतः (आ) समन्तात् (उथामः) उत्थामः । उच्चैर्भवामः (दैव) म० १ । हे परमेश्वरोपासक विद्वन् ॥

४—(वि) विविधम् (इमे) प्रसिद्धाः (देवाः) विद्वांसः (अक्रंसत) क्रमु पादविक्षेपे । पादं विक्षिप्तवन्तः । अग्रे गताः (अध्वर्यो) अ० ७ । ७०३ । ५ । हे अहिंसाप्रापक विद्वन् (क्षिप्रम्) शीघ्रम् (प्रचर) अग्रे गच्छ (सुसत्यम्)

(प्रचर) आगे बढ़ । और (प्रखुदसि) बड़े आनन्द में (असि) तू हो, (असि) तू हो, [यह वचन] (गवाम्) स्तोताओं [गुण व्याख्याताओं] का (सुसत्यम् इत्) बड़ा ही सत्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पहिले विद्वान् लोग काम करने से बड़े हो गये हैं, वैसे ही हम भी विद्वानों का वचन मानकर आगे बढ़ें ॥ ४ ॥

पत्नी यद्दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव ।
होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव ॥ ५ ॥

पत्नी । यत् । दृश्यते । पत्नी । यक्ष्यमाणा । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ होता । विष्टीमेन । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पत्नी) पत्नी (यत्) जहां पर (यक्ष्यमाणा) पूजी जाती हुई (पत्नी) पत्नी (दृश्यते) दीखती है, [वहां] (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान् ! (आ) सब ओर से (उथामः) हम उठते हैं । (विष्टीमेन) विशेष कोमलपन के साथ (होता) तू दाता है, (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान् ! (आ) सब ओर से (उथामः) हम उठते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—पत्नी और पति गुणवान् और परमेश्वर भक्त होकर आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।
तां ह जरितः प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन् ॥ ६ ॥

सर्वसत्यम् (इत्) एव (गवाम्) गौः स्तोता—निघ० ३ । १६ । स्तोतॄणाम् । गुणव्यातॄणाम् (असि) त्वं भव (असि) (प्रखुदसि) उषः किञ्च । उ० ४ । २३४ । प्र+खुर्द क्रीडायाम्—असि कित् रेफलोपः । प्रकृष्टसुखे ॥

५—(पत्नी) वेदविधानेनोढा । गृहिणी (यत्) यत्र (दृश्यते) प्रेक्ष्यते (पत्नी) (यक्ष्यमाणा) पूज्यमाना (जरितः, आ, उथामः, दैव) म० १, ३ (होता) त्वं दातासि (विष्टीमेन) वि+ष्टीम क्लेदे-घञ् । विशेषेण आर्द्री-भावेन । कोमलत्वेन । अन्यद् गतम् ॥

आदित्याः । ह । जरितः । अङ्गिरःऽभ्यः । दक्षिणाम् । अनयन् ॥ ताम् । ह । जरितः । प्रति । आयन् ॥ ताम् । ऊं इति । ह । जरितः । प्रति । आयन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आदित्याः) अखण्ड ब्रह्मचारियों ने (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (दक्षिणाम्) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] को (अनयन्) प्राप्त कराया है। (ताम्) उस [दक्षिणा] को (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (प्रति आयन्) उन्हों ने प्रत्यक्ष पाया है, (ताम्) उस [दक्षिणा] को (उ) निश्चय करके (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (प्रति आयन्) उन्हों ने प्रत्यक्ष पाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व विद्वानों के समान विद्वानों द्वारा उत्तम शिक्षा पाकर अवश्य प्रतिष्ठित होवें ॥ ६ ॥

तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णः । अहानेतरसं न वि चेतनानि यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः ॥७॥

ताम् । ह । जरितः । नः । प्रति । अगृभ्णन् । ताम् । ऊं इति । ह । जरितः । नः । प्रति । अगृभ्णः ॥ अहानेतरसम् । न । वि । चेतनानि । यज्ञानेतरसम् । न । पुरोगवामः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [दक्षिणा] को (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति

६—(आदित्याः) अथ० १४ । ११ । ४ । अदिति—ण्य । अखण्डब्रह्मचारिणः (ह) एव (जरितः) हे स्तोतः (अङ्गिरोभ्यः) अ० २० । २८ । २ । विज्ञानिभ्यः (दक्षिणाम्) अथ० ५ । ७ । १ । दानम्, प्रतिष्ठाम् (अनयन्) प्रापितवन्तः (ताम्) दक्षिणाम् (ह) (जरितः) (प्रति) प्रत्यक्षम् (आयन्) अथ० २० । ६१ । २ । अगच्छन् । प्राप्नुवन् (उ) अवश्यम् । अन्यद् गतम् ॥

७—(ताम्) दक्षिणाम्-म० ६ (ह) एव (जरितः) हे स्तोतः (नः)

करने वाले ! (नः) हमारे लिये (प्रति अगृभ्णन्) उन्हों ने [विज्ञानियों ने—म० ६] प्रत्यक्ष पाया है, (ताम्) उस को (उ) निश्चय करके (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (नः) हमारे लिये (प्रति अगृभ्णः) तू ने प्रत्यक्ष पाया है। (न) अभी (अहानेतरसम्) व्याप्ति में बल रखने वाले व्यवहार को, (वि) विविध (चेतनानि) चेतनाओं को, और (न) अभी (यज्ञानेतरसम्) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान] में बल रखने वाले व्यवहार को (पुरोगवामः) हम आगे होकर पावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज महात्माओं ने श्रेष्ठ कर्मों से प्रतिष्ठा पाई है, वैसे ही आप और हम मिलकर विज्ञान द्वारा बड़ाई पावें ॥ ७ ॥

उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः ।
उतेमाशु मानं पिपर्ति ॥ ८ ॥

उत । श्वेतः । आशुपत्वाः । उतो । पद्याभिः । यविष्ठः ॥
उत । ईम् । आशु । मानम् । पिपर्ति ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(आशुपत्वाः) हे शीघ्रगामी पुरुषो ! (श्वेतः) श्वेत वर्ण वाला [सूर्य] (उत) भी (यविष्ठः) अत्यन्त बलवान् होकर (पद्याभिः)

अस्मभ्यम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (अगृभ्णन्) अगृह्णन्। गृहीतवन्तः (ताम्) (उ) निश्चयेन (ह) (जरितः) (नः) (प्रति) प्रत्यक्षम् (अगृभ्णः) अगृह्णः। गृहीतवानसि (अहानेतरसम्) सम्यानच् स्तुवः। उ० २। ८६। अह व्याप्तौ—आनच्। तरो बलनाम—निघ० २। ६। ततः अर्शआद्यच्। अहाने व्याप्तौ तरसं बलयुक्तं व्यवहारम् (न) सम्प्रति—निरु० ७। ३१ (वि) विविधानि (चेतनानि) चेतनाः। ज्ञानानि (यज्ञानेतरसम्) सम्यानच् स्तुवः। उ० २। ८६। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु-आनच्, नकारश्छान्दसः। यज्ञे बलयुक्तं व्यवहारम् (न) सम्प्रति (पुरोगवामः) गु गतौ-लट्, परस्मैपदम्। गवते गतिकर्मा—निघ० २। १४। अग्रे भूत्वा गच्छामः प्राप्नुमः ॥

८—(उत) अपि (श्वेतः) शुक्लवर्णः सूर्यः (आशुपत्वाः) अशूप्रुषि-लटि०। उ० १। १५१। आशु+पत गतौ—कन्। हे शीघ्रगामिनः (उतो) निश्चयेन (पद्याभिः) पाद-यत्। पद्यत्यतदर्थे। पा० ६। ३। ५३। इति

चलने योग्य गतियों से (उतो) निश्चय करके (उत) अवश्य (ईम्) प्राप्ति योग्य (मानम्) परिमाण को (आशु) शीघ्र (पिपर्ति) पूरा करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने मार्ग में चलकर संसार का उपकार करता है, वैसे ही मनुष्य वेद मार्ग पर चलकर शीघ्र उपकार करें ॥ ८ ॥

आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेऽनु त इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः । इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु ॥ ९ ॥

आदित्याः । रुद्राः । वसवः । त्वे । अनु । ते । इदम् । राधः । प्रति । गृभ्णीहि । अङ्गिरः ॥ इदम् । राधः । विभु । प्रभु । इदम् । राधः । बृहत् । पृथु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे शूर सभापति !] (ते) वे (आदित्याः) अखण्ड ब्रह्मचारी, (रुद्राः) ज्ञान दाता और (वसवः) श्रेष्ठ विद्वान् लोग (त्वे अनु) तेरे पीछे पीछे हैं, (अङ्गिरः) हे विज्ञानी पुरुष ! (इदम्) इस (राधः) धन को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (गृभ्णीहि) तू ग्रहण कर । (इदम्) यह (राधः) धन (विभु) व्यापक और (प्रभु) बलयुक्त है, (इदम्) यह (राधः) धन (बृहत्) बहुत और (पृथु) विस्तीर्ण है ॥ ९ ॥

भावार्थ—शूर प्रतापी सभापति की सुनीति से सब लोग ब्राह्मण आदि चारो वर्ण अपना अपना कर्तव्य पूरा करें और विद्या और धन की वृद्धि से संसार में सुख बढ़ावें ॥ ९ ॥

पद्भावः । पादाय गमनाय हिताभिर्गतिभिः (यविष्ठः) अथ० १८ । ४ । ६१ । युवन्—इष्ठन् । अतिशयेन बलवान् सन् (उत) अवश्यम् (ईम्) प्राप्तव्यम् (आशु) शीघ्रम् (मानम्) परिमाणम् (पपर्ति) पूरयति ॥

९—(आदित्याः) अदिति-ण्य । अखण्डब्रह्मचारिणः (रुद्राः) रुतो ज्ञानस्य रातारो दातारः (वसवः) श्रेष्ठपुरुषाः (त्वे) विभक्तेः शे । त्वाम् (अनु) अनुसृत्य (ते) प्रसिद्धाः (इदम्) (राधः) धनम् (प्रति) प्रत्यक्षेण (गृभ्णीहि) गृहाण (अङ्गिरः) विज्ञानिन् (इदम्) (राधः) (विभु) व्यापकम् (प्रभु) समर्थम् (इदम्) (राधः) (बृहत्) बहु (पृथु) विस्तृतम् ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथ० ११ । ६ । १३; और १६ । ११ । ४ ॥

देवा ददुत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् ।

युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत ॥ १० ॥

देवाः । ददुतु । आसुरम् । तत् । वः । अस्तु । सुचेतनम् ॥

युष्मान् । अस्तु । दिवेदिवे । प्रति । एव । गृभायत ॥ १० ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (देवाः) विद्वान् लोग (आसुरम्) बुद्धिमत्ता (ददतु) देवें, (तत्) वह (वः) तुम्हारे लिये (सुचेतनम्) सुन्दर ज्ञान (अस्तु) होवे । (युष्मान्) तुम को वह (दिवेदिवे) दिन दिन (अस्तु) होवे, [उस को] (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (एव) ही (गृभायत) तुम ग्रहण करो ॥ १० ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों से शिक्षा लेकर सदा आनन्द पावें ॥१०॥

त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः ।

विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह ॥ ११ ॥

त्वम् । इन्द्र । शर्म । रिणाः । हव्यम् । परावतेभ्यः ॥ विप्राय । स्तुवते । वसुवनिम् । दुरश्रवसे । वह ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू ने (शर्म) शरण और (हव्यम्) हव्य [विद्वानों के योग्य अन्न] (परा-

---

१०—(देवाः) विद्वांसः (ददतु) प्रयच्छन्तु (आसुरम्) असुर-अण् भावे । असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्थाः—निरु० १० । ३४ । बुद्धिमत्त्वम् (तत्) आसुरम् (वः) युष्मभ्यम् (अस्तु) (सुचेतनम्) प्रशस्तं ज्ञानम् (युष्मान्) युष्मभ्यम् (अस्तु) (दिवेदिवे) दिने दिने (प्रति) प्रत्यक्षेण (एव) निश्चयेन (गृभायत) अ० ८ । ४ । १८ । गृह्णीत ॥

११—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (शर्म) शरणम् । सुखम् (रिणाः) री गतिरेषणयोः—लङ् । अरिणाः । प्रापितवानसि (हव्यम्) हु—

वतेभ्यः) पार और अवार देश वाले लोगों के लिये (रिणाः) पहुंचाया है। (स्तुवते) स्तुति करने वाले (विप्राय) बुद्धिमान के लिये (वसुवनिम्) धनों का सेवन (दुरश्रवसे) दुष्ट अपयश मिटाने को (वह) प्राप्त करा ॥११॥

भावार्थ–राजा दूर और समीप वाली प्रजा को शरण में रख कर विद्या और धन से उन की उन्नति करे ॥ ११ ॥

संहिता के (शर्मरिणाः) एक पद के स्थान पर [शर्म रिणाः] दो पद मानकर हम ने अर्थ किया है ॥

त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते ।
श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः ॥ १२ ॥

त्वम् । इन्द्र । कपोताय । छिन्नपक्षाय । वञ्चते ॥ श्यामाकम् । पक्वम् । पीलु । च । वाः । अस्मै । अकृणोः । बहुः ॥ १२ ॥

भाषार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू ने (अस्मै) इस (छिन्नपक्षाय) कटे पंख वाले, (वञ्चते) चलते हुये (कपोताय) कबूतर को (पक्वम्) पका हुआ (श्यामाकम्) श्यामा [समा अन्न], (पीलु) पीलु [फल विशेष] (च) और (वाः) जल (बहुः) बहुत बार (अकृणोः) किया है ॥१२

यत् । देवयोग्यान्नम् (पारावतेभ्यः) पार+अवार—वत्, अण्, पृषोदरादिरूपम्। पारावतघ्नीं पारावारघातिनीं पारं परं भवत्यवारमवरम् निरु० २। २४ । पारावारदेशे विद्यमानेभ्यः (विप्राय) मेधाविने (स्तुवते) स्तुतिं कुर्वते (वसुवनिम्) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । वसु+वन सम्भक्तौ-इन् । धनानां सेवनम् (दुरश्रवसे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इति तुमुनः कर्मणि चतुर्थी । दुर् दुष्टम् अश्रवः अपयशः, तन्नाशयितुम् । दुष्टापकीर्तिनाशनाय (वह) प्रापय ॥

१२—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (कपोताय) पक्षिविशेषाय (छिन्नपक्षाय) (वञ्चते) वञ्चु गतौ—शतृ । गच्छते (श्यामाकम्) क्षुद्रधान्यभेदम् (पक्वम्) (पीलु) फलविशेषम् (च) (वाः) जलम् (अस्मै) प्रसिद्धाय (अकृणोः) कृतवानसि (बहुः) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् । पा० ५ । ४ । १८ । इति सुच् बाहुलकात् । बहुवारम् ॥

भावार्थ—जैसे पंख कटे कबूतर को अन्न और जल देकर पुष्ट करते हैं, वैसे ही राजा दीन दुखियों को अन्न आदि देकर सुखी करे ॥ १२ ॥

अरं॒ग॒रो वा॑वदीति त्रे॒धा ब॒द्धो व॑र॒त्रया॑ ।

इरा॑मह॒ प्रशं॑स॒त्यनि॑रा॒मप॑ सेधति ॥ १३ ॥

अ॒र॒म्-ग॒रः । वा॒व॒दी॒ति॒ । त्रे॒धा । ब॒द्धः । व॒र॒त्रया॑ ॥ इरा॑म् । अह॒ । प्र॒शंस॒ति । अनि॑रा॒म् । अप॑ । से॒ध॒ति॒ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अरंगरः) पूरा विज्ञानी पुरुष (त्रेधा) तीन प्रकार से [स्थान, नाम और मनुष्य आदि जन्म से] (वरत्रया) रस्सी से (बद्धः) बंधा हुआ (वावदीति) बार बार कहता है। (इराम्) लेने योग्य अन्न को (अह) ही (प्रशंसति) वह सराहता है और (अनिराम्) निन्दित अन्न को (अप सेधति) हटाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—विद्वान् आप्त पुरुष अपना स्थान, नाम और जन्म सुधारने के लिये अधर्म को छोड़कर धर्म से अन्न आदि पदार्थ ग्रहण करे ॥ १३ ॥

सूक्तम् १३६ ॥

१—१६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २, ५, ७—९, १५ निचृदनुष्टुप्; ३ आर्ष्यनुष्टुप्; ४ भुरिगनुष्टुप्; ६, १०, ११, १६ अनुष्टुप्; १२ निचृत् ककुमुष्णिक्; १३ भुरिगार्ष्युष्णिक्; १४ उरोबृहती ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः— राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

यद॒स्या अंहु॒भेद्याः॑ कृ॒धु स्थू॒लमु॒पात॑सत् ।

१३—(अरंगरः) अलम्+गॄ विज्ञाने-अप्। पूर्णविज्ञानी पुरुषः (वावदीति) पुनः पुनर्वदति (त्रेधा) धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ९। २८। स्थाननामजन्मभिस्त्रिप्रकारेण (बद्धः) (वरत्रया) वृञश्चित्। उ० ३। १०७। वृञ् वरणे-अत्रन् चित्। रज्ज्वा (इराम्) ऋज्रेन्द्राग्र०। उ० २। २८। इण् गतौ-रन्, गुणाभावः। इरा अन्ननाम-निघ० २। ७। प्रापणीयमन्नम् (अह) अवश्यम् (प्रशंसति) स्तौति (अनिराम्) निन्दितमन्नम् (अप सेधति) अपगमयति निवारयति ॥

मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ १ ॥

यत् । अस्याः । अंहु-भेद्याः । कृधु । स्थूलम् । उप-अतसत् ॥

मुष्कौ । इत् । अस्याः । एजतः । गो-शफे । शकुलौ-इव ॥१॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(यत्) जब (अस्याः) इस (अंहुभेद्याः) पाप से नाश होने वाली [प्रजा] के (कृधु) छोटे और (स्थूलम्) बड़े [पाप] को (उपातसत्) वह [राजा] नाश करता है। (अस्याः) इस [प्रजा] के (मुष्कौ इत्) दोनों ही चोर [स्त्री और पुरुष चोर अथवा राति और दिन के] चोर (गोशफे) गौ के खुर के गढ़े में (शकुलौ इव) दो मछलियों के समान, (एजतः) कांपते हैं [डरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जब राजा न्याय से सब प्रजा के छोटे बड़े अपराध को मिटाता है, तब सब स्त्री पुरुष राति और दिन में पाप से कांपते हैं जैसे मछलियां थोड़े जल में घबराती हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है— २३। २८। और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ ३३२ में व्याख्यात है ॥

यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत् ।

विष्वञ्चा वस्या वर्धतः सिकतास्वेव गर्दभौ ॥ २ ॥

१—(यत्) यदा (अस्याः) अग्रे वर्तमानायाः (अंहुभेद्याः) भृमृशीङ्०। उ० १। ७। अम रोगे पीडने च—उप्रत्ययः, हुक् च। अंहुरः=अंहस्वान्—निरु० ६। २७। अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः। उ० ३। १५८। भिदिर् विदारणे—ईप्रत्ययः। अंहुना पापेन भेदनीया विदारणीया या सा अहुंभेदी तस्याः प्रजायाः (कृधु) ह्रस्वम्— निघ० ३। २। अल्पं पापम् (स्थूलम्) महत् पापम् (उपातसत्) तसु उपक्षये उपक्षेपे च—लङ् लडर्थे। उपक्षिपति नाशयति (मुष्कौ) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्। उ० ३। ४१। मुष स्तेये—कक्। तस्करौ। स्त्रीपुरुषरूपौ रात्रिदिवसभवौ चौरौ वा (इत्) एव (अस्याः) प्रजायाः (एजतः) कम्पेते । बिभीतः (गोशफे) गोखुरचिह्ने (शकुलौ) मद्गुरादयश्च। उ० १। ४१। शकल शक्तौ—उरच्, रस्य लः। मत्स्यौ (इव) यथा ॥

यदा । स्थूलेन । पससा । अणौ । मुष्कौ । उप । अवधीत् ॥
विष्वञ्चा । वस्या । वर्धतः । सिकतासु । एव । गर्दभौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदा) जब (स्थूलेन) बड़े (पससा) राज्य प्रबन्ध के साथ (अणौ) सूक्ष्म) न्याय के बीच (मुष्कौ) दोनों चोरों [स्त्री और पुरुष चोरों वा रात्रि और दिन के चोरों] को (उप अवधीत्) वह [राजा] मार डालता है। (विष्वञ्चा) सब ओर पूजनीय (वस्या) अति श्रेष्ठ दोनों [स्त्री और पुरुष], (सिकतासु) रेत वाले देशों में (गर्दभौ एव) दो श्वेत कमलों के समान, (वर्धतः) बढ़ते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जब राजा सूक्ष्म विचार के साथ सब दुष्ट चोरों को मिटा देता है, तभी श्रेष्ठ गुणवान् स्त्री पुरुष बढ़ते हैं, जैसे बालू के स्थानों में श्वेत कमल बढ़ता है ॥ २ ॥

यदल्पिकास्वल्पिका कर्कन्धुकेवपद्यते ।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति ॥ ३ ॥

यत् । अल्पिकासु । अल्पिका । कर्क-धुके । अव-पद्यते ॥
वासन्तिकम्-इव । तेजनम् । यन्ति । अवाताय । वित्पति ॥ ३

भाषार्थ—(यत्) जब (अल्पिकासु) छोटी प्रजाओं में (अल्पिका)

२—(यदा) (स्थूलेन) महता (पससा) अथ० ४।४।६। पस बन्धे बाधे च—असुन्। पसः=राष्ट्रम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० २३। २२। राज्यप्रबन्धेन (अणौ) सूक्ष्मे न्याये (मुष्कौ) म० १। तस्करौ (उप) व्याप्तौ (अवधीत्) हन्ति। नाशयति (विष्वञ्चा) विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। सर्वतः पूज्यौ (वस्या) वसु—ईयसुन्, ईकारलोपः। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। विभक्तेर्डा। वसीयसौ। अतिश्रेष्ठौ स्त्रीपुरुषौ (वर्धतः) (सिकतासु) पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। सिक सेचने—अतच्। बालुयुक्तभूमिषु (एव) सादृश्ये। इव (गर्दभौ) कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच्। उ० ३। १२२। गर्द शब्दे—अभच्। द्वे श्वेतकुमुदे ॥

३—(यत्) यदा (अल्पिकासु) क्षुद्रासु प्रजासु (अल्पिका) क्षुद्रा प्रजा

छोटी प्रजा (कर्कधूके) अग्नि के झोके में (अवपद्यते) कष्ट पाती है। [तब] (वित्पति) विद्वानों के पतन में (अवाताय) दुख मिटाने के लिये (वासन्तिकम् इव) वसन्त ऋतु में होने वाली [उत्तेजना) के समान (तेजनम्) उत्तेजना को (यन्ति) वे [शूर लोग] पाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—छोटी छोटी प्रजाओं पर अन्याय होने से बड़ों को हानि पहुंचती है, इस लिये शूर वीर पुरुष वसन्त ऋतु के समान उत्तेजित होकर शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

यद् देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः ।
सकुला देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ ४ ॥

यत् । देवासः । ललाम-गुम् । प्र । विष्टीमिनम् । आविषुः ॥
सकुला । देदिश्यते । नारी । सत्यस्य । अक्षिभुवः । यथा ॥४॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (देवासः) विद्वान् लोग (ललामगुम्) प्रधानता पहुंचाने वाले (विष्टीमिनम्) कोमलता से युक्त न्याय में (प्र आविषुः) प्रविष्ट हुये हैं। और (यथा) जैसे (सकुला) बाल बच्चों वाली (नारी)

(कर्कधूके) कृदाधा० । उ० ३ । ४० । डुकृञ् करणे—कप्रत्ययः, ककारस्य इत्संज्ञा न । सृवृभू० । उ० ३ । ४१ । धूञ् कम्पने—कक् । कर्कस्य अग्नेः धूके कम्पने (अवपद्यते) अवसीदति । दुःखं प्राप्नोति (वासन्तिकम्) वसन्ताच्च । पा० ४ । ३ । २० । वसन्त—ठञ् । वसन्ते भवं तेजनम् (इव) यथा (तेजनम्) उद्दीपनम् । उत्तेजनाम् । प्रेरणाम् (यन्ति) प्राप्नुवन्ति ते शूराः (अवाताय) वात गतौ सेवायां सुखीकरणे च—घञ् । वातं सुखम् अवातं दुःखम् । तत् नाशयितुम् (वित्पति) विद ज्ञाने—क्विप्+पत्लृ गतौ—क्विप् । विदां विदुषां पति अधःपतने ॥

४—(यत्) यथा (देवासः) विद्वांसः (ललामगुम्) प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । लल ईप्सायाम्—अमच् पृषोदरादिर्दीर्घः । गच्छतेः—डु । ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु—अमरः २३ । १४२ । प्राधान्यस्य गमयितारं प्रापयितारम् (प्र) (विष्टीमिनम्) वि+ष्टीम क्लेदे— घञ् । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । विष्टीम—इनि । विशेषेण आर्द्रभावेन कोमलत्वेन युक्तं

नारी [स्त्री] (अक्षिभुवः) आंखों से हुये [प्रत्यक्ष] (सत्यस्य) सत्य का (देदिश्यते) बार बार उपदेश करती है [वैसे ही राजा न्याय और उपदेश करे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज लोग न्याय करने से प्रधान हुये हैं, और जैसे माता सत्य का उपदेश करके सन्तानों को गुणी बनाती है, वैसे ही राजा प्रजा का हित करता रहे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२३ । २६ । और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३३४ में व्याख्यात है ॥

म॒हान॒ग्न्य॑तृप्नद्वि मोक्र॑द॒दस्था॑नासरन् ।
श॒क्तिका॒नना स्व॑चम॒शं॑कं सक्तु॑ पद्य॑म ॥ ५ ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । अ॑तृप्नत् । वि॒ । मोक्र॑दत् । अस्था॑ना । आ॒सरन् ॥ श॑क्तिका॒नना॑ः । स्व॑चम॒शं॑कम् । सक्तु॑ । पद्यं॑म ॥५॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [शारीरिक और आत्मिक बलों] को (वि) विशेष करके (अतृप्नत्) तृप्त करे, और (अस्थाना) अयोग्य स्थान में (आसरन्) आता हुआ (मोक्रदत्) न घबरावे । (शक्तिकाननाः) सामर्थ्य का प्रकाश करने वाले हम (स्वचमशकम्) ज्ञातियों

न्यायम् (आविषुः) अव रक्षणगतिप्रवेशादिषु—लुङ् । प्रविष्टवन्तः (सकुला) कुलैः सन्तानैः सह वर्त्तमाना (देदिश्यते) दिश दाने—यङ्प्रत्ययः । पुनः पुनरुपदेशं करोति (नारी) नरस्य स्त्री (सत्यस्य) यथार्थज्ञानस्य (अक्षिभुवः) अक्षि + भू—क्विप् । अक्षिभ्यां भवस्य प्रत्यक्षस्य (यथा) ॥

५—(महान्) समर्थः पुरुषः (अग्नी) प्रगृह्यत्वाभावः । अग्निरूपौ आत्मिकसामाजिकप्रतापौ (अतृप्नत्) तर्पयेत् (वि) विशेषेण (मोक्रदत्) क्रद, क्रदि वैकल्ये । नैव व्याकुलो भवेत् (अस्थाना) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः । अयोग्यस्थानम् (आसरन्) सृ गतौ—शतृ । आगच्छन् (शक्तिकाननाः) कन दीप्तौ—णिच्, ल्युट् । शक्तिं कानयन्ति दीपयन्तीति शक्तिकाननाः । सामर्थ्यप्रकाशकाः (स्वचमशकम्) अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । चमु अदने—असच् । तस्य शः, स्वार्थे कन् । स्वेभ्यो ज्ञातिभ्यः पिष्टकभेदं लड्डुकादिकम् (सक्तु) भ्रष्टयवादिचूर्णम् (पद्यम)

के लिये भोजन [लड्डू आदि] और (सक्तु) सत्तू (पदम) प्राप्त करें ॥५॥

भावार्थ—समर्थ मनुष्य अन्न आदि पदार्थों का संग्रह करके कठिन समय में अपने भाई बन्धुओं को पुष्ट करके रक्षा करे ॥ ५ ॥

म॒हान॒ग्न्यु॑लूखलमति॒क्राम॑न्त्यब्रवीत् ।

यथा॒ तव॑ वनस्पते॒ निर॑घ्नन्ति॒ तथै॒वति ॥ ६ ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । उ॒लूख॒लम् । अ॒ति॒क्राम॑न्ति । अ॒ब्र॒वी॒त् ॥

यथा॒ । तव॑ । वनस्पते॒ । निर॑घ्नन्ति॒ । तथा॑ । ए॒वति॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] से (उलूखलम्) ओखली को (अतिक्रामन्ति) लांघता है और (अब्रवीत्) कहता है—(वनस्पते) हे वनस्पति ! [काठ के पात्र] (यथा) जैसे (तव) तुझ में (निरघ्नन्ति) [लोग] कूटते हैं, (तथा) वैसे ही (एवति) ज्ञान के विषय में [होवे] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे ओखली में कूटकर सार पदार्थ लेते हैं, वैसे ही मनुष्य परिश्रम करके ज्ञान प्राप्त करें ॥ ६ ॥

म॒हान॒ग्न्युप॑ ब्रूते भ्र॒ष्टोथाप्य॑भूभुवः ।

यथै॒व ते॑ वनस्पते॒ पिप्प॑ति॒ तथै॒वति॥ ७ ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । उप॑ । ब्रू॒ते॒ । भ्र॒ष्टः । अथ । अपि । अ॒भू-

---

वयं प्राप्नुयाम ॥

६—(महान्) (अग्नी) सुपां सुलुक्० । पा० । ७ । १ । ३९ । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः, प्रगृह्यत्वाभावश्च । अग्निभ्याम् । आत्मिकसामाजिकबलाभ्याम् (उलूखलम्) धान्यादिकण्डनपात्रम् (अतिक्रामन्ति) एकवचनस्य बहुवचनम् । अतिक्रामति । उल्लंघयति (अब्रवीत्) ब्रवीति (यथा) (तव) त्वयि (वनस्पते) हे काष्ठमय पात्र (निरघ्नन्ति) अकारश्छान्दसः। निघ्नन्ति । नितरामाहननं कुर्वन्ति मनुष्याः (तथा) (एवति) वर्तमाने पृषद्बृहन्महद० । उ० २ । ८४ । इण् व्याप्तौ—अति, नकारलोपः । ज्ञानविषये ॥ ६ ॥

भुव॥ यथा । एव । ते । वनस्पते । पिप्पति । तथा । एवति ७

भाषार्थ—(महान्) महान्, (भ्रष्टः) परिपक्व, (अथ अपि) और भी (अभूभुवः) अशुद्धि का शोधने वाला पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] को (उप) पाकर (ब्रूते) कहता है— (वनस्पते) हे वनस्पति ! [काठ के पात्र ओखली] (यथा) जैसे (ते) तुझ में (पिप्पति) [मनुष्य] भरता है, (तथा एव) वैसे ही (एवति) ज्ञान के विषय में [होवे] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ के समान है ॥ ७ ॥

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोथाप्यभूभुवः ।
यथा वयो विदाह्य स्वर्गे नमवदह्यते ॥ ८ ॥

महान् । अग्नी इति । उप । ब्रूते । भ्रष्टः । अथ । अपि । अभूभुवः ॥ यथा । वयः । विदाह्य । स्वर्गे । नम् । अवदह्यते ८

भाषार्थ—(महान्) महान्, (भ्रष्टः) परिपक्व, (अथ अपि) और भी (अभूभुवः) अशुद्धि का शोधने वाला पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] को (उप) पाकर (ब्रूते) कहता है— (यथा) जैसे (वयः) जीवन को (विदाह्य) विविध प्रकार तपाकर (स्वर्गे)

७—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसामाजिकप्रतापौ (उप) उपेत्य । प्राप्य (ब्रूते) कथयति (भ्रष्टः) भ्रस्ज पाके—क्त । भृष्टः । परिपक्वः (अथ) अनन्तरम् (अपि) (अभूभुवः) भू सत्ताशुद्धिचिन्तनमिश्रणेषु—क्विप्+भूरञ्जिभ्यां कित् । उ० ४ । २१७ । भू शुद्धौ—असुन् कित् । अशुद्धि-शोधकः पुरुषः (यथा) (एव) (ते) त्वयि (वनस्पते) म० ६ (पिप्पति) पॄ पालनपूरणयोः पृषोदरादिरूपम् । पिपर्ति । पूरयति (तथा) (एवति) म० ॥ ६ ॥

८—(वयः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु—असुन् । जीवनम् (विदाह्य) दह दाहे । विविधं तपश्चरणेन तप्त्वा (स्वर्गे) सुखविशेषे (नम्) णह बन्धे—ड । बन्धम् (अवदह्यते) भस्मीकरोति

स्वर्ग में [सुख विशेष में] (नम्) बन्धन को (अवदह्यते) [विद्वान्] भस्म करदेता है, [वैसे ही मनुष्य करे] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध चित्त से बल बढ़ाकर विद्वानों के समान ब्रह्मचर्य आदि तप करके दुखों से मुक्त होवे ॥ ८ ॥

महानग्न्युप ब्रूते स्वसावेशितं पसः ।

इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि ॥ ९ ॥

महान् । अग्नी इति । उप । ब्रूते । स्वसा । आ-वेशितम् । पसः ॥ इत्थम् । फलस्य । वृक्षस्य । शूर्पे । शूर्पम् । भजेमहि ॥९

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और समाजिक बलों] को (उप) पाकर (स्वसा) सुन्दर गति [उपाय] से (आवेशितम्) प्राप्त हुये (पसः) राज्य प्रबन्ध के विषय में (ब्रूते) कहता है—[कि] (इत्थम्) इसी प्रकार से (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (फलस्य) फल के (शूर्पे) एक सूप में (शूर्पम्) दूसरे सूप को (भजेमहि) हम सेवें ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अन्न आदि पदार्थ को सूप से लगातार शुद्ध करते हैं, वैसे ही राज्य का प्रबन्ध सदा विचार से करना चाहिये ॥ ९ ॥

महानग्नी कृकवाकं शम्यया परि धावति ।

अयं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम् ॥ १० ॥

महान् । अग्नी इति । कृकवाकम् । शम्यया । परि । धावति ॥

विनाशयति विद्वान् । अन्यद् गतम्—म० ७ ।

९—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसमाजिकप्रतापौ (उप) प्राप्य (ब्रूते) (स्वसा) सु + असु गतिदीप्त्यादानेषु-क्विप् । सुगत्या । उचितोपायेन (आवेशितम्) प्राप्तम् । रक्षितम् (पसः) म० २ । राज्यप्रबन्धम् (इत्थम्) एवम् (फलस्य) (वृक्षस्य) वृञ् वरणे—क्स । स्वीकरणीयस्य (शूर्पे) शूर्प माने-घञ् । एकस्मिन् धान्यस्फोटके (शूर्पम्) अन्यं शूर्पम् (भजेमहि) सेवेमहि ॥ ९ ॥

अयम् । न । विद्म । यः। मृगः। शीर्ष्णा । हरति । धाणिकाम् ॥१०

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] से और (शम्यया) जूये की कील [के समान शस्त्र] से (कृकवाकम् परि) बनावटी बोली वाले पर (धावति) दौड़ता है। [उसको] (न) अब (विद्म) हम जानते हैं, (अयम् यः) यह जो (मृगः) पशु [के तुल्य मूर्ख] (शीर्ष्णा) शिर से [कल्पित विचार से] (धाणिकाम्) बस्ती [राजधानी आदि] को (हरति) लूटता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ठग छल से झूठी बनावटी बोली बोल कर राजधानी आदि बस्ती को लूटें, राजा उन को यथावत् दण्ड देवे ॥ १० ॥

महान्ग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति ।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम् ॥ ११ ॥

महान् । अग्नी इति । महान् । अग्नम् । धावन्तम् । अनु । धावति ॥ इमाः । तत् । अस्य । गाः । रक्ष । यभ । माम् । अद्धि । ओदनम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के, और (महान्) महान् पुरुष (अग्नम्) ज्ञानवान्

१०—(महान्) (अग्नी) म० ६ । अग्निभ्याम् । आत्मिकसामाजिक-बलाभ्याम् (कृकवाकम) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ करोतेः—कक्+वच कथने-घञ् । कृकः कृत्रिमः कल्पितो वाको वचनं यस्य तम् । कृत्रिमवाचिनम् (शम्यया) अथ० ६ । १३८ । ४ । शान्तिकरेण युगकीलतुल्य-शस्त्रेण (परि) प्रति (धावति) शीघ्रं गच्छति (अयम्) (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ (विद्म) जानीमः (यः) (मृगः) पशुतुल्यो मूर्खः (शीर्ष्णा) शिरसा । कल्पितविचारेण (हरित) लुण्टति (धाणिकाम्) आणको लूधू-शिङ्घिधाञ्भ्यः । उ० ३ । ८३ । दधातेः—आणकप्रत्ययः, टाप् अत इत्वम् । बस्तीम् । राजधान्यादिकाम् ॥

११—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसामाजिकपराक्रमौ (महान्) (अग्नम्) धाप्वस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । अग गतौ—न प्रत्ययः । ज्ञान-

(धावन्तम् अनु) दौड़ते हुये के पीछे (धावति) दौड़ता है। (तत्) सो (अस्य) इस [पुरुष] को (इमाः) इन (गाः) भूमियों की (रक्ष) रक्षा कर, (यम) हे न्यायकारी ! (माम्) मुझको (औदनम्) भोजन (अद्धि) खिला ॥ ११ ॥

भावार्थ—महान् पुरुष आत्मिक और सामाजिक बल प्राप्त करके ज्ञानियों का अनुकरण करे, और राज्य की रक्षा करके प्रजा को पाले ॥ ११ ॥

सुदेवस्त्वा महानंग्नीर्बबाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुसं पीवरो नवत् ॥ १२ ॥

सुदेवः । त्वा । महान् । अग्नीः । बबाधते । महतः । साधु । खोदनम् ॥ कुसम् । पीवरः । नवत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा जन !] (सुदेवः) बड़ा विजय चाहने वाला, (महान्) महान् पुरुष (त्वा) तुझ से (महतः) बड़े (अग्नीः) अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के द्वारा (खोदनम) खोदने के कर्म [सेंध सुरंग आदि] को (साधु) भले प्रकार (बबाधते) रोकता है । (पीवरः) पुष्टाङ्ग पुरुष (कुसम्) आपस में मिलाप को (नवत) प्राप्त करे ॥ १२ ॥

वन्तम् (धावन्तम्) शीघ्रं गच्छन्तम् (अनु) अनुकृत्य (धावति) शीघ्रं गच्छति (इमाः) (तत्) ततः (अस्य) पुरुषस्य (गाः) भूमीः (रक्ष) (यम) मस्य भः । हे यम । न्यायकारिन् (माम्) प्रजाजनम् (अद्धि) अद भक्षणे, अन्तर्गतणिजर्थः । आदय । खादय (औदनम्) स्वार्थे अण् । भोजनम् ॥

१२—(सुदेवः) सुविजिगीषुः (त्वा) प्रजाजनसकाशात् (महान्) (अग्नीः) अग्नीन् । आत्मिकसामाजिकपराक्रमैः—इत्यर्थः (बबाधते) बाधते । निवारयति (महतः) विशालान् । विशालैः (साधु) यथा तथा । यथावत् प्रकारेण (खोदनम्) खुड संवरणे भेदने च—ल्युट् । भेदनम् । सन्धिकरणम् । (कुसम्) कुस संश्लेषणे— क, परस्परसंगमनम् (पीवरः) अर्त्तिकमिभ्रमि० । उ० ३ । १३२ । पीव स्थौल्ये—अरप्रत्ययः, स च चित् । पुष्टः पुरुषः (नवत्) नवत इति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । प्राप्नुयात् ॥

भुवः ॥ यथा । एव । ते । वनस्पते । पिप्पति । तथा । एवति ७

भाषार्थ—(महान्) महान्, (भ्रष्टः) परिपक्व, (अथ अपि) और भी (अभूभुवः) अशुद्धि का शोधने वाला पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] को (उप) पाकर (ब्रूते) कहता है— (वनस्पते) हे वनस्पति ! [काठ के पात्र ओखली] (यथा) जैसे (ते) तुझ में (पिप्पति) [मनुष्य] भरता है, (तथा एव) वैसे ही (एवति) ज्ञान के विषय में [होवे] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ के समान है ॥ ७ ॥

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोथाप्यभूभुवः ।
यथा वयो विदाह्य स्वर्गे नमवदह्यते ॥ ८ ॥

महान् । अग्नी इति । उप । ब्रूते । भ्रष्टः । अथ । अपि । अभूभुवः ॥ यथा । वयः । विदाह्य । स्वर्गे । नम् । अवदह्यते ८

भाषार्थ—(महान्) महान्, (भ्रष्टः) परिपक्व, (अथ अपि) और भी (अभूभुवः) अशुद्धि का शोधने वाला पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] को (उप) पाकर (ब्रूते) कहता है— (यथा) जैसे (वयः) जीवन को (विदाह्य) विविध प्रकार तपाकर (स्वर्गे)

७—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसामाजिकप्रतापौ (उप) उपेत्य । प्राप्य (ब्रूते) कथयति (भ्रष्टः) भ्रस्ज पाके—क्त । भृष्टः । परिपक्वः (अथ) अनन्तरम् (अपि) (अभूभुवः) भू सत्ताशुद्धिचिन्तनमिश्रणेषु— क्विप्+भूरञ्जिभ्यां कित् । उ० ४ । २१७ । भू शुद्धौ—असुन् कित् । अशुद्धि- शोधकः पुरुषः (यथा) (एव) (ते) त्वयि (वनस्पते) म० ६ (पिप्पति) पॄ पालनपूरणयोः पृषोदरादिरूपम् । पिपर्ति । पूरयति (तथा) (एवति) म० ॥ ६ ॥

८—(वयः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । वी गतिव्याप्तिप्रजनना- दिषु—असुन् । जीवनम् (विदाह्य) दह दाहे । विविधं तपश्चरणेन तप्त्वा (स्वर्गे) सुखविशेषे (नम्) णह बन्धे—ड । बन्धम् (अवदह्यते) भस्मीकरोति

स्वर्ग में [सुख विशेष में] (नम्) बन्धन को (अवदह्यते) [विद्वान्] भस्म करदेता है, [वैसे ही मनुष्य करे] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध चित्त से बल बढ़ाकर विद्वानों के समान ब्रह्मचर्य आदि तप करके दुखों से मुक्त होवे ॥ ८ ॥

म॒हाना॒ग्न्युप॑ ब्रूते स्वसा॒वेशि॑तं॒ पसः॑ ।

इ॒त्थं फल॑स्य॒ वृक्ष॑स्य॒ शूर्पे॑ शूर्पं॒ भजे॑महि ॥ ९ ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । उप॑ । ब्रू॒ते । स्वसा॑ । आ॒ऽवेशि॑त॒म् । पसः॑ ॥ इ॒त्थम् । फल॑स्य । वृक्ष॑स्य । शूर्पे॑ । शूर्प॒म् । भजे॑महि ।९

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और समाजिक बलों] को (उप) पाकर (स्वसा) सुन्दर गति [उपाय] से (आवेशितम्) प्राप्त हुये (पसः) राज्य प्रबन्ध के विषय में (ब्रूते) कहता है—[कि] (इत्थम्) इसी प्रकार से (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (फलस्य) फल के (शूर्पे) एक सूप में (शूर्पम्) दूसरे सूप को (भजेमहि) हम सेवें ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अन्न आदि पदार्थ को सूप से लगातार शुद्ध करते हैं, वैसे ही राज्य का प्रबन्ध सदा विचार से करना चाहिये ॥ ९ ॥

म॒हान॒ग्नी कृ॑कवाकं॒ शम्य॑या॒ परि॑ धावति ।

अ॒यं न वि॒द्म यो मृ॒गः शी॒र्ष्णा ह॑रति॒ धाणि॑काम् ॥ १० ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । कृ॑कवाक॒म् । शम्य॑या । परि॑ । धा॒व॒ति ॥

विलासयति विद्वान् । अन्यद् गतम्—म० ७ ।

९—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसमाजिकप्रतापौ (उप) प्राप्य (ब्रूते) (स्वसा) सु + अस गतिदीप्त्यादानेषु-क्विप् । सुगत्या । उचितोपायेन (आवेशितम्) प्राप्तम् । रक्षितम् (पसः) म० २ । राज्यप्रबन्धम् (इत्थम्) एवम् (फलस्य) (वृक्षस्य) वृञ् वरणे—क । स्वीकरणीयस्य (शूर्पे) शूर्प माने-अच् । एकस्मिन् धान्यस्फोटके (शूर्पम्) अन्यं शूर्पम् (भजेमहि) सेवेमहि ॥ ९ ॥

अयम् । न । विद्म । यः । मृगः । शीर्ष्णा । हरति । धाणिकाम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] से और (शम्यया) जूये की कील [के समान शस्त्र] से (कृकवाकम् परि) बनावटी बोली वाले पर (धावति) दौड़ता है। [उसको] (न) अब (विद्म) हम जानते हैं, (अयम् यः) यह जो (मृगः) पशु [के तुल्य मूर्ख] (शीर्ष्णा) शिर से [कल्पित विचार से] (धाणिकाम्) बस्ती [राजधानी आदि] को (हरति) लूटता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ठग छल से झूंठी बनावटी बोली बोल कर राजधानी आदि बस्ती को लूटें, राजा उन को यथावत् दण्ड देवे ॥ १० ॥

म॒हान॒ग्नी म॒हान॒ग्नं धाव॑न्त॒मनु॑ धावति ।

इ॒मास्तद॑स्य॒ गा र॑क्ष॒ यभ॒ माम॑द्ध्यौद॒नम् ॥ ११ ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । म॒हान् । अ॒ग्नम् । धाव॑न्तम् । अनु॑ । धावति ॥ इ॒माः । तत् । अ॒स्य॒ । गाः । र॑क्ष॒ । यभ॒ । माम् । अ॒द्धि॒ । ओ॒द॒नम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के, और (महान्) महान् पुरुष (अग्नम्) ज्ञानवान्

१०—(महान्) (अग्नी) म० ६ । अग्निभ्याम् । आत्मिकसामाजिकबलाभ्याम् (कृकवाकम) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ करोतेः—कक्+वच कथने-घञ् । कृकः कृत्रिमः कल्पितो वाको वचनं यस्य तम् । कृत्रिमवाचिनम् (शम्यया) अथ० ६ । १३८ । ४ । शान्तिकरेण युगकीलतुल्यशस्त्रेण (परि) प्रति (धावति) शीघ्रं गच्छति (अयम्) (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ (विद्म) जानीमः (यः) (मृगः) पशुतुल्यो मूर्खः (शीर्ष्णा) शिरसा । कल्पितविचारेण (हरति) लुण्टति (धाणिकाम्) आणको लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः । उ० ३ । ८३ । दधातेः—आणकप्रत्ययः, टाप् अत इत्वम् । वस्तीम् । राजधान्यादिकाम् ॥

११—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसामाजिकपराक्रमौ (महान्) (अग्नम्) धाप्वस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । अग गतौ—न प्रत्ययः । ज्ञान-

(धावन्तम् अनु) दौड़ते हुये के पीछे (धावति) दौड़ता है । (तत्) सो (अस्य) इस [पुरुष] को (इमाः) इन (गाः) भूमियों की (रक्ष) रक्षा कर, (यभ) हे न्यायकारी ! (माम्) मुझको (औदनम्) भोजन (अद्धि) खिला ॥ ११ ॥

भावार्थ—महान् पुरुष आत्मिक और सामाजिक बल प्राप्त करके ज्ञानियों का अनुकरण करे, और राज्य की रक्षा करके प्रजा को पाले ॥ ११ ॥

सुदेवस्त्वा महानग्नीर्बबाधते महतः साधु खोदनम् ।

कुसं पीवरो नवत् ॥ १२ ॥

सुदेवः । त्वा । महान् । अग्नीः । बबाधते । महतः । साधु । खोदनम् ॥ कुसम् । पीवरः । नवत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा जन !] (सुदेवः) बड़ा विजय चाहने वाला, (महान्) महान् पुरुष (त्वा) तुझ से (महतः) बड़े (अग्नीः) अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के द्वारा (खोदनम्) खोदने के कर्म [सेंध सुरंग आदि] को (साधु) भले प्रकार (बबाधते) रोकता है । (पीवरः) पुष्टाङ्ग पुरुष (कुसम्) आपस में मिलाप को (नवत्) प्राप्त करे ॥ १२ ॥

वन्तम् (धावन्तम्) शीघ्रं गच्छन्तम् (अनु) अनुकृत्य (धावति) शीघ्रं गच्छति (इमाः) (तत्) ततः (अस्य) पुरुषस्य (गाः) भूमीः (रक्ष) (यभ) मस्य भः । हे यम । न्यायकारिन् (माम्) प्रजाजनम् (अद्धि) अद भक्षणे, अन्तर्गतणिजर्थः । आदय । खादय (औदनम्) स्वार्थे अण् । भोजनम् ॥

१२—(सुदेवः) सुविजिगीषुः (त्वा) प्रजाजनसकाशात् (महान्) (अग्नीः) अग्नीन् । आत्मिकसामाजिकपराक्रमैः—इत्यर्थः (बबाधते) बाधते । निवारयति (महतः) विशालान् । विशालैः (साधु) यथा तथा । यथावत् प्रकारेण (खोदनम्) खुड संवरणे भेदने च—ल्युट् । भेदनम् । सन्धिकरणम् । (कुसम्) कुस संश्लेषणे— क, परस्परसंगमनम् (पीवरः) अर्त्तिकमिभ्रमि० । उ० ३ । १३२ । पीव स्थौल्ये—अरप्रत्ययः, स च चित् । पुष्टः पुरुषः (नवत्) नवत इति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । प्राप्नुयात् ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा के मेल से चोर आदि दुष्ट लोग प्रजा को न सतावें ॥ १२ ॥

वशा दुग्धामिमाङ्गुरिं प्रसृजतोग्रतं परे ।
महान् वै भद्रो यभ मामद्धयौदनम् ॥ १३ ॥

वशा । दुग्धाम्-इम । अङ्गुरिम् । प्रसृजत । उग्रतम् । परे ॥
महान् । वै । भद्रः । यभ । माम् । अद्धि । औदनम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वशा) बन्ध्या [निष्फल] (उग्रतम्) उग्रता [प्रचण्ड नीति] को (दुग्धाम्) जली हुई (अङ्गुरिम् इम) अंगुरी के समान (परे) दूर (प्रसृजत) सर्वथा छोड़ो । (महान्) महान् पुरुष (वै) ही (भद्रः) मंगलदाता है, (यभ) हे न्यायकारी ! (माम) मुझ को (औदनम्) भोजन (अद्धि) तू खिला ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे सांप आदि के विष से जले हुये अंगुली आदि अङ्ग को शरीर की रक्षा के लिये शीघ्र काटकर फैंक देते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निष्फल प्रचण्ड नीति को छोड़कर प्रजा को सुख देवें ॥ १३ ॥

विदेवस्त्वा महानग्नीर्विबाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्द भस्मा कु धावति ॥ १४ ॥

विदेवः । त्वा । महान् । अग्नीः । विबाधते । महतः । साधु । खोदनम् । कुमारिका । पिङ्गलिका । कार्द । भस्मा । कु । धावति ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा जन !] (विदेवः) मद रहित [निरहंकारी],

१३—(वशा) विभक्तेर्लुक् । वशाम् । बन्ध्याम् । निष्फलाम् (दुग्धाम्) विषदग्धाम् (इम) वस्य मः । इव । यथा (अङ्गुरिम्) अङ्गुलिम् (प्रसृजत) सर्वथा त्यजत (परे) दूरे (महान्) (वै) एव (भद्रः) मङ्गलप्रदः । अन्यद् गतम्—म० ॥ ११ ॥

१४—(विदेवः) दिवु क्रीडामदादिषु- कच् । विगतमदः । निरहंकारः

(महान्) महान् पुरुष (त्वा) तुझ से (महतः) बड़े (अग्नीः) अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के द्वारा (खोदनम्) खोदने के कर्म [सेंध सुरंग आदि] को (साधु) भले प्रकार (विबाधते) हटा देता है। (पिङ्गलिका) शोभायमान (कुमारिका) कामना योग्य कुमारी [कन्या] (कार्द) कीचड़ और (भस्मा) भस्म [राख आदि] को (कु) भूमि पर (धावति) शुद्ध कर देती है ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा मिलकर चोर आदि दुष्टों को हटावें, जैसे शुद्ध स्वभाव वाली स्त्री कूड़े करकट को घर से बाहिर फेंक देती है ॥ १४ ॥

म॒हान् वै भ॒द्रो बिल्वो॑ म॒हान् भ॒द्र उ॑दु॒म्बरः॑ ।
म॒हाँ अ॑भि॒क्त बाधते म॒ह॒तः साधु खो॒दन॑म् ॥ १५ ॥

म॒हान् । वै । भ॒द्रः । बिल्वः॑ । म॒हान् । भ॒द्रः । उ॒दु॒म्बरः॑ ॥
म॒हान् । अ॒भि॒क्त । बाध॑ते । म॒ह॒तः । साधु । खो॒दन॑म् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(भद्रः) मंगल दाता (महान्) महान् पुरुष (वै) ही (बिल्वः) बेल [वृक्ष के समान उपकारी] है, (भद्रः) मंगल दाता (महान्) महान् पुरुष (उदुम्बरः) गूलर [वृक्ष के समान उपकारी] है। (अभिक्त) हे

पुरुषः (विबाधते) निवारयति (कुमारिका) कमेः किदुच्चोपधायाः । उ० ३ । १३८ । कमु कान्तौ—आरन्, कन् टाप् अकारस्य,उकारः, अत इत्वम् । कमनीया कन्या (पिङ्गलिका) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । पिजि दीप्तौ, वासे, बले, हिंसायां दाने च—कलप्रत्ययः, कन्, टाप्, अत इत्वम् । दीप्यमाना । शोभमाना (कार्द) कर्द कुत्सिते शब्दे—घञ्, विभक्तेर्लुक् । कार्दम् कर्दमम् । पङ्कम् (भस्मा) छान्दसो दीर्घः । भस्म । दग्धगोमयादिविकारम् (कु) कौ । भूम्याम् (धावति) धावु गतिशुद्धयोः । शोधयति । अन्यद् यथा म० ॥ १२ ॥

१५—(महान्) (वै) एव (भद्रः) मङ्गलप्रदः (बिल्वः) उल्वादयश्च । उ० ४ । ९५ । बिल भेदने—वन् । फलवृक्षविशेषः । शिवद्रुमः (महान्) (भद्रः) (उदुम्बरः) पृभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । उड संहतौ सौत्रो धातुः—कु । संज्ञायां भृतॄवृ० । पा० ३ । २ । ४६ । उडु+वृञ् वरणे—खच्, मुम् च, डस्य दः, वस्य बः । वृक्षविशेषः । जन्तुफलः । यज्ञीयः (महान्) (अभिक्त) अभि+अञ्जू

विख्यात ! (महान्) महान् पुरुष (महतः) बड़े [आत्मिक और सामाजिक बलों—म० १४] से (खोदनम्) खोदने के कर्म [सेंध सुरंग आदि] को (साधु) भले प्रकार (बाधते) हटाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—सब महान् पुरुष प्रयत्न करके प्रजा को दुष्टों से बचावें ॥१५॥

यः कुमारी पिङ्गलिका वसन्तं पीवरी लभेत् ।
तैलकुण्डमिमाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुदमुद्धरेत् ॥ १६ ॥

यः । कुमारी । पिङ्गलिका । वसन्तम् । पीवरी । लभेत् ॥
तैलकुण्डम्-इम । अङ्गुष्ठम् । रोदन्तम् । शुदम् । उद्धरेत् ॥१६

भाषार्थ—(पीवरी) पुष्टाङ्गी, (पिङ्गलिका) शोभायमान, (कुमारी) कामनायोग्य कुमारी [कन्या] (यः) प्रयत्न से (वसन्तम्) वसन्त राग को (लभेत्) प्राप्त होवे ! [वैसे ही राजा] (तैलकुण्डम्) [तप्त हुये] तैलकुण्ड में डाले हुये (अङ्गुष्ठम् इम) अंगूठे [अंगुली] को जैसे [वैसे] (रोदन्तम्) रोते हुये (शुदम्) ज्ञान दाता का (उद्धरेत्) उद्धार करे [ऊंचा उठावे ॥१६॥

भावार्थ—जैसे स्त्रियां प्रसन्न होकर वसन्त राग को गाती हैं, वैसे ही राजा प्रसन्न होकर क्लेश में पड़े हुये विद्वानों को उठावे, जैसे तपे हुये तेल में से अंगुली को उठा लेते हैं ॥ १६ ॥

इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि ॥

व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु:—क, अकारलोपः । अभ्यक्त । हे विख्यात (बाधते) निवारयति । अन्यद् यथा म० ॥ १२ ॥

१६—(यः) यसु प्रयत्ने—क्विप्, विभक्तेर्लुक् । यसा । प्रयत्नेन (कुमारी) म० १४ । कमु कान्तौ—आरन्, ङीप् । कमनीया कन्या (पिङ्गलिका) म० १४ शोभमाना (वसन्तम्) तॄभूवहिवसि० । उ० ३ । १२८ । वस निवासे—झच् । रागविशेषम् (पीवरी) म० १२ । पीवरङीप् । पुष्टाङ्गी (लभेत्) प्राप्नुयात् (तैलकुण्डम्) पचाद्यच् । तप्ततैलकुण्डेन युक्तम् (इम) म० १३ । इव । यथा (अङ्गुष्ठम्) अङ्गु+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क । अम्बाम्बगोभू० । पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । अङ्गौ हस्ते पादे वा तिष्ठतीति । अम्बाम्बेति सूत्रे अङ्गु शब्द-प्रयोगः । कृद्धाङ्गुलिः । अङ्गुलिम् (रोदन्तम्) रोदनं कुर्वन्तम् क्लेशं प्राप्तम् (शुदम्) शुन गतौ—डु+ ददातेः—क । ज्ञानदातारम् (उद्धरेत्) हृञ् हरणे ऊर्ध्वं नयेत्

सूक्तम् १३७ ॥

१—१४ ॥ १ अलक्ष्मीघ्नम्; २ विश्वे देवाः; ३ दधिक्रावा; ४—६ पवमानः सोमः; ७, ८, १०—१४ इन्द्रः; ९ इन्द्राबृहस्पती देवते ॥ १, ६ निचृदनुष्टुप्; २ निचृज् जगती; ३—५ अनुष्टुप्; ७, ८, १० निचृत् त्रिष्टुप्; ९ विराट् त्रिष्टुप्; ११ आर्षी पङ्क्तिः; १२—१४ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः ।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥ १ ॥

यत् । ह । प्राचीः । अजगन्त । उरः । मण्डूर-धाणिकीः ॥
हताः । इन्द्रस्य । शत्रवः । सर्वे । बुद्बुद-याशवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मण्डूरधाणिकीः) हे विभाग धारण करने वाली (उरः) मारू सेनाओ ! (प्राचीः) आगे बढ़ती हुई (यत् ह) जभी (अजगन्त) तुम चली हो । [तभी] (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के (सर्वे) सब (शत्रवः) वैरी लोग (बुद्बुदयाशवः) बुद्बुदों के समान चलने वाले और फैलने वाले होकर (हताः) मारे गये ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा व्यूह रचना से टुकरो टुकरी करके सुशिक्षित सेना के

१—(यत्) यदा (ह) एव (प्राचीः) प्रकर्षेण अंचन्त्यः। प्रकृष्टगमानाः सत्यः (अजगन्त) गमेर्लङि मध्यमबहुवचने छान्दसः शपः श्लुः। तप्तनप्तनथाश्च। पा० ७। १। ४५। तस्य तबादेशः। अगच्छत यूयम (उरः) उर्वी हिंसायाम्—क्विप्। राल्लोपः। पा० ६। ४। २१। वलोपः, ततो जसि रूपम्। हे हिंसित्र्यो मारणशीलाः सेनाः (मण्डूरधाणिकीः) मीनातेरूरन्। उ० १। ६७। मडि विभाजने भूषायां हर्षे च—ऊरन्। आणको लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः। उ० ३। ८३ दधातेः—आणकप्रत्ययः, ङीप्, इत्वं च। हे विभागस्य धारयित्र्यः व्यूहेन (हताः) नष्टाः (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो राज्ञः (शत्रवः) (सर्वे) (बुद्बुदयाशवः) बुद आलोचने प्रणिधाने—क्विप्+बुद आलोचने+क। यन्ति गच्छन्तीति याः, या—क्विप्। अश्नुवत इत्याशवः, अशू व्याप्तौ—उण्। बुद्बुदवत् जलस्य गोलाकारविकारवत् यातारो व्यापनशीलाश्च सन्तः॥

द्वारा शत्रुओं को बुदबुदों के समान निर्बल करके मारे ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १५५ । ४ ॥

कपृन्नरः कपृथमुद् दधातन चोदयत खुदत वाजसातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥२

कपृत् । नरः । कपृथम् । उत् । दधातन । चोदयत । खुदत । वाज-सातये ॥ निष्टिग्र्यः । पुत्रम् । आ । च्यवय । ऊतये । इन्द्रम् । स-बाधः । इह । सोम-पीतये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कपृत्) हे सुख से भरने वाले, (नरः) नरो ! [नेताओं] (सबाधः) नाश के रोकने वाले होकर तुम (कपृथम्) सुख से भरने वाले, (निष्टिग्र्यः) निश्चित इष्ट क्रिया की बताने वाली [माता] के (पुत्रम्) पुत्र (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले शूर] को (वाजसातये) धनों के पाने के लिये (सोमपीतये) सोम [तत्त्व रस] पीने के लिये और (ऊतये) रक्षा के लिये (इह) यहां पर (उत्) अच्छे प्रकार (दधातन) धारण करो, (चोदयत) आगे बढ़ाओ, (खुदत) सुखी करो और (आ) सब ओर से (च्यवय) उत्साही करो ॥ २ ॥

भावार्थ—नेता लोग बड़े गुणी शूर पुरुष को प्रजा की रक्षा के लिये

२—(कपृत्) कं सुखम्+पृ पूर्तौ—क्विप् तुक् च,विभक्तेर्लुक् । हे कपृतः सुखेन पूरकाः (नरः) हे नेतारः (कपृथम्) हनिकुषिनी० । उ० २ । २ । क+ पृ पूर्तौ—क्थन् । सुखेन पूरयितारम् (उत्) उत्कर्षेण (दधातन) धारयत (चोदयत) प्रेरयत (खुदत) खुर्द क्रीडायाम् , रेफलोपः । क्रीडयत । सुखयत (वाजसातये) धनानां लाभाय (निष्टिग्र्यः) नि+इष्टि, पृषोदरादिरूपम्+गॄ विज्ञापने—क्विप् । निष्टिम् निश्चिताम् इष्टिम् इष्टक्रियां गारयते विज्ञापयतीति निष्टिग्रीः तस्या जनन्याः (पुत्रम्) (आ) समन्तात (च्यवय) च्यु सहने, एकवचनं छान्दसम् । च्यवयत । उत्साहिनं कुरुत (ऊतये) रक्षायै (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं शूरम् (सबाधः) स्यतीति सः । षो अन्तकर्मणि—ड+बाधृ लोडने प्रतिघाते—क्विप् । सबाधः ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । नाशस्य प्रतिघातकाः (इह) अत्र (सोमपीतये) तत्त्वरसपानाय ॥

राजा बनावें और सब प्रकार उत्साही करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है १० । १०१ । १२ ॥

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ३ ॥

दधि-क्राव्णः । अकारिषम् । जिष्णोः । अश्वस्य । वाजिनः ॥
सुरभि । नः । मुखा । करत् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ३

भाषार्थ—(दधिक्राव्णः) चढ़ाकर चलने वाले वा हींसने वाले (जिष्णोः) जीतने वाले, (वाजिनः) वेगवान् (अश्वस्य) घोड़े के (अकारिषम्) कर्म को मैं ने किया है । वह [कर्म] (नः) हमारे (मुखा) मुखों को (सुरभि) ऐश्वर्य युक्त (करत्) करे और (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे शीघ्र गामी घोड़ा मार्ग को जीतकर अश्वसवार को लेकर ठिकाने पर पहुंचकर सुख पाता है, वैसे ही विद्वान् पराक्रमी अपना कर्तव्य पूरा करके यश प्राप्त करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—४ । ३९ । ६; यजु० २३ । ३२; साम० पू० ४।७।७॥

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।

३—(दधिक्राव्णः) अथ० ३ । १६ । ६ । डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि, दधि+क्रमु पादविक्षेपे वा क्रदि आह्वाने, क्रन्द सातत्यशब्दे - वनिप् । दधिक्रावा अश्वनाम—निघ० १ । १४ । दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारो भवतीति वा—निरु० २ । २७ । दधिः, धारयिता सन् क्रामतीति वा क्रन्दतीति वा दधिक्रावा, तस्य तथाभूतस्य (अकारिषम्) अहं कर्म कृतवानस्मि (जिष्णोः) मार्गजयशीलस्य (अश्वस्य) तुरंगस्य (वाजिनः) शीघ्रगामिनः, (सुरभि) अ० १२ । १ । २३ । सुर ऐश्वर्यदीप्त्योरित्यस्माद् बाहुलयकादौणादिकोऽभिच् प्रत्ययः—इति दयानन्दो यजु० १२ । ३५ । सुरभीणि ऐश्वर्यवन्ति (नः) अस्माकम् (मुखा) मुखानि (करत्) कुर्यात् तत् कर्म (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि (प्र तारिषत्) वर्धयेत् ॥

पुवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥ ४ ॥

सुतासः । मधुमत्-तमाः । सोमाः । इन्द्राय । मुन्दिनः ॥
पुवित्र-वन्तः । अक्षरन् । देवान् । गच्छन्तु । वः । मदाः ॥४॥

भाषार्थ—(सुतासः) निचोड़े हुये, (मधुमत्तमाः) अत्यन्त ज्ञान करने वाले, (मन्दिनः) आनन्द देने वाले, (पवित्रवन्तः) शुद्ध व्यवहार वाले (सोमाः) सोम [तत्त्व रस] (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिये (अक्षरन्) बहे हैं, (मदाः) वे आनन्द देने वाले [तत्त्व रस] (वः) तुम (देवान्) विद्वानों को (गच्छन्तु) पहुंचें ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ज्ञान के साथ सब पदार्थों का तत्त्व जानकर ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ५ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—९ । १०१ । ४—६ ; सामवेद—उ० २ । २ । तृच १५ ; म० १ साम० पू० ६ । ६ । ३ ॥

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥ ५ ॥

इन्दुः । इन्द्राय । पुवते । इति । देवासः । अब्रुवन् ॥
वाचः । पतिः । मखस्यते । विश्वस्य । ईशानः । ओजसा ॥५॥

भाषार्थ—(इन्दुः) सोम [तत्त्व रस] (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] के लिये (पवते) शुद्ध होता है, (वाचः पतिः) वेदवाणी का

४—(सुतासः) निष्पादिताः (मधुमत्तमाः) मधुना ज्ञानेन अतिशयेन युक्ताः (सोमाः) तत्त्वरसाः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (मन्दिनः) अ० २० । १७ । ४ । आनन्दयितारः (पवित्रवन्तः) शुद्धव्यवहारोपेताः (अक्षरन्) संचलनं कृतवन्तः (देवान्) विदुषः पुरुषान् (गच्छन्तु) प्राप्नुवन्तु (वः) (युष्मान्) (मदाः) हर्षकाः सोमाः ॥

५—(इन्दुः) सोमः । तत्त्वरसः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (पवते) शुध्यति (इति) एवम् (देवासः) विद्वांसः (अब्रुवन्) अकथयन् (वाचः)

स्वामी [परमात्मा] (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (विश्वस्य) सब का (ईशानः) राजा होकर (मखस्यते) पुरुषार्थ चाहता है (इति) ऐसा (देवासः) विद्वानों ने (अब्रुवन्) कहा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वानों का निश्चय है कि परमात्मा पुरुषार्थियों को तत्त्व ज्ञान देकर ऐश्वर्यवान् करता है ॥ ५ ॥

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।
सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ६ ॥

सहस्र-धारः । पवते । समुद्रः । वाचम्-ईङ्खयः ॥
सोमः । पतिः । रयीणाम् । सखा । इन्द्रस्य । दिवे-दिवे ॥६॥

भाषार्थ—(सहस्रधारः) सहस्रों धाराओं वाला (समुद्रः) समुद्र [जैसे], (वाचमीङ्खयः) विद्याओं का प्रवर्त्तक, (रयीणाम्) धनों का (पतिः) स्वामी, (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] का (सखा) मित्र (सोमः) सोम [तत्त्व रस] (दिवेदिवे) दिन दिन (पवते) शुद्ध होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा पदार्थों का तत्त्व जानकर दिन दिन नवीन नवीन आविष्कार करके धन की वृद्धि करे ॥ ६ ॥

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः ।
आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥७॥
अव । द्रप्सः । अंशु-मतीम् । अतिष्ठत् । इयानः । कृष्णः ।

वेदवाण्याः (पतिः) स्वामी परमात्मा (मखस्यते) मख गतौ, लालसायां सुगागमः । गतिं पुरुषार्थमिच्छति (विश्वस्य) सर्वस्य (ईशानः) राजा (ओजसा) सामर्थ्येन ॥

६—(सहस्रधारः) बहुधाराभिर्युक्तः (पवते) शुध्यति (समुद्रः) जलधिर्यथा (वाचमीङ्खयः) ईखि गतौ, ण्यन्तस्य सुप्युपपदे खश्प्रत्ययः । वाचां विद्यानां प्रवर्त्तकः (सोमः) तत्त्वरसः (पतिः) स्वामी (रयीणाम्) धनानाम् (सखा) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य (दिवेदिवे) दिने दिने ॥

दृश-भिः । सहस्रैः ॥ आवत् । तम् । इन्द्रः । शच्या । धमन्तम् । अप । स्नेहितीः । नृ-मनाः । अधत्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(द्रप्सः) घमंडी, (कृष्णः) कौवा [के समान निन्दित लुटेरा शत्रु] (दशभिः सहस्रैः) दस सहस्र [बड़ी सेना] के साथ (इयानः) चलता हुआ (अंशुमतीम्) विभाग वाली [सीमा वाली नदी—म० ८] पर (अव अतिष्ठत्) ठहरा है । (नृमणाः) नरों के समान मन वाले (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े प्रतापी शूर] ने (तम् धमन्तम्) उस हांफते हुये को (शच्या) बुद्धि से (आवत्) बचाया है और (स्नेहितीः) अपनी मारू सेनाओं को (अप अधत्त) हटा लिया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो शत्रु चढ़ाई करे और थककर हार मान लेवे, वीर राजा जीवित छोड़कर उसे मित्र बनावे और यथोचित प्रबन्ध करके अपनी सेना हटा लेवे ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—११ ऋग्वेद में है—८ । ९६ [सायण भाष्य ८५] । १३—१७; मन्त्र ७ सामवेद—पू० ४ । ४ । १ ॥

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः । नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥ ८ ॥

द्रप्सम् । अपश्यम् । विषुणे । चरन्तम् । उप-ह्वरे । नद्यः ।

७—(द्रप्सः) वृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । दृप हर्षमोहनयोः, उत्क्लेशे, गर्वे च—सप्रत्ययः । गर्ववान् (अंशुमतीम्) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अंश विभाजने—कु । विभागवतीं सीमायुक्तां नदीम् (अव अतिष्ठत्) अवस्थितवान् (इयानः) इङ् गतौ—कानच् । गच्छन् (कृष्णः) अ० ७ । ६४ । १ । श्वा काक इति कुत्सायाम्—निरु० ३ । १८ । काक इव निन्दितो दस्युः शत्रुः (दशभिः सहस्रैः) बहुभिः सेनाभिः (आवत्) रक्षितवान् (तम्) शत्रुम् (इन्द्रः) महाप्रतापी शूरः (शच्या) प्रज्ञया—निघ० ३ । ९ (धमन्तम्) उच्छ्वसन्तम् । पराभवेन दीर्घं श्वसन्तम् (स्नेहितीः) स्नेहतिः स्नेहयतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । स्वकीया मारणशीलाः सेनाः (नृमणाः) नेतृतुल्यमनस्कः (अप अधत्त) दूरे धारितवान् निवर्तितवान् ॥

अं॒शु-म॒त्याः॑ ॥ नभः॑ । न । कृ॒ष्णम् । अ॒व॒त॒स्थि॒-वांस॑म् । इष्या॑मि । व॒: । वृ॒ष॒णः॒ । युध्य॑त । आ॒जौ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(द्रप्सम्) घमंडी को (अंशुमत्याः) विभाग वाली [सीमा वाली] (नद्यः) नदी के (उपह्वरे) समीप में (विषुणे) विरुद्ध आचरण [अन्याय] के बीच में (चरन्तम्) विचरते हुये, (नभः) आकाश से (अवतस्थिवांसम्) उतरे हुये (कृष्णम् न) कौवे के समान (अपश्यम्) मैं ने देखा है, (वृषणः) हे ऐश्वर्य वाले वीरो ! (वः) तुम को (इष्यामि) मैं प्रेरणा करता हूं, (आजौ) संग्राम में (युध्यत) युद्ध करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा लुटेरे शत्रु को सीमा पर आते देखकर अपने वीरों को भेजकर उसे रोक दे ॥ ८ ॥

अध॑ द्र॒प्सो अं॒शुम॑त्या उ॒पस्थेऽधा॑रयत् त॒न्व॑ᳬ तित्विषा॒णः । विशो॒ अदे॑वीर॒भ्या॒३॒॑चर॑न्ती॒र्बृह॒स्पति॑ना यु॒जेन्द्रः॑ ससाहे ॥९॥

अध॑ । द्र॒प्सः । अं॒शु-म॒त्याः । उ॒प-स्थे॑ । अधा॑रयत् । त॒न्व॑म् । ति॒त्वि॒षा॒णः ॥ विशः॑ । अदे॑वीः । अ॒भि । आ॒-चर॑न्तीः । बृह॒स्पति॑ना । यु॒जा । इन्द्रः॑ । स॒स॒हे॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अध) फिर (तित्विषाणः) भड़कीले (द्रप्सः) घमंडी

८—(द्रप्सम्) म० ७ । गर्ववन्तम् (अपश्यम्) अदर्शम् (विषुणे) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । विष विप्रयोगे—उनन् कित् । विषुणस्य विषमस्य—निरु० ४ । १९ । विरुद्धाचरणे । अन्याये (चरन्तम्) विचरन्तम् (उपह्वरे) अथ० २० । २२ । ६ । समीपे (नद्यः) नद्याः (अंशुमत्याः) म० ७ । विभागवत्याः । सीमायुक्तायाः (नभः) विभक्तेर्लुक् । नभसः । आकाशात् (न) यथा (कृष्णम्) म० ७ । काकम् (अवतस्थिवांसम्) अवस्थितम् (इष्यामि) इष गतौ । प्रेरयामि (वः) युष्मान् (वृषणः) अथ० ११ । १ । २ । हे ऐश्वर्यवन्तः । वीराः (युध्यत) संप्रहरत (आजौ) अ० २० । १६ । २ । संग्रामे ॥

९—(अध) अथ (द्रप्सः) म० ७ । अभिमानी (अंशुमत्याः) म० ७ ।

ने (अंशुमत्याः) विभाग वाली [सीमा वाली नदी] के (उपस्थे) समीप में (तन्वम्) अपने शरीर को (अधारयत्) पुष्ट किया। [तब] (युजा) अपने मित्र (बृहस्पतिना) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के स्वामी] के साथ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े प्रतापी राजा] ने (अभि) सब ओर (आचरन्तीः) घूमती हुई, (अदेवीः) कुव्यवहार वाली (विशः) प्रजाओं को (ससहे) जीत लिया ॥ ९ ॥

भावार्थ—यदि शत्रु लोग बार बार एकत्र होकर उपद्रव मचावें; नीति-कुशल राजा मित्रों का सहाय लेकर बैरियों को हरावे ॥ ९ ॥

त्वं ह त्यत् सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र । गूल्हे द्यावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥ १० ॥

त्वम् । ह । त्यत् । सप्त-भ्यः । जायमानः । अशत्रु-भ्यः । अभवः । शत्रुः । इन्द्र ॥ गूल्हे इति । द्यावापृथिवी इति । अनु । अविन्दः । विभुमत्-भ्यः । भुवनेभ्यः । रणम् । धाः ॥१०

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (त्यत् ह) तभी (जायमानः) प्रकट होता हुआ (त्वम्) तू (अशत्रुभ्यः) अशत्रु [बिना बैर वाले, आपस में मित्र] (सप्तभ्यः) सातों [कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका पांच ज्ञान.इन्द्रिय, मन और बुद्धि] के हित के लिये (शत्रुः) [दुष्टों का] शत्रु (अभवः) हुआ है। (गूल्हे) [अज्ञान के कारण] ढके हुये (द्यावा-

---

विभागवत्या नद्याः (उपस्थे) समीपे (अधारयत्) अपोषयत् (तन्वम्) स्वशरीरम् (तित्विषाणः) त्विष दीप्तौ—कानच् । दीप्यमानः (विशः) प्रजाः । शत्रुसेनाः (अदेवीः) कुव्यवहारवतीः (अभि) सर्वतः (आचरन्तीः) विचरन्तीः (बृहस्पतिना) बृहतीनां महतीनां विद्यानां स्वामिना (युजा) सहायेन (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (ससहे) षह अभिभवे—लिट् । अभिबभूव ॥

१०—(त्वम्) (ह) एव (त्यत्) तत् । तदा (सप्तभ्यः) सप्तसंख्याकेभ्यः । मनोबुद्धिसहितपंचज्ञानेन्द्रियाणां हिताय (जायमानः) प्रादुर्भवन् सन् (अशत्रुभ्यः) शत्रुनारहितेभ्यः । परस्परमित्रभूतेभ्यः (अभवः) (शत्रुः) दुष्टानां शत्रुः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (गूल्हे) अज्ञानेन गूढे संवृते

पृथिवी) आकाश और भूमि को (अनु) अनुक्रम से (अविन्दः) तू ने पाया है और (विभुमद्भ्यः) महत्त्व वाले (भुवनेभ्यः) लोकों को (रणम्) रमण [आनन्द] (धाः) तू ने दिया है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा प्रबन्ध करे कि सब लोग शरीर और आत्मा से स्वस्थ रहकर आकाश और भूमि के पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सुखी रहें ॥ १० ॥

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन् धृषितो जघन्थ ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः ॥११॥

त्वम् । ह । त्यत् । अप्रति-मानम् । ओजः । वज्रेण । वज्रिन् । धृषितः । जघन्थ ॥ त्वम् । शुष्णस्य । अव । अतिरः । वधत्रैः । त्वम् । गाः । इन्द्र । शच्या । इत् । अविन्दः ॥११॥

भाषार्थ—(वज्रिन्)हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (धृषितः) निर्भय (त्वम्) तू ने, (त्वम्) तू ने (ह) ही (शुष्णस्य) सुखाने वाले वैरी के(त्यत्) उस (अप्रतिमानम्) अनुपम (ओजः) बल को (वज्रेण) वज्र से और (वधत्रैः) हथियारों से (जघन्थ) नष्ट करदिया है और (अव अतिरः) नीचे किया है, (त्वम्) तू ने (गाः) उस की भूमियों को (शच्या) अपनी बुद्धि से (इत्) ही (अविन्दः) पाया है ॥ ११ ॥

(द्यावापृथिवी) आकाशभूलोकौ । तत्रत्यपदार्थान् (अनु) अनुक्रमेण (अविन्दः) अलभथाः (विभुमद्भ्यः) महत्त्वयुक्तेभ्यः (भुवनेभ्यः) लोकेभ्यः (रणम्) मलोपः । रमणम् । आनन्दम् (धाः) दत्तवानसि ॥

११—(त्वम्) (ह)एव (त्यत्) तत् । प्रसिद्धम् (अप्रतिमानम्) प्रतिमानमुपमा । निरुपमम् (ओजः) बलम् (वज्रेण) आयुधेन (वज्रिन्) हे वज्रवन् (धृषितः) धृष्टः । निर्भयः (जघन्थ) हन्तेर्लिट् । हतवान् नाशितवानसि (त्वम्) (शुष्णस्य) शोषकस्य शत्रोः (अव अतिरः) अवतारितवानसि । नीचैः कृतवानसि (वधत्रैः) अमिनक्षियजिवधि० । उ० ३ । १०५ । बध संयमने—अत्रन्, यद्वा, हन हिंसागत्योः—अत्रन्, वधादेशः । संयमनसाधनैः हननसाधनैर्वा आयुधैः (त्वम्) (गाः) शत्रुभूमीः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (शच्या) स्वप्रज्ञया (इत्) एव (अविन्दः) अलभथाः ॥ ॥

भावार्थ—राजा अपनी बुद्धि के बल से शस्त्र अस्त्र आदि युद्ध सामग्री एकत्र करके शत्रुओं को मारकर प्रजा की रक्षा करे ॥ ११ ॥

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १२ ॥

तम् । इन्द्रम् । वाजयामसि । महे । वृत्राय । हन्तवे ॥ सः । वृषा । वृषभः । भुवत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (महे) बड़े (वृत्राय) रोकने वाले बैरी के (हन्तवे) मारने को (वाजयामसि) हम बलवान् करते हैं [उत्साही बनाते हैं], (सः) वह (वृषा) पराक्रमी (वृषभः) श्रेष्ठ बीर (भुवत्) होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा को शत्रुओं के मारने के लिये सहाय करें और राजा भी प्रजा की भलाई के लिये प्रयत्न करे ॥ १२

मन्त्र १२—१४ आचुके हैं—अथ० २० । ४७ । १—३ ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ १३ ॥

इन्द्रः । सः । दामने । कृतः । ओजिष्ठः । सः । मदे । हितः ॥ द्युम्नी । श्लोकी । सः । सोम्यः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (दामने) दान करने के लिये और (सः) वह (मदे) आनन्द देने के लिये (ओजिष्ठः) महाबली और (हितः) हितकारी (कृतः), बनाया गया है, (सः) वह (द्युम्नी) अन्न वाला और (श्लोकी) कीर्ति वाला पुरुष (सोम्यः) ऐश्वर्य के योग्य है ॥ १३ ॥

भावार्थ—प्रजागण प्रतापी, गुणी पुरुष को इस लिये राजा बनावें कि वह प्रजा के उपकार के लिये दान करके प्रयत्न करे और अन्न आदि पदार्थ

१२—१४ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अथ० २० । ४७ । १—३ ॥

बढ़ाकर कीर्ति पावे ॥ १३ ॥

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः । ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ १४ ॥

गिरा । वज्रः । न । सम्-भृतः । स-बलः । अनप-च्युतः ॥ ववक्षे । ऋष्वः । अस्तृतः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(गिरा) वाणी से (संभृतः) पुष्ट किया गया, (सबलः) सबल, (अनपच्युतः) न गिरने योग्य, (ऋष्वः) गति वाला, और (अस्तृतः) बेरोक सेनापति (वज्रः न) बिजुली के समान (ववक्षे) रिस होवे ॥ १४ ॥

भावार्थ--जो मनुष्य अपनी बात में सच्चा महाबली हो, वह सेनानी होकर शत्रुओं पर बिजुली के समान क्रोध करे ॥ १४ ॥

सूक्तम् १३८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

मुहाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥

महान् । इन्द्रः । यः । ओजसा । पर्जन्यः । वृष्टिमान्-इव ॥ स्तोमैः । वत्सस्य । ववृधे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (महान्) महान [पूजनीय] (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (ओजसा) अपने बल से (वृष्टिमान्) मेह वाले (पर्जन्यः इव) बादल के समान है, [वह] (वत्सस्य) शास्त्रों के कहने वाले [आचार्य आदि] के (स्तोमैः) उत्तम गुणों के व्याख्यानों से (ववृधे) बढ़ा है ॥१॥

१—(महान्) पूजनीयः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (यः) (ओजसा) बलेन (पर्जन्यः) मेघः (वृष्टिमान्) वृष्ट्या युक्तः (इव) यथा (स्तोमैः) स्तुत्यगुणानां व्याख्यानैः (वत्सस्य) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि—सप्रत्ययः शास्त्राणां कथनशीलस्य (ववृधे) वृद्धिं गतः ॥

भावार्थ—मनुष्य गुरु जनों से शिक्षा पाकर बरसने वाले बादल के समान उपकार करके पूजनीय होवे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ६ । १—३, सामवेद—उ० ५ । २ । तृच १०; मन्त्र १ यजु० ७ । ४० ॥

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः । विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥

प्र-जाम् । ऋतस्य । पिप्रतः । प्र । यत् । भरन्त । वह्नयः ॥ विप्राः । ऋतस्य । वाहसा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य धर्म का (पिप्रतः) पालन करते हुये (वह्नयः) ले चलने वाले [नेता लोग] (प्रजाम्] प्रजा को (यत्) जब (प्र) भले प्रकार (भरन्त) पुष्ट करते हैं, [तब] (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (ऋतस्य) सत्य धर्म के (वाहसा) प्राप्त कराने वाले [होते हैं] ॥ २ ॥

भावार्थ—नेता गण सत्यव्रती होकर प्रजा को सुख देकर विद्वानों द्वारा सत्य धर्म का प्रचार करें ॥ २ ॥

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् । जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥

कण्वाः । इन्द्रम् । यत् । अक्रत । स्तोमैः । यज्ञस्य । साधनम् ॥ जामि । ब्रुवते । आयुधम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कण्वाः) बुद्धिमानों ने (यत्) जब (इन्द्रम्) इन्द्र

२—(प्रजाम्) राज्यजनान् (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पिप्रतः) पालनं कुर्वन्तः (प्र) प्रकर्षेण (यत्) यदा (भरन्त) भरन्ति । पुष्णन्ति (वह्नयः) वोढारः । नेतारः पुरुषाः (विप्राः) मेधाविनः (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (वाहसा) वहियुभ्यां णित् । उ० ३ । ११९ । वह प्रापणे—असच् , स च णित् , विसर्गलोपः । वाहसाः । वोढारः प्रापयितारः सन्ति ॥

३—(कण्वाः) मेधाविनः—निघ० ३ । १५ (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं

[महाप्रतापी मनुष्य] को (स्तोमैः) उत्तम गुणों के व्याख्यानों से (यज्ञस्य) यज्ञ [देव पूजा, संगतिकरण और दान] का (साधनम्) सिद्ध करने वाला (अकृत) बनाया है, [तभी उस को] (आयुधम्) मनुष्यों का पोषण करने वाला (जामि) बन्धु (ब्रुवते) कहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् लोग प्रतापी गुणी पुरुष को प्रधान बनाकर प्रजा को पालें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३८ ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १, ४ पथ्या बृहती; २ गायत्री; ३ निचृद् गायत्री; ५ ककुबुष्णिक् छन्दः ॥

गुरुजनगुणोपदेशः—गुरु जनों के गुणों का उपदेश ॥

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे ।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः ॥ १ ॥

आ । नूनम् । अश्विना । युवम् । वत्सस्य । गन्तम् । अवसे । प्र । अस्मै । यच्छतम् । अवृकम् । पृथु । छर्दिः । युयुतम् । याः । अरातयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी [चतुर माता पिता, अथवा राजा और मन्त्री] (युवाम्) तुम दोनों (वत्सस्य) निवास करने वाले [प्रजा जन] की (अवसे) रक्षा के लिये (नूनम्) अवश्य (आ गन्तम्)

मनुष्यम् (यत्) यदा (अकृत) करोतेर्लुङि रूपम् । अकृषत (स्तोमैः) स्तुत्यगुणानां व्याख्यानैः (यज्ञस्य) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारस्य (साधनम्) साधयितारं निष्पादकम् (जामि) वसिवपियमि० । उ० ४ । १२५ । जमु अदने—इञ् । जामिं बन्धुम् (ब्रुवते) कथयन्ति (आयुधम्) आयवो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्याणां पोषकम् ॥

१—(आ गन्तम्) आगच्छतम् (नूनम्) अवश्यम् (अश्विना) अथ० २ । २९ । ६ । अश्विनौ...राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः—निरु० १२ । १ । हे चतुरमातापितरौ राजामात्यौ वा (युवम्) युवाम् (वत्सस्य) अथ० २० ।

आओ। और (अस्मै) उस को (अवृकम्) बिना भेड़िये वाला [भेड़िये के समान चोर डाकू के बिना], (पृथु) चौड़ा (छर्दिः) घर (प्र यच्छतम्) दो और (याः) जो (अरातयः) कर न देने वाली प्रजायें हैं, [उन्हें] (युयुतम्) अलग करो ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर माता पिता तथा राजा और मन्त्री सब गुरु जन प्रजा की रक्षा करें और शत्रुओं को हटावें ॥ १ ॥

चार सूक्त १३९—१४२ के २१ मन्त्र ऋग्वेद में है—८। ९। १—२१ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८। ९। १—५ ॥

यदुन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्च मानुषाँ अनु । नृम्णं तद् धत्तमश्विना ॥ २ ॥

यत् । अन्तरिक्षे । यत् । दिवि । यत् । पञ्च । मानुषान् । अनु ॥ नृम्णम् । तत् । धत्तम् । अश्विना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [धन] (अन्तरिक्षे) आकाश में, (यत्) जो (दिवि) सूर्य आदि के प्रकाश में और (यत्) जो (पञ्च) पांच [पृथिवी आदि पांच तत्त्वों] से संबन्ध वाले (मानुषान् अनु) मनुष्यों में है, (अश्विना) हे दोनों अश्वी! [चतुर माता पिता] (तत्) उस (नृम्णम्) धन को (धत्त) दान करो ॥ २ ॥

१३८। १। वस निवासे—सप्रत्ययः। निवासशीलस्य प्रजाजनस्य (अवसे) रक्षणाय (प्र यच्छतम्) प्रदत्तम् (अस्मै) प्रजाजनाय (अवृकम्) अथ० ४। ३। १। वृको हिंस्रजन्तुविशेषः, तद्रहितम्। वृकसमानचौरादिरहितम् (पृथु) विस्तीर्णम् (छर्दिः) गृहम् (युयुतम्) पृथक्कुरुतम् (याः) (अरातयः) अथ० १। २९। २। अदानशीलाः शत्रुभूताः प्रजाः ॥

२—(यत्) धनम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (यत्) (दिवि) सूर्यादिप्रकाशे (यत्) (पञ्च) पृथिव्यादिपञ्चभूतसम्बन्धिनः (मानुषान् अनु) लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वात्। कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया। पा० २। ३। ८। इति द्वितीया। मनुष्यान् प्रति (नृम्णम्) धनम् (तत्) तादृशम् (धत्त) दत्त (अश्विना) म० १। हे चतुरमातापितरौ ॥

भावार्थ—माता पिता आदि गुरु जन प्रबन्ध करें कि सब लोग आपस में खगोल विद्या, सूर्य, बिजुली, अग्नि आदि विद्यायें जानकर धनी होवें ॥ २ ॥

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः । एवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ३ ॥

ये । वाम् । दंसांसि । अश्विना । विप्रासः । परि-ममृशुः ॥ एव । इत् । काण्वस्य । बोधतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर माता पिता] (वाम्) तुम दोनों के (दंसांसि) कर्मों को (ये) जिन (विप्रासः) बुद्धिमानों ने (परिममृशुः) विचारा है, (एव इत्) वैसे ही [उन के बीच] (काण्वस्य) बुद्धिमान् के किये कर्म का (बोधतम्) तुम दोनों ज्ञान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोग माता पिता आदि गुरु जनों को उत्तम प्रकार से विचारें, वैसे ही गुरु जन भी विद्वानों का आदर करें ॥ ३ ॥

अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते । अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः ॥ ४ ॥

अयम् । वाम् । घर्मः । अश्विना । स्तोमेन । परि । सिच्यते ॥ अयम् । सोमः । मधु-मान् । वाजिनीवसू इति वाजिनी-वसू । येन । वृत्रम् । चिकेतथः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर माता पिता, गुरुजनो] (वाम्) तुम दोनों का (अयम्) यह (घर्मः) पसीना (स्तोमेन)

३—(ये) (वाम्) युवयोः (दंसांसि) कर्माणि (अश्विना) म० १ । हे चतुरमातापितरौ । गुरुजनौ (विप्रासः) विप्राः । मेधाविनः (परिममृशुः) मृश स्पर्शे प्रणिधाने च—लिट् । विचारितवन्तः (एव) एवम् । तथा (इत्) अवधारणे (काण्वस्य) कण्वेन मेधाविना प्रणीतस्य कर्मणः (बोधतम्) बोधं कुरुतम् ॥

४—(अयम्) शरीरस्थः (वाम्) युवयोः (घर्मः) घर्मग्रीष्मौ० । उ० १ । १४६ । घृ क्षरणादीप्त्योः—मक् । स्वेदः (अश्विना) म० १ । हे चतुर—

स्तुति योग्य कर्म के साथ (परि सिच्यते) सिंचता है [बहता है], (वाजिनी-वसू) हे बहुत वेग वाली वा बहुत अन्न वाली क्रियाओं में निवास करने वाले दोनों ! (अयम्) वह [पसीना] (मधुमान्) उत्तम ज्ञान वाला (सोमः) सोम [तत्त्व रस] है, (येन) जिस [तत्त्व रस] से (वृत्रम्) रोकने वाले शत्रु को (चिकेतथः) तुम दोनों जान लेते हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—गुरु जन महान् परिश्रम करके मधुविद्या अर्थात् तत्त्वज्ञान को प्राप्त करें और शत्रुओं को मारें ॥ ४ ॥

यद॒प्सु यद् वन॒स्पतौ॒ यदोष॑धीषु पुरुदंससा कृ॒तम् । तेन॑ माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥

यत् । अ॒प्-सु । यत् । वन॒स्पतौ॑ । यत् । ओष॑धीषु । पु॒रु॒-दं॒स॒सा । कृ॒तम् ॥ तेन॑ । मा॒ । अ॒वि॒ष्ट॒म् । अ॒श्वि॒ना॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पुरुदंससा) हे बहुत कर्मों वाले दोनों ! (यत्) जो कुछ (कृतम्) क्रिया फल (अप्सु) जल में है, (यत्) जो (वनस्पतौ) वनस्पति [वृक्षों] में है, और (यत्) जो (ओषधीषु) औषधियों [जौ चावल आदि] में है, (अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर माता पिता] (तेन) उस [क्रिया फल] से (मा) मेरी (अविष्टम्) रक्षा करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—गुरुजन जिज्ञासुओं को जल आदि सब पदार्थों का तत्त्व ज्ञान कराके क्रियाकुशल बनावें ॥ ५ ॥

मातापितरौ । गुरुजनौ (स्तोमेन) स्तुत्यकर्मणा (परि सिच्यते) आसिच्यते । वहति (अयम्) स घर्मः (सोमः) तत्त्वरसः (मधुमान्) मधुविद्यायुक्तः । श्रेष्ठज्ञानोपेतः (वाजिनीवसू) अथ० १४ । २ । ५ । हे वेगवतीषु अन्नवतीषु वा क्रियासु निवासिनौ (येन) तत्त्वरसेन (वृत्रम्) आवरकं शत्रुम् (चिकेतथः) जानीथः ॥

५—(यत्) (अप्सु) जलेषु (यत्) (वनस्पतौ) जाताविदमेकवचनम् । वनस्पतिषु वृक्षेषु (यत्) (ओषधीषु) यवव्रीह्यादिषु (पुरुदंससा) हे बहु-कर्माणौ (कृतम्) क्रियाफलम् (तेन) क्रियाफलेन (मा) माम् (अविष्टम्) अवतेर्लोटि बाहुलकात् सिप्, तत इट् । रक्षतम् (अश्विना) म० १ । हे चतुर-मातापितरौ ॥

सूक्तम् १४० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पथ्या बृहती; २, ३ अनुष्टुप् ; ४ विराडनुष्टुप् ; ५ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

अहोरात्रसुप्रयोगोपदेशः—दिन और राति के उत्तम प्रयोग का उपदेश ॥

यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः । अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥ १ ॥

यत् । नासत्या । भुरण्यथः । यत् । वा । देवा । भिषज्यथः ॥ अयम् । वाम् । वत्सः । मति-भिः । न । विन्धते । हविष्मन्तम् । हि । गच्छथः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नासत्या) हे असत्य न रखने वाले दोनों ! [दिन राति] (यत्) क्योंकि (भुरण्यथः) तुम पोषण करते हो, (वा) और, (देवा) हे व्यवहार कुशल दोनों ! (यत्) क्योंकि (भिषज्यथः) तुम औषध करते हो। (अयम्) यह (वत्सः) बोलने वाला (वाम्) तुम दोनों को (मतिभिः) अपनी बुद्धियों से (न) नहीं (विन्धते) पाता है,(हविष्मन्तम्) भक्ति रखने वाले को (हि) ही (गच्छथः) तुम दोनों मिलते हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दिन राति का सुन्दर प्रयोग करके पुष्ट, स्वस्थ,

१—(यत्) यतः (नासत्या) नास्ति असत्यं ययोस्तौ। नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः। विभक्तेराकारः। नासत्यौ चाश्विनौ, सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः, सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः, नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा। निरु० ६ । १३ । नासिकाप्रभवौ प्राणापानावित्यर्थः। हे असत्यरहितौ । सदा सत्यस्वभावौ । अश्विनौ (भुरण्यथः) भुरण धारणपोषणयोः कण्ड्वादिः। सर्वं पोषयथः (यत्) (वा) च (देवा) छान्दसः सांहितिको ह्रस्वः। व्यवहारकुशलौ (भिषज्यथः) भिषज चिकित्सायां कण्ड्वादिः। भैषज्यं कुरुथः (अयम्) (वाम्) युवाम् (वत्सः) अथ० २० । १३८ । १ । वदतेः—सप्रत्ययः। कथयिता (मतिभिः) बुद्धिभिः (न) निषेधे (विन्धते) दस्य धः। विन्दते लभते (हविष्मन्तम्) भक्तिमन्तम् (हि) एव (गच्छथः) प्राप्नुथः ॥

विद्वान् होकर आनन्द पावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है ८ । ६ । ६—१० ॥

आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया ।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥ २ ॥

आ । नूनम् । अश्विनोः । ऋषिः । स्तोमम् । चिकेत । वामया ॥ आ । सोमम् । मधुमत्-तमम् । घर्मम् । सिञ्चात् । अथर्वणि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋषिः) ऋषि [विज्ञानी पुरुष] (अश्विनोः) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] के (स्तोमम्) स्तुति योग्य कर्म को (वामया) उत्तम बुद्धि से (नूनम्) अवश्य (आ) सब ओर से (चिकेत) जाने । और (मधुमत्तमम्) अत्यन्त ज्ञान वाले और (घर्मम्) प्रकाश वाले (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (अथर्वणि) निश्चल [जिज्ञासु] पर (आ) भले प्रकार (सिञ्चात्) सींचे ॥ २ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष काल की महिमा जानकर जिज्ञासुओं को तत्त्व ज्ञान का उपदेश करे ॥ २ ॥

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना ।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत ॥ ३ ॥

आ । नूनम् । रघु-वर्तनिम् । रथम् । तिष्ठाथः । अश्विना ॥ आ । वाम् । स्तोमाः । इमे । मम । नभः । न । चुच्यवीरत ॥ ३ ॥

२—(आ) समन्तात् (नूनम्) अवश्यम् (अश्विनोः) अथ० २ । २६ । ६ । अश्विनौ "अहोरात्रावित्येके—निरु० १२ । १ । व्यापकयोः । अहोरात्रयोः (ऋषिः) विज्ञानी पुरुषः (स्तोमम्) स्तुत्यव्यवहारम् (चिकेत) कित ज्ञाने-लिट्—जानीयात् (वामया) वामः प्रशस्यः—निघ० ३ । ८ । उत्कृष्टया बुद्ध्या (आ) (सोमम्) तत्त्वरसम् (मधुमत्तमम्) अतिशयेन मधुविद्यायुक्तम् (घर्मम्) अ० २० । १३६ । ४ । घृ दीप्तौ—मक् । दीप्यमानम् (सिञ्चात्) सिञ्चेत् (अथर्वणि) अथ० ४ । १ । ७ । अ+थर्व चरणे-वनिप्, वलोपः । निश्चले जिज्ञासौ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति] (रघुवर्तनिम्) हलके घूमने वाले [अति शीघ्रगामी] (रथम्) रथ पर (नूनम्) अवश्य (आ तिष्ठाथः) तुम चढ़ते हो, (मम) मेरे (इमे) यह (स्तोमाः) स्तुति के वचन (वाम्) तुम दोनों को (नभः न) मेघ के समान [शीघ्र] (आ) सब ओर से (चुच्यवीरत) [हमें] प्राप्त कराते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे पवन से बादल आकाश में दौड़ता है, उस से भी अधिक शीघ्रगामी काल को वश में लाकर बुद्धिमान् आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

यदुद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि ।

यद् वा वाणीभिरश्विनेवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ४ ॥

यत् । अद्य । वाम् । नासत्या । उक्थैः । आ-चुच्युवीमहि ॥
यत् । वा । वाणीभिः । अश्विना । एव । इत् । काण्वस्य । बोधतम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले दोनों ! [दिन राति] (अद्य) आज (यत्] जैसे (उक्थैः) कहने योग्य शास्त्रों से, (वा) अथवा (यत्) जैसे (वाणीभिः) अपनी वाणियों से (वाम्) तुम दोनों को (आचुच्युवीमहि) हम लावें, (अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति] (एव इत्) वैसे ही (काण्वस्य) बुद्धिमान् के किये कर्म का (बोधतम्) तुम दोनों ज्ञानकरो ४

३—(आ तिष्ठाथः) अधितिष्ठथः (नूनम्) अवश्यम् (रघुवर्तनिम्) वृतेश्च । उ० २ । १०६ । लघु+वृतु वर्तने अनि, लस्य रः । लघुवर्तनोपेतम् । अतिशीघ्रगामिनम् (रथम्) यानम् (अश्विना) म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (आ) समन्तात् (वाम्) युवाम् (स्तोमाः) स्तुतिवचनानि (इमे) (मम) (नभः) मेघः (न) यथा (चुच्यवीरत) अन्तर्गतण्यर्थः । च्यावयन्ति । गमयन्ति ॥

४—(यत्) यथा (अद्य) अस्मिन् दिने (वाम्) युवाम् (नासत्या) म० १ । हे सदा सत्यस्वभावौ (उक्थैः) कथनीयशास्त्रैः (आचुच्युवीमहि) आगमयेम (यत्) यथा (वा) अथवा (वाणीभिः) वाग्भिः (अश्विना) म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ । अन्यद् गतम्—१३८ । ३ ॥

भावार्थ— मनुष्य शीघ्र शास्त्रों में प्रवीण होकर अपने वचन के पक्के होवें और प्राप्त अवसर का यथावत् प्रयोग करें ॥ ४ ॥

यद् वां कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद् वां दीर्घतमा जुहाव । पृथी यद् वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम् ॥ ५ ॥

यत् । वाम् । कक्षीवान् । उत । यत् । वि-अश्वः । ऋषिः । यत् । वाम् । दीर्घ-तमाः । जुहाव ॥ पृथी । यत् । वाम् । वैन्यः । सदनेषु । एव । इत् । अतः । अश्विना । चेतयेथाम् ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (वाम्) तुम दोनों को (कक्षीवान्) गति वाले [वा शासन वाले] पुरुष ने, (उत) और (यत्) जैसे (व्यश्वः) विविध वेग वाले ने और (यत्) जैसे (वाम्) तुम दोनों को (दीर्घतमाः) दीर्घतमा [लंबा हो गया है, चला गया है अन्धकार जिस से ऐसे] (ऋषिः) ऋषि [विज्ञानी] ने, (यत्) जैसे (वाम्) तुम दोनों को (वैन्यः) बुद्धिमानों के पास रहने वाले (पृथी) विस्तार वाले पुरुष ने (सदनेषु) अपने स्थानों में (जुहाव) ग्रहण किया है, (अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति](एव इत्) वैसे ही (अतः) इस [मेरे वचन] को (चेतयेथाम्) जानो ॥ ५ ॥

५—(यत्) यथा (वाम्) युवाम् (कक्षीवान्) अथ० । ४ । २६ । ५ । कश गतिशासनयोः—क्सि, मतुप्, मस्य वः, दीर्घश्च । गतिशीलः शासनशीलो वा (उत) अपि च (यत्) यथा (व्यश्वः) वि + अशू व्याप्तौ—क्वन् । विविधवेगयुक्तः (ऋषिः) विज्ञानी (यत्) (वाम्) दीर्घतमाः) दॄ विदारणे—घञ् + तमु काङ्क्षायां खेदे च—असुन् दीर्घं विदीर्णं दूरीभूतं तमः अन्धकारो यस्मात् स विद्वान् (जुहाव) हु आदाने—लिट् । गृहीतवान् । स्वीकृतवान् (पृथी) अ० ८ । १० (४) । ११ । प्रथ विस्तारे—घञर्थे कप्रत्ययः सम्प्रसारणं च, मत्वर्थे इनि । विस्तारवान् (यत्) (वाम्) (वैन्यः) अथ० ८ । १० (४) । ११ । वेनो मेधावी-निघ० ३ । १५ । अदूरभवश्च । पा० ४ । २ । ७० । इति ण्य । मेधाविनां समीपस्थः (सदनेषु) संहितायां दीर्घः । स्थानेषु (एव) एवम् । तथा (इत्) अवश्यम् (अतः) इदम्—द्वितीयार्थे तसिः । इदं वचनम् (अश्विना) म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (चेतयेथाम्) जानीतम् ॥

भावार्थ—जैसे जैसे मनुष्य दिन राति का सुप्रयोग करते हैं, वैसे ही दिन राति उनको सुख देते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् १४१ ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ त्रिपाद् विराड् गायत्री; २ जगती; ३ निचृद् त्रिष्टुप्; ४ निचृद् बृहती; ५ निचृत् पथ्या बृहती ॥

अहोरात्रसुप्रयोगोपदेशः—दिन और राति के उत्तम प्रयोग का उपदेश ॥

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा । वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम् ॥ १ ॥

यातम् । छर्दिः-पौ । उत । नः । परः-पा । भूतम् । जगत्-पौ । उत । नः । तनू-पा ॥ वर्तिः । तोकाय । तनयाय । यातम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे दिन राति दोनों !] (छर्दिष्पौ) घर के रक्षक होकर (यातम्) आओ, (उत) और (नः) हमारे बीच (परस्पा) पालनीयों के पालक, (जगत्पा) जगत् के रक्षक (उत) और (नः) हमारे (तनूपा) शरीरों के बचाने वाले (भूतम्) होओ, और (तोकाय) सन्तान और (तनयाय) पुत्र के हित के लिये (वर्तिः) [हमारे] घर (यातम्) आओ ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य घर आदि स्थानों में दिन रात का सुप्रयोग करके अपने बालक आदि को सुमार्ग में चलावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ६ । ११—१५ ॥

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः

१—(यातम्) आगच्छतम् (छर्दिष्पौ) गृहपालकौ (उत) अपि च (नः) अस्माकं मध्ये (परस्पा) पॄ पालनपूरणयोः—असुन् । परसां पालनीयानां पालकौ (भूतम्) भवतम् (जगत्पा) जगतः संसारस्य रक्षकौ (उत) (नः) अस्माकम् (तनूपा) शरीराणां पालकौ (वर्तिः) अर्चिशुचिहु० । उ० २ । १०८ । वृतु वर्तने—इसि । छर्दिः । गृहम् (तोकाय) सन्तानाय (तनयाय) पुत्रहिताय (यातम्) आगच्छतम् ॥

समोकसा । यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णो-र्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥ २ ॥

यत् । इन्द्रेण । स-रथम् । याथः । अश्विना । यत् । वा । वायुना । भवथः । सम्-ओकसा ॥ यत् । आदित्येभिः । ऋभु-भिः । स-जोषसा । यत् । वा । विष्णोः । वि-क्रमणेषु । तिष्ठथः ॥२॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति] (यत्) चाहे (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सूर्य] के साथ (सरथम्) एक रथ में चढ़कर (याथः) तुम चलते हो, (वा) अथवा (यत्)चाहे (वायुना) पवन के साथ (समोकसा) एक घर वाले (भवथः) होते हो । (यत्) चाहे (आदित्येभिः) अखण्ड व्रतधारी (ऋभुभिः) बुद्धिमानों के साथ (सजोषसा) एक सी प्रीति करते हुये, (वा) अथवा (यत्) चाहे (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के (विक्रमणेषु) पराक्रमों में (तिष्ठतः) ठहरते हो [वहां से दोनों आओ—म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि सर्वत्र व्यापी दिन राति अर्थात् काल को सूर्य विद्या, वायु विद्या, विद्वानों के सत्संग और परमेश्वर की भक्ति आदि में लगाकर अपना पुरुषार्थ बढ़ावें ॥ २ ॥

यदद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये ।
यत् पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥ ३ ॥

२—(यत्) यदि । सम्भावनायाम् (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सूर्येण सह (सरथम्) समानमेकं रथमास्थाय (याथः) गच्छथः (अश्विना) सू० १४० । म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (यत्) यदि (वा) अथवा (वायुना) पवनेन (भवथः) (समोकसा) समानगृहौ (यत्) (आदित्येभिः) अखण्डव्रतिभिः (ऋभुभिः) अथ० १ । २ । ३ । मेधाविभिः—निघ० ३ । १५ (सजोषसा) समानप्रीयमाणौ (यत्) (वा) (विष्णोः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणेषु) शौर्यातिशयेषु । पराक्रमेषु (तिष्ठथः) वर्तेथे । सर्वस्मादपि स्थानादागच्छतम्—इति पूर्वमन्त्रेण सह अन्वयः ॥

यत् । अद्य । अश्विनौ । अहम् । हुवेय । वाज-सातये ॥
यत् । पृत्-सु । तुर्वणे । सहः । तत् । श्रेष्ठम् । अश्विनोः । अवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (अद्य) (अश्विनौ) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] को (वाजसातये) विज्ञान के लाभ के लिये (अहम्) मैं (हुवेय) बुलाऊं । और (पृत्सु) संग्रामों के बीच (तुर्वणे) शत्रुओं के मारने में (यत्) जो (सहः) बल है, (तत्) वह (अश्विनोः) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] की (श्रेष्ठम्) अति उत्तम (अवः) रक्षा [होवे] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा विज्ञान के साथ अपना सामर्थ्य बढ़ावें, और शत्रुओं को मारकर सुखी होवें ॥ ३ ॥

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥ ४ ॥

आ । नूनम् । यातम् । अश्विना । इमा । हव्यानि । वाम् । हिता ॥ इमे । सोमासः । अधि । तुर्वशे । यदौ । इमे । कण्वेषु । वाम् । अथ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन रात] (नूनम्) अवश्य (आ यातम्) आओ, (इमा) यह (हव्यानि) ग्राह्य द्रव्य (वाम्) तुम दोनों के लिये (हिता) रक्खे हैं । (इमे) यह (सोमासः) सोम रस

३—(यत्) यदा (अद्य) अस्मिन् दिने (अश्विनौ) म० २ । व्यापकौ । अहोरात्रौ (अहम्) (हुवेय) आह्वयेय (वाजसातये) विज्ञानस्य लाभाय (यत्) (पृत्सु) संग्रामेषु (तुर्वणे) कॄपॄवृजि० । उ० । २ । ८१ । तुर्वी हिंसायाम्—क्यु । शत्रूणां नाशने (सहः) अभिभवितृ बलम् (तत्) (श्रेष्ठम्) प्रशस्यतमम् (अश्विनोः) अहोरात्रयोः (अवः) रक्षणं भवतु ॥

४—(आ यातम्) आगच्छतम् (नूनम्) अवश्यम् (अश्विना) म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (इमा) पुरोवर्तीनि (हव्यानि) ग्राह्यवस्तूनि (वाम्) युवाभ्याम् (हिता) धृतानि (इमे) दृश्यमानाः (सोमासः) तत्त्वरसाः

[तत्त्व रत्न] (तुर्वशे) हिंसकों को वश में करने वाले, (यदौ) यत्नशील मनुष्य में (अथ) और (इमे) यह [तत्त्व रत्न] (कण्वेषु) बुद्धिमानों में (वाम्) तुम दोनों के (अधि) अधिकाई से हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—समय के सुप्रयोग से विद्वान् प्रयत्न करने वालों को उत्तम उत्तम पदार्थ मिलते हैं और सदा मिलते रहेंगे ॥ ४ ॥

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥ ५ ॥

यत् । नासत्या । पराके । अर्वाके । अस्ति । भेषजम् ॥ तेन । नूनम् । वि-मदाय । प्र-चेतसा । छर्दिः । वत्साय । यच्छतम् ५

भाषार्थ—(नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले दोनों ! [दिनराति] (यत्) जो (भेषजम्) औषध (पराके) दूर में और (अर्वाके) समीप में (अस्ति) है। (प्रचेतसा) हे उत्तम ज्ञान कराने वाले दोनों (तेन) उस [औषध] के साथ (नूनम्) अवश्य करके (विमदाय) निरहंकारी [वा अदीन] (वत्साय) शास्त्रों के कहने वाले पुरुष को (छर्दिः) घर (यच्छतम्) दान करो ॥ ५ ॥

(अधि) आधिक्येन (तुर्वशे) अ० २० । ३७ । ८ । तरां हिंसकानां वशयितरि (यदौ) यती प्रयत्ने—उप्रत्ययः, तकारस्य दः । प्रयत्नशीले (इमे) (कण्वेषु) मेधाविषु (वाम्) युवयोः (अथ) अपि च ॥

५—(यत्) (नासत्या) सू० १४० । १ । हे सदा सत्यस्वभावौ (पराके) पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । परा + क्रमु पादविक्षेपे-आकप्रत्ययः, धातुलोपः । पराके दूरनाम—निघ० ३ । २६ । पराके पराक्रान्ते—निरु० ५ । ६ । दूरदेशे (अर्वाके) वलाकादयश्च । उ० ४ । १४ । अर्वाक् + क्रमु पादविक्षेपे-आकप्रत्ययः, धातुलोपः । अर्वाके अन्तिकनाम—निघ० ३ । १६ । समीपे (अस्ति) (भेषजम्) औषधम् (तेन) भेषजेन सह (नूनम्) अवश्यम् (विमदाय) अ० ४ । २६ । ४ । निरहंकाराय । अदीनाय (प्रचेतसा) प्रकृष्टं ज्ञानं याभ्यां तौ । हे प्रकृष्टज्ञानकारकौ (छर्दिः) गृहम् (वत्साय) सू० १३८ । १ । शास्त्राणां कथनशीलाय (यच्छतम्) दत्तम् ॥

भावार्थ—मनुष्य घर और बाहिर समय को उत्तम रीति से काम में लगाकर सुन्दर घरों में स्वस्थ रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १४२ ॥

१—६ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ आर्ष्यनुष्टुप् ; २, ४ अनुष्टुप् ; ३ विराडार्ष्यनुष्टुप् ; ५ गायत्री ; ६ निचृद् गायत्री ॥

अहोरात्रसुप्रयोगोपदेशः—दिन और रात्रि के उत्तम प्रयोग का उपदेश ॥

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥

अभुत्सि । ऊं इति । प्र । देव्या । साकम् । वाचा । अहम् । अश्विनोः ॥ वि । आवः । देवि । आ । मतिम् । वि । रातिम् । मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (देव्या) उत्तम गुण वाली (वाचा साकम्) वाणी के साथ (अश्विनोः) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] के बीच (उ) अवश्य (प्र अभुत्सि) जागा हूं। (देवि) हे देवी ! [प्रकाशमान उषा—म० २] तू ने (आ) आकर (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (मतिम्) बुद्धि और (रातिम्) धन को (वि) विशेष करके (वि आवः) खोल दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रभात समय उठकर दिन राति विद्या और धन को प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ६ । १६—२१ ॥

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि ।
प्र यज्ञहोतरानुषक् प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ २ ॥

१—(प्र अभुत्सि) बुध अवगमने- लुङ् । प्रबुद्धोऽस्मि (उ) अवश्यम् (देव्या) उत्तमगुणवत्या (साकम्) सह (वाचा) वाण्या (अहम्)(अश्विनोः) सू० १४० । म० २ । व्यापकयोः । अहोरात्रमध्ये (वि आवः) वृणोतेर्लुङ् । त्वं विवृतां विस्तृतां कृतवती (देवि) हे द्योतमाने उषः—म० २ । (आ) आगत्य (मतिम्) बुद्धिम् (वि) विशेषेण (रातिम्) धनम् (मर्त्येभ्यः) मनुष्याणां हिताय ॥

प्र । बोधय । उषः । अश्विना । प्र । देवि । सूनृते । महि ॥
प्र । यज्ञ-होतः । आनुषक् । प्र । मदाय । श्रवः । बृहत् ॥२॥

भाषार्थ (उषः) हे उषा ! [प्रभात वेला] (अश्विनौ) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] को (प्र बोधय) जगादे, (देवि) हे देवी ! [व्यवहार कुशल] (सूनृते) हे अन्न वाली ! (महि) हे पूजनीया ! [उषा] (प्र=प्र बोधय) जगादे । (यज्ञहोतः) हे उत्तम संगति देने वाले ! [विद्वान्] (आनुषक्) लगातार (प्र) जगादे, (बृहत्) बड़े (श्रवः) यश के लिये और (मदाय) आनन्द के लिये (प्र) जगादे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रातःकाल उठकर सदा अन्न आदि धन, कीर्ति और आनन्द के लिये प्रयत्न करें ॥ २ ॥

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ ३ ॥

यत् । उषः । यासि । भानुना । सम् । सूर्येण । रोचसे ॥ आ । ह । अयम् । अश्विनोः । रथः । वर्तिः । याति । नृ-पाय्यम् ३

भाषार्थ—(उषः) हे उषा ! [प्रभात वेला] (यत्) जब तू (भानुना) प्रकाश के साथ (यासि) चलती है, [तब] तू (सूर्येण) सूर्य के साथ (सम्) ठीक प्रकार से (रोचसे) रुचती है [प्रिय लगती है । [तभी] (अश्विनोः)

२—(प्र बोधय) जागरय (उषः) हे प्रभातवेले (अश्विनौ) व्यापकौ । अहोरात्रौ (प्र) प्र बोधय (देवि) हे व्यवहारकुशले (सूनृते) अथ० ३ । १२ । २ । सूनृता अन्ननाम—निघ० २ । ७, अर्शआद्यच्, टाप् । हे अन्नवति (महि) हे महति (प्र) प्र बोधय (यज्ञहोतः) हे उत्तमसंगतिदातः । विद्वन् (आनुषक्) अथ० ४ । ३२ । १ । अनुषक्त निरन्तरम् (प्र) प्र बोधय (मदाय) हर्षाय (श्रवः) विभक्तेर्लुक् । श्रवसे । यशसे (बृहत्) बृहते । महते ॥

३—(यत्) यदा (उषः) हे प्रभातवेले (यासि) गच्छसि (भानुना) दीप्तया सह (सम्) सम्यक् (सूर्येण) (रोचसे) रुचिरा प्रिया भवसि (आ याति) आगच्छति (ह) अपि (अयम्) दृश्यमानः (अश्विनोः) व्यापकयोः । अहो-

दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] का (अयम्) यह (रथः) रथ (ह) भी (नृपाय्यम्) नरों [नेताओं) से पालने योग्य (वर्तिः) घर पर (आ याति) आता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे उषा सूर्य के साथ सदा शोभायमान होती है, वैसे ही मनुष्य ज्ञान के साथ शोभा बढ़ाकर दिन राति को सफल करें ॥ ३ ॥

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः ।
यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

यत् । आ-पीतासः । अंशवः । गावः । न । दुह्रे । ऊधः-भिः ॥
यत् । वा । वाणीः । अनूषत । प्र । देव-यन्तः । अश्विना ॥ ४

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

प्र । द्युम्नाय । प्र । शवसे । प्र । नृ-सह्याय । शर्मणे ॥
प्र । दक्षाय । प्र-चेतसा ॥ ५ ॥

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः । यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥

यत् । नूनम् । धीभिः । अश्विना । पितुः । योना । नि-सीदथः ॥ यत् । वा । सुम्नेभिः । उक्थ्या ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (आपीतासः) अच्छे प्रकार पीये हुये (अंशवः) बटे हुये सोम रस [तत्त्व रस] (दुह्रे) दुहे जाते हैं, (गावः न) जैसे गौयें

रात्र्योः (रथः) (वर्तिः) सू० १४१ । १ । गृहम् (नृपाय्यम) शुदक्षिस्पृ-हि० । उ० ३ । ९६ । पा रक्षणे—आय्य । नृभिर्नेतृभिः पातव्यं पालनीयम् ॥ ३ ॥

४—(यत्) यदा (आपीतासः) समन्तात् कृतपानाः (अशंवः) अंश विभाजने—कु । विभक्ताः सोमाः । तत्त्वरसाः (गावः) धेनवः (न) यथा (दुह्रे)

(ऊधभिः) लेवाओं [अयनों, थनों के स्थानों] से [दूध दुहती हैं] । (वा) और (यत्) जब (देवयन्तः) दिव्य गुण चाहने वाले लोग (वाणीः) वाणियों से (अश्विना) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] को (प्र) अच्छे प्रकार (अनूषत) सराहते हैं ॥ ४ ॥

[तब] (प्रचेतसा) हे उत्तम ज्ञान देने वाले ! तुम दोनों (द्युम्नाय) चमकते हुये यश के लिये (प्र = प्रभवथः) समर्थ होते हो, (शवसे) बल के लिये (प्र) समर्थ होते हो, (नृषह्याय) मनुष्यों को सहाय देने वाले (शर्मणे) शरण [घर आदि] के लिये (प्र) समर्थ होते हो, और (दक्षाय) चतुराई [कार्य कुशलता] के लिये (प्र) समर्थ होते हो ॥ ५ ॥

(यत्) क्योंकि (नूनम्) अवश्य, (उकृथ्या) हे बड़ाई योग्य (अश्विना) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] (धीभिः) कर्मों के साथ, (वा) और (यत्) क्योंकि (सुम्नेभिः) अनेक सुखों के साथ (पितुः) पालन करने पुरुष के (योना) घर में (निषीदथः) दोनों बैठते हो ॥ ६ ॥

भावार्थ--मनुष्य दिन राति तत्त्व का ग्रहण करके यशस्वी, बलवान् और कार्य कुशल होवें ॥ ४—६ ॥

अथ० १० । १० । ३२ । प्रपूर्यन्ते (ऊधभिः) आपीनैः । क्षीराधारैः (यत्) यदा (वा) समुच्चये (वाणीः) वाणीभिः (अनूषत) णू स्तवने, लडर्थे लुङ् । नुवन्ति । स्तुवन्ति (प्र) प्रकर्षेण (देवयन्तः) देवान् दिव्यगुणान् कामयमानाः पुरुषाः (अश्विना) व्यापकौ । अहोरात्रौ ॥

५—(प्र) प्रभवथः । समर्थौ भवथः (द्युम्नाय) द्योतमानाय यशसे (प्र) प्रभवथः (शवसे) बलाय (प्र) प्रभवथः (नृषह्याय) शकिसहोश्च । पा० ३ । १ । ९९ । षह मर्षणे--यत्, संहितायां दीर्घः । नृणां सहायाय (शर्मणे) गृहाय । शरणाय (प्र) प्रभवथः (दक्षाय) दक्षत्वाय । कार्यकुशलत्वाय (प्रचेतसा) हे प्रकृष्टज्ञानप्रदौ ॥

६—(यत्) यतः (नूनम्) अवश्यम् (धीभिः) कर्मभिः—निघ० २ । १ । (अश्विना) हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (पितुः) पालनकर्तुः पुरुषस्य (योना) योनौ । गृहे (निषीदथः) उपविशथः । निवसथः (यत्) यतः (वा) समुच्चये (सुम्नेभिः) सुम्नैः । अनेकसुखैः (उकृथ्या) हे उकृथ्यौ । प्रशस्यौ ॥

सूक्तम् १४३ ॥

१—९ ॥ १—७,९ आश्विनौ देवते; ८ क्षेत्रपतिर्देवता ॥ १, ३, ६—९ निचृत् त्रिष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ४ भुरिक् पङ्क्तिः; ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥

१—७, ९ राजामात्यकर्त्तव्योपदेशः; म० ८ कृषिकर्मोपदेशः—१—७, ९ राजा और मन्त्री के कर्तव्य का उपदेश; म० ८ खेती के काम का उपदेश ॥

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः ।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥ १ ॥

तम् । वाम् । रथम् । वयम् । अद्य । हुवेम । पृथु-ज्रयम् । अश्विना । सम्-गतिम् । गोः ॥ यः । सूर्याम् । वहति । वन्धुर-युः । गिर्वाहसम् । पुरु-तमम् । वसु-युम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर राजा और मन्त्री] (वयम्) हम (अद्य) आज (वाम्) तुम दोनों के (पृथुज्रयम्) बड़ी गति वाले, (गोः) पृथिवी की (संगतिम्) संगति करने वाले, (गिर्वाहसम्) विज्ञान से चलने वाले, (पुरुतमम्) अत्यन्त बड़े, (वसूयुम्) बहुत धन वाले (तम्) उस (रथम्) रमणीय रथ को (हुवेम) ग्रहण करें, (यः) जो (वन्धुरयुः) यन्त्रों के बन्धनों वाला [रथ] (सूर्याम्) सूर्य की धूप को (वहति) प्राप्त होता है [रखता है] ॥ १ ॥

१—(तम्) (वाम्) युवयोः (रथम्) रमणीयं यानम् (वयम्) (अद्य) संहितायां दीर्घः । अस्मिन् दिने (हुवेम) आददाम (पृथुज्रयम्) ज्रयतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४, ततः—अच् । बहुगतियुक्तम् (अश्विना) अथ० २ । २९ । ६ । अश्विना···राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः—निरु० १२ । १ । हे चतुर-राजामात्यौ (संगतिम्) गमेः-क्तिच् । संगन्तारम् (गोः) पृथिव्याः (यः) रथः (सूर्याम्) सूर्यस्य कान्तिम् । भानुतापम् (वहति) प्राप्नोति । धारयति (वन्धुरयुः) मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । बन्ध बन्धने—उरच्+युजिर् योगे—डु । यन्त्राणां बन्धनयुक्तः (गिर्वाहसम्) अथ० २० । ३५ । ४ । गॄ विज्ञापने निगरणे शब्दे च—क्विप्+वह प्रापणे – असुन् । विज्ञानेन गतिशीलम् (पुरुतमम्) अतिशयेन विशालम् (वसूयुम्) छान्दसो दीर्घः । बहुधनयुक्तम् ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री विज्ञानियों से ऐसे रथ यान विमान आदि बनवावें जो भानुताप [सूर्य की धूप] आदि से चलें ॥ १ ॥

मन्त्र १—७ ऋग्वेद में हैं—४ । ४४ । १—७ ॥

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः । युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत् ककुहासो रथे वाम् २॥

युवम् । श्रियम् । अश्विना । देवता । ताम् । दिवः । नपाता । वनथः । शचीभिः ॥ युवोः । वपुः । अभि । पृक्षः । सचन्ते । वहन्ति । यत् । ककुहासः । रथे । वाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दिवः) हे व्यवहार के (नपाता) न गिराने वाले (अश्विना) दोनों अश्वी ! [चतुर राजा और मन्त्री] (देवता) दिव्य गुण वाले (युवम्) तुम दोनों (शचीभिः) बुद्धियों से (ताम्) उस (श्रियम्) लक्ष्मी का (वनुथः) सेवन करते हो, (यत्) जिस [लक्ष्मी] के लिये (पृक्षः) अनेक अन्न (युवोः) तुम दोनों के (वपुः) शरीर को (अभि) सब ओर से (सचन्ते) सींचते हैं और [जिस के लिये] (ककुहासः) बड़े विद्वान् लोग (वाम्) तुम दोनों को (रथे) रमणीय रथ में (वहन्ति) ले चलते हैं ॥ २ ॥

२—(युवम्) युवाम् (श्रियम्) लक्ष्मीम् (अश्विना) म० १ । हे चतुर-राजमन्त्रिणौ (देवता) भृमृदृशि० । उ० ३ । ११० । दिवु क्रीडादिषु-अतच्, विभक्तेराकारः । दिव्यगुणसम्पन्नौ (ताम्) वक्ष्यमाणाम् (दिवः) व्यवहारस्य (नपाता) अथ० [illegible] । १३ । २ । नञ्+पत अधःपतने णिच्—क्विप्, नञः प्रकृतिभावः । न पातयितारौ । रक्षकौ (वनथः) संभजेथे । संसेवेथे (शचीभिः) प्रज्ञाभिः (युवोः) युवयोः (वपुः) शरीरम् (अभि) अभितः (पृक्षः) पृची सम्पर्के—क्विप्, धातोः कुगागमः, बहुवचनम् । पृक्षः अन्ननाम—निघ० २ । ७ । अन्नानि (सचन्ते) षच सेचने । सिञ्चन्ति (वहन्ति) नयन्ति (यत्) यस्यै श्रिये (ककुहासः) क+कु+हन हिंसागत्योः—डप्रत्ययः । कस्य सुखस्य कुं भूमिं स्थानं प्राप्नोतीति ककुहः,असुगागमः । ककुह इति महन्नाम—निघ०३ । ३ । महान्तो विद्वांसः—दयानन्दभाष्ये ऋ० १ । ४६ । ३ (रथे) रमणीये याने (वाम्) युवाम् ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विज्ञान द्वारा यान विमान आदि बनाकर राज्य की सम्पत्ति बढ़ावें और अन्न आदि प्राप्त करके राजा और प्रजा को सुखी करें ॥ २ ॥

को वा॑मद्य क॑रते रा॒तह॑व्य ऊ॒तये॑ वा सुत॒पेया॑य वा॒र्कैः ।
ऋ॒तस्य॑ वा व॒नुषे॑ पू॒र्व्याय॒ नमो॑ येमा॒नो अ॑श्वि॒ना व॑वर्तत् ॥ ३ ॥

कः । वा॒म् । अ॒द्य । क॒र॒ते॒ । रा॒त-ह॑व्यः । ऊ॒तये॑ । वा॒ । सु॒त-पेया॑य । वा॒ । अ॒र्कैः ॥ ऋ॒तस्य॑ । वा॒ । व॒नुषे॑ । पू॒र्व्याय॑ । नमः॑ । ये॒मा॒नः । अ॒श्वि॒ना॒ । आ । व॒व॒र्त॒त् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर राजा और मन्त्री] (रातहव्यः) देने योग्य को दिये हुये (कः) कौन पुरुष [अर्थात् प्रत्येक मनुष्य] (ऊतये) रक्षा के लिये (वा वा) और (सुतपेयाय) निचोड़े हुये सोम [तत्त्व रस] पीने के लिये (वाम्) तुम दोनों के निमित्त (अर्कैः) सत्कारों के साथ (अद्य) आज (करते) कर्म करता है, (वा) और (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (पूर्व्याय) प्राचीनों में रहने वाले (वनुषे) सेवन के लिये (नमः) अन्न को (येमानः) खींचता हुआ [कौन अर्थात् प्रत्येक मनुष्य] (आ ववर्तत्) बर्ताव करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य चतुर राजा और मन्त्री का आदर करके पूर्वजों के समान सत्य ज्ञान बढ़ाकर अन्न आदि प्राप्त करें ॥ ३ ॥

हि॒र॒ण्यये॑न पुरुभू॒ रथे॑ने॒मं य॒ज्ञं ना॑स॒त्योप॑ यातम् ।

३—(कः) प्रत्येकपुरुषः; इत्यर्थः (वाम्) युवाभ्याम् (अद्य) म० १ (करते) कर्म प्रयत्नं करोति (रातहव्यः) दत्तदातव्यः (ऊतये) रक्षणाय (वा वा) समुच्चये (सुतपेयाय) निष्पादितस्य सोमस्य तत्त्वरसस्य पानाय (अर्कैः) सत्कारैः (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (वा) समुच्चये (वनुषे) जनेरुसिः । उ० २ । ११५ । वन संभक्तौ—उसि । संभजनाय । सेवनाय (पूर्व्याय) प्राचीनेषु भवाय (नमः) अन्नम् (येमानः) यमेः कानच्, एत्वमभ्यासलोपश्च, छित्वादन्तोदात्तः । नियच्छन् । आकर्षन् । गृह्णन् (अश्विना) म० १ (आ) (ववर्तत्) वर्तते ॥

पिबा॑थ॒ इन्मधु॑नः सो॒म्यस्य॒ दध॑थो॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥ ४ ॥

हि॒र॒ण्यये॑न । पु॒रु॒भू॒ इति॒ पुरु-भू॒ । रथे॑न । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । ना॒स॒त्या॒ । उप॑ । या॒त॒म् ॥ पिबा॑थः । इत् । मधु॑नः । सो॒म्यस्य॑ । दध॑थः । रत्न॑म् । वि॒ध॒ते । जना॑य ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुभू) हे पालन व्यवहारों के विचारने वाले ! (नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले दोनों ! [राजा और मन्त्री] (हिरण्ययेन) ज्योति रखने वाले [अग्नि आदि प्रकाश बल से चलने वाले] (रथेन) रमणीय रथ से (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान व्यवहार] को (उप) आदर से (यातम्) प्राप्त होओ, और (मधुनः) उत्तम ज्ञान के (सोम्यस्य) सोम [तत्त्व रस] में उत्पन्न रस का (इत्) अवश्य (पिबाथः) पान करो और (विधते) पुरुषार्थ करते हुये (जनाय) मनुष्य के लिये (रत्नम्) रत्न [सुन्दर धन] (दधथः) दान करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री के सुप्रबन्ध से सब प्रजा गण विज्ञान के साथ शिल्प विद्या द्वारा रत्नों का संग्रह करके सुखी होवें ॥ ४ ॥

आ नो॑ यातं दि॒वो अच्छा॑ पृथि॒व्या हि॑र॒ण्यये॑न सु॒वृता॒ रथे॑न । मा वा॑म॒न्ये नि य॑मन् देव॒यन्तः॒ सं यद् द॒दे नाभिः॑ पू॒र्व्या वा॑म् ॥ ५ ॥

आ । नः॒ । या॒त॒म् । दि॒वः । अच्छ॑ । पृ॒थि॒व्याः । हि॒र॒ण्यये॑न ।

४—(हिरण्ययेन) तेजोमयेन । अग्न्यादिप्रकाशबलयुक्तेन (पुरुभू) पृभिदिव्यधि० । उ० १ । २६ । पॄ पालनपूरणयोः—कु+भू चिन्तने—डु । हे पुरूणां पालनव्यवहाराणां भावयितारौ चिन्तयितारौ (रथेन) रमणीयेन यानेन (इमम्) (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (नासत्या) सू० १४० । १ । हे सदा सत्यस्वभावौ (उप) पूजायाम् (यातम्) प्राप्नुतम् (पिबाथः) लेटि रूपम् । पानं कुरुतम (इत्) अवश्यम् (मधुनः) निश्चितज्ञानस्य । मधुज्ञानस्य (सोम्यस्य) सोमे तत्त्वरसे भवस्य रसस्य (दधथः) दध दाने धारणे च—लेट् । दत्तम् (रत्नम्) रमणीयं धनम् (विधते) विध विधाने—शतृ । पुरुषार्थं कुर्वते (जनाय) मनुष्याय ॥

सु-वृता । रथैन ॥ मा । वाम् । अन्ये । नि । यमन् । देव-यन्तः । सम् । यत् । दुदे । नाभिः । पूर्व्या । वाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजा और मन्त्री !] (दिवः) आकाश से और (पृथिव्याः) भूमि से (हिरण्ययेन) ज्योति रखने वाले [अग्नि आदि प्रकाश बल से चलने वाले], (सुवृता) शीघ्र घूमने वाले [चलने वाले] (रथेन) रमणीय रथ [विमान आदि वाहन] द्वारा (अच्छ) अच्छे प्रकार (नः) हम को (आ यातम्) दोनों प्राप्त होओ, (अन्ये) अन्य (देवयन्तः) पीड़ा देने हुये लोग (वाम्) तुम दोनों को (मा नियमन्) न रोकें, (यत्) क्योंकि (पूर्व्या) पुरानी (नाभिः) बन्धुता ने (वाम्) तुम दोनों को (सं ददे) बांधा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री आकाश और पृथिवी पर चलने वाले यान विमानों द्वारा शत्रुओं से बेरोक होकर प्रजा की रक्षा करें ॥ ५ ॥

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे । नरो यद् वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीढासो अग्मन् ६

नु । नः । रयिम् । पुरु-वीरम् । बृहन्तम् । दस्रा । मिमा-थाम् । उभयेषु । अस्मे इति ॥ नरः । यत् । वाम् । अश्विना । स्तोमम् । आवन् । सध-स्तुतिम् । आज-मीढासः । अग्मन् ६

भाषार्थ—(दस्रा) हे दर्शन योग्य (अश्विना) दोनों अश्वी !

५—(आ) (नः) अस्मान् (यातम्) प्राप्नुतम् (दिवः) आकाशात् (अच्छ) संहितिको दीर्घः । सम्यक् (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात् (हिरण्ययेन) म० ४ (सुवृता) सुवर्तनशीलेन । शीघ्रगामिना (रथेन) विमानादियानेन (वाम्) युवाम् (अन्ये) इतरे (मा नि यमन्) न निगृह्णन्तु (देवयन्तः) दिव अर्दने=पीडने चुरादिः -शतृ । पीडयन्तो जनाः (यत्) यतः (सं ददे) ददातेर्लिट् । सन्दानं बन्धनम् । बन्धे कृतवती (नाभिः) नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । णह बन्धने—इञ्, हस्य भः । बन्धुत्वम् (पूर्व्या) पूर्व्यं पुराणनाम— निघ० ३ । २७, प्राचीना (वाम्) युवाम् ॥

६—(नु) सद्यः (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (पुरुवीरम्) बहवो

[चतुर राजा और मन्त्री] (नः) हमारे लिये [अर्थात्] (उभयेषु) दोनों राजजन और प्रजाजन वाले (अस्मे) हम लोगों में (पुरुवीरम्) बहुत वीरों के प्राप्त कराने वाले (बृहन्तम्) बड़े (रयिम्) धन को (नु) शीघ्र (मिमाथाम्) नापो [दो] । (यत्) क्योंकि (नरः) नरों [नेता लोगों] ने (वाम्) तुम दोनों के लिये (स्तोमम्) प्रशंसा की (आवन्) रक्षा की है, और (आजमीलहासः) इन घृत आदि पदार्थों और सुवर्ण आदि धन वालों ने (सधस्तुतिम्) परस्पर कीर्ति (अग्मन्) पाई है ॥ ६ ॥

भावार्थ--राजा और मन्त्री राजजन और प्रजाजनों का सत्कार करके परस्पर कीर्ति बढ़ावें ॥ ६ ॥

इहेह यद् वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना । उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक् ॥ ७ ॥

इह-इह । यत् । वाम् । सुमना । पपृक्षे । सा । इयम् । अस्मे इति । सु-मतिः । वाज-रत्ना ॥ उरुष्यतम् । जरितारम् । युवम् । ह । श्रितः । कामः । नासत्या । युवद्रिक् ॥ ७ ॥

भाषार्थ--(वाजरत्ना) हे ज्ञान और धन रखने वाले दोनों ! [राजा और मन्त्री] (इहेह) यहां [राज्य में] ही (यत्) जो (सुमतिः) सुमति

वीरा यस्मात्तम् (बृहन्तम्) महान्तम् (दस्रा) अथ० ७ । ७३ । २ । दस दर्शने-रक् । दर्शनीयौ—निरु० ६ । २६ (मिमिथाम्) माङ् माने-लोट् । परिमितं कुरुतम् । दत्तम् (उभयेषु) द्वित्वविशिष्टेषु । राजप्रजाजनयुक्तेषु (अस्मे) अस्मासु (नरः) नेतारः (यत्) यतः (वाम्) युवाभ्याम् (अश्विना) म० १ । हे चतुरराजामात्यौ (स्तोमम्) प्रशंसाम् (आवन्) अथ० ४ । २ । ६ अव रक्षणगत्यादिषु—लङ् । अरक्षन् (सधस्तुतिम्) सध = सह । परस्परकीर्तिम् (आजमीलहासः) आ + अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-घञर्थे क + मिह सेचने—क । आजम् आज्यं घृतम् । मीलहं धनम्—निघ० २ । ७ । घृतादिपदार्थाः सुवर्णादिधनं च येषां ते तथाभूताः (अग्मन्) अगमन् । प्राप्नुवन् ॥

७—(इहेह) अस्मिन्नेव राज्ये (यत्) या सुमतिः (वाम्) युवाम् (समना) समान + अन प्राणने—अच् , वा मन ज्ञाने—अच् । समनं समन-

[उत्तम बुद्धि] (समना) एक से मन वाले (वाम्) तुम दोनों को (पपृक्ते) छूती है, (सा इयम्) वही [सुमति] (अस्मे) हम में [होवे]। (नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले ! [धर्मात्माओं] (युवम्) तुम दोनों (ह) ही (जरितारम्) गुणों की व्याख्या करने वाले की (उरुष्यतम्) रक्षा करो, (श्रितः) [तुम्हारा] आश्रय लिये हुये [कामः) मेरा मनोरथ (युवद्रिक्) तुम दोनों की ओर देखने वाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री अपनी हितकारिणी बुद्धि का राज्य में विस्तार करके प्रजा की रक्षा करें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद ४ । ४३ । ७ में भी है ॥

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम् ।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ॥ ८ ॥

मधु-मतीः । ओषधीः । द्यावः । आपः । मधु-मत् । नः । भवतु । अन्तरिक्षम् ॥ क्षेत्रस्य । पतिः । मधु-मान् । नः । अस्तु । अरिष्यन्तः । अनु । एनम् । चरेम ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियां [चावल जौ आदि अन्न], (द्यावः) सूर्य आदि के प्रकाश, (आपः) जल [मेह, कूये, नदी आदि के] (मधुमतीः) मधुर आदि गुण वाले [होवें], (अन्तरिक्षम्)

नाह्वा सम्मानाह्वा—निरु० ७ । १६ । समानमनस्कौ (पपृक्ते) पृची संपर्चने । पृक्ते । संयोजयति (सा) (इयम्) (अस्मे) अस्मासु (सुमतिः) शोभना प्रज्ञा (वाजरत्ना) वाजो बोधो रत्नं धनं च ययोस्तौ । हे ज्ञानेन धनेन च युक्तौ (उरुष्यतम्) उरुष्यती रक्षाकर्मा—निरु० ५ । २३ । रक्षतम् (जरितारम्) स्तोतारं गुणानां व्याख्यातारम् (युवम्) युवाम् (ह) एव (श्रितः) आश्रितः । युवयोराश्रयभूतः (कामः) मनोरथः (नासत्या) म० ४ । हे सदा सत्यस्वभावौ । धर्मात्मानौ (युवद्रिक्) दृशिर् प्रेक्षणे—क्विप्, ऋकारस्य रिकारः । युवां पश्यन् ॥

८—(मधुमतीः) मधुमत्यः । मधुरादिगुणयुक्ताः (ओषधीः) ओषध्यः । व्रीहियवादिभोज्यपदार्थाः (द्यावः) सूर्यादिप्रकाशाः (आपः) मेघकूपनद्यादिजलानि (मधुमत्) मधुरादिगुणयुक्तम् (नः) अस्मभ्यम् (भवतु) (अन्त-

आकाश (मधुमन्) मधुर आदि गुण वाला (भवतु) होवे । (क्षेत्रस्य पतिः) खेत का स्वामी [किसान] (नः) हमारे लिये (मधुमान्) मधुर आदि गुण वाला (अस्तु) होवे, (अरिष्यन्तः) बिना कष्ट उठाये हुये हम (एनम् अनु) इस [किसान] के पीछे पीछे (चरेम) चलें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे किसान खेत में बीज बोकर धूप, जल, भूमि आदि से काम लेता हुआ अन्न उत्पन्न करके उपकार करता है, वैसे ही विद्वान् लोग सब पदार्थों का उपयोग करके संसार का उपकार करें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—४ । ५७ । ३ ॥

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः ।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै ।९

पनाय्यम् । तत् । अश्विना । कृतम् । वाम् । वृषभः । दिवः । रजसः । पृथिव्याः ॥ सहस्रम् । शंसाः । उत । ये । गो-इष्टौ । सर्वान् । इत् । तान् । उप । यात । पिबध्यै ॥९॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर राजा और मन्त्री] (तत्) वह (वाम्) तुम दोनों का (कृतम्) काम (पनाय्याम्) बड़ाई योग्य है [कि] पृथिव्याः) पृथिवी के और (रजसः) आकाश के (दिवः) व्यवहार के (वृषभः=वृषभौ) दोनों शासक [हो] । (उत) और (गविष्टौ)

रिक्षम्) आकाशम् (क्षेत्रस्य) शस्याद्युत्पत्तिस्थानस्य (पतिः) स्वामी । कृषाणः (मधुमान्) मधुरादिगुणयुक्तः (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (अरिष्यन्तः) रिष हिंसायाम्—शतृ, नञ्समासः । हिंसां न प्राप्नुवन्तः (अनु) अनुसृत्य (एनम्) क्षेत्रपतिम् (चरेम) गच्छेम ॥

९—(पनाय्यम्) श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः । उ० ३ । ९६ । पन व्यवहारे स्तुतौ च— आय्यप्रत्ययः । स्तुत्यम् (तत्) वक्ष्यमाणम् (अश्विना) म० १ । हे चतुरराजामात्यौ (कृतम्) कर्म (वाम्) युवयोः (वृषभः) ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । वृषु सेचने, वृषप्रजनैश्वर्ययोः + अभच् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । द्विवचनस्य सुः । वृषभौ । ईश्वरौ । शासकौ (दिवः) दिवु व्यवहारादिषु—डिवि । व्यवहारस्य (रजसः) अन्तरिक्षस्य । आकाशस्य

विद्या की प्राप्ति में (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र (शंसाः) प्रशंसनीय गुण हैं, (तान् सर्वान्) उन सब को (इत्) ही (पिबध्यै) [सोम अर्थात् तत्त्व रस] पीने के लिये (उप) आदर से (यात) तुम सब लोग प्राप्त करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री विज्ञान द्वारा यान विमान आदि से पृथिवी और आकाश में मार्ग करें और सब लोग विद्या की वृद्धि से तत्त्व रस प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ५७ । ३ [सायण भाष्य अवशिष्ट वालखिल्य सू० ६ । म०३] ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

इति शस्त्रकाण्डं नाम विंशं काण्डं समाप्तम् ॥

अथर्ववेदसंहिता च संपूर्णा ॥

यह शासन काण्ड नाम बीसवां काण्ड पूरा हुआ ॥

और अथर्ववेद संहिता भी पूरी हुई ॥

ओ३म्—शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम **श्रीसयाजीरावगायकवाड़ाधिष्ठित** बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये विंशं काण्डं समाप्तम् ॥

(पृथिव्याः) भूमेः (सहस्रम्) बहुसंख्याकाः (शंसाः) स्तोमाः । स्तुत्यगुणाः (उत) अपि च (ये) (गविष्टौ) इष गतौ, यद्वा यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—क्तिन् । गोर्वाचो विद्याया इष्टौ प्राप्तौ (सर्वान्) (इत्) एव (तान्) शंसान् स्तुत्यगुणान् (उप) पूजायाम् (यात) अन्येषामपि दृश्यते इति दीर्घः । प्राप्नुत (पिबध्यै) अथ० २० । ८ । ३ । पातुम् । सोमस्य तत्त्वरसस्य पानं कर्तुम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे द्वितीयश्रावणमासे पूर्णमास्यां रक्षाबन्धनतिथौ १९७७ तमे
[सप्तसप्तत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे
धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि
श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम् — आश्विन शुक्ला ८ संवत् १९७७ वि० तारीख़ २० अक्तूबर १९२० ईस्वी ॥

---

५२ लूकरगंज, प्रयाग [अलाहाबाद], आश्विन शुक्ला ८ संवत् १९७७ वि० २० अक्तूबर १९२० ई०

क्षेमकरणदास त्रिवेदी
जन्म, कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय [ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी]।
जन्म स्थान, ग्राम शाहपुर—मड़राक, ज़िला अलीगढ़।

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८१९ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे॥

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७९ प्राप्त २० जूलाई १८१९ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते!

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मी मात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहियें। समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B. Sc., LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती **आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।**

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय—

मदन मोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त; आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का प्रारम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७—१०—१९९९।

अथर्ववेदभाष्य आप का दिया वा किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९९९।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिव शंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।...... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्त्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में...... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है!

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः** की जिस का मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद** द्विवेदी—सम्पादक, [illegible] **सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।**

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—सम्पादक [illegible] फ़तेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भावार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़ें पर उस से कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिकाप्रसाद जी—सिल्क मर्चैन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेदभाष्य को वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करें कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, अब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत** [illegible] **सिंहजी वर्मा**, मु० [illegible] पोस्ट किशुनपुर ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६—१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६--लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते--स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है- कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है--इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं--और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं--पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पाँच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते है। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई ....इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं--पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है.........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education) *Baroda State, letter No 624 dated 6th February* 1913.

....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them .. also add on the address lable " For Encourgement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a jigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope ..the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office. for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introdrction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature . ...The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjai and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.